काव्यास्वाद की
विवेचन

दिल्ली विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

काव्यास्वाद का विवेचन

हिन्दी-साहित्य-शास्त्र के परिवेश में

कृष्णबल
एम० ए०, पी-एच-डी०



राधाकृष्ण प्रकाशन

मूल्य ३० रुपये

प्रकाशक
अरविन्दकुमार
राधाकृष्ण प्रकाशन
२ अन्सारी रोड, दरियागंज
दिल्ली-६

स्वर्गस्थ माता-पिता की पुण्य स्मृति को
नैवेद्य-रूप

हमारी योजना

'काव्यास्वाद का विवेचन' हिन्दी-अनुसंधान-परिषद्-ग्रंथमाला का सैंतालीसवाँ ग्रंथ है। हिन्दी-अनुसंधान-परिषद् हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय की संस्था है, जिसकी स्थापना अक्टूबर, सन् १९५२ में हुई थी। परिषद् के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं: हिन्दी-वाङ्मय-विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रंथ तीन प्रकार के हैं—एक तो वे जिनमें प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का हिन्दी-रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है, दूसरे वे जिन पर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० उपाधि प्रदान की गई है; और तीसरे ऐसे हैं जिनका अनुसन्धान के सिद्धान्त और व्यवहार दोनों पक्षों के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। अब तक प्रथम वर्ग के अन्तर्गत पन्द्रह, दूसरे में सत्ताईस और तीसरे वर्ग में तीन ग्रंथों का प्रकाशन हो चुका है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध द्वितीय वर्ग का २९वाँ ग्रंथ है। इसमें लेखक ने पाश्चात्य काव्य-शास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्र तथा संस्कृत-काव्यशास्त्र के महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का अध्ययन कर उनके मूल मन्तव्यों के प्रकाश में हिन्दी की रीति-पूर्व सैद्धान्तिक समीक्षा से लेकर समसामयिक आलोचना-प्रवृत्तियों के व्यापक परिवेश में काव्यास्वाद के स्वरूप और उसकी प्रक्रिया का व्यवस्थित विवेचन-विश्लेषण एवं समीक्षात्मक मूल्यांकन किया है।

परिषद् की प्रकाशन योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की अनेक प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थाओं का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है। उन सभी के प्रति हम परिषद् की ओर से कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं।

नगेन्द्र
अध्यक्ष, हिन्दी-अनुसंधान-परिषद्,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

भूमिका

मैं डॉ० कृष्णवल से अनेक वर्षों से परिचित हूँ। उनके व्यक्तित्व और उनकी साहित्यिक गतिविधियों को भी मैं निकट से देखता रहा हूँ। उनमें एक प्रबुद्ध जिज्ञासु की शोधवृत्ति और अध्येता की गंभीर निष्ठा का सुखद संयोग है। इसके साथ ही उनमें एक विवेचक की दृष्टि तथा विश्लेषण-बुद्धि भी विद्यमान है। पिछले कई वर्षों से वे साहित्य-मीमांसा के एक अत्यन्त मौलिक प्रश्न—काव्य के आस्वाद अथवा काव्यानन्द का विशेष अध्ययन करते रहे हैं। इन्होंने हिन्दी-साहित्यशास्त्र के विशिष्ट परिवेश में काव्यास्वाद के स्वरूप और उसकी प्रक्रिया का अनुसन्धान-परक विवेचन किया है। इस विषय पर इन्होंने जो शोध-प्रबंध प्रस्तुत किया था, वह दिल्ली-विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हो चुका है। मुझे प्रसन्नता है कि अब यह प्रबन्ध प्रकाशित होकर वृहत्तर पाठक-समाज के सामने आ रहा है।

डॉ० कृष्णवल ने हिन्दी के रीतिकाल से भी पहले की साहित्यशास्त्रीय प्रस्थापनाओं से लेकर नवलेखन की अधुनातन मान्यताओं में काव्यास्वाद की प्रकृति और प्रक्रिया का अनुसंधान किया है। इस विषय से सम्बद्ध उनकी पुस्तक के चौथे अध्याय में हिन्दी के आदि रीतिकार कृपाराम, अलंकार-निरूपक गोपा, सूरदास, नन्ददास एवं रहीम-जैसे रसमग्न भक्त-कवियों तथा केशव-जैसे हिन्दी-साहित्यशास्त्र के आद्याचार्य की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं का विशद-विवेचन किया गया है।

पाँचवाँ अध्याय हिन्दी के रीतिशास्त्र में उपलब्ध विपुल सामग्री का अध्ययन प्रस्तुत करता है। विषय के व्यापक क्षेत्र में काव्य के विविध अंगों का निरूपण करने वाले चिन्तामणि, श्रीपति, सोमनाथ और पद्माकर-जैसे प्रसिद्ध कवियों के साथ ही काव्यानन्द का विशुद्ध रस की ही दृष्टि से स्वरूप-विश्लेषण करने वाले मतिराम, देव, रसलीन, भिखारीदास, बेनी-प्रवीन, रसिक गोविन्द और नवीन आदि सुविख्यात कवि-आचार्यों की स्पष्ट-अस्पष्ट उक्तियों के आधार पर डॉ० कृष्णवल ने काव्यास्वाद के स्वरूप का स्पष्ट चित्र अंकित किया है। इसके अतिरिक्त इसी अध्याय में जसवंतसिंह, भूषण, रसिक सुमति आदि ऐसे कवि-आचार्यों की काव्यास्वाद-सम्बन्धी मान्यताओं का परीक्षण-मूल्यांकन किया गया है, जो शब्दार्थ के सौन्दर्य से प्रेरित प्रमाता के अन्तश्चमत्कार को ही काव्यानन्द मानते हैं।

ग्रंथ के छठे और सातवें अध्यायों में आधुनिक हिन्दी-साहित्यशास्त्र के अन्तर्गत काव्यास्वाद का विवेचन किया गया है। लेखक ने आधुनिक हिन्दी-साहित्यशास्त्र के विकास-क्रम में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को एक उच्च शिखर मानते हुए छठे अध्याय में शुक्लपूर्व भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जगन्नाथप्रसाद 'भानु', बिहारीलाल भट्ट, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, हरिऔध, मिश्र-बन्धु और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी आदि समीक्षकों के अनन्तर शुक्लजी के काव्यानन्द-विषयक मत की मीमांसा की है। इसी अध्याय में शुक्लजी के समसामयिक पं० केशवप्रसाद

मिश्र, डॉ० श्यामसुन्दरदास, पं० रामदहिन मिश्र और पं० बलदेव उपाध्याय-जैसे आलोचकों तथा जयशंकर प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी वर्मा आदि कवियों की मान्यताओं का आकलन किया गया है।

सातवें अध्याय का विषय शुक्ल-परवर्ती हिन्दी-साहित्यशास्त्र में काव्यास्वाद का विवेचन है। लेखक ने अध्याय के पूर्व-खण्ड में उन समीक्षकों के काव्यास्वाद-निरूपण का मूल्यांकन किया है, जिन्होंने मुख्यतः शास्त्रीय आधार पर रस-वृत्त में ही अपनी मान्यताएँ स्थिर की हैं—जैसे डॉ० गुलाबराय, डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ० नगेन्द्र।

उत्तर खण्ड में समसामयिक समीक्षा-धाराओं—प्रगतिवादी आलोचना और नव-समीक्षा—की मूल अवधारणाओं की विवेचना की गयी है। जो आलोचक लेखक के अध्ययन का विषय बने हैं, उनमें मुख्य है--डॉ० रामविलास शर्मा, श्री शिवदानसिंह चौहान, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, श्री वात्स्यायन, डॉ० जगदीश गुप्त, श्री गिरिजाकुमार माथुर, श्री मुक्तिबोध, श्रीयुत् लक्ष्मीकान्त वर्मा और डॉ० धर्मवीर भारती। इस प्रकार प्रबंध की व्यापक शोध-परिधि के अन्तर्गत रीति-पूर्व हिन्दी-साहित्यशास्त्र के आरम्भकालीन कवि आचार्य कृपाराम से लेकर हिन्दी की अधुनातन समीक्षा के प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व आ गये हैं। अन्तिम अध्याय में शोध-कर्त्ता ने अपने अध्ययन का उपसंहार किया है जिसमें अनुसन्धान के निष्कर्षों के साथ ही समग्र दृष्टि से, हिन्दी-साहित्यशास्त्र के अन्तर्गत काव्यास्वाद के स्वरूप और उसकी प्रक्रिया से सम्बद्ध परिवर्तनशील अवधारणा के विकास-क्रम का अंकन और मूल्यांकन किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रवन्ध के अवलोकन के पश्चात् लेखक की जिस विशेषता से मैं मुख्यतः प्रभावित हुआ हूँ वह है पाश्चात्य साहित्यशास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्र तथा संस्कृत-काव्यशास्त्र के अध्ययन का व्यापक क्षितिज। आधुनिक हिन्दी-काव्यशास्त्रियों के मतों का विश्लेषण करते समय वे संस्कृत-काव्यशास्त्र में उनके मूल प्रभाव-स्रोतों तक पहुँच जाते हैं। उदाहरण के लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की अनेक उक्तियों पर उन्होंने अभिनवगुप्त, मम्मट और पंडितराज जगन्नाथ का स्पष्ट प्रभाव दिखाया है। इसी प्रकार शुक्लजी की कुछ उक्तियों के समान भाव पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में भी प्राप्त हो जाते हैं। लीबनित्ज़, शेली, काण्ट, हीगेल, होरेस, क्रोचे और इलियट की कृतियों से कुछ ऐसे ही समान संकेत लेखक ने शुक्लजी द्वारा प्रस्तुत काव्यास्वाद-विवेचन के प्रसंग में दिये हैं। इसी प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्र का विवेचन करते समय संस्कृत-काव्यशास्त्र का ध्यान उन्हें बराबर बना रहा है। लॉन्जाइनस के मत के विश्लेषण-क्रम में भी उन्होंने विश्वनाथ, भट्टनायक और अभिनवगुप्त की मूल उक्तियाँ उद्धृत की हैं, जिनमें आश्चर्यजनक समता है।

डॉ० कृष्णवल्लभ की दृष्टि में अन्वेषण की सहज प्रवृत्ति है। उनके निष्कर्ष संगत और निर्भ्रान्त हैं, विषय-प्रतिपादन की शैली प्रभावशाली है। उनमें गहन और जटिल विषय के मूल में पैठकर स्पष्ट भाषा में उसकी व्याख्या करने की क्षमता है। हिन्दी के विद्वान पाठकों के समक्ष उनका यह शोध-प्रबंध प्रस्तुत करते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता है। मैं उनके उत्तरोत्तर विकास की कामना करता हूँ।

रामधारीसिंह दिनकर

प्रस्तावना

मुझे यह देखकर प्रसन्नता हो रही है कि डॉ० कृष्णवलजी का महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबंध 'काव्यास्वाद का विवेचन' प्रकाशित हो रहा है। यह विवेचन मुख्य रूप से हिन्दी-साहित्यशास्त्र के परिवेश में हुआ है। वैसे तो 'काव्यास्वाद' बहुचर्चित विषय है। पुराने और नये लेखकों ने इस सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है, परन्तु फिर भी हिन्दी-साहित्यशास्त्र के परिवेश में काव्यास्वाद का इतना अच्छा विश्लेषण मुझे अन्यत्र देखने को नहीं मिला। डॉ० कृष्णवल ने देश और विदेश के नवीन और प्राचीन काव्यशास्त्रियों और सौन्दर्यशास्त्रियों के मतों का विश्लेषण करके एक बहुत बड़े परिप्रेक्ष्य में लालित्य के आस्वादन की प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। यह विशे० रूप से उल्लेख्य है कि यद्यपि अलंकार-शास्त्र के माध्यम से पुरानी और आधुनिक हिन्दी में काव्य-सौन्दर्य-विषयक विवेचन बिखरा पड़ा है परन्तु उसका उपयोग इस रूप में बहुत कम किया गया है। इससे मध्यकाल और आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य-विवेचकों का मत स्पष्ट रूप से सामने आया है।

जब कभी भारतीय आचार्यों की बात कहनी होती है तो लोग उसे संस्कृत साहित्य तक ही सीमित कर देते है। इसका एक कारण तो यह है कि रीतिकाल का विवेचन उस प्रकार की प्रौढ़ भाषा में नहीं हो सका जो संस्कृत में सहज ही उपलब्ध है। दूसरा कारण यह जान पड़ता है कि रीतिकाल के आचार्यों के लिए पूर्ववर्ती युग के विचारक पूर्ण रूप से आप्त थे और उनके विचारों के सार— मर्म को पद्यबद्ध कर देना ही उन्होंने आवश्यक समझा। लेकिन यह सब होते हुए भी यह समझना ठीक नहीं है कि रीतिकाल में जो कुछ लिखा गया उसमें स्वकीयता का एकदम अभाव है। आधुनिक युग मे जिन लोगों ने साहित्य का विवेचन किया है उनमें कुछ ऐसे विचारक अवश्य हैं जिन्होंने काव्य की संप्रेषण-विधि और आस्वादन-प्रक्रिया के विषय में स्वतंत्र और मौलिक विचार दिये है। डॉ० कृष्णवल ने रीतिकाल से लेकर आधुनिक काल तक के विचारकों में से उन विशिष्ट मतों का संकलन और विवेचन किया है जो आधुनिक लालित्य-शास्त्र के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान सिद्ध होंगे। इस पुस्तक में विस्तारपूर्वक हिन्दी-साहित्य-शास्त्र के विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि दी गई है और काव्य की प्राय. सभी मान्य परिभाषाओं की सम्यक् परीक्षा के उपरान्त काव्य के आस्वाद-पक्ष को दृष्टि में रखते हुए एक सर्वांगपूर्ण परिभाषा प्रस्तुत की गई है और 'आस्वाद' शब्द की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या करते हुए विभिन्न काव्य-सिद्धान्तों में मान्य काव्यास्वाद के विविध अर्थों पर प्रकाश डाला गया है। पुस्तक में संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्यास्वाद का स्वरूप भी स्पष्ट किया गया है क्योंकि हिन्दी की चाहे रीतिकालीन विवेचना को लिया जाय या आधुनिक काल की विवेचना को, सब की पृष्ठभूमि में संस्कृत-काव्य-शास्त्र अवश्य है।

मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई है कि डॉ० कृष्णवल ने ग्रीक और रोमन विचारकों

के सिद्धान्तों की भी समीक्षा की है और आधुनिक काल के योरोपीय सौन्दर्यशास्त्रियों के विचारों का भी विवेचन किया है। इस बड़े परिप्रेक्ष्य में हिन्दी के आरम्भिक, मध्यकालीन और आधुनिक साहित्य-शास्त्र का विवेचन बहुत स्पष्ट हो गया है। आधुनिक युग के महान हिन्दी-समीक्षकों का बहुत अच्छा विवेचन किया गया है और यह दिखाया गया है कि किस प्रकार हिन्दी के समालोचक रस के स्वरूप, उसकी संप्रेषणीयता और आस्वादन के विवेचन से आलोचना के क्षेत्र में महत्त्व-पूर्ण योग दे सके हैं। इस ग्रंथ के पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक काल में हिन्दी के आलोचक केवल साधारण कोटि की रचना ही नहीं देते रहे हैं बल्कि स्वतन्त्र भाव से उन्होंने काव्यास्वाद के प्रत्येक अंग पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है।

डॉ० कृष्णवल का यह प्रयत्न बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इससे साहित्यशास्त्र के स्वतन्त्र अस्तित्व और शक्तिशाली योगदान का रूप बहुत स्पष्ट होकर सामने आता है। मैं इस ग्रंथ का हार्दिक स्वागत करता हूँ और आशा करता हूँ कि सहृदय पाठक भी इसका ऐसा ही स्वागत करेगा।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

विज्ञप्ति

प्रस्तुत शोध-प्रबंध का प्रतिपाद्य विषय है—'काव्यास्वाद का विवेचन : हिन्दी-साहित्य-शास्त्र के परिवेश में'। इस प्रबंध में काव्य की चर्वणा द्वारा प्रमाता के चित्त पर होने वाली प्रतिक्रिया के स्वरूप एवं उसकी प्रक्रिया के विवेचन-विश्लेषण का उपक्रम किया गया है। काव्यानुभावन द्वारा निष्पन्न प्रमाता का अनुभूति-तत्त्व (काव्यास्वाद) काव्य-चिंतन के इतिहास में प्रारंभ से ही काव्य-मनीषियों की जिज्ञासा का विषय रहा है; देश-विदेश के अनेक काव्यशास्त्रियों एवं सौंदर्यशास्त्रियों ने इस जिज्ञासा का परितोष करते हुए काव्यास्वाद अथवा कला के बृहत्तर परिप्रेक्ष्य में कलास्वाद के स्वरूप का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है। प्रस्तुत प्रबंध में हिन्दी-साहित्य-शास्त्र के सीमित परिवेश में उपलब्ध काव्यास्वाद-विषयक अवधारणाओं, मान्यताओं एवं अभिमतों के विवेचन-विश्लेषण के साथ ही उनके परीक्षण एवं मूल्यांकन का प्रयत्न भी किया गया है।

सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्यशास्त्र के व्यापक परिवेश में काव्यास्वाद के स्वरूप एवं उसकी प्रक्रिया के विवेचन-विश्लेषण तथा तद्विषयक अभिमतों एवं अवधारणाओं के समुचित समीक्षण-मूल्यांकन की दिशा में प्रस्तुत अध्ययन अपने ढंग का सर्वप्रथम सांगोपांग और समाकलित प्रयास है। यों हिन्दी-साहित्य-शास्त्र के रीति-काल और आधुनिक काल— दोनों से संबद्ध अनेक महत्त्वपूर्ण गवेषणात्मक ग्रंथ प्रकाश में आ चुके हैं। ये प्रायः दो प्रकार के हैं—एक तो वे, जिनमें हिन्दी-साहित्यशास्त्र के इतिहास के अनुक्रमिक परिप्रेक्ष्य में विशिष्ट आचार्यों एवं समीक्षकों तथा विशिष्ट प्रवृत्तियों का व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, तथा दूसरे वे, जिनमें विशिष्ट काव्यशास्त्रियों की साहित्यिक मान्यताओं के आकलन एवं विस्तृत विवेचन का प्रयत्न किया गया है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत डॉ० भगीरथ मिश्र का 'हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास', डॉ० नगेन्द्र का 'रीतिकाव्य की भूमिका', डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र का 'हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास', डॉ० वेंकट शर्मा का 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य में समालोचना का विकास' तथा डॉ० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित एवं नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास' का 'शृंगार-काल' (रीतिबद्ध) शीर्षक षष्ठ भाग आदि ग्रंथ आते हैं। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत डॉ० नगेन्द्र द्वारा रचित 'देव और उनकी कविता', डॉ० सत्यदेव चौधरी द्वारा लिखित 'हिन्दी-रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य', डॉ० हीरालाल दीक्षित का 'आचार्य केशवदास', डॉ० महेन्द्रकुमार का 'मतिराम : कवि और आचार्य', डॉ० नारायणदास खन्ना का 'आचार्य भिखारीदास', डॉ० गुलाबराय तथा डा० विजयेन्द्र स्नातक का 'आलोचक रामचन्द्र शुक्ल', डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त द्वारा सम्पादित 'आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व एवं साहित्य' तथा नारायणप्रसाद चौबे द्वारा लिखित 'डॉ० नगेन्द्र के आलोचना-सिद्धान्त' आदि ग्रंथ परिगणनीय हैं। यद्यपि उपर्युक्त ग्रंथ अनेक दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, तथापि उनमें हिन्दी-

साहित्यशास्त्र के विभिन्न पक्षों एवं प्रवृत्तियों का विवेचन तथा विशिष्ट लेखकों और आचार्यों की सम्पूर्ण साहित्यिक मान्यताओं का शास्त्रीय अथवा सामान्य अध्ययन ही उपलब्ध होता है : विभिन्न आचार्यों एवं समालोचकों के काव्यास्वाद-विषयक अभिमतों की विस्तृत, सुव्यवस्थित एवं गंभीर मीमांसा और विश्लेपण का समाकलित प्रयत्न उनमें प्राय: नहीं मिलता। उक्त पुस्तकों में विभिन्न आचार्यों के आचार्यत्व पर विचार करने के प्रसंग में विद्वान लेखकों ने जहाँ कहीं उनकी रस-विषयक धारणाओं की चर्चा की भी है वहाँ उनका विवेचन संस्कृत के रस-सिद्धान्त के संकीर्ण साम्प्रदायिक वृत्त मे ही परिवद्ध होकर रह गया है, उससे आगे बढ़कर व्यापक अर्थ में उन आचार्यों की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं की स्वतंत्र रूप में सांगोपांग समीक्षा इन ग्रंथों में नहीं की गई है। इसके अतिरिक्त डॉ० मनोहर काले के 'आधुनिक हिन्दी-मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन' शीर्षक शोध-प्रबंध में हिन्दी और मराठी के काव्यशास्त्रों में उपलब्ध रस-सिद्धान्त-विषयक अध्ययन-सामग्री की तुलना के संदर्भ में कुछ आधुनिक हिन्दी-समीक्षकों की रसशास्त्रीय मान्यताओं की अत्यंत संक्षिप्त चर्चा की गई है। इस ग्रंथ में एक तो, केवल आधुनिक और उनमें भी केवल कुछ ही प्रमुख समीक्षकों के रस-मतों का आकलन किया गया है तथा दूसरे, लेखक का मूल प्रतिपाद्य काव्यास्वाद-विवेचन न होकर आधुनिक हिन्दी और मराठी में काव्शास्त्रीय अध्ययन की तुलनात्मक समीक्षा ही है। इधर डॉ० सच्चिदानन्द चौधरी का 'हिन्दी-काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त' शीर्षक शोध-प्रबंध भी प्रकाशित हुआ है। इस प्रबन्ध में विवेचित विषय भी प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के प्रतिपाद्य विषय से इस अर्थ में भिन्न है कि जहाँ डॉ० सच्चिदानन्द चौधरी का अध्ययन विभिन्न आचार्यों एवं समीक्षकों के रस-सिद्धान्त-विषयक शास्त्रीय दृष्टिकोण तक ही सीमित है, वहाँ प्रस्तुत प्रबन्ध में भारतीय काव्यशास्त्र के रस-सहित सभी सैद्धान्तिक सम्प्रदायों तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्र की विस्तृत पृष्ठभूमि पर आधुनिक मनोविज्ञान के आलोक में हिन्दी-साहित्यशास्त्र के रीति-पूर्ववर्ती आचार्यों के रीति-विवेचन से लेकर नवसमीक्षा पर्यन्त अधुनातन साहित्यशास्त्रीय धाराओं में उपलब्ध काव्यास्वाद-विषयक अभिमतों के व्यवस्थित और समाकलित विवेचन, विश्लेपण, परीक्षण, समीक्षण तथा मूल्यांकन का प्रयत्न किया गया है। उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में प्रस्तुत अनुसंधान कार्य की मौलिकता और उपयोगिता स्वतः सिद्ध है।

प्रस्तुत प्रबन्ध आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय का शीर्षक है—'उपक्रम'। इसमें प्रतिपाद्य विषय का स्पष्टीकरण करते हुए अनुसंधान क्षेत्र का निर्धारण किया गया है। द्वितीय अध्याय में पृष्ठभूमि के रूप में संस्कृत-काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों के अनुसार काव्यास्वाद के स्वरूप एवं प्रक्रिया का विवेचन है। तृतीय अध्याय में आधुनिक हिन्दी-साहित्य-शास्त्र में निरूपित काव्यास्वाद के स्वरूप-विश्लेपण की आवश्यक भूमिका प्रस्तुत करने के उद्देश्य से पाश्चात्य काव्यशास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्र में विवेचित काव्यास्वाद के स्वरूप का अध्ययन किया गया है। चतुर्थ और पंचम अध्यायों में क्रमशः आरंभकाल (रीति-पूर्व) तथा विकास-काल (रीति काल) के प्रमुख आचार्यों की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं का विवेचन-विश्लेपण एवं मूल्यांकन किया गया है। षष्ठ और सप्तम अध्यायों में उत्कर्ष काल (आधुनिक काल) में निरूपित काव्यास्वाद के स्वरूप और प्रक्रिया का अध्ययन है। षष्ठ अध्याय में शुक्ल-पूर्व एवं शुक्लयुगीन समीक्षकों की मान्यताओं का और सप्तम अध्याय में शुक्लोत्तर साहित्यशास्त्र तथा समसामयिक साहित्यशास्त्रीय धाराओं--प्रगतिवादी आलोचना एवं नवसमीक्षा—के परिवेश

में काव्यास्वाद का विवेचन किया गया है। अष्टम अध्याय में शोध-प्रबंध का उपसंहार है।

प्रबन्ध की रचना में श्रद्धेय डॉ० सत्यदेव चौधरी तथा श्रद्धेय डॉ० नारकनाथ बाली ने मेरा मार्ग-निर्देशन किया है, इसके लिए मैं उनके प्रति अपनी प्रणति अर्पित करता हूं। समादरणीय दिनकरजी तथा श्रद्धास्पद डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी मूल्यवान भूमिकाओं से इस पुस्तक को विभूषित किया है, यह उनकी उदारता और मेरा सौभाग्य है कि मैं उनके स्नेह और आशीर्वाद का पात्र बन सका। मैं राधाकृष्ण प्रकाशन के अध्यक्ष श्रीयुत् ओम्प्रकाश का भी हृदय से धन्यवाद करता हूं, जिन्होंने मेरी इस पुस्तक के प्रकाशन-दायित्व का बड़े उत्साह से निर्वाह किया। श्री ओम्प्रकाश में एक कुशल कार्यकर्ता के अध्यवसाय के साथ ही एक कलाकार का सौन्दर्य-बोध-सम्पन्न संवेदनशील हृदय भी है।

कृष्णचन्द्र

साहित्यशास्त्र के विभिन्न पक्षों एवं प्रवृत्तियों का विवेचन तथा विशिष्ट लेखकों और आचार्यों की सम्पूर्ण साहित्यिक मान्यताओं का शास्त्रीय अथवा सामान्य अध्ययन ही उपलब्ध होता है : विभिन्न आचार्यों एवं समालोचकों के काव्यास्वाद-विषयक अभिमतों की विस्तृत, सुव्यवस्थित एवं गंभीर मीमांसा और विश्लेषण का समाकलित प्रयत्न उनमें प्रायः नहीं मिलता। उक्त पुस्तकों में विभिन्न आचार्यों के आचार्यत्व पर विचार करने के प्रसंग में विद्वान लेखकों ने जहाँ कहीं उनकी रस-विषयक धारणाओं की चर्चा की भी है वहाँ उनका विवेचन संस्कृत के रस-सिद्धान्त के संकीर्ण साम्प्रदायिक वृत्त में ही परिबद्ध होकर रह गया है, उससे आगे बढ़कर व्यापक अर्थ में उन आचार्यों की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं की स्वतंत्र रूप में सांगोपांग समीक्षा इन ग्रंथों में नहीं की गई है। इसके अतिरिक्त डॉ० मनोहर काले के 'आधुनिक हिन्दी-मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन' शीर्षक शोध-प्रबंध में हिन्दी और मराठी के काव्यशास्त्रों में उपलब्ध रस-सिद्धान्त-विषयक अध्ययन-सामग्री की तुलना के संदर्भ में कुछ आधुनिक हिन्दी-समीक्षकों की रसशास्त्रीय मान्यताओं की अत्यंत संक्षिप्त चर्चा की गई है। इस ग्रंथ में एक तो, केवल आधुनिक और उनमें भी केवल कुछ ही प्रमुख समीक्षकों के रस-मतों का आकलन किया गया है तथा दूसरे, लेखक का मूल प्रतिपाद्य काव्यास्वाद-विवेचन न होकर आधुनिक हिन्दी और मराठी में काव्शास्त्रीय अध्ययन की तुलनात्मक समीक्षा ही है। इधर डॉ० सच्चिदानन्द चौधरी का 'हिन्दी-काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त' शीर्षक शोध-प्रबंध भी प्रकाशित हुआ है। इस प्रबन्ध में विवेचित विषय भी प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के प्रतिपाद्य विषय से इस अर्थ में भिन्न है कि जहाँ डॉ० सच्चिदानन्द चौधरी का अध्ययन विभिन्न आचार्यों एवं समीक्षकों के रस-सिद्धान्त-विषयक शास्त्रीय दृष्टिकोण तक ही सीमित है, वहाँ प्रस्तुत प्रबन्ध में भारतीय काव्यशास्त्र के रस-सहित सभी सैद्धान्तिक सम्प्रदायों तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्र की विस्तृत पृष्ठभूमि पर आधुनिक मनोविज्ञान के आलोक में हिन्दी-साहित्यशास्त्र के रीति-पूर्ववर्ती आचार्यों के रीति-विवेचन से लेकर नवसमीक्षा पर्यन्त-अधुनातन साहित्यशास्त्रीय धाराओं में उपलब्ध काव्यास्वाद-विषयक अभिमतों के व्यवस्थित और समाकलित विवेचन, विश्लेषण, परीक्षण, समीक्षण तथा मूल्यांकन का प्रयत्न किया गया है। उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में प्रस्तुत अनुसंधान कार्य की मौलिकता और उपयोगिता स्वतः सिद्ध है।

प्रस्तुत प्रबन्ध आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय का शीर्षक है—'उपक्रम'। इसमें प्रतिपाद्य विषय का स्पष्टीकरण करते हुए अनुसंधान क्षेत्र का निर्धारण किया गया है। द्वितीय अध्याय में पृष्ठभूमि के रूप में संस्कृत-काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों के अनुसार काव्यास्वाद के स्वरूप एवं प्रक्रिया का विवेचन है। तृतीय अध्याय में आधुनिक हिन्दी-साहित्य-शास्त्र में निरूपित काव्यास्वाद के स्वरूप-विश्लेषण की आवश्यक भूमिका प्रस्तुत करने के उद्देश्य से पाश्चात्य काव्यशास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्र में विवेचित काव्यास्वाद के स्वरूप का अध्ययन किया गया है। चतुर्थ और पंचम अध्यायों में क्रमशः आरंभकाल (रीति-पूर्व) तथा विकास-काल (रीति काल) के प्रमुख आचार्यों की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं का विवेचन-विश्लेषण एवं मूल्यांकन किया गया है। षष्ठ और सप्तम अध्यायों में उत्कर्ष काल (आधुनिक काल) में निरूपित काव्यास्वाद के स्वरूप और प्रक्रिया का अध्ययन है। षष्ठ अध्याय में शुक्ल-पूर्व एवं शुक्लयुगीन समीक्षकों की मान्यताओं का और सप्तम अध्याय में शुक्लोत्तर साहित्यशास्त्र तथा समसामयिक साहित्यशास्त्रीय धाराओं--प्रगतिवादी आलोचना एवं नवसमीक्षा—के परिप्रेक्ष्य

में काव्यास्वाद का विवेचन किया गया है। अष्टम अध्याय मे शोध-प्रबंध का उपसंहार है।

प्रबन्ध की रचना मे श्रद्धेय डॉ० सत्यदेव चौधरी तथा श्रद्धेय डॉ० तारकनाथ बाली ने मेरा मार्ग-निर्देशन किया है, इसके लिए मैं उनके प्रति अपनी प्रणति अर्पित करता हूँ। समादरणीय दिनकरजी तथा श्रद्धास्पद डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी मूल्यवान भूमिकाओं से इस पुस्तक को विभूषित किया है, यह उनकी उदारता और मेरा सौभाग्य है कि मैं उनके स्नेह और आशीर्वाद का पात्र बन सका। मैं राधाकृष्ण प्रकाशन के अध्यक्ष श्रीयुत् ओमप्रकाश का भी हृदय से धन्यवाद करता हूँ, जिन्होंने मेरी इस पुस्तक के प्रकाशन-दायित्व का बड़े उत्साह से निर्वाह किया। श्री ओमप्रकाश में एक कुशल कार्यकर्ता के अध्यवसाय के साथ ही एक कलाकार का सौन्दर्य-बोध-सम्पन्न संवेदनशील हृदय भी है।

कृष्णवल

विषयानुक्रम

अध्याय १

उपक्रम

अध्याय २

संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्यास्वाद का स्वरूप

अध्याय ३

पाश्चात्य काव्यशास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्र में काव्यास्वाद का स्वरूप

अध्याय ४

आरम्भकाल के हिन्दी-साहित्यशास्त्र में काव्यास्वाद का विवेचन

अध्याय ५

विकासकाल : रीतिकाल के हिन्दी-साहित्यशास्त्र में काव्यास्वाद का विवेचन

अध्याय ६

उत्कर्षकाल : आधुनिक काल के साहित्यशास्त्र में काव्यास्वाद का विवेचन : 1

अध्याय ७

उत्कर्ष काल : आधुनिक काल में काव्यास्वाद का विवेचन : २

अध्याय ८

उपसंहार

अध्याय : १

उपक्रम

(क) प्रस्तुत शोध-प्रबंध का विषय और क्षेत्र
(ख) हिन्दी-साहित्यशास्त्र की सीमा-परिधि
(ग) काव्यास्वाद का अर्थ और स्वरूप
(घ) काव्यास्वाद से तात्पर्य
(ङ) आस्वादयिता का व्यक्तित्व

उपक्रम

(क) प्रस्तुत शोध-प्रबंध का विषय और क्षेत्र

काव्य की चर्वणा द्वारा प्रमाता के मन पर होने वाली प्रतिक्रिया अथवा, दूसरे शब्दों में, काव्य से प्राप्त अनुभव-तत्त्व प्रारंभ से ही काव्य-मनीषियों की जिज्ञासा का विषय रहा है; देश-विदेश के अनेक आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से इस जिज्ञासा-परितोष के लिए प्रयत्न भी किए है। उन सभी मान्यताओं के विस्तार में न जाकर केवल हिन्दी-साहित्यशास्त्र के सीमित परिवेश में ही उपलब्ध काव्यास्वाद-विषयक धारणाओं का आकलन और विवेचन यहाँ अभीष्ट है।

(ख) हिन्दी-साहित्यशास्त्र की सीमा-परिधि और काल-विभाजन

हिन्दी-साहित्यशास्त्र की सीमा-परिधि रीतिकाल के पूर्ववर्ती साहित्यशास्त्र की प्रारंभिक विवेचनाओं से लेकर अधुनातन काव्यशास्त्रीय मान्यताओं तक परिव्याप्त है।

हिन्दी की रीतिकाल-पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय रचनाएँ परिमाण, विषय-विवेचन तथा सिद्धान्त-प्रतिपादन में सर्वथा प्रारंभिक अवस्था की हैं। अतः इनका महत्त्व केवल ऐतिहासिक ही है। हिन्दी-काव्यशास्त्र वस्तुतः रीतिकाल में ही विकसित हुआ। उस युग के आचार्यों ने संस्कृत-काव्यशास्त्र की महनीय उपलब्धियों के आधार पर हिन्दी-साहित्यशास्त्र को नई दिशाएँ प्रदान कीं। आधुनिक काल के हिन्दी-काव्य-मीमांसकों ने भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र की समन्वित भूमि पर हिन्दी के स्वतंत्र साहित्यशास्त्र का भवन-निर्माण कर उसे वास्तविक अर्थ में नवोत्कर्ष प्रदान किया। इन तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए हिन्दी-साहित्यशास्त्र के विकास-क्रम को निम्न तीन चरणों में अंकित करना समीचीन होगा—

१. आरंभ काल
२. विकास काल : रीतिकाल
३. उत्कर्ष काल : आधुनिक काल

आरंभ काल

हिन्दी-काव्यशास्त्र के अनेक इतिहासविदों ने रीतिकाल को हिन्दी-काव्यशास्त्र के विकास का प्रारंभ-बिन्दु माना है, किन्तु रीतिकाल के प्रवर्तक आचार्य केशव से पूर्व भी ऐसे अनेक प्रामाणिक एवं अप्रामाणिक कवि-आचार्यों का उल्लेख मिलता है जिन्होंने अपने-अपने ढंग से साहित्यशास्त्रीय विवेचनाएँ प्रस्तुत की थीं—'शिवसिंह सरोज',[1] 'मिश्रबन्धु-विनोद'[2] तथा 'हिन्दी साहित्य का

---

१. शिवसिंह-सरोज, भूमिका, पृष्ठ ९।
२. मिश्रबंधु-विनोद : भाग १, पृष्ठ ७३।

इतिहास'[1] आदि इतिहास-ग्रंथों में पुण्ड अथवा पुष्य नामक कवि का उलेख किया गया है, जिसने साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में भी थोड़ा बहुत कार्य किया था। इस कवि का समय सं० ७७० वि० माना जाता है। उपरिलिखित इतिहास-ग्रंथों में इस कवि का केवल नामोल्लेख मात्र किया गया है। इनके द्वारा लिखे गए किसी भी ग्रंथ के उपलब्ध न होने के कारण इन्हें केवल ऐतिहासिक महत्त्व ही प्रदान किया जा सकता है, तात्त्विक नहीं।

इसके अतिरिक्त पं० राहुल सांकृत्यायन[2] ने सिद्ध शान्ति अथवा रत्नाकर शान्ति (सन् १००० ई०)-विरचित 'छन्दोरत्नाकर' एवं आचार्य हेमचन्द्र सूरी (सन् १०८२ ई० से ११७९ ई०) द्वारा रचित 'प्राकृत व्याकरण', 'छन्दोशासन' और 'देशीनाममाला' जैसी कुछ पुस्तकों का उल्लेख किया है जिन्हें एक सीमा तक अलंकार-शास्त्रीय ग्रंथों की कोटि में रखा जा सकता है। ११ वीं शताब्दी विक्रमीय के ही एक अन्य कवि जैनाचार्य नैनन[3] के नाम का भी इसी संदर्भ में उल्लेख किया जाता है। इनके ग्रंथ 'सुदर्शन-चरित्र' में नखशिख, शृंगार और नायिका-भेद आदि विपयों का परिचयात्मक विवरण दिया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में इन ग्रंथों की चर्चा का उद्देश्य भी ऐतिहासिक अनुक्रम का स्पप्टीकरण मात्र ही है। अपभ्रंश और प्राकृत में रचित इन ग्रंथों की कोई परम्परा वाद में सुरक्षित न रह सकी। वैसे भी, जैसा कि ऊपर निवेदित किया जा चुका है, इनका विपय मूलतः काव्यशास्त्र नहीं था। अधिकांश ग्रन्थकारों ने भक्ति और अध्यात्म के परिवेश में शृंगार-तत्त्व, नायिका-भेद आदि की चर्चा प्रासंगिक रूप से ही की थी। ग्रंथों की अनुपलब्धि, सामग्री की अप्रामाणिकता एवं विपयों की संदिग्ध उपयोगिता के कारण इनमें से किसी भी ग्रंथ की महत्ता हिन्दी-काव्यशास्त्रीय परम्परा के नियामक ग्रंथ के रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती, क्योंकि हिन्दी के रीतिकाल और आधुनिक काल के साहित्यशास्त्रियों ने अपने लेखन की मूल प्रेरणा, सामग्री तथा विपयों की उपस्थापन-शैली सीधे संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों से ही प्राप्त की थी।

हिन्दी-काव्यशास्त्र के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान करने वाला सर्वप्रथम ग्रंथ किसे माना जाए, इस विपय में आज कोई विशेप मतभेद शेप नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में कृपाराम द्वारा प्रणीत 'हिततरंगिणी' को हिन्दी के प्रथम रीति-ग्रंथ के रूप में मान्यता प्रदान की है[4] तथा इसका समय वि० सम्वत् १५९८ माना है। डॉ० भगीरथ मिश्र भी इसी मत के अनुमोदक हैं।[5] डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने इस संदर्भ में अपने शोध-प्रबंध 'एवोल्युशन ऑफ़ हिन्दी पोयटिक्स' में करनेस बन्दीजनकृत 'हिततरंगिणी' का उल्लेख किया है। डॉ० भगीरथ मिश्र के अनुसार डॉ० रसाल का आशय संभवतः कृपाराम-विरचित 'हिततरंगिणी' से ही था, क्योंकि करनेस ने कोई भी हिततरंगिणी नहीं लिखी।[6] डॉ० प्रतापनारायण टंडन ने भी

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३।
२. पं० राहुल सांकृत्यायन : हिन्दी काव्यधारा, (अवतरणिका), पृष्ठ ४३।
३. रामसिंह तोमर : 'जैन साहित्य-द्वारा हिन्दी में श्रीवृद्धि' लेख, साप्ताहिक वीर, १५ जून, १९४६ ई० का अंक।
४. आचार्य रामचंद्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, सातवाँ संस्करण, पृष्ठ २३२।
५. डॉ० भगीरथ मिश्र : हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ४६
६. डॉ० भगीरथ मिश्रःहिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४६ की पाद टिप्पणी।

अपने शोध-प्रबंध में कृपाराम को ही हिन्दी-समीक्षा का प्रथम आचार्य माना है।[1] डॉ० धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित 'हिन्दी-साहित्य' में भी कृपाराम की 'हिततरंगिणी' को ही हिन्दी का प्रथम काव्यशास्त्रीय ग्रंथ स्वीकार किया गया है।[2] डॉ० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास : षष्ठ भाग' में रीति-कवियों की जो तालिका दी गई है, उसमें कृपाराम को ही प्रथम स्थान प्राप्त है।[3]

दोहा छंद में रचित 'हिततरंगिणी' मूलतः कवि-शिक्षा का ग्रंथ है।[4] अन्तःसाक्ष्य के आधार पर इसकी रचना-तिथि वि० संवत् १५९८ के माघ मास के शुक्ल पक्ष की तृतीया मानी गई है।[5] कृपाराम के इस ग्रंथ पर संस्कृत के दो ग्रंथों—'नाट्यशास्त्र' और 'रसतरंगिणी' का प्रभाव स्पष्ट है। स्वयं कृपाराम के अनुसार उनके इस ग्रंथ का प्रमुख आधार भरतकृत 'नाट्य-शास्त्र' है।[6] ग्रंथ की विषयवस्तु प्रत्यक्षतः भानुदत्त-कृत 'रसतरंगिणी' से प्रभावित है। उसमें 'रसतरंगिणी' की ही भाँति अवस्थाओं के आधार पर नायिकाओं के दस भेद प्रतिपादित किए गए हैं। पाँच तरंगों में रचित यह ग्रंथ मुख्यतः नायिका-भेद का ग्रंथ है, किन्तु शृंगार-रस का निरूपण उपलब्ध होने के कारण इसे एक सीमा तक रस-निरूपक ग्रंथ भी माना जा सकता है, यद्यपि इसका शृंगार-निरूपण अत्यंत साधारण कोटि का है। 'हिततरंगिणी' का महत्व हिन्दी-काव्य-शास्त्र के आदि ग्रंथ के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। इसमें विषय-विवेचन की अंतरंगता एवं वैज्ञानिक दृष्टि का अभाव तो है ही, निरूपण-शैली में भी किसी व्यवस्थित क्रम के दर्शन नहीं होते।

कृपाराम के अनन्तर हिन्दी-साहित्यशास्त्र के आरंभ-काल में अनेक अन्य ऐसे कवि-आचार्यों का उल्लेख किया जा सकता है जिन्होंने रीति-शास्त्र के विकास में अपने-अपने ढंग से योग दिया। सूरदास 'साहित्य-लहरी' को अधिकांश विद्वानों ने 'हिततरंगिणी' के बाद की दूसरी महत्त्वपूर्ण रचना माना है। स्वयं कवि के अनुसार इसका रचनाकाल सं० १६०७ है।[7] लक्षण-निरूपण के अभाव में नायिकाओं एवं अलंकारों के केवल उदाहरणों की स्थिति में इसे लक्ष्य-ग्रंथ ही माना जा सकता है, लक्षण-ग्रंथ नहीं।

'साहित्य-लहरी' के उपरांत गोप या गोपा के उपलब्ध ग्रंथों में 'रामचंद्रभूषण' और 'रामचंद्राभरण' शीर्षक ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। ये दोनों ग्रंथ अलंकारों का लक्षण-उदाहरण सहित

---

१. डॉ० प्रतापनारायण टंडन : समीक्षा के मान और हिन्दी-समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४०८।

२. हिन्दी-साहित्य : द्वितीय खंड, सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ४२६।

३. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास, षष्ठ भाग, सं० डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ १६७।

४-५. सिधि निधि शिवमुख चंद लखि, माघ शुद्ध तृतीयासु।४००
'हिततरंगिनी' हौं रची, कविहित परम प्रकासु॥
—कृपाराम : हिततरंगिणी, सं० सुधाकर पाण्डेय, विश्वभारती, नागपुर, सन् १९६४, पंचम तरंग, दोहा सं० ४००, पृ० ८५।

६. वही, पंचम तरंग, 'ताहि प्रलाप कहै सुकवि, भरथग्रन्थ अनुसार'॥३७५॥ पृष्ठ ८०।

७. सूरदास : साहित्य-लहरी, (पुस्तक-भंडार द्वारा प्रकाशित), छंद संख्या १०९।

निरूपण करने वाले विशुद्ध अलंकार-ग्रन्थ हैं। मिश्रबन्धुओं[1] के अनुसार गोपा का समय वि० संवत् १६१५ है, किन्तु डॉ० भगीरथ मिश्र इनका समय संवत् १७७३ स्वीकार करते हैं।[2]

सं० १६१६ में रचित मोहनलाल मिश्र का 'शृंगार-सागर' रस-विवेचन और नायिका-भेद-निरूपण के लिए उल्लेखनीय है। इसके बाद के काव्यशास्त्रीय आचार्यों में 'रूप-मंजरी', 'विरह-मंजरी' और 'रस-मंजरी' के लेखक नन्ददास का नाम महत्त्वपूर्ण है। नन्ददास का जन्म संवत् १५७० के लगभग माना गया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने नन्ददास के जन्म-संवत् के विषय में कुछ न कहकर सं० १६२५ को उनका 'कविता-काल' माना है।[3] 'रूप-मंजरी' प्रत्यक्षतः काव्यशास्त्रीय ग्रंथ न होने पर भी एक रीतिबद्ध रचना है। 'विरह-मंजरी' में लेखक ने वियोग-शृंगार का भेदोपभेद-सहित विवेचन किया है, साथ ही शृंगार रस के संयोग और विप्रलम्भ दोनों भेदों का निरूपण भी किया है। 'रसमंजरी' निश्चय ही एक काव्यशास्त्रीय ग्रंथ है। इसके नायिका-भेद-निरूपण में भानुदत्त की 'रसमंजरी' का आधार इतना स्पष्ट है कि पं० उमाशंकर शुक्ल ने नंददास के उदाहरणों को भानुदत्त की रचना का रूपान्तर मात्र कह दिया है।[4] नन्ददास कृत 'रसमंजरी' में गंभीर शास्त्रीय विवेचन का अभाव होते हुए भी ऐतिहासिक दृष्टि से रीतिग्रंथों की परम्परा में इसका महत्त्व असंदिग्ध है।

इसी परम्परा में करनेस अथवा (करनेस बन्दीजन) के 'करणाभरण' 'श्रुति-भूषण और भूप भूषण' नामों का उल्लेख करना भी आवश्यक है। शुद्ध रीति-निष्ठ शैली में रचित ये ग्रंथ स्पष्टतः अलंकार-निरूपक ग्रंथ हैं।

केशव-पूर्व हिन्दी रीतिशास्त्रीय परम्परा में संवत् १६४० में रचित केशव के अग्रज बलभद्र मिश्र की 'नखशिख' और 'रस-विलास' नामक रचनाएँ तथा रहीम का 'बरवै नायिका भेद' भी उल्लेखनीय हैं।

कृपाराम से लेकर बलभद्र मिश्र तक की लगभग ४० वर्ष की अवधि को हिन्दी-काव्यशास्त्र के इतिहास के 'आरंभ-काल' का अभिधान दिया जा सकता है। इस काल-खंड में काव्यशास्त्रीय विषयों के प्रति लेखकों के मन का उत्साह शंकातीत है। उन्होंने रस-अलंकार-विवेचन और नायिका-भेद-निरूपण के प्रति विशेष अभिरुचि प्रदर्शित की। विषय-तत्त्व यद्यपि सभी ने संस्कृत-ग्रंथों से ग्रहण किया है, फिर भी किसी-किसी की लेखन-शैली में निश्चय ही वैयक्तिकता का संस्पर्श मिलता है। किन्तु इनमें से किसी भी कवि अथवा आचार्य को हिन्दी-काव्यशास्त्र के संवर्द्धन का श्रेय प्रदान नहीं किया जा सकता। इन सभी कवियों में दृष्टि की मौलिकता का एकान्त अभाव अत्यंत स्पष्ट है। इस युग के विवेचक ने संस्कृत से केवल सामग्री और शैली-प्रभाव ही ग्रहण नहीं किया, प्रत्युत अत्यंत सजग मन से उसका छायानुवाद तथा सीधा रूपान्तरण ही कर दिया है। विवेचन की स्वच्छता और वैज्ञानिकता का अभाव एवं उपस्थापना में अव्यवस्था और उलझाव इनके महत्त्व को एक साथ ही अवमूल्यित कर देते हैं। संक्षेप में, इन सभी लेखकों को हिन्दी-काव्यशास्त्र की पृष्ठभूमि का निर्माता होने का ही श्रेय प्रदान किया जा सकता है, युगनिर्माता

---

१. मिश्रबन्धु-विनोद : भाग १, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३०१।
२. डॉ० भगीरथ मिश्र : हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४७।
३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, दसवाँ सं०, पृष्ठ १७५।
४. पं० उमाशंकर शुक्ल द्वारा सम्पादित 'नन्ददास ग्रंथावली', प्रथम भाग, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ९३।

का नहीं; एक तो इनके काव्य की सर्वप्रमुख प्रवृत्ति रीति-विवेचन नहीं थी और, दूसरे, परवर्ती काव्यशास्त्रियों को भी इन लेखकों ने प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नहीं किया। दूसरे शब्दों में, इन कवियों ने युग-प्रवृत्ति को काव्यशास्त्र की व्यवस्थित परम्परा की दिशा में मोड़ देने का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित किया।

विकासकाल : रीतिकाल

हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल हिन्दी-काव्यशास्त्र के विकास का युग है। इससे पूर्व कृपाराम आदि पूर्वोल्लिखित कवियों ने काव्यशास्त्रीय विवेचन के क्षेत्र में यत्किंचित् उपादेय कार्य अवश्य किया था, किन्तु वह केवल प्रारंभिक प्रयास ही था; किसी व्यवस्थित उपक्रम के दर्शन उसमें नहीं होते।

केशवदास को हिन्दी काव्यशास्त्रीय परम्परा का प्रवर्तक आचार्य माना जाता है। डॉ० हीरालाल दीक्षित ने अनेक प्रमाणों के आधार पर इनका जन्म संवत् १६११ वि० सिद्ध किया है।[1] भक्तिकाव्य की अत्यन्त प्रबल परम्परा को रीतिशास्त्र की दिशा में प्रवृत्त करने का सर्वाधिक श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। क्रमशः सं० १६४८ वि०[2] तथा सं० १६५८ वि०[3] में रचित 'रसिक-प्रिया' तथा 'कविप्रिया' में केशवदास ने अपना काव्यशास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है। इनमें से प्रथम ग्रंथ में रस, वृत्ति, नायिका-भेद और काव्य-दोषों का सामान्यतः तथा शृंगार-रस का प्रधानतः वर्णन है। दूसरे ग्रंथ में प्रमुखतः अलंकार-विवेचन है केशवदास के आचार्यत्व का आधार उनका रस एवं नायिका-भेद-निरूपण तथा अलंकार-विवेचन है। उन्होंने अपने रस-विवेचन के लिए भोजराज कृत 'शृंगार-प्रकाश' और गौड़ीय वैष्णव आचार्य रूपगोस्वामी के 'उज्ज्वलनील-मणि' और 'भक्तिरसामृत सिंधु' का आधार विशेषतः तथा भरत, विश्वनाथ, अभिनवगुप्त और मम्मट आदि के प्रसिद्ध संस्कृत-ग्रंथों का आधार सामान्य रूप से ग्रहण किया है; नायिका-भेद-निरूपण के लिए 'नाट्यशास्त्र', 'साहित्यदर्पण', 'रसार्णवसुधाकर', 'कामसूत्र' और 'अनंगरंग', तथा अलंकार-विवेचन के लिए 'अलंकार-शेखर', 'काव्य-कल्पलतावृत्ति', 'काव्यादर्श' तथा 'अलंकारसूत्र' आदि संस्कृत-ग्रंथों को आधार-रूप में ग्रहण किया है। केशव के नायिका-भेद-निरूपण एवं अलंकार-विवेचन में कहीं-कहीं मौलिकता के दर्शन भी होते हैं। उनका अधिकांश काव्यशास्त्रीय विवेचन संस्कृत का रूपान्तरण मात्र है; अलंकार-विवेचन एवं नायिकाभेद-निरूपण में उन्होंने जहाँ कहीं यत्किंचित् मौलिक उद्भावनाएँ की भी हैं, उनको कालान्तर में मान्यता प्राप्त न हो सकी। फिर भी, केशव बहुविधप्रतिभासम्पन्न आचार्य थे, इसमें सन्देह नहीं। संस्कृत की ध्वनि-पूर्व और ध्वनि-उत्तर काल की काव्यशास्त्रीय परम्पराओं को हिन्दी में लाने तथा हिन्दी-काव्यशास्त्र में व्यवस्थित और क्रमबद्ध विवेचन की नींव डालने का श्रेय निश्चय ही उन्हीं को दिया जाना चाहिए।

सं० १६६६ वि० में उत्पन्न[4] चिन्तामणि त्रिपाठी हिन्दी के प्रथम सर्वांग-निरूपक आचार्य

---

१. डॉ० हीरालाल दीक्षित : आचार्य केशवदास, पृष्ठ ३२।
२. आचार्य केशवदास : रसिकप्रिया, पृष्ठ ११।
३. वही, कविप्रिया, पृष्ठ ३।
४. (क) मिश्रबन्धु विनोद : भाग २, पृष्ठ ४०८।
   (ख) पं० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, दसवाँ सं०, पृ० २४२।

का नहीं; एक तो इनके काव्य की सर्वप्रमुख प्रवृत्ति रीति-विवेचन नहीं थी और, दूसरे, परवर्ती काव्यशास्त्रियों को भी इन लेखकों ने प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नहीं किया। दूसरे शब्दों में, इन कवियों ने युग-प्रवृत्ति को काव्यशास्त्र की व्यवस्थित परम्परा की दिशा में मोड़ देने का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित किया।

विकासकाल : रीतिकाल

हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल हिन्दी-काव्यशास्त्र के विकास का युग है। इससे पूर्व कृपाराम आदि पूर्वोल्लिखित कवियों ने काव्यशास्त्रीय विवेचन के क्षेत्र में यत्किंचित् उपादेय कार्य अवश्य किया था, किन्तु वह केवल प्रारंभिक प्रयास ही था; किसी व्यवस्थित उपक्रम के दर्शन उसमें नहीं होते।

केशवदास को हिन्दी काव्यशास्त्रीय परम्परा का प्रवर्त्तक आचार्य माना जाता है। डॉ० हीरालाल दीक्षित ने अनेक प्रमाणों के आधार पर इनका जन्म संवत् १६११ वि० सिद्ध किया है।[1] भक्तिकाव्य की अत्यन्त प्रबल परम्परा को रीतिशास्त्र की दिशा में प्रवृत्त करने का सर्वाधिक श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। क्रमशः सं० १६४८ वि०[2] तथा सं० १६५८ वि०[3] में रचित 'रसिक-प्रिया' तथा 'कविप्रिया' में केशवदास ने अपना काव्यशास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है। इनमें से प्रथम ग्रंथ में रस, वृत्ति, नायिका-भेद और काव्य-दोषों का सामान्यतः तथा शृंगार-रस का प्रधानतः वर्णन है। दूसरे ग्रंथ में प्रमुखतः अलंकार-विवेचन है केशवदास के आचार्यत्व का आधार उनका रस एवं नायिका-भेद-निरूपण तथा अलंकार-विवेचन है। उन्होंने अपने रस-विवेचन के लिए भोजराज कृत 'शृंगार-प्रकाश' और गौड़ीय वैष्णव आचार्य रूपगोस्वामी के 'उज्ज्वलनील-मणि' और 'भक्तिरसामृत सिंधु' का आधार विशेषतः तथा भरत, विश्वनाथ, अभिनवगुप्त और मम्मट आदि के प्रसिद्ध संस्कृत-ग्रंथों का आधार सामान्य रूप से ग्रहण किया है; नायिका-भेद-निरूपण के लिए 'नाट्यशास्त्र', 'साहित्यदर्पण', 'रसार्णवसुधाकर', 'कामसूत्र' और 'अनंगरंग', तथा अलंकार-विवेचन के लिए 'अलंकार-शेखर', 'काव्य-कल्पलतावृत्ति', 'काव्यादर्श' तथा 'अलंकारसूत्र' आदि संस्कृत-ग्रंथों को आधार-रूप में ग्रहण किया है। केशव के नायिका-भेद-निरूपण एवं अलंकार-विवेचन में कहीं-कहीं मौलिकता के दर्शन भी होते हैं। उनका अधिकांश काव्यशास्त्रीय विवेचन संस्कृत का रूपान्तरण मात्र है; अलंकार-विवेचन एवं नायिकाभेद-निरूपण में उन्होंने जहाँ कहीं यत्किंचित् मौलिक उद्भावनाएँ की भी हैं, उनको कालान्तर में मान्यता प्राप्त न हो सकी। फिर भी, केशव बहुविधप्रतिभासम्पन्न आचार्य थे, इसमें सन्देह नहीं। संस्कृत की ध्वनि-पूर्व और ध्वनि-उत्तर काल की काव्यशास्त्रीय परम्पराओं को हिन्दी में लाने तथा हिन्दी-काव्यशास्त्र में व्यवस्थित और क्रमबद्ध विवेचन की नींव डालने का श्रेय निश्चय ही उन्हीं को दिया जाना चाहिए।

सं० १६६६ वि० में उत्पन्न[4] चिन्तामणि त्रिपाठी हिन्दी के प्रथम सर्वांग-निरूपक आचार्य

---

१. डॉ० हीरालाल दीक्षित : आचार्य केशवदास, पृष्ठ ३२।
२. आचार्य केशवदास : रसिकप्रिया, पृष्ठ ११।
३. वही, कविप्रिया, पृष्ठ ३।
४. (क) मिश्रबन्धु विनोद : भाग २, पृष्ठ ४०८।
(ख) पं० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, दसवां सं०, पृ० २४२।

हैं। इन्होंने 'काव्यविवेक', 'काव्यप्रकाश', 'कविकुलकल्पतरु' एवं 'रसमंजरी' नामक चार काव्यशास्त्रीय ग्रंथों तथा 'पिंगल' नामक एक छन्दशास्त्रीय ग्रंथ की रचना की। आठ प्रकरणों में विभक्त अपनी सर्वाधिक प्रसिद्ध कृति 'कविकुलकल्पतरु' में आचार्य चिन्तामणि ने मम्मट की भाँति ध्वनि-प्रकरण के अन्तर्गत ही रस का विवेचन किया है। केशव की भाँति चिन्तामणि ने भी अपनी सामग्री का संकलन संस्कृत-ग्रंथों से ही किया है। मम्मट, विद्यानाथ, विश्वनाथ एवं भानुमिश्र से वे विशेष प्रभावित हुए हैं। सामग्री की सुव्यवस्था एवं उपादेय विषय-निर्वाचन के अतिरिक्त विविध काव्यांगों का सुस्पष्ट विवेचन कर परवर्ती काव्यशास्त्रियों का मार्ग प्रशस्त करने की दृष्टि से आचार्य चिन्तामणि को विशेष महत्त्व प्रदान किया जाता है।

सं० १७२७ वि० में रचित 'रसरहस्य' के सुप्रसिद्ध रचयिता कुलपति मिश्र रीतिकाल के ध्वनिवादी आचार्य हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "इनका 'रसरहस्य' मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' का छायानुवाद"[1] मात्र है, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रंथ में 'काव्यप्रकाश' की कारिकाओं का अनुवाद-मात्र नहीं है, प्रत्युत काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों को स्पष्ट और बोधगम्य शैली में प्रतिपादित करने का प्रयास भी है।

सत्रहवीं शती के ही 'सुधानिधि' के प्रणेता तोपकवि एवं 'भाषाभूषण' के रचयिता महाराज जसवंतसिंह के नाम भी उल्लेखनीय हैं। ये दोनों ही ग्रंथ साधारण कोटि के हैं।

लगभग उन्हीं के समकालीन मतिराम की रुचि यद्यपि मुख्यतः शृंगार-विवेचन में ही रही, तथापि अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'ललितललाम' में उन्होंने अलंकारों का निरूपण भी किया है। 'रसराज' में नायिका-भेद और शृंगार-रस का निरूपण किया गया है। इन दो ग्रंथों के अतिरिक्त मतिराम ने 'अलंकार-पंचाशिका', 'साहित्य-सार', और 'लक्षण-शृंगार' नामक ग्रंथों की रचना भी की।

१८वीं शती के महाकवि देव सर्वांग-निरूपक आचार्य हैं। 'भाव-विलास', 'भवानी-विलास', 'शब्द-रसायन' और 'काव्य-रसायन' इनके प्रमुख ग्रंथ हैं। 'शब्द-रसायन' नवरस, अलंकार, शब्द-शक्ति, पिंगल, काव्य-स्वरूप, दश रीति (गुण), चार वृत्ति, पदार्थ-निर्णय, काव्य की महिमा आदि विषयों का गंभीर, प्रौढ़ एवं सांगोपांग विवेचन करने वाला विविधांग-निरूपक ग्रंथ है। 'भाव-विलास', 'भवानी-विलास' और 'शब्द-रसायन' में देव की रसोन्मुखी दृष्टि का परिचय मिलता है। 'रस-विलास' 'कुशल-विलास', 'सुजान-विनोद', 'शृंगार-विलासिनी' (संस्कृत) और 'सुख-सागर-तरंग' उनके नायिका-भेद निरूपक ग्रंथ हैं। समग्रतः देव के रीति-विवेचन का प्रमुख विषय रस और उसके अंतर्गत भी शृंगार-रस एवं नायिका-भेद-निरूपण है।

'रसपीयूषनिधि' के रचयिता सोमनाथ का समय भी लगभग यही है। इन्होंने अपने ग्रंथ में काव्य-स्वरूप, काव्य-प्रयोजन, शब्दशक्ति, काव्य-कारण, ध्वनि और रस आदि के अतिरिक्त छन्द का निरूपण भी किया है। रीतिकाल के अधिकांश कवियों की भाँति ही सोमनाथ पर भी अप्पय्यदीक्षित, मम्मट, विश्वनाथ और भानुदत्त का गहरा प्रभाव पड़ा।

भिखारीदास और प्रतापसाहि भी अपनी प्रतिभा और मेधा के लिए प्रसिद्ध हैं। भिखारीदास ने सं० १७९६ वि०, सं० १८०३ वि० तथा सं० १८०७ वि० में क्रमशः 'रस-सारांश', 'काव्य-निर्णय' और 'शृंगार-निर्णय' की रचना की। 'काव्य-निर्णय' इनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, दसवाँ संस्करण, पृष्ठ २५९।

ग्रंथ है। इसमें काव्य-स्वरूप, शब्दशक्ति एवं काव्य-दोष का सुन्दर विवेचन किया गया है। 'रस-सारांश' में रस-निरूपण है। इसमें रस को ध्वनि के अन्तर्गत स्थान न देकर उसका स्वतंत्र विवेचन किया गया है। यद्यपि भिखारीदास में मौलिकता के स्पष्ट दर्शन होते हैं, फिर भी इनके रस-विवेचन पर मम्मट एवं विश्वनाथ और अलंकार निरूपण पर अप्पय्यदीक्षित का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। प्रतापसाहि ध्वनिवादी आचार्य हैं। सं० १८८३ वि० में रचित 'व्यंग्यार्थ-कौमुदी' के मूल भाग में इन्होंने नायक नायिका-भेद का सोदाहरण विवेचन किया है; इसके टीका-भाग में नायक नायिका-भेद के अतिरिक्त ध्वनि के भेद, अलंकार एवं शब्दशक्ति का विवेचन भी मिलता है। सं० १८८३ वि० में प्रणीत इनके दूसरे ग्रंथ 'काव्य-विलास' में काव्य-स्वरूप, काव्य-प्रयोजन, काव्य-कारण, शब्दशक्ति, ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य, गुण एवं दोषों का सम्यक् निरूपण प्राप्त होता है। इन दो पुस्तकों के अतिरिक्त 'काव्य-विनोद', 'शृंगार-मंजरी' एवं 'अलंकार-चिन्तामणि' नामक इनके तीन अन्य ग्रंथों का उल्लेख भी रीतिग्रंथों में मिलता है, किन्तु ये सभी अनुपलब्ध हैं। प्रतापसाहि पर भी मम्मट और विश्वनाथ का प्रभाव है।

कालक्रमानुसार रीतिकाल के उपर्युक्त प्रमुख आचार्यों के तुरन्त पश्चात् उनकी अपेक्षा कुछ महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रियों का उल्लेख भी इतिहास-ग्रंथों में किया गया है। रीति-परम्परा में सम्मिलित होने के उद्देश्य से ये कवि अपने युग के प्रसिद्ध कवि आचार्यों के अनुकरण पर तृतीय श्रेणी की प्रतिभा के सहारे संस्कृत-काव्यशास्त्र का अधकचरा पद्यानुवाद प्रस्तुत करते रहे। इनमें रामजी, गोपालराय, वालराम, बलवीर, कल्यानदास आदि को हिन्दी-साहित्यशास्त्र के इतिहासकार[1] कोई महत्त्व नहीं देते।

किन्तु इसी समय के आसपास सूरति मिश्र, कुमारमणिभट्ट, श्रीपति, रसलीन, उदयनाथ, रतनकवि, करनकवि एवं रसिक-गोविन्द आदि—संस्कृत के काव्यशास्त्रीय विवेचन को ही आधार बनाकर काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की रचना करने वाले कुछ ऐसे कवि भी हुए जिनके रीति-ग्रंथों को किन्हीं कारणों से विशेष समादर एवं प्रसिद्धि भले ही न मिल सकी हो, तथापि इनके रीति-विवेचन में कहीं-कहीं प्रतिभा का उन्मेष निस्संदेह मिलता है।

पद्माकर का नाम रीतिशास्त्रीय परम्परा के अन्तिम आचार्यों में महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने 'जगद्विनोद' और 'पद्माभरण' नामक दो काव्यशास्त्रीय रचनाएँ प्रस्तुत कीं। 'जगद्विनोद' को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मतिराम कृत-'रसराज' के समकक्ष ठहराया है।[2]

रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय परम्परा में यद्यपि प्रथम श्रेणी के चिन्तन अथवा नितान्त मौलिक उद्भावनाओं की उपलब्धि नहीं होती, फिर भी कृपाराम आदि केशव-पूर्व हिन्दी काव्यशास्त्रियों के प्रारंभिक कार्य को विकसित करने में इस युग के आचार्यों का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाएगा। अधिसंख्य कवियों के अपने आप को आचार्य-रूप में प्रतिष्ठित करने के प्रयास के कारण रीतिशास्त्रीय ग्रन्थों की विपुल संख्या भी अपने आप में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। किन्तु परिमाणाधिक्य से प्रायः प्रतिभा के क्षय की आशंका भी रहती है। यही कारण है कि इस युग के अधिकांश काव्यशास्त्रीय ग्रंथ अत्यन्त साधारण कोटि के हैं। फिर भी केशवदास, चिन्तामणि, कुलपति, देव, सोमनाथ, भिखारीदास तथा प्रतापसाहि के काव्यशास्त्रीय चिन्तन में

१. डॉ० भगीरथ मिश्र : हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ९१-९२।
२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, (दसवां संस्करण), पृष्ठ ३०७।

पर्याप्त मौलिकता तथा वैज्ञानिक एवं सुष्ठु विवेचनात्मक दृष्टि का परिचय मिलता है। हिन्दी की साहित्यशास्त्रीय परम्परा में इनका योगदान निश्चय ही स्तुत्य है।

उत्कर्ष काल : आधुनिक काल

हिन्दी-साहित्यशास्त्र का आधुनिक काल उसके उत्कर्ष का युग है। वर्त्तमान शती में, विशेषतः प्रथम महायुद्ध के पश्चात् पाश्चात्य साहित्य और संस्कृति के सान्निध्य, औद्योगीकरण, वैज्ञानिक दृष्टि के उन्मेष तथा भारतीय जनता के महान् सांस्कृतिक-राजनीतिक पुनर्जागरण के फलस्वरूप अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य के साथ हिन्दी साहित्य में जिस आधुनिक दृष्टि का उदय हुआ, उसका अनिवार्य प्रभाव समीक्षा पर भी पड़ा। प्राचीन एवं अर्वाचीन हिन्दी-साहित्य के परिप्रेक्ष्य में संस्कृत एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के समन्वय एवं संश्लेषण द्वारा हिन्दी के अपने स्वतंत्र काव्यशास्त्र का विकास इस युग की अभूतपूर्व घटना है।

कालक्रम की दृष्टि से उत्कर्षकाल को चार चरणों में विभक्त किया जा सकता है:

१. शुक्ल पूर्व युग।
२. शुक्ल युग।
३. शुक्लोत्तर युग।
४. समसामयिक साहित्यशास्त्रीय धाराएँ।

शुक्ल-पूर्व युग

हिन्दी-साहित्यशास्त्र के इतिहास में आधुनिक काल का आरंभ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सन् १८५०-१८८५ ई०) के 'नाटक' शीर्षक निबन्ध से माना जाता है। इस निबन्ध में लेखक ने नाटक के स्वरूप, भेदोपभेद, रचनापद्धतियों एवं रंगमंच आदि विषयों का विवेचन किया है। सन् १८९३ ई० में कविराजा मुरारिदीन ने 'जसवंत-भूषण' नामक सर्वांगनिरूपक ग्रंथ तथा महाराजा प्रतापनारायणसिंह ने सन् १८९४ ई० में 'रसकुसुमाकर' नामक ग्रंथ की रचना ब्रजभाषा-पद्य में की।

आधुनिक काल के प्रारंभिक काव्यशास्त्रियों में जगन्नाथप्रसाद 'भानु कवि' एवं बिहारीलाल भट्ट के नाम भी उल्लेखनीय हैं। 'भानु कवि' ने सन् १८०९ में 'काव्य-प्रभाकर' की रचना की। यद्यपि इस ग्रंथ में किसी मौलिक सिद्धान्त-प्रतिपादन की चेष्टा नही की गई, तथापि इसमें काव्यशास्त्र के पारम्परिक अंगों का विस्तृत परिचय मिलता है। 'छंद-प्रभाकर' इनका पिंगल-शास्त्रीय ग्रंथ है। बिहारीलाल भट्ट ने सन् १९३७ में 'साहित्यसागर' का प्रकाशन कराया। दो भागों में विभक्त इस ग्रंथ में लगभग सभी साहित्यांगों का विवेचन किया गया है।

इन्हीं के समसामयिक लाला भगवानदीन की प्रसिद्ध रचना 'अलंकार-मंजूषा' का प्रथम प्रकाशन सन् १९१६ में हुआ। डॉ० भगीरथ मिश्र की सम्मति में 'आचार्यता का उत्कृष्ट गुण न होते हुए भी 'अलंकार-मंजूषा' उपयोगी पुस्तक है और दीनजी की काव्य-रसिकता की द्योतक है।"[1]

कन्हैयालाल पोद्दार के प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्यकल्पद्रुम' का प्रकाशन सन् १९२६ में हुआ। इस पुस्तक के प्रथम भाग—'रस मंजरी'—में मुख्यतः 'काव्य-प्रकाश' के आधार पर समस्त काव्यांगों

---

१. डॉ० भगीरथ मिश्र : हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २०९।

का विवेचन किया गया है; दूसरा भाग 'अलंकार मंजरी' हिन्दी के अलंकार निरूपक साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

शुक्ल पूर्ववर्ती सैद्धान्तिक समीक्षाकारों में सीताराम शास्त्री, अर्जुनदास केडिया एवं हरिऔध के नाम महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। शास्त्रीजी ने मम्मट एवं विश्वनाथ के आधार पर सन् १९२३ में 'साहित्य-सिद्धान्त' नामक ग्रंथ का प्रणयन किया। सन् १९३० ई० में प्रकाशित केडिया जी के 'भारती-भूषण' में मुख्यतः अलंकारों का ही विवेचन किया गया है, यद्यपि काव्यशास्त्र के अनेक अन्य विषय भी इसमें चर्चा का विषय बने हैं।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का प्रख्यात ग्रंथ 'रस-कलस' सन् १९३१ में प्रकाशित हुआ। आधुनिक काल में लिखित हिन्दी के रस-विवेचक ग्रंथों में 'रस-कलस' का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके अतिरिक्त डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' का नाम भी प्रस्तुत संदर्भ में उल्लेखनीय है। इन्होंने 'हिन्दी-काव्यशास्त्र का विकास' शीर्षक शोध-प्रबंध लिखकर सन् १९३७ में डी० लिट् की उपाधि प्राप्त की। इन्होंने अपनी एक अन्य रचना 'अलंकार-पीयूष' में अलंकारशास्त्र के सुविस्तृत विवेचन के अतिरिक्त हिन्दी अलंकारशास्त्र का इतिहास भी प्रस्तुत किया है। मिश्रबन्धु (पं० प्रतापनारायण मिश्र और पं० शुकदेवबिहारी मिश्र) की साहित्य-शास्त्रीय धारणाओं का प्रतिनिधि ग्रंथ 'साहित्यपारिजात' सन् १९४० में प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ में 'काव्य-प्रकाश', 'साहित्य दर्पण' और 'रसगंगाधर' आदि संस्कृत-ग्रंथों के गंभीर अध्ययन के आधार पर मिश्रबन्धुओं ने प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण काव्य-शास्त्रीय विषयों पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का उल्लेख यद्यपि हिन्दी-गद्य के निर्माता एवं सफल सम्पादक-समालोचक के रूप में ही अधिक किया जाता है, तथापि 'रसज्ञ-रंजन', 'आलोचनांजलि', 'साहित्यालाप' तथा 'साहित्य-संदर्भ' नामक कृतियों में उनके समीक्षा-सिद्धांतों का भी परिचय मिलता है। डॉ० भगीरथ मिश्र ने अपने 'हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास' शीर्षक ग्रंथ में द्विवेदी जी को 'नवीन दृष्टिकोण' वाले समीक्षकों में प्रथम स्थान दिया है।[1] छंद, काव्य-भाषा, अर्थ-गौरव एवं नायिका-भेद आदि विषयों पर द्विवेदीजी के विचार महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं।

आधुनिक हिन्दी-साहित्यशास्त्र के इतिहास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से पूर्व के इन समालोचकों में से कुछ पर यद्यपि रीतिकाल की शास्त्रीय परम्परा का प्रभाव अवशिष्ट है, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि इन सभी में आधुनिक दृष्टि का उन्मेष धीरे-धीरे होने लगा था।

शुक्ल युग

हिन्दी-साहित्यशास्त्र में आधुनिकता का उन्मेष वस्तुतः आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के आविर्भाव से हुआ। हिन्दी-समीक्षा के इतिहास में सर्वप्रथम शुक्लजी ने ही पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र का विधिवत् एवं मनोयोगपूर्वक व्यवस्थित अध्ययन किया। संभवतः इसीलिए उन्होंने भारतीय मनीषा की भव्यतम एवं प्राचीनतम उद्भूति रस-सिद्धान्त को मनोविज्ञान की अभिनव आधार-भूमि प्रदान की। इनके द्वारा प्रस्तुत साधारणीकरण-सिद्धान्त की पुनर्व्याख्या हिन्दी-समीक्षाशास्त्र के इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना है। शुक्लजी की आलोचना-पद्धति पर अनेक पाश्चात्य

---

१. डॉ० भगीरथ मिश्र : 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास', द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २३९।

चिन्तकों, विशेषतः आई० ए० रिचर्ड्स और वेनदेतो क्रोचे का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। उनकी सहज रुचि वस्तुतः व्यावहारिक आलोचना के प्रति थी और इसी में उनकी साहित्यिक मान्यताओं का सन्धान भी सहज ही किया जा सकता है। शुक्लजी ने सुविचारित योजना के अनुसार किसी काव्यशास्त्रीय ग्रंथ की रचना नहीं की। उनके तत्संबंधी विचार 'चिन्तामणि' (दो भाग) तथा 'रस-मीमांसा' (निधनोपरांत संकलित और प्रकाशित) में उपलब्ध हैं।

शुक्लजी के समकालीन आचार्य श्यामसुन्दरदास ने भी हिन्दी के सैद्धान्तिक समीक्षा-क्षेत्र में उस युग की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण योगदान किया। हडसन के अंग्रेजी ग्रंथ 'एन इन्ट्रोडक्शन टू दि स्टडी ऑफ़ लिट्रेचर' का छायानुवाद होने पर भी उनका ग्रंथ 'साहित्यालोचन' उस युग में पर्याप्त समादृत हुआ। लगभग इसी समय आचार्य पद्मसिंह शर्मा ने हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा का प्रवर्त्तन किया। 'बिहारी सतसई की भूमिका' तथा 'पद्मपराग' में उनकी व्यावहारिक समीक्षा-पद्धति के साथ-साथ उनके सैद्धान्तिक विवेचन का परिचय भी मिलता है। शुक्लजी के समसामयिक आचार्यों में रामदहिन मिश्र, वलदेव उपाध्याय और विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। पं० रामदहिन मिश्र ने 'काव्यालोक' और 'काव्य-दर्पण' शीर्षक ग्रंथों में भारतीय काव्यशास्त्र के विवेचन-विश्लेषण के साथ-साथ कहीं-कहीं पाश्चात्य साहित्यशास्त्र पर भी प्रकाश डाला है। इसके अतिरिक्त इनके 'काव्य में अप्रस्तुत-योजना' नामक ग्रंथ में काव्य-शिल्प-संबंधी महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किए गए हैं। पं० वलदेव उपाध्याय के 'भारतीय साहित्यशास्त्र' (दो भाग) तथा 'संस्कृत आलोचना' नामक ग्रंथ संस्कृत-काव्यशास्त्र की अत्यन्त प्रामाणिक एवं तथ्यनिरूपिणी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उपाध्यायजी ने अपने विवेचन-क्रम में पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का आधार भी ग्रहण किया है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के 'बिहारी की वाग्विभूति' एवं 'वाङ्मय-विमर्श' नामक ग्रंथों में उपलब्ध काव्यशास्त्रीय विवेचन संक्षिप्त तथा नितान्त परम्परानुरूप है।

इस युग में छायावाद के कवि-चतुष्टय के आलोचनात्मक गद्य का भी अपना महत्त्व है। 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' में जयशंकरप्रसाद की प्रौढ़ आलोचना-दृष्टि का परिचय मिलता है। ऐतिहासिक अनुक्रम को स्पष्ट करते हुए उन्होंने प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र की सम्मिलित भूमि पर अपनी साहित्य-दृष्टि को स्थिर किया। काव्य में अभिव्यंजना की अपेक्षा अनुभूति को ही प्रसादजी ने अधिक महत्त्व प्रदान किया। उनका रसवाद शैवागम पर आधृत है। महाप्राण निराला ने भी व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों ही प्रकार की समीक्षा में अपनी तलस्पर्शी प्रतिभा तथा गंभीर विश्लेषक बुद्धि का परिचय दिया है। 'प्रबन्ध-पद्म', 'प्रबन्ध-प्रतिमा' तथा 'चाबुक' में उनके आलोचनात्मक निबन्ध संकलित हैं। निरालाजी के मुक्तछंद-विषयक विचार मौलिक हैं तथा अपनी प्रामाणिकता सिद्ध कर चुके हैं। सुमित्रानन्दन पंत के 'पल्लव' के 'प्रवेश' ने अपने युग में समीक्षा के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त किया। काव्य के बाह्य शैलिक उपकरणों—भाषा, अलंकार, छंद, लय, तुक आदि के अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण की दृष्टि से पंतजी का स्थान छायावादी कवियों में अन्यतम है। उनके काव्यों की भूमिकाएँ 'गद्य-पथ' में संकलित हैं। व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में 'छायावाद का पुनर्मूल्यांकन' उनका नवीनतम ग्रंथ है। महादेवी वर्मा विचार और अनुभूति के संश्लेषण के लिए सुख्यात हैं। 'दीपशिखा' की भूमिका में उन्होंने गीत की प्रकृति एवं गीति-तत्त्व का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' में उनका आलोचनात्मक कृतित्व संकलित है।

शुक्ल-युग वस्तुतः, हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा में पाश्चात्य दृष्टि के समावेश और उससे उद्भूत तार्किक वैज्ञानिकता के प्रवर्त्तन का युग है। इस युग के समीक्षकों, विशेषतः शुक्लजी ने परवर्ती हिन्दी काव्यशास्त्र के स्वरूप-निर्धारण एवं उसे वास्तविक अभिनव दिशा की ओर प्रवृत्त करने में अभूतपूर्व योग दिया। पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्यशास्त्र के संश्लिष्ट रूप की आधारभूमि पर हिन्दी के जिस स्वतंत्र काव्यशास्त्र का विकास आगे चल कर हुआ, उसकी नींव भी वस्तुतः इसी युग में पड़ी।

शुक्लोत्तर युग तथा समसामयिक साहित्यशास्त्रीय धाराएँ

शुक्ल-युग में हिन्दी में साहित्य और जीवन के प्रति जो भावोच्छ्वासपूर्ण रोमानी, किन्तु वायवी दृष्टि क्रमशः रूढ़ हो चली थी, वह शुक्ल-परवर्ती युग में धीरे-धीरे निःशेष होने लगी। फलस्वरूप भाव का स्थान अर्थ ने, कल्पना का स्थान यथार्थ ने, अतीन्द्रियता का स्थान मांसलता तथा सूक्ष्म आध्यात्मिकता का स्थान स्थूल भौतिकता ने ले लिया; साहित्य में प्रमुखतः अर्थ और काम की विवेचना होने लगी। प्रधानतः मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त पर आधारित प्रगतिवादी एवं फ्रॉयड आदि मनोविश्लेषकों की मान्यताओं से प्रभावित मनोविश्लेषणवादी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ स्पष्टतः उभरने लगीं। व्यावहारिक समीक्षा पर इन सब का गहरा प्रभाव पड़ा।

सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रभाव इस युग में पूर्वापेक्षया अधिक व्यापक और गहन रूप से पड़ा। फलतः हिन्दी-समीक्षा में मनोविज्ञान और अभिनव आधुनिक-बोध को लेकर युगान्तर उपस्थित हुआ। हिन्दी के साहित्य-मीमांसकों ने न केवल भारतीय काव्यशास्त्र का आधुनिक मनोविज्ञान एवं पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र के प्रकाश में विश्लेषण एवं भारतीय दृष्टिकोण से पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का अध्ययन ही किया, (प्रत्युत) इन दोनों साहित्यशास्त्रों की समन्वित-संश्लिष्ट भूमि पर हिन्दी की अपनी प्रकृति के सीमान्तों के भीतर हिन्दी के स्वतंत्र काव्यशास्त्र के निर्माण की दिशा में सचेष्ट चरणन्यास किया।

शुक्ल-परवर्ती युग के सर्वप्रथम उल्लेख्य समालोचक बाबू गुलाबराय हैं। 'नवरस', 'काव्य के रूप', 'सिद्धान्त और अध्ययन', एवं 'अध्ययन और आस्वाद' में उन्होंने विविध काव्यसिद्धान्तों का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया है। भारतीय और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों के समन्वय एवं मनोविज्ञान-पुष्ट विवेचन की दृष्टि से गुलाबराय की सैद्धान्तिक समीक्षा का विशेष महत्त्व है।

डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' ने भारतीय और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र, दर्शन तथा मनोविज्ञान के पुष्ट आधार पर हिन्दी-काव्यशास्त्र को व्यापक भूमि प्रदान की। व्यावहारिक समीक्षक होने पर भी वे मूलतः सिद्धान्त-समीक्षक ही हैं। 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' तथा 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। सौष्ठववादी आलोचना के प्रमुख समीक्षक पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने अपने समीक्षा-शास्त्र के तत्त्व भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र से ग्रहण किए हैं। वे रसवादी आचार्य हैं और जयशंकर प्रसाद की भाँति काव्य में अनुभूति की अभिव्यंजना की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते हैं। नन्ददुलारे जी की प्रवृत्ति यद्यपि व्यावहारिक समीक्षा की ओर ही अधिक रही है, तथापि इनके साहित्य-संबंधी सैद्धान्तिक विचार 'आधुनिक साहित्य', 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' तथा 'नया साहित्य : नए प्रश्न' में व्यक्त हुए हैं।

चिन्तकों, विशेषत: आई० ए० रिचर्ड्स और बेनदेतो क्रोचे का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। उनकी सहज रुचि वस्तुत: व्यावहारिक आलोचना के प्रति थी और इसी में उनकी साहित्यिक मान्यताओं का सन्धान भी सहज ही किया जा सकता है। शुक्लजी ने सुविचारित योजना के अनुसार किसी काव्यशास्त्रीय ग्रंथ की रचना नहीं की। उनके तत्संबंधी विचार 'चिन्तामणि' (दो भाग) तथा 'रस-मीमांसा' (निधनोपरांत संकलित और प्रकाशित) में उपलब्ध हैं।

शुक्लजी के समकालीन आचार्य श्यामसुन्दरदास ने भी हिन्दी के सैद्धान्तिक समीक्षा-क्षेत्र में उस युग की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण योगदान किया। हडसन के अंग्रेज़ी ग्रंथ 'एन इन्ट्रोडक्शन टू दि स्टडी ऑफ़ लिट्रेचर' का छायानुवाद होने पर भी उनका ग्रंथ 'साहित्यालोचन' उस युग में पर्याप्त समादृत हुआ। लगभग इसी समय आचार्य पद्मसिंह शर्मा ने हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा का प्रवर्त्तन किया। 'बिहारी सतसई की भूमिका' तथा 'पद्मपराग' में उनकी व्यावहारिक समीक्षा-पद्धति के साथ-साथ उनके सैद्धान्तिक विवेचन का परिचय भी मिलता है। शुक्लजी के समसामयिक आचार्यों में रामदहिन मिश्र, बलदेव उपाध्याय और विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का स्थान भी महत्वपूर्ण है। पं० रामदहिन मिश्र ने 'काव्यालोक' और 'काव्य-दर्पण' शीर्षक ग्रंथों में भारतीय काव्यशास्त्र के विवेचन-विश्लेषण के साथ-साथ कहीं-कहीं पाश्चात्य साहित्यशास्त्र पर भी प्रकाश डाला है। इसके अतिरिक्त इनके 'काव्य में अप्रस्तुत-योजना' नामक ग्रंथ में काव्य-शिल्प-संबंधी महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किए गए हैं। पं० बलदेव उपाध्याय के 'भारतीय साहित्यशास्त्र' (दो भाग) तथा 'संस्कृत आलोचना' नामक ग्रंथ संस्कृत-काव्यशास्त्र की अत्यन्त प्रामाणिक एवं तथ्यनिरूपिणी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उपाध्यायजी ने अपने विवेचन-क्रम में पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का आधार भी ग्रहण किया है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के 'बिहारी की वाग्विभूति' एवं 'वाङमय-विमर्श' नामक ग्रंथों में उपलब्ध काव्यशास्त्रीय विवेचन संक्षिप्त तथा नितान्त परम्परानुरूप है।

इस युग में छायावाद के कवि-चतुष्टय के आलोचनात्मक गद्य का भी अपना महत्त्व है। 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' में जयशंकरप्रसाद की प्रौढ़ आलोचना-दृष्टि का परिचय मिलता है। ऐतिहासिक अनुक्रम को स्पष्ट करते हुए उन्होंने प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र की सम्मिलित भूमि पर अपनी साहित्य-दृष्टि को स्थिर किया। काव्य में अभिव्यंजना की अपेक्षा अनुभूति को ही प्रसादजी ने अधिक महत्त्व प्रदान किया। उनका रसवाद शैवागम पर आधृत है। महाप्राण निराला ने भी व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों ही प्रकार की समीक्षा में अपनी तलस्पर्शी प्रतिभा तथा गंभीर विश्लेषक बुद्धि का परिचय दिया है। 'प्रबन्ध-पद्म', 'प्रबन्ध-प्रतिभा' तथा 'चाबुक' में उनके आलोचनात्मक निबन्ध संकलित हैं। निरालाजी के मुक्तछंद-विषयक विचार मौलिक हैं तथा अपनी प्रामाणिकता सिद्ध कर चुके हैं। सुमित्रानन्दन पंत के 'पल्लव' के 'प्रवेश' ने अपने युग में समीक्षा के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त किया। काव्य के बाह्य शैलिपक उपकरणों—भाषा, अलंकार, छंद, लय, तुक आदि के अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण की दृष्टि से पंतजी का स्थान छायावादी कवियों में अन्यतम है। उनके काव्यों की भूमिकाएँ 'गद्य-पथ' में संकलित हैं। व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में 'छायावाद का पुनर्मूल्यांकन' उनका नवीनतम ग्रंथ है। महादेवी वर्मा विचार और अनुभूति के संश्लेषण के लिए सुख्यात हैं। 'दीपशिखा' की भूमिका में उन्होंने गीत की प्रकृति एवं गीति-तत्त्व का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' में उनका आलोचनात्मक कृतित्व संकलित है।

शुक्ल-युग वस्तुतः, हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा में पाश्चात्य दृष्टि के समावेश और उससे उद्भूत तार्किक वैज्ञानिकता के प्रवर्तन का युग है। इस युग के समीक्षकों, विशेषतः शुक्लजी ने परवर्ती हिन्दी काव्यशास्त्र के स्वरूप-निर्धारण एवं उसे वास्तविक अभिनव दिशा की ओर प्रवृत्त करने में अभूतपूर्व योग दिया। पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्यशास्त्र के समन्वित रूप की आधारभूमि पर हिन्दी के जिस स्वतंत्र काव्यशास्त्र का विकास आगे चल कर हुआ, उसकी नींव भी वस्तुतः इसी युग में पड़ी।

शुक्लोत्तर युग तथा समसामयिक साहित्यशास्त्रीय धाराएँ

शुक्ल-युग में हिन्दी में साहित्य और जीवन के प्रति जो भावोच्छ्वासपूर्ण रोमानी, किन्तु वायवी दृष्टि क्रमशः रूढ़ हो चली थी, वह शुक्ल-परवर्ती युग में धीरे-धीरे निःशेष होने लगी। फलस्वरूप भाव का स्थान अर्थ ने, कल्पना का स्थान यथार्थ ने, अतीन्द्रियता का स्थान मांसलता तथा सूक्ष्म आध्यात्मिकता का स्थान स्थूल भौतिकता ने ले लिया; साहित्य में प्रमुखतः अर्थ और काम की विवेचना होने लगी। प्रधानतः मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त पर आधारित प्रगतिवादी एवं फ़ॉयड आदि मनोविश्लेषकों की मान्यताओं से प्रभावित मनोविश्लेषणवादी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ स्पष्टतः उभरने लगीं। व्यावहारिक समीक्षा पर इन सब का गहरा प्रभाव पड़ा।

सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रभाव इस युग में पूर्वापेक्षया अधिक व्यापक और गहन रूप से पड़ा। फलतः हिन्दी-समीक्षा में मनोविज्ञान और अभिनव आधुनिक-बोध को लेकर युगान्तर उपस्थित हुआ। हिन्दी के साहित्य-मीमांसकों ने न केवल भारतीय काव्यशास्त्र का आधुनिक मनोविज्ञान एवं पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र के प्रकाश में विश्लेपण एवं भारतीय दृष्टिकोण से पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का अध्ययन ही किया, (प्रत्युत) इन दोनों साहित्यशास्त्रों की समन्वित-संश्लिष्ट भूमि पर हिन्दी की अपनी प्रकृति के सीमान्तों के भीतर हिन्दी के स्वतंत्र काव्यशास्त्र के निर्माण की दिशा में सचेष्ट चरणन्यास किया।

शुक्ल-परवर्ती युग के सर्वप्रथम उल्लेख्य समालोचक बाबू गुलाबराय हैं। 'नवरस', 'काव्य के रूप', 'सिद्धान्त और अध्ययन', एवं 'अध्ययन और आस्वाद' में उन्होंने विविध काव्यसिद्धान्तों का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया है। भारतीय और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों के समन्वय एवं मनोविज्ञान-पुष्ट विवेचन की दृष्टि से गुलाबराय की सैद्धान्तिक समीक्षा का विशेष महत्त्व है।

डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' ने भारतीय और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र, दर्शन तथा मनोविज्ञान के पुष्ट आधार पर हिन्दी-काव्यशास्त्र को व्यापक भूमि प्रदान की। व्यावहारिक समीक्षक होने पर भी वे मूलतः सिद्धान्त-समीक्षक ही हैं। 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' तथा 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। सौष्ठववादी आलोचना के प्रमुख समीक्षक पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने अपने समीक्षा-शास्त्र के तत्त्व भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र से ग्रहण किए हैं। वे रसवादी आचार्य हैं और जयशंकर प्रसाद की भाँति काव्य में अनुभूति को अभिव्यंजना की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते हैं। नन्ददुलारे जी की प्रवृत्ति यद्यपि व्यावहारिक समीक्षा की ओर ही अधिक रही है, तथापि इनके साहित्य-संबंधी सैद्धान्तिक विचार 'आधुनिक साहित्य', 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' तथा 'नया साहित्य : नए प्रश्न' में व्यक्त हुए हैं।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ऐतिहासिक आलोचना के क्षेत्र में अग्रगण्य हैं। समष्टिमूलक जनजीवन के व्यापक परिवेश एवं मानव-समवेदना के वृत्त में उन्होंने अपनी साहित्यिक मान्यताएँ स्थिर की है। 'विचार और वितर्क', 'साहित्य का साथी', 'अशोक के फूल', 'साहित्य का मर्म', 'कालिदास की लालित्य-योजना', 'साहित्य-सहचर' तथा 'लालित्य तत्त्व' शीर्षक शोधपत्र में इनके साहित्य-सिद्धान्तों का परिचय मिलता है।

प्रसिद्ध रसवादी आचार्य डॉ० नगेन्द्र ने भी भारतीय और पाश्चात्य साहित्यशास्त्रों के परस्पर वैचारिक आदान-प्रदान एवं एक-दूसरे की शब्दावली में उनके पुनराख्यान का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित किया। संस्कृत के प्रमुख काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के सम्पादन, अरस्तू एवं लॉगिनुस (लॉन्जाइनस) के ग्रंथों के प्रामाणिक अनुवाद एवं सम्पादन के अतिरिक्त उक्त ग्रंथों की विवेचनात्मक भूमिकाएँ भी इन्होंने लिखी हैं। डॉ० नगेन्द्र का महत्तम योगदान मानव-मनोविज्ञान की आधार-भूमि पर रस-सिद्धान्त की युगानुरूप अभिनव व्याख्या प्रस्तुत कर आलोचना के सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक मानदंड के रूप में उसकी पुनःप्रतिष्ठा में है। 'रीति-काव्य की भूमिका', 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका', 'अरस्तू का काव्यशास्त्र', 'काव्य में उदात्त तत्त्व' तथा 'रस-सिद्धान्त' उनके प्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रंथ हैं। इनके अतिरिक्त 'विचार और अनुभूति', 'विचार और विवेचन', 'विचार और विश्लेपण' तथा 'आलोचक की आस्था' में इनके स्फुट समीक्षात्मक विचार उपलब्ध होते हैं। 'आस्था के चरण' इनका नवीनतम निवन्ध- संकलन है।

शुक्लोत्तर युग के उपर्युक्त समालोचकों की उपलब्धियाँ संक्षेप में इस प्रकार हैं:

(क) आधुनिक सौंदर्यशास्त्र, मनोविज्ञान, मनोविश्लेपणशास्त्र एवं अधिमानस-शास्त्र के प्रकाश में हिन्दी-काव्यशास्त्र का अध्ययन, विश्लेपण, पुनराख्यान एवं पुनःप्रतिष्ठापन।

(ख) भारतीय और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का समन्वय और संश्लेपण।

(ग) हिन्दी के स्वतंत्र साहित्यशास्त्र के निर्माण का सजग प्रयास।

समसामयिक साहित्यशास्त्रीय धाराएँ : प्रगतिवादी आलोचना और नवसमीक्षा

प्रधानतः शास्त्रीय और अंशतः मनोवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेपणात्मक आधार पर विकसित शुक्लोत्तरयुगीन जिस सैद्धान्तिक समालोचना का दिग्दर्शन पूर्व पृष्ठों में किया जा चुका है, उसके बाद की हिन्दी-समालोचना ने मुख्यतः प्रगतिवाद तथा नवसमीक्षा—दो विभिन्न धाराओं का रूप ग्रहण कर लिया।

प्रगतिवादी आलोचना

पिछली शताब्दी के अन्त एवं वर्तमान शताब्दी के प्रारंभ से योरोप के मार्क्सवादी समालोचक साहित्यिक मूल्यांकन के लिए जिन समाजशास्त्रीय, भौतिकवादी एवं जनवादी प्रतिमानों के निर्धारण का प्रयत्न करते आ रहे थे, सन् १९३६ में प्रगतिशील लेखक-संघ की स्थापना के पश्चात् वे ही प्रगतिवाद के नाम से प्रचारित किये जाने लगे। हिन्दी में समीक्षा की प्रगतिवादी दृष्टि का उन्मेप वस्तुतः छायावाद की ऐकान्तिक व्यक्तिवादिता, अतिशय कल्पना-प्रियता एवं जनजीवन के यथार्थ भौतिक संघर्षों से पलायन की प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। प्रगति-

वादी समीक्षा का मुख्य आधार मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। व्यक्ति और समाज को वर्गभेद के सिद्धान्त पर समझने का दावा करने वाले हिन्दी के प्रगतिवादी समीक्षक साहित्य को सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति मानते हैं। सौन्दर्यबोध अथवा सौन्दर्य-चेतना का नितान्त निर्वैयक्तिक रूप में सार्वजनीन धरातल पर प्रसार करने की कल्पना में स्वयं सम्मोहित होने पर भी ये समीक्षक साहित्य में भावना एवं कल्पना के स्थान पर वस्तुमुखी बौद्धिकता को प्रश्रय प्रदान करते हैं।

प्रगतिवादी सर्जनात्मक साहित्य के समान ही प्रगतिवादी समीक्षा भी हिन्दी में गहरी जड़ें न जमा पाई। यद्यपि हिन्दी-साहित्यशास्त्र के विकास में प्रगतिवादी समीक्षा का कोई विशेष महत्त्व स्वीकार नहीं किया जा सकता, तथापि एक सीमा तक साहित्य के उपयोगितामूलक कल्याणवादी मूल्यों की पुनःप्रतिष्ठा का श्रेय इसे अवश्य ही दिया जाएगा। शिवदानसिंह चौहान, डॉ० रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृतराय एवं रांगेय राघव आदि हिन्दी के मान्य प्रगतिवादी समीक्षक हैं। शिवदानसिंह चौहान हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा के प्रतिष्ठापक आलोचकों में हैं। 'साहित्य की परख', 'प्रगतिवाद', 'साहित्यानुशीलन', 'आलोचना के सिद्धान्त' आदि कृतियों में श्री चौहान ने साहित्य के प्रगतिवादी प्रतिमानों की प्रतिष्ठा के अतिरिक्त उनके आधार पर व्यावहारिक आलोचना भी प्रस्तुत की है। डॉ० रामविलास शर्मा ने 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ' में हिन्दी में पहली बार यह तथ्य निरूपित किया कि साहित्य के प्रगतिशील मानदण्डों के आधार पर किसी भी देश और काल के साहित्य का मूल्यांकन किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त 'संस्कृति और साहित्य' में भी उनकी साहित्यिक मान्यताएँ व्यक्त हुई हैं। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त के 'नया हिन्दी साहित्य' एवं 'हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा' श्री अमृतराय के 'नई समीक्षा' और 'साहित्य में संयुक्त मोर्चा' तथा 'श्री रांगेय राघव के 'काव्य के मूल विवेच्य' और 'काव्य, कला और शास्त्र' नामक ग्रंथ इस समालोचना-धारा के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ माने जाते हैं।

नवलेखन की समीक्षा-दृष्टि : नव समीक्षा

यद्यपि नवलेखन के आविर्भाव से बहुत पहले पं० इलाचन्द्र जोशी प्रभृति कतिपय लेखक फ़ॉयड के मनोविश्लेषणशास्त्र से प्रभावित समीक्षा-सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की दिशा में प्रवृत्त हो चुके थे, तथापि साहित्य को नितान्त वैयक्तिक व्यापार मानकर उसके स्रष्टा के अन्तर्मन एवं रचना-प्रक्रिया का नई दृष्टि से मनोविश्लेषणवादी विवेचन नवलेखन का अपना नया क्षेत्र है। नई समीक्षा के इतिहास का प्रारम्भ अज्ञेय के सम्पादकत्व में प्रकाशित 'तारसप्तक' से माना जाता है। 'तारसप्तक' की 'विवृति', 'पुनरावृत्ति' तथा उसमें संकलित कविताओं के सात स्रष्टा कवियों की काव्यविषयक धारणाएँ नव समीक्षा के प्रारंभिक रूप का समुचित दिग्दर्शन कराती हैं।

नव समीक्षा वस्तुतः नव-लेखन की विविध विधाओं के रचनाकारों के द्वारा अपनी कृतियों के पक्ष-पोषण एवं निजी मान्यताओं के स्पष्टीकरण में दिए गए वक्तव्यों के रूप में ही अधिक उपलब्ध होती है। नवलेखन के किसी भी समीक्षक ने अपने सैद्धान्तिक विवेचन को किसी स्वतंत्र एवं सुचिन्तित ग्रंथ का आकार प्रदान नहीं किया। फलतः इस समीक्षा-प्रणाली की सैद्धान्तिक चिन्ताधाराएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में स्फुट रूप से प्रकाशित हो रही हैं।

साहित्यशास्त्र के अतिरिक्त राजनीति, दर्शन एवं समाजशास्त्र की सुदृढ़ आधारभूमि से पुष्ट हिन्दी की यह नव्यतम समीक्षा-प्रणाली कलाकार की सृजन-प्रक्रिया, मानव-मूल्यों एवं साहित्य-मूल्यों के विवेचन-विश्लेपण तथा निरन्तर विकासमान मानवीय चेतना के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में साहित्य के पुनर्विश्लेषण, शिल्प के नवीन प्रतिमानों के निर्धारण एवं उसकी प्रक्रिया के विवेचन द्वारा समीक्षा के पारम्परिक आयामों में क्रान्ति उत्पन्न करने का दावा करती है।

नए समीक्षकों में अज्ञेय, डॉ० रघुवंश, डॉ० धर्मवीर भारती, डॉ० जगदीश गुप्त, लक्ष्मीकान्त वर्मा, विजयदेव नारायण साही, डॉ० नामवरसिंह आदि उल्लेखनीय हैं। 'अज्ञेय' की आलोचना में संतुलित, आधुनिक-बोध-सम्पन्न एवं तत्त्व-निरूपिणी विश्लेपक बुद्धि का परिचय मिलता है। 'तार सप्तक' तथा 'दूसरा सप्तक' की बहुचर्चित भूमिकाओं के अतिरिक्त 'त्रिशंकु' और 'हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य' नामक निबन्ध-संकलनों में उनकी साहित्यिक मान्यताएँ व्यक्त हुई हैं। डॉ० रघुवंश ने पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्र के सतर्क अध्ययन के उपरान्त अपनी मान्यताओं को स्थिर किया है। वे प्रयोगवाद के प्रारंभिक समीक्षकों में अग्रणी रहे हैं। इस प्रसंग में 'कल्पना' (अक्तूबर-नवम्बर, १९५८) तथा 'नयी कविता' (अंक २) में प्रकाशित उनके लेखों के अतिरिक्त 'हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ' की भूमिका उल्लेखनीय है। डॉ० धर्मवीर भारती की १९४९ ई० में प्रकाशित प्रथम आलोचनात्मक कृति 'प्रगतिवाद : एक समीक्षा' अवश्य ही एक अपरिपक्व रचना है, किन्तु बाद में चलकर उन्होंने अनेक सुचिन्तित-गंभीर निबन्ध प्रस्तुत किए। 'मानव मूल्य और साहित्य' नामक ग्रंथ के अतिरिक्त 'साहित्य की नयी मर्यादा' (आलोचना ११), 'प्रतीक' एवं 'राष्ट्रवाणी' में प्रकाशित अनेक निबन्ध डॉ० धर्मवीर भारती के लिए ख्यातिकर सिद्ध हुए हैं। डॉ० जगदीश गुप्त ने विशेषतः नयी कविता के शिल्प का अध्ययन किया है। 'नयी कविता' में प्रकाशित काव्यलय-विषयक उनके विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। नयी समीक्षा की विशिष्ट शब्दावली के निर्माण एवं नई कविता की प्रकृति के गंभीर विश्लेषण की दृष्टि से लक्ष्मीकान्त वर्मा का विशेष स्थान है। १९५७ ई० में प्रकाशित 'नयी कविता के प्रतिमान' शीर्षक उनकी रचना नवलेखन के साहित्यशास्त्रीय क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण कृति है। विजयदेवनारायण साही मार्क्सवाद से प्रभावित नवलेखन के प्रगतिशील समीक्षकों में अग्रणी हैं। 'मार्क्सवादी समीक्षा और उसकी कम्यूनिस्ट परिणति' (आलोचना ९) शीर्षक निबंध तथा 'राष्ट्रवाणी' में प्रकाशित अनेक निबंधों में उनका आलोचक-व्यक्तित्व उभरा है। मार्क्स-दर्शन से आक्रान्त डॉ० नामवरसिंह नवलेखन के विवादास्पद, किन्तु तेजस्वी समीक्षक हैं। 'इतिहास और आलोचना' एवं 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ' नामक समीक्षा-ग्रंथों के अतिरिक्त 'संकेत' तथा 'आलोचना' में प्रकाशित अनेक निबन्ध उनके कृतित्व के श्रेष्ठ निदर्शन हैं।

नव समीक्षा ने अत्यंत सजग भाव से तर्कपुष्ट बौद्धिक धरातल पर काव्य, कवि और प्रमाता से संबंधित आख्यात्मक एवं व्याख्यात्मक बहुविध विवेचन प्रस्तुत किया है; काव्य-सृजन की प्रक्रिया, कवि-मन के अन्तःसंस्कारों, काव्यास्वाद के स्वरूप और उसकी प्रकृति, साधारणीकरण के नवीन अर्थ, सौन्दर्य एवं आधुनिकता के नवबोध के अन्तर्विश्लेषण तथा व्यापक मानव-मूल्यों के अन्तर्गत साहित्यिक प्रतिमानों के स्थिरीकरण की दृष्टि से नव समीक्षा निश्चय ही महत्त्व की अधिकारिणी है। समसामयिक होने के कारण इसके सर्वांगपूर्ण एवं समाकलित मूल्यांकन का प्रयास अभी निष्फल सिद्ध होगा।

हिन्दी-साहित्यशास्त्र के प्रभाव-स्रोत : भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यशास्त्र

हिन्दी-काव्यशास्त्र के विकास के जिस ऐतिहासिक अनुक्रम का अंकन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है, उसके सूक्ष्म अध्ययन के उपरांत यह जानना कठिन नहीं है कि हिन्दी साहित्य-शास्त्रियों ने किन मूल स्रोतों से प्रभाव ग्रहण किया। हिन्दी-काव्यशास्त्र के उद्भव से लेकर उसकी समसामयिक धाराओं तक उस पर मुख्यतः भारतीय साहित्यशास्त्र के अंतर्गत संस्कृत तथा पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के अन्तर्गत यूनानी, रोमी और अंग्रेजी-काव्यशास्त्र का प्रभाव पड़ा है। हिन्दी की रीति-परम्परा के आचार्यों ने पूर्णतः संस्कृत-साहित्यशास्त्र का आधार ग्रहण किया। हिन्दी के आधुनिक-काल के प्रारंभिक सैद्धान्तिक विवेचकों में से कतिपय की लेखन-शैली यद्यपि किसी सीमा तक रीतिकालीन आचार्यों से प्रभावित रही, तथापि उनकी सामग्री का मूलाधार संस्कृत-काव्यशास्त्र ही था। इसके बाद के हिन्दी-साहित्यशास्त्र पर संस्कृत-साहित्यशास्त्र के अतिरिक्त यूनानी, रोमी तथा अंग्रेजी-काव्यचिन्तन का भी गहरा प्रभाव है।

आरंभ एवं विकासकालीन हिन्दी-साहित्यशास्त्र : प्रभाव-स्रोत

हिन्दी के प्रथम महत्त्वपूर्ण साहित्यशास्त्रीय ग्रंथ कृपाराम-कृत 'हिततरंगिणी' पर प्रमुखतः संस्कृत के दो ग्रंथों—भरतकृत 'नाट्यशास्त्र' एवं भानुदत्तकृत 'रसतरंगिणी'—का प्रभाव अत्यंत स्पष्ट है। केशवदास ने अपने अलंकार-विवेचन के लिए भामह, विशेषतः दण्डी का अनुसरण किया तथा रस-निरूपण के लिए वे भोज के 'शृंगार-प्रकाश', रूपगोस्वामी के 'उज्ज्वलनीलमणि' तथा 'भक्तिरसामृतसिंधु' के विशेषतः और भरत, विश्वनाथ, मम्मट आदि के ग्रंथों के सामान्य रूप से ऋणी हैं। सत्रहवीं शताब्दी के ख्यातिप्राप्त आचार्य चिंतामणि त्रिपाठी ने अपनी सामग्री मुख्यतः मम्मट और विश्वनाथ के अतिरिक्त विद्यानाथ से भी ग्रहण की। कुलपति मिश्र का प्रसिद्ध ग्रंथ 'रसरहस्य' पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'मम्मट के काव्यप्रकाश का छायानुवाद,'[1] मात्र है। मतिराम के नायिका-भेद का आधार 'रस-मंजरी' तथा उनके रस-विवेचन का आधार विश्वनाथ-कृत 'साहित्य-दर्पण' और भानुमिश्र की 'रस-तरंगिणी' है। देव उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त कहीं-कहीं 'काव्य-प्रकाश' से भी प्रभावित हैं। 'रसपीयूषनिधि' के लेखक सोमनाथ ने अपने अर्थालंकार-विवेचन की सामग्री अप्पय्यदीक्षित तथा अन्य काव्यांगों के विवेचन की सामग्री मम्मट और विश्वनाथ के ग्रन्थों से ग्रहण की। इन्हीं की भाँति भिखारीदास और प्रतापसाहि के अलंकार-निरूपण पर अप्पय्यदीक्षित तथा रस-विवेचन पर विश्वनाथ का अत्यंत स्पष्ट प्रभाव है। इसी प्रकार विकासकाल के अन्य छोटे-बड़े आचार्यों ने भी संस्कृत-काव्यशास्त्रियों से केवल प्रभाव-ग्रहण ही नहीं किया, प्रत्युत अनेक स्थानों पर उनकी उक्तियों का अविकल और कहीं-कहीं भ्रष्ट एवं अशुद्ध अनुवाद भी कर डाला है।

हिन्दी-काव्यशास्त्र के आरंभ और विकासकालीन आचार्यों ने मुख्यतः संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथों से ही सामग्री-संकलन किया है। इस युग के आचार्यों में आधार-ग्रंथों के चयन की दृष्टि से आश्चर्यजनक रुचि-साम्य मिलता है। प्रायः सभी आचार्यों ने नायक-नायिका-भेद का निरूपण भानुमिश्र, अलंकार-विवेचन अप्पय्यदीक्षित, विद्यानाथ और मम्मट तथा रस-विवेचन विद्यानाथ,

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, दसवाँ संस्करण, पृष्ठ २४२।

मम्मट, भानुमिश्र और विश्वनाथ के ग्रंथों के आधार पर किया है। इनके अतिरिक्त अन्य काव्यांगों का विवेचन प्रायः सभी आचार्यों ने मम्मट और विश्वनाथ के आधार पर किया है।

उत्कर्षकालीन हिन्दी-काव्यशास्त्र : प्रभाव-स्रोत

आधुनिक काल में हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा ने अधिकांशतः रीतिकालीन ग्रंथों का आधार ग्रहण नहीं किया। संस्कृत-साहित्यशास्त्र के प्रतिष्ठित ग्रंथों की सामग्री का भी यथावत् उपयोग इस युग में नहीं किया गया। इस युग के समीक्षकों ने भारतीय काव्यशास्त्र के परिवेश से बाहर जाकर विश्व-साहित्य के सचेत एवं मनोनिवेशपूर्ण अध्ययन के उपरांत अपनी विशिष्ट साहित्यिक मान्यताओं को स्थिर किया। हिन्दी की अद्युनातन सैद्धान्तिक समीक्षा-प्रणाली विश्व की सैद्धान्तिक समालोचना के सम-स्तर पर प्रतिष्ठित हो साहित्यिक विश्लेषण के नए क्षितिज का स्पर्श कर रही है।

शुक्ल-पूर्व युग

इसमें सन्देह नहीं कि शुक्ल-पूर्व युग के उत्कर्षकालीन हिन्दी-साहित्यशास्त्र के कविराजा मुरारिदीन, महाराजा प्रतापनारायणसिंह, जगन्नाथप्रसाद 'भानुकवि', बिहारीलाल भट्ट, कन्हैयालाल पोद्दार, अर्जुनदास केडिया एवं मिश्रबन्धु[1] आदि कतिपय आचार्य रीतिकालीन परम्परा का अनुसरण करते हुए संस्कृत-ग्रंथों से ही अपनी सामग्री का चयन करते रहे, किन्तु आधुनिक हिन्दी-समालोचना के प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने प्रसिद्ध सैद्धान्तिक निबंध 'नाटक' में 'नाट्यशास्त्र,' 'काव्यप्रकाश' तथा 'साहित्यदर्पण' आदि संस्कृत-ग्रंथों के साथ-साथ पाश्चात्य नाट्यशास्त्रीय समीक्षा को भी अपने विवेचन का आधार बनाया।[2] लाला भगवानदीन ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'अलंकार मंजूषा' में अंग्रेजी-काव्यशास्त्र से सहायता ली। अपने इस ग्रंथ में उन्होंने भारतीय अलंकारों के समरूप अंग्रेज़ी-अलंकारों का भी उल्लेख किया है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'रसज्ञ-रंजन' में संकलित कतिपय निबन्धों पर अंग्रेज़ी-साहित्यशास्त्र की छाया स्पष्टतः परिलक्षित होती है।[3] द्विवेदी जी द्वारा निरूपित काव्य की रूपरेखा भी पोप और मिल्टन से सामान्यतः एवं वर्ड्सवर्थ से विशेषतः प्रभावित है।[4]

शुक्ल-युग

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं उनके समकालीन आचार्यों ने सैद्धान्तिक समीक्षा के भारतीय और पाश्चात्य—दोनों स्रोतों से अत्यन्त सजग और संतुलित रूप से प्रभाव ग्रहण किया।

---

१. उल्लिखित आचार्यों ने सामान्यतः 'अग्निपुराण, नाट्यशास्त्र', चन्द्रालोक, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसगंगाधर, काव्यालंकार, अलंकारसर्वस्व, कुवलयानन्द आदि संस्कृत ग्रंथों से सामग्री संकलित की।

२. भारतेन्दु-नाटकावली (द्वितीय भाग), सं० व्रजरत्नदास, द्वि० सं० में संकलित 'नाटक' शीर्षक निबन्ध।

३. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, रसज्ञ रंजन, पृष्ठ ९३-१००।

४. वही, पृष्ठ ११ तथा ४२।

साहित्यशास्त्र की भारतीय परम्परा, विशेषतः रस-सिद्धान्त के प्रबल समर्थक होने पर भी शुक्लजी ने पाश्चात्य समालोचकों, विशेषतः आई० ए० रिचर्ड्स तथा क्रोचे के काव्य-सिद्धान्तों का आदर-पूर्वक अध्ययन किया। काव्य के स्वरूप, काव्य के उपकरण, काव्य-प्रयोजन तथा सम्प्रेषणीयता-संबंधी उनका विवेचन बहुत कुछ आई० ए० रिचर्ड्स से प्रभावित है। आचार्य श्यामसुन्दरदास ने हड्सन के 'इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ़ लिट्रेचर' के आधार पर प्रमुखतः एवं वर्सफ़ोल्ड के 'प्रिन्सिपल्ज़ ऑफ़ क्रिटिसिज़म' तथा 'जज्मेन्ट इन लिट्रेचर' शीर्षक ग्रन्थों की सामग्री के आधार पर सामान्यतः अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'साहित्यालोचन' का प्रणयन किया। मौलिक न होने पर भी इस ग्रंथ ने हिन्दी के साहित्य-चिन्तन पर पाश्चात्य परम्परा के स्वस्थ प्रभाव को पुष्ट किया। पं० रामदहिन मिश्र के 'काव्यालोक' और 'काव्य-दर्पण' में भी भारतीय काव्य-सिद्धान्तों के विवेचन के साथ-साथ क्रोचे, हीगेल आदि पाश्चात्य आचार्यों के काव्य-मतों का भी व्यवस्थित निरूपण प्राप्त होता है। पं० बलदेव उपाध्याय ने अपने ग्रंथ 'भारतीय साहित्यशास्त्र' में भारतीय साहित्य-सिद्धान्तों के परिपार्श्व में पाश्चात्य साहित्यशास्त्र को भी प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के 'वाङ्मय-विमर्श' में भी भारतीय और पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तों का संश्लिष्ट विवेचन प्राप्त होता है।

इस युग के छायावादी कवि भी पश्चिम की रोमानी साहित्य-धारा से स्पष्टतः प्रभावित हैं। इस वर्ग के कवि-चतुष्टय---प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी---वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, शैली, कीट्स और बायरन आदि अंग्रेज़ी के रोमानी कवियों की भाँति ही काव्य-स्रष्टा के साथ-साथ काव्य-समीक्षक भी हैं। अंग्रेजी-साहित्य-समीक्षा का विधिवत् अध्ययन न करने के कारण छायावाद के प्रवर्तक कवि जयशंकर प्रसाद पाश्चात्य साहित्यालोचन से यद्यपि विशेष प्रभावित नहीं थे, तथापि साहित्य को आत्माभिव्यक्ति स्वीकार करने वाले उनके सिद्धान्त पर रोमांटिक प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वर्ड्सवर्थ के 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका की भांति ही सुमित्रानन्दन पंत ने भी 'पल्लव' की भूमिका ('प्रवेश') में काव्य-भाषा के स्वरूप और उसकी प्रकृति का गंभीर विवेचन कर हिन्दी-कविता के क्षेत्र में परम्परा-जर्जर ब्रजभाषा के स्थान पर अभिनव अर्थ-शक्ति-सम्पन्न खड़ीबोली को काव्य-भाषा के पद पर प्रतिष्ठित किया। उनका अतुकान्त और मुक्त-छंद-विषयक विवेचन भी उन पर पाश्चात्य प्रभाव का ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने भी 'परिमल' की भूमिका में अतुकान्त और मुक्त छन्दों की प्रकृति का जो सर्वप्रथम तर्कपुष्ट विश्लेषण प्रस्तुत किया, वह भी गुस्टॉव काहन आदि पाश्चात्य समीक्षकों से स्पष्टतः प्रभावित है। इसके अतिरिक्त निराला की 'गीतिका' तथा महादेवी वर्मा की 'यामा', 'दीपशिखा' और 'आधुनिक कवि-(१)' की भूमिकाओं में काव्य को स्रष्टा-कवि की वैयक्तिक अनुभूतियों का चित्रण स्वीकार करने वाली मान्यता पर निश्चय ही योरोपीय रोमांसवादी चिन्ताधारा का स्पष्ट प्रभाव है।

शुक्ल-परवर्ती-युग

शुक्ल-परवर्ती-युग के आचार्यों में बाबू गुलाबराय, डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा डॉ० नगेन्द्र आदि समीक्षकों की साहित्यिक मान्यताएँ बहुत सीमा तक पाश्चात्य प्रभाव से युक्त हैं। गुलाबराय ने पाश्चात्य साहित्यालोचन के प्रकाश में भारतीय रस-सिद्धान्त को मनोविज्ञान का प्रामाणिक आधार प्रदान

किया है।[1] आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने अत्यंत सजग रूप से भारतीय और पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र की संश्लिष्ट भूमि पर अपने स्वतंत्र साहित्य-सिद्धान्त प्रतिपादित किए। इन्होंने अपने 'भारतीय काव्य-मत', 'ध्वनि और रस',[2] 'भारतीय साहित्यशास्त्र की रूपरेखा', 'रस निष्पत्ति : एक नई व्याख्या',[3] आदि निबन्धों में भारतीय काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के साथ ही 'पूर्वी और पश्चिमी नाट्यतत्त्व', 'पश्चिमी काव्यमत (अनुकृतिवाद)', 'अभिव्यंजनावाद'[4] तथा 'पाश्चात्य समीक्षा : सैद्धान्तिक विकास'[5] में पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तों का विवेचन प्रस्तुत किया है। हिन्दी समालोचना के क्षेत्र में रस-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य डॉ० नगेन्द्र के साहित्यचिंतन पर एक ओर प्राचीन भारतीय आचार्य अभिनवगुप्त एवं हिन्दी के प्रतिष्ठित आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का तथा दूसरी ओर आई० ए० रिचर्ड्स, क्रोचे तथा मनोविश्लेपणवादी चिंतक फ़्रॉयड का स्पष्ट प्रभाव है। उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य साहित्य के समन्वय-संश्लेषण द्वारा हिन्दी के स्वतंत्र काव्यशास्त्र के निर्माण की दिशा में जागरूक एवं सजग प्रयत्न किया।[6] प्रसिद्ध पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्री आचार्य क्रोचे से प्रभावित हिन्दी के अन्य समालोचकों में डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' का नाम भी उल्लेख्य है। 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' में डॉ० सुधांशु ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की सर्वप्रथम प्रामाणिक एवं निर्भ्रान्त व्याख्या प्रस्तुत की। पश्चिम के फ़्रॉयड, एडलर और युंग आदि के मनोविश्लेपणशास्त्रीय सिद्धान्तों से आक्रान्त इलाचन्द्र जोशी ने अपनी पुस्तक 'विवेचना' में हिन्दी समीक्षा में पहली बार मनोविश्लेपणवादी समीक्षा-सिद्धान्तों का विश्लेपण प्रस्तुत किया।

समसामयिक साहित्यशास्त्रीय धाराएँ : प्रगतिवादी आलोचना

हिन्दी-साहित्यशास्त्र की प्रगतिवादी धारा के सभी समालोचक पाश्चात्य मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित हैं। प्रगतिवाद के अग्रगण्य समीक्षक श्री शिवदानसिंह चौहान ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'प्रगतिवाद' के प्रणयन में क्रिस्टॉफ़र काडवेल प्रणीत 'इल्यूज़न एण्ड रिऑलिटि' तथा जेम्स टी० फ़रेल की प्रख्यात रचना 'ए नोट ऑन लिट्रेरी क्रिटिसिज़्म' से सामग्री ग्रहण की है। इनके अतिरिक्त डॉ० रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृतराय एवं रांगेय राघव आदि समीक्षक भी उपर्युक्त दो ग्रंथों के अतिरिक्त गोर्की विरचित 'जीवन और साहित्य',[7] रेल्फ़ फ़ॉक्स के 'द नॉवल एण्ड द पीपुल', जोसेफ़ फ्रीमेन के 'प्रोलेटेरिएट लिट्रेचर इन द यू० एस०' तथा मार्क्स एवं और एंजिल्स के 'कम्यूनिस्ट मेनीफ़ेस्टो' आदि ग्रंथों से अत्यधिक प्रभावित हैं। पाश्चात्य मार्क्सवादी चिन्ताधारा को अपनी मान्यताओं में समाविष्ट करने के अतिरिक्त इन समीक्षकों में

---

१. वावू गुलावराय : सिद्धान्त और अध्ययन, (रस और मनोविज्ञान), द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १७८ से १८१ तक।
२. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ३८०, ३९२।
३. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : नया : साहित्य : नए प्रश्न, पृष्ठ ९७, ११५।
४. वही, आधुनिक साहित्य, पृष्ठ २५२, ४०१, ४०७।
५. वही, नया साहित्य : नए प्रश्न, पृष्ठ ५८।
६. डॉ० नगेन्द्र : भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, 'वक्तव्य'।
७. ग्रंथ का अंग्रेज़ी शीर्षक 'लाइफ़ एण्ड लिट्रेचर' है।

से अनेक ने, विशेषतः शिवदानसिंह चौहान[1] तथा रामविलास शर्मा[2] ने अपने साहित्य-सिद्धान्त-निरूपण में भारतीय परम्परा का आधार भी ग्रहण किया है।

नव समीक्षा

प्रयोगवाद एवं नवसमीक्षा के सैद्धान्तिक समीक्षाकारों में से कुछ ने यद्यपि साहित्य-चिन्तन की भारतीय परम्परा को भी अपने विवेचन का आधार बनाया, किन्तु इस धारा के अधिसंख्य समीक्षक रस-सिद्धान्त आदि भारतीय मतों का पूर्वग्रहयुक्त विरोध करने में ही आत्म-सुख का अनुभव करते हैं। नवलेखन के विवेचक अपने चिन्तन पर विदेशी प्रभाव को भी स्वीकार नहीं करते,[3] किन्तु सूक्ष्म एवं निष्पक्ष-तटस्थ दृष्टि से पर्यालोचन करने पर 'नई समीक्षा' पर पाश्चात्य प्रभाव सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। नव समीक्षा के व्यापक परिवेश में समालोचना के प्रतिमानों का निर्माण पाश्चात्य मनोविज्ञान तथा मनोविश्लेषण-शास्त्र के आधार पर हुआ है। स्रष्टा-कवि के अन्तर्जगत् एवं उसकी संवेदनाओं की अनुभूति की प्रक्रिया, काव्य की रचना-प्रक्रिया, काव्य-तत्त्व के सम्प्रेषण की समस्या तथा दूसरी ओर पाठक के स्तर पर उसके भाव-बोध तथा कवि-संवेद्य को ग्रहण करने में उसकी क्षमता आदि के अध्ययन, विवेचन और विश्लेषण की नई समीक्षा की प्रमुख प्रवृत्तियों पर क्रोचे, आई० ए० रिचर्ड्स, सी० एम० बावरा के अतिरिक्त इस शती के चौथे दशक के प्रारंभ में उदित अंग्रेजी के 'नए हस्ताक्षर' वर्ग (न्यू सिग्नेचर्स) के डब्ल्यू० एच० ऑडन, स्टिफ़ेन स्पेंडर तथा सी० डे० लेविस का स्पष्ट प्रभाव विद्यमान है। होल्डरलीन, रिम्बॉड, रिल्के तथा डॉयलेन, टॉमस आदि यूरोप के 'नए' कवि-समीक्षकों का भी नई समीक्षा पर गहरा प्रभाव है। इस शती के छठे दशक में आविर्भूत अंग्रेजी के 'एंग्री यंग मैन' आन्दोलन,[4] उस वर्ग के जॉन ऑस्बार्न, किंग्स्ले, एमेस तथा जॉन ब्रेन द्वारा प्रस्तुत 'मेनीफ़ेस्टो' तथा जॉन वेन के 'डिक्लेरेशन' का प्रभाव नवलेखन की अधुनातन आलोचना ने अत्यन्त आग्रहपूर्वक ग्रहण किया है। 'नई कविता' के प्रवर्तक तथा प्रतिष्ठित 'नए समीक्षक' अज्ञेय द्वारा सम्पादित तारसप्तक तथा प्रथम 'आकाशवाणी पत्रिका' के सम्बन्ध में नवलेखन के पक्षधर समीक्षक रामस्वरूप चतुर्वेदी का कथन है कि—'यह सही है कि नवलेखन के उन्नायकों ने विदेशी साहित्य के अध्ययन से बहुत कुछ सीखा है। 'न्यू सिग्नेचर्स' और 'तारसप्तक' की तुलना से लेकर रोज़ामण्ड लेहमन की बी० बी० सी० पर प्रसारित रेडियो पत्रिका तथा अज्ञेय द्वारा सम्पादित प्रथम आकाशवाणी पत्रिका की तुलना तक यह बात देखी जा सकती है।'[5]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी-साहित्यशास्त्र पर भारतीय एवं

---

१. 'आलोचना के सिद्धान्त' एवं 'साहित्यानुशीलन' में।

२. 'संस्कृति और साहित्य' में।

३. (क) 'नयी कविता की मूल प्रवृत्तियाँ इसी देश की हैं, हमारे जीवन से उद्भूत हैं'—अज्ञेय, प्रतीक, जून १९५१।

(ख) रामस्वरूप चतुर्वेदी : हिन्दी नवलेखन (नवलेखन : विदेशी प्रभाव), पृष्ठ २०७।

४. अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में इस साहित्य-दशक को 'एंग्री डिकेड' (Angry Decade) अभिधान दिया गया है।

५. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी नवलेखन, पृष्ठ २०९।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट और व्यापक रूप से पड़ा है। आरंभ-काल तथा विकास-काल के हिन्दी-साहित्यशास्त्र पर भारतीय तथा उत्कर्ष-काल की सैद्धान्तिक समीक्षा पर भारतीय और पाश्चात्य—दोनों साहित्यशास्त्रों का समवेत प्रभाव विद्यमान है।

(ग) काव्यास्वाद का अर्थ और स्वरूप

काव्य

सहृदय-समाज से निरपेक्ष काव्य की अपने आप में कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है; उसका अनिवार्य संबंध सहृदय की रुचि से है। संभवतः सहृदय-समाज के रुचिवैभिन्य के कारण ही देश-विदेश के काव्य-मीमांसकों द्वारा निरूपित काव्य-परिभाषाओं में अपार विविधता और असमानता दृष्टिगत होती है। भारतीय और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में प्रस्तुत की गई काव्य-परिभाषाओं में कुछ परिभाषाएँ ऐसी हैं, जो वैज्ञानिक और स्वतःपूर्ण होती हुई भी इतनी संक्षिप्त और सूत्रबद्ध हैं कि उनके आधार पर काव्य के समग्र रूप की पूर्ण अवगति संभव नहीं है;[१] अनेक परिभाषाएँ अत्यंत शिथिल और एकांगी हैं;[२] कतिपय परिभाषाओं में काव्य की स्वरूप-व्याख्या के स्थान पर श्रेष्ठ काव्य के प्रमुख गुणों का उल्लेख मात्र कर दिया गया है[३] तथा कुछ परिभाषाएँ

उदाहरण-रूप में कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

१. (क) 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'
—विश्वनाथ : 'साहित्य-दर्पण', व्या० डॉ० सत्यव्रतसिंह, (चौखम्बा भवन), सन् १९५७, प्रथम परिच्छेद, पृष्ठ २३।
(ख) 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' ॥१॥
—पंडितराज जगन्नाथ : 'रसगंगाधर', (चौखम्बा भवन), सन् १९५५ ई०, प्रथमानन, पृष्ठ ९।

२. (क) '(Poetry is) a criticism of life under the conditions fixed for such criticism by the laws of poetic truth and poetic beauty.'
—Mathew Arnold : Quoted in *An Introduction to the study of Literature* by W. H. Hudson, 1939, p. 83.
(ख) '(Poetry expresses out) dissatisfaction with what is present and close at hand.'—Doyle : Ibid, p. 84.
(ग) '(Poetry is) a vent for overcharged feeling or a full imagination.'
—Keble : Ibid.

३. (क) 'साधुशब्दार्थसंदर्भं गुणालंकारभूषितम्।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्त्तये।'
—वाग्भट्ट (प्रथम) : 'वाग्भट्टालंकार', निर्णय-सागर प्रेस, बम्बई, १९३३; १।२, पृष्ठ ५।
(ख) '(Poetry) must be simple, sensuous, and passionate.' —John Milton : (Education), Quoted in *An Anthology of Critical Statements*, ed. by Amar Nath Jha, 1931, p. 45.

काव्य के दोषों अथवा अभावात्मक गुणों का निर्देश मात्र करती हैं।[1] इनके अतिरिक्त अनेक काव्य-परिभाषाएँ काव्य के प्राण-तत्व—आत्मा—का ही निर्देश करती हुई उसके अभिव्यंजनापक्ष को सर्वथा उपेक्षित ही छोड़ देती हैं,[2] किन्तु भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र में निरूपित काव्य की अधिकांश परिभाषाएँ ऐसी हैं जो काव्य-तत्त्वों अथवा काव्य-भाषा के तत्त्वों तथा प्रमुख विशेषताओं का परिगणन मात्र करती हैं।[3] इस प्रकार कोई सर्वांगपूर्ण परिभाषा हमारे सम्मुख प्रस्तुत

---

१. (क) 'निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।'
—भोज : सरस्वतीकण्ठाभरण, निर्णय-सागर प्रेस, बम्बई, १९३४, १।२ पृष्ठ २।

(ख) 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।'
—मम्मट : 'काव्यप्रकाश', व्या० आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, प्रथम उल्लास, कारिका ४, सूत्र १, पृष्ठ १९।

(ग) 'The office of poetry is not moral instruction, but moral emulation, not doctrine but inspiration.'—G. H. Lewes (Inner Life of Art), Quoted in *An Anthology of Critical Statements*, p. 83.

(घ) '. . .Art is not, as the metaphysicians say, the menifestation of some mysterious Idea of Beauty, or God.
'...Poetry is not the expression of man's emotion by external signs.
'. . .Poetry is not the production of pleasing objects. Poetry is not pleasure.'
—Tolstoy (What is Art ?), *Science of Emotions* by Dr. Bhagwan Das, 1924, p. 427.

२. (क) 'रीतिरात्मा काव्यस्य।' १, २, ६।
—वामन : काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, व्या० आचार्य विश्वेश्वर, आत्माराम एंड संस, सं० २०११, प्रथम अधिकरण, द्वितीय अध्याय, कारिका ६, पृष्ठ १८।

(ख) 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति . . .'
—आनन्दवर्द्धन : ध्वन्यालोक, व्या० आचार्य विश्वेश्वर, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, प्रथम संस्करण, प्रथम उद्योत, कारिका १, पृष्ठ ५।

(ग) 'Its essence is invention.'
—Walter Pater (*Lives of Poets*), Quoted in *An Introduction to the Study of Literature*, p. 82.

(घ) 'The essence of poetry is fiction.'—J. H. Newman (Poetry with reference to Aristotle's Poetics), Quoted in *An Anthology of Critical Statements*, p. 59.

३. (क) '(Poetry) is simply the most delightful and perfect form of utterance that human words can reach.'
—Matthew Arnold : *The French Play in London : Mixed Essays*, p. 71.

नहीं होती। अतः काव्य के आस्वाद का अनुशीलन और विश्लेषण करने से पूर्व काव्यानुभावन से प्रमाता के चित्त में आविर्भूत अनुभूति को ध्यान में रखते हुए काव्य की एक संतुलित परिभाषा प्रस्तुत करना आवश्यक है।

काव्य का स्रष्टा मानव है और उसका उपभोक्ता—आस्वादकर्त्ता भी मानव ही है, इसलिए काव्य का विषय भी मानवीय अनुभूति से इतर कुछ और नहीं हो सकता। मानव के सभी मनोभावों का अन्तर्भाव काम्य-अकाम्य, सम-विषम, प्रिय-अप्रिय, आत्मस्थ अथवा परस्थ आदि दो ही वर्गों में संभव है। इस प्रकार जीवन की कोई अनुभूति ऐसी नहीं है जिसका संबंध सुख अथवा दुःख से न हो। सृजन की स्थिति में कवि की अन्तःसंज्ञा में उभरने वाला कोई भी बिम्ब सुख अथवा दुःख से तरंगायित अनुभूतियों का ही फल होता है। धीरे-धीरे जिस क्रम से वह बिम्ब पूर्णता की ओर अग्रसर होता है, उसी क्रम से वे सभी अनुभूतियाँ अपनी तीक्ष्णता छोड़कर मसृण बनती चली जाती हैं : यही बिम्ब की पूर्णता की स्थिति है; यह पूर्ण बिम्ब ही काव्य का बीज है। जहाँ काव्य का मूल प्रेरक तत्त्व अनुभूति के स्थान पर कल्पना अथवा ज्ञानानुभव हो, वहाँ भी काव्य-सृष्टि के लिए उसका कवि की संवेद्य अनुभूति का विषय बनना आवश्यक है, अन्यथा काव्य की सृष्टि संभव नहीं है। सारांश यह है कि अनुभूति काव्य का अनिवार्य तत्त्व है और अपने मूल रूप में यह सुखात्मक अथवा दुःखात्मक होती है—काव्य इसी का अभिव्यंजित प्रतिफल है। काव्य-रचना का चरम लक्ष्य प्रमाता को आस्वाद प्रदान करना है : कवि की 'स्वांतःसुखाय' रचनाएं भी अन्ततः प्रमाता के लिए ही होती हैं, भले ही ऐसी स्थिति में स्वयं कवि ही क्यों न प्रमाता बन जाए। अतः काव्यास्वादन की क्षमता के बिना काव्य-सर्जना का वृत्त पूरा नहीं होता।

(ख) 'What is poetry, but the thoughts and words in which emotion spontaneously embodies itself.'
—J. S. Mill *Thoughts on Poetry and its varieties : Dissertations and Discussions*), Quoted in *An Anthology of Critical Statements*, p. 82.

(ग) 'Art is intution...Intution, vision, contemplation, imagination, fancy, figurations, representations, and so on are the words continually recurring, like synonyms, when discoursing upon art.' —Benedetto Croce : *The Essence of Aesthetic*, London, 1921, ch. I.

(घ) मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं,
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तम्,
स भवति शुभकाव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम्॥
—भरत : नाट्यशास्त्र, (बड़ौदा सीरिज़), १६।११८।

(ङ) 'निर्दोषा लक्षणवती सरीतिगुणभूषिता।
सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्॥
जयदेव : 'चन्द्रालोक', बनारस, १९३७, १।७, पृष्ठ १०।

मानव की काव्य-निबद्ध ये सुख-दुःखात्मक अनुभूतियाँ अनिवार्यतः शब्दार्थ-रूप ही होती हैं, भारतीय साहित्यशास्त्र में इसकी पुष्टि के लिए अकाट्य तर्क प्रस्तुत किये जा चुके हैं : इसीलिए अधिकांश प्रमुख आचार्यों ने काव्य को शब्दार्थमय ही माना है।[1] मानव की सुख-दुःखात्मक, आस्वादन-समर्थ शब्दार्थरूप इन अनुभूतियों का काव्यात्मक अभिव्यंजन अनिवार्य रूप से सौंदर्यमय ही होता है, क्योंकि काव्य-सृष्टि से पूर्व कवि की मूल अनुभूतियाँ सृजन-प्रक्रिया में अपनी अललित तीक्ष्णता खोकर सौंदर्य का रूप धारण कर लेती हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर काव्य की आस्वादपरक परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है:—

'मानव की सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों की शब्दार्थ-रूप आस्वादमयी सौंदर्याभिव्यक्ति ही काव्य है।'

'आस्वाद' शब्द की व्युत्पत्ति और अभिप्रेत अर्थ

व्युत्पत्ति

'आस्वाद' शब्द 'आङ' उपसर्ग 'स्वद्' धातु से निष्पन्न है। 'स्वद्' धातु के विभिन्न अर्थ हैं—'पसन्द किया जाना', 'मधुर होना', 'स्वाद में रुचिकर होना', 'स्वाद लेना', 'रस लेना', 'खाना', 'प्रसन्न करना', 'मधुर करना'।[2] इन सभी अर्थों में छाया-मात्र का अन्तर है, अन्यथा ये सभी लगभग समानार्थी हैं। 'आस्वाद' शब्द का कोशगत अर्थ है—'सुस्वादु', 'सुखानुभव', 'सुखोपभोग', 'आनंद' आदि।[3] स्पष्ट है कि ये सभी अर्थ भाववाचक संज्ञा के द्योतक हैं और प्रायः इसी अर्थ में साहित्यशास्त्र तथा वाङ्मय के इतर प्रकारों में यह शब्द प्रयुक्त होता है। इस अर्थ

---

१. (क) 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्...'
भामह : काव्यालंकार, व्या० प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, २०१९ वि०, प्रथम परिच्छेद, कारिका १६, पृष्ठ ९।
(ख) 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्...।'
—रुद्रट : काव्यालंकार, व्या० डॉ० सत्यदेव चौधरी, वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली सन् १९६५, द्वितीय अध्याय, कारिका १, पृष्ठ १७।

२. (क) Svad or svād...to taste well, be sweet or pleasant to,...to taste with pleasure, relish, enjoy, like, delight in, to make palatable....
—Monier Williams ; *A Sanskrit English Dictionary*, ed. 1963, p. 127.
(ख) Apte : *Sanskrit English Dictionary*, p. 631 तथा हिन्दी-संस्करण, पृष्ठ ११५७।

३. (क) Āsvād,...eating with relish, tasting, enjoying (also metaphorically)...
—Monier Williams : *A Sanskrit Dictionary* p. 162.

में प्रस्तुत शब्द की सिद्धि 'स्वद्' धातु में 'भावे' सूत्र से घञ् प्रत्यय के योग से होती है। यहाँ 'स्वद्' धातु का अर्थ सिद्धा-स्थापन्न भाव है। 'आस्वद् + अ' इस स्थिति में 'अत उपधायाः' से उपधादीर्घ होने पर 'आस्वाद' शब्द की निप्पत्ति होती है।[1]

इसके अतिरिक्त 'आस्वाद' शब्द का करण-अर्थ में भी प्रयोग होता है—'आस्वाद्यते अनेन इति आस्वादः।' इस अर्थ में 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' सूत्र से घञ् प्रत्यय, पुनः 'अत उपधायाः' से उपधा-दीर्घ होने पर 'आस्वाद' शब्द निष्पन्न होता है,[2] जो कि आस्वाद्य (पदार्थ) का पर्याय-वाची है।

अभिप्रेत अर्थ

साहित्यशास्त्र में 'आस्वाद' शब्द का प्रयोग स्वतंत्र रूप में भी होता है तथा 'काव्य' और 'आस्वाद' शब्दों के समस्त पद 'काव्यास्वाद' के रूप में भी, जिनका एक ही प्रचलित अर्थ है—काव्यानन्द। इस अर्थ में संस्कृत और हिन्दी-साहित्यशास्त्र में 'काव्यानंद' के अतिरिक्त 'चर्वणा', 'रसास्वाद', 'भोग', 'समापत्ति', 'चित्त-विस्तार', 'अलौकिक आनंद', 'चमत्कृति', 'अन्तश्चमत्कार' 'काव्याह्लाद', 'लय', 'विश्रान्ति', 'आत्मविश्रान्ति', 'रसन', 'समानुभूति' तथा 'सह-अनुभूति' आदि अनेक शब्द व्यवहृत हुए हैं।

प्रस्तुत प्रबंध में 'काव्यास्वाद' शब्द से हमें प्रथम भावपरक अर्थ ही अभीष्ट रहा है, दूसरा करणपरक अर्थ नहीं। 'काव्यास्वाद' शब्द के भावपरक अर्थ से हमारा अभिप्रेत आशय है—काव्य के अनुभावन से अद्भूत प्रमाता की प्रतिक्रिया। यह प्रतिक्रिया अधिकांश विचारकों के मत में आनन्दमयी है, किन्तु कुछ विशिष्ट समीक्षकों के अनुसार प्रमाता की यह प्रतिक्रिया सदैव आनंदमयी नहीं होती, अपितु इससे भिन्न भी हो सकती है। ऐसे समीक्षक भी प्रमाता की अनुभूति की व्याख्या के लिए 'काव्यास्वाद' शब्द का ही प्रयोग करते हैं। प्रस्तुत प्रबंध में इस शब्द का प्रयोग प्रमाता की दोनों ही प्रकार की प्रतिक्रियाओं के लिए किया गया है।

निष्कर्षतः 'काव्यास्वाद' शब्द से हमारा अभिप्रेत अर्थ है—'काव्यानुभावन से उद्भूत अथवा निष्पन्न प्रमाता की अनुभूतिमयी प्रतिक्रिया।'

(घ) काव्यास्वाद से तात्पर्य

हिन्दी-साहित्यशास्त्र में भारतीय और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में प्रचलित अवधारणाओं के अनुरूप ही काव्यास्वाद को विभिन्न अर्थों में ग्रहण किया गया है। वे संक्षेप में इस प्रकार हैं:

(१) रस—भारतीय काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध सिद्धांत 'रस-सिद्धान्त' के अनुसार 'काव्या-

---

(ख) Apte : ' *Sanskrit English Dictionary* p. 91 तथा हिन्दी-संस्करण, पृष्ठ १६९।

१. २. लघु सिद्धान्तकौमुदी, व्या० श्रीधरानन्द शास्त्री, तृतीय संस्करण, (प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी), उत्तरार्द्ध, (तिङन्त प्रकरण), व्याख्या-भाग में उद्धृत, पृष्ठ ५११।

स्वाद' का अर्थ वस्तुतः रसानुभूति ही है। हिन्दी के समस्त रसवादी आलोचकों ने काव्यास्वाद का विवेचन रसास्वाद के रूप में ही किया है।

(२) **शब्द-चमत्कार**—संस्कृत और हिन्दी-आलंकारिकों के मत में काव्यास्वाद शब्दार्थ के सौंदर्य से प्रेरित प्रमाता का अन्तश्चमत्कार ही है।

(३) **सौंदर्यानुभूति**—पश्चिम के सौन्दर्यशास्त्रियों तथा उनसे प्रभावित पाश्चात्य और भारतीय समालोचकों ने काव्यास्वाद का स्वरूप-विश्लेषण काव्यानुभावन से उद्भूत प्रमाता की सौंदर्यानुभूति[1] के अन्तर्गत किया है।

(४) **कलात्मक अनुभूति**—उत्कृष्ट काव्य-कला के सौंदर्य से अभिभूत प्रमाता का चित्त चमत्कार। अनेक कला-सम्प्रदायों में यह बृहत्तर अर्थ में कलात्मक सौंदर्य से निष्पन्न कलास्वाद के रूप में भी स्वीकृत है। अतः इस वर्ग के समालोचकों के अनुसार कलास्वाद अथवा कलानुभूति ही काव्यास्वाद है।

(५) **कला-चर्वणा से प्रेरित मिश्र अनुभूति**—अनेक भारतीय और पाश्चात्य आधुनिक समालोचकों की दृष्टि में काव्य की चर्वणा से प्रेरित ऐन्द्रिय, मानसिक और बौद्धिक आदि विभिन्न तत्त्वों के संश्लेपण से विनिर्मित प्रमाता की मिश्र अनुभूति ही काव्यास्वाद है।

(ङ) आस्वादयिता का व्यक्तित्व

काव्यास्वाद के विधिवत् अध्ययन से पूर्व आस्वादनकर्ता प्रमाता के व्यक्तित्व का पूर्ण परिचय आवश्यक है। भारतीय और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में प्रमाता की अनेकविध कल्पना की गई है। भारतीय काव्यशास्त्र में प्रमाता के सहृदयत्व को सर्वाधिक महत्व दिया गया है : सहृदयत्व का अर्थ है सभी प्रकार के पूर्वग्रहों से मुक्त निर्मल चित्त से अपने भीतर कवि की अनुभूति के समान अनुभूति प्राप्त करने तथा काव्य का समुचित आस्वादन करने की क्षमता : सहृदय के लिए 'सामाजिक', 'रसिक', 'सभ्य', 'सुमनस्' आदि अनेक शब्द प्रचलित रहे हैं, जिनसे उसकी प्रबुद्ध सामाजिकता, कलात्मक रुचि-सम्पन्नता, रुचि-संस्कार तथा संवेदनशीलता आदि गुण ध्वनित होते हैं। भरतमुनि ने प्रमाता में बौद्धिक पृष्ठभूमि, सौंदर्यवृद्धि-कारक साधनों की अवगति, शारीरिक-मानसिक स्थितियों के ज्ञान, मन को एकाग्र करने की शक्ति, विभिन्न भाषाओं का ज्ञान, तीव्र-ग्राहिका शक्ति, निरपेक्ष बुद्धि, संस्कृत-चरित्र, नाटक के प्रति रुचि तथा तन्मय होने की सामर्थ्य आदि गुण आवश्यक माने हैं।[2] अभिनवगुप्त ने आस्वादकर्ता के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए सर्वाधिक बल 'संस्कार' तथा सहृदय के चित्त की निर्मलता पर दिया है, जिसका अर्जन, उनके अनुसार, काव्यानुशीलन के अभ्यास द्वारा होता है।[3] भोजराज ने पहली बार सहृदय के लिए 'रसिक' शब्द का प्रयोग करते हुए उसमें आत्मा में स्थित गुण-विशेष—'सात्त्विक अहंकार'—

---

१. 'Aesthetic Experience.'

२. भरतमुनि नाट्यशास्त्र, अध्याय २७, ४९।५५ (चौखम्बा सिरीज), पृष्ठ ३१२।

३. येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः।'

—ध्वन्यालोक-लोचन : (पूर्वार्द्ध), व्या० डॉ० रामसागर त्रिपाठी, प्रथम संस्करण, प्रथम उद्योत, पृष्ठ ६२।

की अवस्थिति आवश्यक मानी है।[1] **उत्पत्स्यते मम सपदि कोऽपि समानधर्मा** भवभूति की इस प्रसिद्ध उक्ति में आस्वादयिता को कवि का 'समानधर्मा' कहा गया है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी प्रमाता के सहृदयत्व और उसके कवि के 'समानधर्मा' होने की चर्चा अनेक प्रकार से हुई है। ड्यूई के अनुसार काव्य के समुचित आस्वादन के लिए प्रमाता को अपने भीतर उसी प्रक्रिया का अनुगमन करना चाहिए जिसमें से सृजन की स्थिति में कवि स्वयं गुज़रा था।[2] अपने भीतर कवि के समान अनुभूति उत्पन्न करने की प्रमाता की सामर्थ्य पर विचार करते हुए एम्पसन ने कहा है कि काव्यानुभावन के लिए प्रमाता को अपने मन में कवि की रचना की पुनःसृष्टि करनी चाहिए।[3] बॉदलेयर ने प्रमाता की कल्पना-शक्ति पर विशेष बल दिया है[4] जो संस्कृत-काव्यशास्त्र में निरूपित आस्वादयिता की भावयित्री प्रतिभा के समतुल्य ही है।

इस प्रकार भारतीय और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में आस्वादनकर्त्ता के एक विशिष्ट रूप की प्रकल्पना की गई है। वह बुद्धि और हृदय से पूर्ण सामाजिक होता है। एक ओर जहाँ उसमें पाण्डित्य, प्रतिभा, सहानुभूति, सहृदयता, रसिकता आदि गुण होने चाहिएँ, वहाँ दूसरी ओर उसमें कवि की-सी संवेदनशीलता, तीव्र ग्राहिका-शक्ति तथा कवि-अनुभूति को निजी कल्पना द्वारा भावित कर अपने मन में पुनःसर्जित करने की सामर्थ्य भी होनी चाहिए।

---

१. आत्मस्थितं गुणविशेषमहंकृतस्य, शृंगारमाहुरिह जीवितमात्मयोनेः।
तस्यात्मशक्तिरसनीयतया रसत्वं, युक्तस्य येन रसिकोऽयमिति प्रवादः॥
—भोजकृत शृंगार-प्रकाश। सं० वी. राघवन, (कर्नाटक पब्लिशिंग हाउस, बम्बई), पृष्ठ ५१३

२. '......to perceive a beholder must create his own experience ....We lay hold of the full import of a work of art only as we go through in our own vital process, the processes, the artist went through in producting the work.—Dewey : *Art as Experience*, New York, 1934, p. 54.

३. 'The process of getting to understand a poet is precisely that of constructing his poems in one's own mind.
—W. Empson : *Seven Types of Ambiguity*.

४. '......a Lacuna which is completed by the imagination of the relisher.'
—Baudelaire : *Oeuvres Complètes*, ed. by Y. G. le Dantec (Gallimard, 1951), p. 1041.

अध्याय : २

संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्यास्वाद का स्वरूप

(क) रसवादियों की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप : रस का स्वरूप

(ख) ध्वनिवादियों की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप : ध्वनि का स्वरूप

(ग) अलंकारवादियों की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप : शब्दार्थ का चमत्कार

(घ) रीतिवादियों की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप : रचना-सौष्ठव का चमत्कार

(ङ) वक्रोक्तिवादी कुन्तक की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप : प्रयोगवक्रता : काव्यकला-जन्य अंतश्चमत्कार

(च) औचित्यवादी क्षेमेन्द्र की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप : समानुरूपता-जन्य चमत्कार का आनन्द

(छ) उपसंहार

से व्यंजित तथा वाणी, अंग और सत्त्व से मिले हुए स्थायीभावों का आस्वाद प्राप्त करते हैं।

भरतमुनि के उक्त उद्धरणों का सारांश इस प्रकार है:

१. रस वस्तुतः आस्वाद्य पदार्थ है।

२. इसकी निष्पत्ति विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से होती है।

३. नाना प्रकार के भावों से युक्त होकर स्थायी भाव की रस-रूप में यह निष्पति ठीक उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार अनेक द्रव्यों, व्यंजनों और ओषधियों से चिकित्सा-शास्त्रीय रस का निर्माण होता है।

४. प्रेक्षक वाचिक, आंगिक तथा मानसिक (सात्त्विक) नाट्याभिनयों से संयुक्त स्थायी-भाव का आस्वादन कर आनन्दित होता है।

भरतमुनि के उपरिलिखित मत-सारांश से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि—

(१) उनकी दृष्टि में रस प्रेक्षक सहृदय (प्रमाता) की अनुभूति का नाम नहीं है, वह वस्तुतः इस अनुभूति का आधार-विषय है, वह स्वयं काव्यास्वाद नहीं है, प्रत्युत प्रमाता को काव्यास्वाद अनुभूत कराने में समर्थ काव्य-(नाट्य-) पदार्थ है। दूसरे शब्दों में, काव्यास्वाद विषयगत है, विषयिगत नहीं।

(२) रस का आधार स्थायी भाव है। यह स्थायी भाव प्रेक्षक (प्रमाता) का न होकर अनिवार्यतः नायक का होता है तथा नाट्य-सामग्री से संयुक्त होकर रस-रूप में उपस्थित होता है। रस की यह उपस्थिति स्पष्ट ही प्रेक्षक के हृदय में नहीं होती, प्रत्युत रंगमंच पर होती है।

(३) प्रेक्षक इस रस का आस्वाद नहीं करता, वह तो तदुद्भूत हर्षादि[1] का ही अनुभव करता हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त

भरतमुनि के रस-सिद्धान्त के व्याख्याताओं में सर्वप्रमुख आचार्य अभिनवगुप्त ने मनोविज्ञान के प्रामाणिक संदर्भ में काव्यास्वाद के स्वरूप का विश्लेषण किया है। उनकी रस-दृष्टि का परिचय उनके निम्नलिखित उद्धरणों से प्राप्त किया जा सकता है:

१. **तथा ह्याह 'काव्यार्थान् भावयन्ति' इति। तत्काव्यार्थो रसः।**[2]

२. . . .तत्र सर्वेऽमी सुखप्रधानाः। स्वसंविच्चर्वणारूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्यानन्दसारत्वात्। तथा हि—एकघनशोकसंविच्चर्वणेऽपि लोके स्त्रीलोकस्य हृदयविश्रान्तिः। . . .अविश्रान्तिरूपतैव दुःखम्। तत एव कापिलैर्दुःखस्य चांचल्यमेव प्राणत्वेनोक्तम्। रजोवृत्तितां वदद्भिः। इत्यानन्दरूपता सर्वरसानाम्।[3]

३. किं तर्ह्यतद्धि विभावादय इति? अलौकिक एवायं चर्वणोपयोगी विभावादिव्यवहारः।[4]

---

१. '. . . स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति . . .।'
—नाट्यशास्त्र, काव्यमाला, पृष्ठ ९३।

२. हिन्दी अभिनवभारती, व्याख्याकार—आचार्य विश्वेश्वर, सं० डॉ० नगेन्द्र, षष्ठ अध्याय, पृष्ठ ४७०।

३. वही, पृष्ठ ४७८।

४. वही, पृष्ठ ४८७।

४. ... ... अलौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः स्मृत्यनुमानलौकिकस्वसंवेदन-विलक्षण एव।[1]

५. तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचारात्मकलिंगदर्शने स्थाय्यात्मपरचित्तवृत्त्यनुमानाभ्यासपाटवादधुना तैरेवोद्यानकटाक्षवीक्षादिभिर्लौकिकीं कारणत्वादिभुवमतिक्रान्तैर्विभावनानुभावनासमुपरंजकत्वमात्रप्राणैः, अत एवाऽलौकिकविभावादिव्यपदेशभाग्भिः, प्राच्यकारणादिरूपसंस्कारोपजीवनख्यापनाय विभावादिनामधेयव्यपदेश्यैर्भावाध्यायेऽपि वक्ष्यमाणस्वरूपभेदैर्गुणप्रधानपर्यायेण सामाजिकधियि सम्यग्योगं सम्बन्धमैकाग्र्यं वाऽऽसादितवद्भिः, अलौकिकनिर्विघ्नसंवेदनात्मकचर्वणागोचरतां नीतोऽर्थः चर्व्यमाणतैकसारो, न तु सिद्धस्वभावः, तात्कालिक एव, न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी स्थायिविलक्षण एव रसः।[2]

१. जैसा कि (भरतमुनि ने) कहा है—'काव्य के अर्थों को प्रकाशित करते हैं'—वहीं काव्यार्थ रस है।

२. उनमें से ये सभी (रस) स्वसाक्षात्कारात्मक आस्वादस्वरूप ज्ञान के आनन्दमय होने से सुखप्रधान (आनन्दमय) होते हैं। जैसे कि—केवल लोकानुभूति के आस्वादन में भी उसके निर्विघ्न विश्रान्तिरूप होने से लोक में (कोमलहृदय वाली) स्त्रियों को भी हृदय की विश्रान्ति (आनन्द) प्राप्त होती है। अविश्रान्ति का नाम ही दुःख है। इसीलिए सांख्यदर्शन के मानने वाले कपिल के अनुयायियों ने रजोगुण की वृत्ति कहकर, चंचलता (अविश्रान्ति) को ही दुःख का प्राण कहा है। इसलिए समस्त रस आनन्दरूप हैं।

३. तो फिर ये विभावादि क्या हैं? चर्वणा में उपयोगी इस विभावादि का व्यवहार अलौकिक है।

४. अलौकिक-चमत्कार स्वरूप रसास्वाद स्मृति, अनुमान, लौकिक प्रत्यक्षादि से भिन्न ही है।

५. लोकव्यवहार में कार्यकारणसहकारीरूप लिंगों (अनुमापक हेतुओं) को देखकर (रत्यादिरूप) स्थायिभावात्मक, अन्य व्यक्ति की चित्तवृत्ति के अनुमान के अभ्यास की तीव्रता के कारण, उन्हीं उद्यान, कटाक्ष, वीक्षण आदि (अनुभावों) के द्वारा (जो नाटकों में) कारणत्व आदि रूप को छोड़कर विभावना, अनुभावना एवं समुपरंजकत्व मात्र रूप को प्राप्त, इसलिए अलौकिक विभावादि नामों से कहे जाने वाले, कारणादि रूप पुराने संस्कारों के उपजीवित्व द्योतन के लिए विभावादि नाम से निर्दिष्ट किये जाने वाले और भावाध्याय (सप्तम अध्याय) में भी जिनका स्वरूप आगे कहेंगे इस प्रकार के (विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के) सामाजिक की बुद्धि में गुणप्रधान भाव से भली प्रकार से योग अर्थात् संबंध अथवा एकाग्रता को प्राप्त हुए विभावादि के द्वारा अलौकिक तथा निर्विघ्न संवेदनरूप चर्वणा का

---

१. हिन्दी अभिनवभारती, पृष्ठ ४८५।
२. वही, पृष्ठ ४८३।

विषय बनाया गया (रत्यादिरूप) अर्थ, जिसका चर्वणा ही एकमात्र सार है, न कि (घटादि के समान पहले से सिद्ध अर्थात्) विद्यमान स्वरूप वाला अर्थात् केवल उस (चर्वणा के) काल में ही रहने वाला अर्थात् चर्वणा से अतिरिक्त काल में न रहने वाला स्थायी भाव से विलक्षण रस होता है।

विवेचन

उपर्युक्त उद्धरणों के प्रकाश में आचार्य अभिनवगुप्त के मत का सारांश इस प्रकार है:

१. रस काव्य का अर्थ है, अर्थात् काव्य का लक्ष्य रसानुभूति है। दूसरे शब्दों में काव्य का प्रयोजन रस है।
२. रस आत्मविश्रान्तिमयी आनन्दानुभूति है। विश्रान्ति का अर्थ है 'सुख'। अविश्रान्ति ही दुःख है।[1]
३. अविश्रान्ति रजोगुणी वृत्ति है। प्रमाता की मनःस्थिति के अविश्रान्तिमय (रजोगुणयुक्त) होने पर रस-प्रतीति संभव नहीं है, दूसरे शब्दों में, रजोगुण से श्रेष्ठ सत्त्वगुणयुक्त मनःस्थिति में ही प्रमाता रसानुभूति कर सकता है।
४. रस अखण्ड अनुभूति है। विभावादि की पृथक्-पृथक् अनुभूतियाँ रसानुभूति की स्थिति में अपने अलौकिक विभावन-व्यापार की शक्ति से प्रमाता की बुद्धि में एकाग्र अखंडता को प्राप्त होती हैं।[2]
५. रस अनिवार्यतः आनन्दात्मक अनुभूति है।[3] समस्त रस आनन्दात्मक होते हैं।
६. काव्य-निबद्ध अलौकिक विभावादि (विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी) की निर्विघ्न[4] संवेदनरूपा चर्वणा ही रस है।
७. रस स्थायीभाव से भिन्न तथा चर्वणा से अभिन्न होता है। दूसरे शब्दों में, वह काव्या-

---

१ अविश्रान्तिरूपतैव दुःखम्'।—हिन्दी अभिनवभारती, पृष्ठ ४७८।

२. विभावादिनामधेय. . .सामाजिकधियि सम्यग्योगं सम्बंधमैकाग्र्यं वासादितवद्भिः।
—वही, पृष्ठ ४८३।

३. नाट्यशास्त्र (६।३२) में भरतमुनि द्वारा प्रयुक्त 'हर्षादींश्चाधिगच्छन्तीति' शब्दावली की व्याख्या करते समय अभिनवगुप्त ने रसानुभूति की सुखदुःखात्मकता का निषेध कर अत्यंत दृढ़ एवं निर्भ्रान्त शब्दों में उसकी एकान्त आनन्दरूपता का प्रतिष्ठापन किया है—

अन्ये त्वादिशब्देन शोकादीनामत्र संग्रहः। स च न युक्तः। सामाजिकानां हि हर्षैकफलं नाट्यं न शोकादिफलम्। तथात्वे निमित्ताभावात् तत्प्रसंगाच्चेति मन्यमाना हर्षांश्चाधिगच्छन्तीति पठन्ति।—हिन्दी अभिनवभारती, षष्ठोऽध्याय, पृष्ठ ५००।

४. अभिनवगुप्त ने रसप्रतीति में सात प्रकार के विघ्नों की प्रकल्पना की है—विघ्नाश्चास्यां सप्त। १—प्रतिपत्तावयोग्यता सम्भावनाविरहा नाम। २—स्वगतत्वपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशः। ३—निजसुखादिविवशीभावः। ४—प्रतीत्युपायवैकल्यम्। ५—स्फुटत्वाभावः ६—अप्रधानता। ७—संशययोगश्च।—हि० अ० भा०, पृष्ठ ४७४।

स्वाद से अभिन्न है—वह आस्वाद का विषय (आस्वाद्य) न होकर स्वयं आस्वाद है।[१]

८. रस चमत्कारपूर्ण अलौकिक अनुभूति है। वह न तो लौकिक अनुभूति है और न मिथ्या; न अनिर्वचनीय है, न लौकिक-सदृश है, न लौकिक अनुभूति द्वारा आरोपित ही है[२]—वह तो स्मृति, अनुमान एवं प्रत्यक्ष लौकिक अनुभवों से विलक्षण लोकोत्तर चमत्कारपूर्ण आस्वाद है।[३]

रस के स्वरूप-विश्लेषण में आचार्य अभिनवगुप्त का अभूतपूर्व योगदान सर्वप्रथम तो इस प्रस्थापना में है कि रसानुभूति काव्यास्वाद का विषय न होकर स्वयं काव्यास्वाद और दूसरे, रस अनुकार्यगत अथवा नटगत न होकर कविगत[४] एवं प्रमातृगत है।[५]

मम्मट

संस्कृत-काव्यशास्त्र के व्याख्याता आचार्यों में विवेचन-विश्लेषण तथा सार-संग्रहवृत्ति की दृष्टि से मम्मट का प्रमुख स्थान है। उनकी रस-विषयक मौलिक मान्यताओं का परिचय अभिनवगुप्त[६] के मत-प्रस्थापन के संदर्भ में प्रासंगिक रूप से मिल जाता है। अभिनवगुप्त के रस-संबंधी दृष्टिकोण की व्याख्या के अन्तर्गत मम्मट के निम्नलिखित उद्धरण उल्लेख्य हैं :

१. . .संबंधविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मकतया स्थितः स्थायी रत्यादिको, नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषित-वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राणो, विभावादिजीवितावधिः,

---

१. . .नीतोऽर्थः चर्व्यमाणतैकसारो, न तु सिद्धस्वभावः, तात्कालिक एव, न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी स्थायिविलक्षण एव रसः।

—हिन्दी अभिनवभारती, षष्ठोऽध्याय, पृष्ठ ४८३।

२. . .सर्वथा तावदेषास्ति प्रतीतिरास्वादात्मा यस्यां रतिरेव भाति। तत एव विशेषान्तरानुपहितत्वात् सा रसनीया सती न लौकिकी, न मिथ्या, नानिर्वाच्या, न लौकिकतुल्या, न तदारोपितादि रूपा। —वही, पृष्ठ ४७३।

३. . .अलौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः स्मृत्यनुमानलौकिकस्वसंवेदनविलक्षण एव।

—वही, पृष्ठ ४८५।

४. . .तदेवं मूलबीजस्थानीयः कविगतो रसः।

—वही, पृष्ठ ५१५।

५. . .ततो वृक्षस्थानीयं काव्यम्। तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनटव्यापारः। तत्र फलस्थानीयः सामाजिकरसास्वादः। —वही, पृष्ठ ५१५।

६. . .तद्ग्राहक. . .श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः।

—मम्मटकृत काव्यप्रकाश, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर, चतुर्थ उल्लास, पृष्ठ ११२।

पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः, पुर इव परिस्फुरन्. . . . .अन्यत्सर्वमिव तिरोदधद्, ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्, अलौकिकचमत्कारकारी, शृंगारादिको रसः।[१]

२. 'स च न कार्यः, विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसंगात्। नापि ज्ञाप्यः सिद्धस्य तस्यासम्भवात्। अपि तु विभावादिभिर्व्यंजितश्चर्वणीयः।[२]

३. चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम्। लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञानवेद्यान्तरसंस्पर्शरहितस्वात्ममात्रपर्यवसित-परिमितेतरयोगिसंवेदनविलक्षणलोकोत्तरस्वसंवेदनगोचर इति प्रत्येयोऽप्यभि-धीयताम्।[३]

अर्थात्

१. . . . सम्बन्ध-विशेष को स्वीकार अथवा परिहार करने के नियम का निश्चय न होने से साधारण रूप से प्रतीत होने वाले (उन विभावादि से ही अभिव्यक्त होने वाला) और सामाजिकों में वासना-रूप से विद्यमान रति आदि स्थायी भाव नियत प्रमाता में स्थित होने पर भी साधारण उपाय के बल से उसी काल में परिमित प्रमातृभाव के नष्ट हो जाने से वेद्यान्तर के स्पर्श से शून्य अपरिमित प्रमातृभाव से युक्त सामाजिक द्वारा समस्त हृदयों के साथ समान रूप से अपने आकार (आस्वाद) से अभिन्न होने पर भी (आस्वाद) का विषय होकर आस्वादमात्रस्वरूप विभावादि की स्थिति में ही रहने वाला, पानक रस के समान आस्वाद्यमान, साक्षात् प्रतीत होता हुआ सा. . .अन्य सब (अनुभवों) को तिरोभूत करता हुआ-सा ब्रह्मास्वाद का अनुभव करता हुआ सा, अलौकिक चमत्कार उत्पन्न करने वाला शृंगार आदि रस होता है।

२. और वह (रस) कार्य नहीं है। विभावादि का नाश हो जाने पर भी उसकी स्थिति संभव है। उसके पूर्वसिद्ध (अनुभव से पहले विद्यमान) न होने से वह ज्ञाप्य भी नहीं है, अपितु विभावादि से व्यंजित और आस्वादयोग्य है।

३. आस्वाद की उत्पत्ति होने से उपचार द्वारा उसकी भी उत्पत्ति कही जा सकती है, इसलिए (रस को उपचार द्वारा) कार्य भी कहते हैं और लौकिक प्रत्यक्ष आदि तथा बिना प्रमाणों की सहायता से होने वाले 'मित-योगि-ज्ञान' (से भिन्न), वेद्यान्तर संस्पर्श रहित, आत्मानुभूति में पर्यवसित, परिमितेतर योगियों के संवेदन से विलक्षण, लोकोत्तर अनुभूति का विषय होता है। इसलिए (रस को उपचार से) ज्ञेय भी कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त मम्मट ने एक अन्य स्थान पर असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि के विवेचन के प्रसंग में स्वतंत्र रूप से भी रस-स्वरूप का निर्वचन किया है :

---

१. वही, पृष्ठ १०८।
२. वही, पृष्ठ ११०।
३. वही, पृष्ठ १११।

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः॥[1]

अर्थात् लोक में रति आदि रूप स्थायी भाव के जो कारण (आलम्बन अथवा उद्दीपन) कार्य और सहकारी होते हैं वे क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव का अभिधान प्राप्त करते हैं और उन विभाव आदि (कारण, कार्य तथा सहकारियों के योग) से व्यक्त वह (रति आदि स्थायी भाव 'रस' कहलाता है।

विवेचन

उपर्युक्त उद्धरणों के प्रकाश में मम्मट के रस-स्वरूप-विषयक अभिमत का सारांश निम्न प्रकार है:

१. 'स्व' और 'पर' की भावना से असम्पृक्त नियत प्रमाता के 'परिमित प्रमातृभाव' के नष्ट हो जाने पर उसके मन में संस्कार-रूप से विद्यमान स्थायी भाव ही 'रस' रूप धारण करता है।
२. रसास्वादन-काल में ही विनष्ट 'परिमित प्रमातृभाव' के स्थान पर 'अपरिमित प्रमातृभाव' का उदय होता है अर्थात् रसानुभूति अपना वैशिष्ट्य खोकर किसी विशिष्ट सहृदय तक सीमित न रह कर साधारणीकृत रूप में सामाजिक मात्र की अनुभूति बन जाती है।
३. रसानुभूति की प्रकृति आस्वाद से अभिन्न होती हुई भी आस्वाद का विषय होती है। दूसरे शब्दों में, रस काव्यास्वाद का विषय है।
४. विभावादि का परिणत-रूप रस विभिन्न भोज्य तत्त्वों से विनिर्मित पानक रस के समान आस्वाद्यमान होता है। अर्थात् जिस प्रकार पानक रस के आस्वाद में इलायची, कालीमिर्च, शर्करा, इमली तथा आम आदि के पृथक्-पृथक् आस्वाद की सत्ता नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार विभाव, अनुभाव तथा स्थायीभाव अपनी स्वतंत्र सत्ता खोकर रसानुभूति में विलयित हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, रस अखंड अनुभूति है।
५. रस वेद्यान्तर-सम्पर्क-शून्य है अर्थात् रसानुभूति इतर ज्ञानों से पूर्णतः मुक्त होती है।
६. रसास्वाद ब्रह्मास्वाद अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार की अनुभूति के समान है।
७. रस अलौकिक-चमत्कार से युक्त अनुभूति है। इसकी अलौकिकता का रूप त्रिविध है:
(क) रस न 'कार्य' है और न 'ज्ञाप्य'। लोकनिबद्ध 'कार्य' पदार्थों के निमित्त के नष्ट होने पर भी उनकी सत्ता बनी रहती है, किन्तु विभावादि-निमित्त के नष्ट होने पर रस की सत्ता संभव नहीं है ('विभावादिजीवितावधिः'), अतः रस 'कार्य' नहीं है। लोकनिबद्ध 'ज्ञाप्य' पदार्थ ज्ञान से पूर्व और ज्ञान के उपरान्त—दोनों

---

१. काव्यप्रकाश : (व्याख्या० आ० विश्वेश्वर) चतुर्थ उल्लास, का० २७, २८; सूत्र ४३, पृष्ठ ९५।

दशाओं में अस्तित्वमान रहता है, किन्तु रस की सत्ता काव्यास्वादन से पूर्व अथवा उसके उपरान्त नहीं रहती, वह केवल काव्यास्वादन के क्षणों में रहती है। अतः रस 'ज्ञाप्य' भी नहीं है। (ख) रस अलौकिक इस अर्थ में भी है कि वह प्रत्यक्ष लौकिक प्रमाणों से गृहीत अस्मद् आदि के साक्षात् ज्ञान, प्रत्यक्ष लौकिक प्रमाणों के विना ही ('प्रमाणताटस्थ्य') योगजसामर्थ्य से प्राप्त अपरिपक्व सविकल्प समाधि में लीन मितयोगियों के ज्ञान एवं वेद्यान्तर के स्पर्श से रहित आत्मानुभूति-रूप परिपक्व निर्विकल्प समाधिरत परिमितेतर योगियों के ज्ञान से सर्वथा विलक्षण है। रस इन तीन प्रकार के ज्ञानों से विलक्षण लोकोत्तर अनुभूति का विषय है। (ग) रस का ग्रहण न निर्विकल्प ज्ञान से हो सकता है और न ही सविकल्प ज्ञान से। रस की चर्वणा में विभावादि की प्रधानता के कारण निर्विकल्प ज्ञान उसका ग्राहक नहीं हो सकता तथा रस के अलौकिक आनन्दमय, आस्वाद्यमान स्वानुभूति-रूप होने के कारण सविकल्प ज्ञान द्वारा भी उसका ग्रहण संभव नहीं है।[1] अतः रस अलौकिक अनुभूति है।

जैसा कि पहले निवेदन किया जा चुका है, मम्मट का रस-स्वरूप-विवेचन प्रमुखतः अभिनवगुप्त के विवेचन पर आधारित है, इन दोनों आचार्यो में दृष्टि-भेद केवल इतना है कि मम्मट रस को अभिनवगुप्त के समान काव्यास्वादरूप न मानकर काव्यास्वाद का विषय मानते हैं।

विश्वनाथ

रस-सम्प्रदाय के प्रवल पृष्ठपोषक आचार्य कविराज विश्वनाथ का रस-स्वरूप-विश्लेपण मुख्यतः मम्मट से प्रेरित है। निम्नलिखित उद्धरण में उनकी रस-दृष्टि का सारांश उपलब्ध है:

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥[2]

अर्थात्—सहृदय अपने चित्त में सत्त्वोद्रेक की अवस्था में अखण्ड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, इतर ज्ञान से मुक्त, ब्रह्मास्वाद-सहोदर, लोकोत्तरचमत्कारप्राण रस का उसके अपने आकार से अभिन्न रूप में आस्वाद करता है।

इस परिभाषा के विश्लिष्ट अंश निम्न प्रकार हैं:

१. सत्त्वोद्रेक-युक्त चित्त की स्थिति में रस निष्पन्न होता है।
२. रस अखंड है।
३. रस में इतर ज्ञान का पूर्ण अभाव होता है।

---

१. तद्ग्राहकं च प्रमाणं न निर्विकल्पकं, विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात्।
नापि सविकल्पकं, चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्।
काव्यप्रकाश : व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर, चतुर्थ, उल्लास पृष्ठ ११२।

२. साहित्यदर्पण, ३, २, ३।

४. रस स्वप्रकाशानन्द है।
५. रस चिन्मय है।
६. रस लोकोत्तर चमत्कार से युक्त होता है।
७. रस ब्रह्म के आस्वाद का सहोदर-रूप है।
८. रसास्वादन की रीति निज स्वरूप से अभिन्न है।

विवेचन

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार रस की निष्पत्ति रजोगुण एवं तमोगुण से विहीन—दूसरे शब्दों में लोक-निबद्ध रागद्वेष से विनिर्मुक्त—चित्त में सत्त्व के उद्रेक की अवस्था में ही संभव है। रस अखंड है अर्थात् रसानुभूति खंड-अनुभूति नहीं है—इसमें विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि रसांगों की खंड रूप स्वतंत्र अनुभूतियों की सत्ता नहीं रहती, प्रत्युत ये सभी अनुभूतियाँ आनन्द की एक पूर्ण-समग्र अनुभूति में समाविष्ट हो जाती हैं। इस अनुभूति की कोटियाँ नहीं होतीं। रस में इतर ज्ञान का पूर्ण अभाव होता है। रस-बोध प्रमाता की सम्पूर्ण चेतना को आच्छादित कर लेता है, ऐसी स्थिति में देश-काल, 'निज'—'पर' की चेतना आदि किसी रसेतर ज्ञान का स्पर्श नहीं होता। रस स्वप्रकाशानन्द है अर्थात् इसकी आनन्दानुभूति अपने प्रकाश से ही प्रकाशित रहती है, दूसरे शब्दों में, इस आनन्द-द्युति का उन्मेष आभ्यन्तर में से होता है, ऊपर से आरोपित नहीं होता। 'रस चिन्मय है'—अर्थात् रसानुभूति मृण्मय अनुभूति नहीं है, लौकिक विषयों के आस्वाद से सर्वथा भिन्न आत्मास्वाद है। रस लोकोत्तर चमत्कार से युक्त होता है अर्थात् रस का चमत्कार इन्द्रिय-ग्राह्य लौकिक अनुभवों से सर्वथा भिन्न अतीन्द्रिय आस्वाद होता है। रस ब्रह्मास्वाद का सहोदर-रूप है अर्थात् रस यद्यपि सत्त्वोद्रेक-युक्त, अखंड, चिन्मय तथा लोकोत्तर चमत्कार-प्राण होता है, तथापि इसको ब्रह्मास्वाद अर्थात् ब्रह्म की आस्वादमयी आत्मप्रतीति को पूर्णतः आध्यात्मिक भूमि में प्रतिष्ठित नहीं माना जा सकता। यह ब्रह्मास्वाद के समान है, स्वयं ब्रह्मास्वाद नहीं। और अन्त में, रसास्वादन की प्रतीति निज स्वरूप से अभिन्न होती है। दूसरे शब्दों में, रसास्वाद काव्य के आस्वाद से अभिन्न है, वह काव्यास्वाद है।

कविराज विश्वनाथ का रस-स्वरूप-विवेचन मुख्यतया मम्मटाचार्य के एतद्विषयक विवेचन पर आधृत है, उनकी विशेषता बस यही है कि संस्कृत-काव्यशास्त्र में रसशास्त्र का विकास जिस रूप में उनके युग तक हो चुका था, उसकी सर्वमान्य मान्यताओं का आकलन उन्होंने बड़े सार-गर्भित रूप में एक ही स्थान पर कर दिया।

पण्डितराज जगन्नाथ

संस्कृत-काव्यशास्त्रीय परम्परा के अन्तिम समर्थ आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ यद्यपि रस-सम्प्रदाय के पृष्ठपोषकों में नहीं हैं,[1] तथापि काव्य-रस के प्रति उनका आदर-भाव अत्यन्त

---

१. यत्तु 'रसवदेव काव्यम्' इति साहित्यदर्पणे निर्णीतम्, तन्न, वस्त्वलंकारप्रधानानां काव्यानाम-काव्यत्वापत्तेः। ...... अर्थमात्रस्य विभावाऽनुभावव्यभिचार्यन्यतमत्वादिति दिक्।
—रसगंगाधर (चौ० सं० सी०), प्रथम आनन, पृष्ठ २३-२४।

स्पष्ट है।[1] अपने पाण्डित्यपूर्ण ग्रंथ 'रसगंगाधर' में ध्वनि के पाँच भेदों में रसध्वनि को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करते हुए उसकी आत्मा के रूप में उन्होंने रस का अत्यन्त मार्मिक विवेचन किया है।[2] पण्डितराज ने 'रस-निष्पत्ति' के सम्बन्ध में ग्यारह मत प्रस्तुत किए हैं : (१) अभिनवगुप्त तथा मम्मट का अभिव्यक्तिवादी मत (२) आचार्य भट्टनायक का मत (३) प्रथम नव्यमत (४) द्वितीय नव्यमत (५) भट्टलोल्लट का मत (६) श्रीशंकुक का मत (७) विभावादि—सम्मिलन-वादी मत[3] (८) 'तीनों में जो चमत्कारी हो वही रस है'[4] (९) भाव्यमान विभाव रस है[5] (१०) भाव्यमान अनुभाव रस है[6] (११) भाव्यमान व्यभिचारी रस है।[7]

इन मतों को पण्डितराज ने उनकी सापेक्षिक महत्ता के क्रम से उपस्थापित किया है। प्रथम मत में आचार्य अभिनवगुप्त के शैव-प्रेरित अभिव्यक्तिवादी रस-मत का वेदान्त के प्रकाश में पुनराख्यान किया गया है। पण्तिराज की निजी रस-दृष्टि वस्तुतः इसी मत के अन्तर्गत निरूपित हुई है। द्वितीय मत का विवेचन करते हुए पण्डितराज अभिनवगुप्त-प्रतिपादित 'भग्ना-वरणचित्' तथा भट्टनायक-प्रतिपादित 'भोग' में अभेद स्थापित करते हैं, उनके अनुसार भोग-कृत्व (भोजकत्व) वस्तुतः व्यंजना का ही दूसरा नाम है। तृतीय और चतुर्थ (नव्य) मतों में रस को एक प्रकार का प्रमात्मक ज्ञान मानकर उस पर दार्शनिक दृष्टि से विचार किया गया है। पंचम एव षष्ठ मत के अन्तर्गत क्रमशः भट्टलोल्लट तथा शंकुक के उत्पत्तिवादी एवं अनुमितिवादी रसमतों की चर्चा की गई है। इन मतों का उल्लेख अत्यन्त संक्षिप्त रूप में हुआ है, स्पष्टतः पण्डितराज इन मतों को महत्त्वपूर्ण नहीं मानते। इसके बाद के पाँच मतों का केवल उल्लेखमात्र ही किया गया है, उन्हें कोई महत्त्व प्रदान नहीं किया गया। सातवें मत में कतिपय विद्वानों की इस धारणा का निर्वचन किया गया है कि विभाव, अनुभाव और संचारी परस्पर सम्मिलित होकर रस-रूप धारण करते हैं। आठवें मत के अन्तर्गत इस मान्यता का उल्लेख किया गया है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव में से जो चमत्कारी होता है, वही रस-रूप में परिणत होता है। नवें मत में इस मान्यता का उल्लेख किया गया है कि विभाव का पुनः-पुनः अनुसन्धान ही रस है। दसवें तथा ग्यारहवें मत में क्रमशः अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव के पुनः पुनः अभि-चिन्तित रूप को ही रस माना गया है।

जैसा कि निवेदन किया जा चुका है, पण्डितराज की रस-दृष्टि मुख्यतः अभिनवगुप्त तथा गौणतः भट्टनायक के अभिमतों पर आधारित हैं, उन्होंने शेष मतों का उल्लेख अध्ययनक्रम को अधिकाधिक पूर्ण बनाने के उद्देश्य से किया है। इन उद्धरणों में पण्डितराज की रस-स्वरूप-विषयक मान्यताओं का अनुसन्धान किया जा सकता है :

---

१. 'रसो वै सः।' 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति' इत्यादि श्रुतिः। वही, पृष्ठ ९१।
२. एवं पंचात्मके ध्वनौ परमरमणीयता रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावदभिधीयते। वही, पृष्ठ ७९।
३. विभावादयस्त्रयः समुदिता रसाः। वही, पृष्ठ ११६।
४. त्रिषु य एव चमत्कारी, स एव रसः। वही, पृष्ठ ११६।
५. भाव्यमानो विभाव एव रसः। वही, पृष्ठ ११६।
६. अनुभावस्तथा। वही, पृष्ठ ११६।
७. व्यभिचार्येव तथा परिणमति। वही, पृष्ठ ११७।

१. ...रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः।[1]
२. ...स्वप्रकाशतया वास्तवेन, निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः वासनारूपो रत्यादिरेव रसः।[2]
३. ...विभावादिचर्वणामहिम्ना सहृदयस्य निजसहृदयतावशोन्मिषितेन तत्तत्स्थाय्युपहितस्वस्वरूपानन्दाकारा समाधाविव योगिनश्चित्तवृत्तिरुपजायते, तन्मयीभवनमिति यावत्।[3]
४. चर्वणा चास्य चिद्गतावरणभंग एव प्रागुक्ता, तदाकाराऽन्तःकरणवृत्तिर्वा।[4]
५. इयं च परब्रह्मास्वादात् समाधेर्विलक्षणा, विभावादिविषयसंवलितचिदानन्दालम्बनत्वात्। भाव्या च काव्यव्यापारमात्रात्।[5]
६. ...अनिर्वचनीयः साक्षिभास्यशकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रसः।[6]
७. अयं हि लोकोत्तरस्य काव्यव्यापारस्य महिमा, यत्प्रयोज्या अरमणीया अपि शोकादयः पदार्था आह्लादमलौकिकं जनयन्ति। विलक्षणो हि कमनीयःकाव्यव्यापारज आस्वादः प्रमाणान्तरजादनुभवात्।[7]

अर्थात्

१. रति आदि स्थायी भाव जिसके विषय हों, ऐसे आवरणमुक्त शुद्ध चैतन्य को ही रस कहना चाहिए।
२. वासना-रूप रति आदि स्थायी भाव जब स्वतः प्रकाशमान आत्मानन्द के साथ अनुभूत होते हैं तब वे (स्थायी भाव) ही रस की संज्ञा प्राप्त करते हैं।
३ विभावादि के आस्वाद के द्वारा सहृदय की चित्तवृत्ति उसकी सहृदयतावश उत्पन्न प्रभाव के कारण विभिन्न रसों के स्थायी भाव से युक्त अपने स्वरूपानन्द को विषय बनाकर, समाधिस्थ योगी के समान तन्मय हो जाती है।[8]
४. जैसा कि पहले कहा जा चुका है, चैतन्य के आवरण का निवृत्त हो जाना ही रस का आस्वाद है, अथवा अन्तःकरण की वृत्ति के आनन्दमय हो जाने को ही चर्वणा समझना चाहिए।

---

१. रसगंगाधर, चौखम्बा विद्याभवन संस्कृत ग्रंथमाला, सन् १९५५; प्रथमानन, पृष्ठ ८८।
२. वही, पृष्ठ ८०।
३. वही, पृष्ठ ८६।
४. वही, पृष्ठ ८९।
५. वही, पृष्ठ ९०।
६. वही, पृष्ठ १०१।
७. वही, पृष्ठ १०९।
८. तुलना के लिए देखिए अभिनवगुप्त का मत—
लौकिकेन कार्यकारणानुमानादिना संस्कृतहृदयो विभावादिकं प्रतिपद्यमान एव न ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते, अपि तु हृदयसंवादापरपर्यायसहृदयत्वपरवशीकृततया पूर्णीभविष्यद्रसांकुरीभावेनानुमानस्मरणादिसरणिमनारुह्यैव तन्मयीभवनोचितचर्वणाप्राणतया।
—ध्वन्यालोकलोचन (चौ० सं० सी० १९४०), पृष्ठ १५५-५६।

५. यह आस्वाद परब्रह्म की आस्वादरूप समाधि से विलक्षण है, क्योंकि इसका आलम्बन विभावादि विषयों से युक्त आत्मानन्द है और यह आस्वाद काव्य के व्यापार-मात्र तक सीमित है।
६. अनिर्वचनीय (सत्-असत् से विलक्षण, आत्मचैतन्य के द्वारा प्रकाशित) शकुन्तला आदि विषयक रति आदि चित्तवृत्तियों का नाम रस है।
७. यह काव्य के *अलौकिक (व्यंजना) व्यापार का प्रभाव है कि जिसके प्रयोग में आए* हुए शोक आदि असुन्दर पदार्थ भी अलौकिक आनन्द को उत्पन्न करते हैं, क्योंकि काव्य-व्यापार से उत्पन्न होने वाला रुचिर आस्वाद, अन्य प्रमाण से उत्पन्न अनुभव की अपेक्षा विलक्षण है।

विवेचन

उपर्युक्त उद्धरणों में व्यक्त पण्डितराज जगन्नाथ की रस-स्वरूप-विषयक मान्यताओं का सारांश इस प्रकार है:

१. रस चित्तवृत्तिरूप है। काव्य-व्यापार के संसर्ग से प्रमाता की अन्तश्चेतना में संस्कार-रूप से विद्यमान स्थायीभाव जब स्वतः प्रकाशित आत्मानन्द के साथ अनुभूत होते हैं तो उसका शुद्ध चैतन्य अज्ञानावरण से मुक्त होकर एक विचित्र प्रकार की आस्वादमयी अनुभूति से तरंगायित होने लगता है। आस्वादरूप यह अनुभूति ही रस है।
२. रस की स्थिति में प्रमाता के समर्थ सहृदयत्व की सहायता से स्थायीभाव उसकी (प्रमाता की) चित्तवृत्ति में साधारणीकृत हो जाते हैं, और वह समाधिस्थ योगियों की भाँति अपने स्वरूपानन्द में लीन हो जाता है।
३. काव्यास्वादन के समय प्रमाता की मनःस्थिति का तन्मयीभाव समाधिस्थ योगी की चित्तवृत्ति के समान अखंड और गहन अवश्य होता है, किन्तु यह आस्वाद परब्रह्म के साक्षात्कार की आध्यात्मिक अनुभूति से भिन्न है, क्योंकि इसका आधार लौकिक स्थायी भाव ही होते हैं, लेकिन इस काव्यास्वाद का केवल आधार ही लौकिक है, यह आस्वाद स्वयं लौकिक नहीं है।[1] इस प्रकार काव्यास्वाद जहाँ एक ओर लौकिक सुखों के आनन्दाभास से भिन्न होता है, वहाँ दूसरी ओर वह निरुपाधिक चैतन्य के स्वरूपानन्द-रूप ब्रह्मास्वाद से भी भिन्न होता है।
४. अन्तःकरण की वृत्ति की आनन्दमयी परिणति ही रस-चर्वणा है। रसानुभूति अनिवार्यतः आनन्द-रूप होती है। काव्य के अलौकिक व्यंजना-व्यापार से ऐसे लोक-निबद्ध भाव भी, जो दुःखद होने के कारण सौन्दर्यहीन होते हैं, आनन्दप्रद बन जाते हैं।[2]
५. रस अनिर्वचनीय आनन्द है। काव्य-निबद्ध रति आदि स्थायीभाव कल्पमाप्रसूत होने के कारण सत् नहीं कहे जा सकते तथा प्रत्यक्षतः अनुभूयमान होने के कारण

---

१. आनन्दो ह्ययं न लौकिकसुखान्तरसाधारणः, अन्तःकरणवृत्तिरूपत्वात्। —वही, पृष्ठ ८७।
२. केवलाह्लादवादिनां तु प्रवृत्तिरप्रत्यूहेव। —वही, पृष्ठ १०८।

ये असत् भी नहीं हैं—इस प्रकार कल्पना एवं प्रत्यक्षता का मिश्र-रूप होने के कारण रसानुभूति का आनन्द सत्-असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय आनन्द है।

६. चित्तवृत्ति की यह रस-दशा नित्य एवं आत्म-प्रकाश से प्रकाशित रहती है। चैतन्य रूप होने के कारण रस नित्य और स्वप्रकाश है।[1]

पण्डितराज जगन्नाथ ने भट्टनायक के भुक्तिवाद तथा मम्मट एवं अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद के विवेचन के संदर्भ में ही अपने मत का निर्वचन किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने दो 'नव्यमतों' के उपस्थापन में रस को एक प्रकार का भ्रमात्मक ज्ञान माना है। पंडितराज का यह अभिमत कालान्तर में मान्यता प्राप्त न कर सका। वस्तुतः 'शुद्ध चैतन्य के अज्ञानावरण के भंग होने के उपरान्त जिस आत्मास्वाद की उपलब्धि होती है, वही रस है' : इस मान्यता को ही पंडितराज का प्रतिनिधि रसाभिमत मानना चाहिए। अभिनवगुप्त के शैव दर्शन-प्रेरित 'संविद्-विश्रांति' की ही अद्वैत-वेदान्ती दर्शन की छाया में पुनर्व्याख्या कर उसे उन्होंने 'अज्ञानावरण के विच्छिन्न होने से उपलब्ध शुद्ध चैतन्य का आत्मास्वाद' की संज्ञा प्रदान की। इस प्रकार अद्वैतवादी वेदान्त-दर्शन की भूमि पर रस-सिद्धान्त की आत्मवादी व्याख्या का श्रेय पंडितराज जगन्नाथ को ही दिया जाना चाहिए।

निष्कर्ष

संस्कृत-काव्यशास्त्र के प्रमुख रस-विवेचकों के मतों के विवेचन-विश्लेषण के उपरान्त काव्यास्वाद के स्वरूप का निर्धारण करना कठिन नहीं है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र की मीमांसा के अन्तर्गत रस का विवेचन किया था, उनकी दृष्टि लौकिक, सहज, व्यावहारिक एवं यथार्थवादी थी। उन्होंने रंगमंच पर प्रस्तुत उत्कृष्ट कलात्मक दृश्यों में रस-घटना की प्रकल्पना की थी। इसीलिए वे काव्य-व्यापार के दो ध्रुवों—काव्य और आस्वादक—में से द्वितीय की चेतना और उसके अन्तर्जगत् की अनुभूति को सम्यक् महत्व न दे पाए। उनकी वस्तुमुखी दृष्टि ने रस को आस्वाद्य पदार्थ के रूप में देखा तथा उसकी स्थिति अनुकार्य और नट में स्वीकार की। रस की इस वस्तुमुखी व्याख्या का इतिहास भामह तक परिव्याप्त है। भरतसूत्र के व्याख्याताओं तथा रस के स्वतंत्र विवेचकों ने सहज मनोविज्ञान तथा विभिन्न दार्शनिक मतों के प्रकाश में काव्यास्वाद के स्वरूप को अधिक विस्तार एवं सूक्ष्मता के साथ व्याख्यायित और विश्लेषित किया। भरतसूत्र के प्रथम उल्लेखनीय व्याख्याता भट्टलोल्लट ने रस को पदार्थ रूप न मान कर अनुभूति-रूप माना।[2] उनका यह दृष्टिकोण यद्यपि भरत की भाँति वस्तुमुखी ही है, तथापि, कालान्तर में पल्लवित रस-स्वरूप की आत्मवादी व्याख्या की दिशा में, अस्पष्ट ही सही, यह पहला संकेत था। रस की प्रमातागत व्याख्या की दिशा में प्रथम चरण-न्यास भरत-सूत्र के द्वितीय व्याख्याता श्रीशंकुक ने किया। उनके अनुसार रस है तो आस्वाद्य-रूप ही, किन्तु नट में अनुमित रस की चर्वणा प्रमाता द्वारा

---

१. सर्वथैव चास्या विशिष्टात्मनो विशेषणं विशेष्यं वा चिदंशमादाय नित्यत्वं स्वप्रकाशत्वं च सिद्धम्।—वही, पृष्ठ ८९।

२. तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायी त्वनुपचितः। स चोभयोरपि। मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये, अनुकर्तरि च नटे रामादिरूपतानुसन्धानबलादिति।
—हिन्दी अभिनवभारती, पृष्ठ ४४३ पर उद्धृत भट्टलोल्लट का मत।

५. यह आस्वाद परब्रह्म की आस्वादरूप समाधि से विलक्षण है, क्योंकि इसका आलम्बन विभावादि विषयों से युक्त आत्मानन्द है और यह आस्वाद काव्य के व्यापार-मात्र तक सीमित है।

६. अनिर्वचनीय (सत्-असत् से विलक्षण, आत्मचैतन्य के द्वारा प्रकाशित) शकुन्तला आदि विषयक रति आदि चित्तवृत्तियों का नाम रस है।

७. यह काव्य के अलौकिक (व्यंजना) व्यापार का प्रभाव है कि जिसके प्रयोग में आए हुए शोक आदि असुन्दर पदार्थ भी अलौकिक आनन्द को उत्पन्न करते हैं, क्योंकि काव्य-व्यापार से उत्पन्न होने वाला रुचिर आस्वाद, अन्य प्रमाण से उत्पन्न अनुभव की अपेक्षा विलक्षण है।

विवेचन

उपर्युक्त उद्धरणों में व्यक्त पण्डितराज जगन्नाथ की रस-स्वरूप-विषयक मान्यताओं का सारांश इस प्रकार है:

१. रस चित्तवृत्तिरूप है। काव्य-व्यापार के संसर्ग से प्रमाता की अन्तश्चेतना में संस्कार-रूप से विद्यमान स्थायीभाव जब स्वतः प्रकाशित आत्मानन्द के साथ अनुभूत होते हैं तो उसका शुद्ध चैतन्य अज्ञानावरण से मुक्त होकर एक विचित्र प्रकार की आस्वादमयी अनुभूति से तरंगायित होने लगता है। आस्वादरूप यह अनुभूति ही रस है।

२. रस की स्थिति में प्रमाता के समर्थ सहृदयत्व की सहायता से स्थायीभाव उसकी (प्रमाता की) चित्तवृत्ति में साधारणीकृत हो जाते हैं, और वह समाधिस्थ योगियों की भाँति अपने स्वरूपानन्द में लीन हो जाता है।

३. काव्यास्वादन के समय प्रमाता की मनःस्थिति का तन्मयीभाव समाधिस्थ योगी की चित्तवृत्ति के समान अखंड और गहन अवश्य होता है, किन्तु यह आस्वाद परब्रह्म के साक्षात्कार की आध्यात्मिक अनुभूति से भिन्न है, क्योंकि इसका आधार लौकिक स्थायी भाव ही होते हैं, लेकिन इस काव्यास्वाद का केवल आधार ही लौकिक है, यह आस्वाद स्वयं लौकिक नहीं है।[1] इस प्रकार काव्यास्वाद जहाँ एक ओर लौकिक सुखों के आनन्दाभास से भिन्न होता है, वहाँ दूसरी ओर वह निरुपाधिक चैतन्य के स्वरूपानन्द-रूप ब्रह्मास्वाद से भी भिन्न होता है।

४. अन्तःकरण की वृत्ति की आनन्दमयी परिणति ही रस-चर्वणा है। रसानुभूति अनिवार्यतः आनन्द-रूप होती है। काव्य के अलौकिक व्यंजना-व्यापार से ऐसे लोक-निबद्ध भाव भी, जो दुःखद होने के कारण सौन्दर्यहीन होते हैं, आनन्दप्रद बन जाते हैं।[2]

५. रस अनिर्वचनीय आनन्द है। काव्य-निबद्ध रति आदि स्थायीभाव कल्पनाप्रसूत होने के कारण सत् नहीं कहे जा सकते तथा प्रत्यक्षतः अनुभूयमान होने के कारण

---

१. आनन्दो ह्ययं न लौकिकसुखान्तरसाधारणः, अन्तःकरणवृत्तिरूपत्वात्। —वही, पृष्ठ ८७।
२. केवलाह्लादवादिनां तु प्रवृत्तिरप्रत्यूहैव। —वही, पृष्ठ १०८।

ये असत् भी नहीं हैं—इस प्रकार कल्पना एवं प्रत्यक्षता का मिश्र-रूप होने के कारण रसानुभूति का आनन्द सत्-असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय आनन्द है।

६. चित्तवृत्ति की यह रस-दशा नित्य एवं आत्म-प्रकाश से प्रकाशित रहती है। चैतन्य रूप होने के कारण रस नित्य और स्वप्रकाश है।[1]

पण्डितराज जगन्नाथ ने भट्टनायक के भुक्तिवाद तथा मम्मट एवं अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद के विवेचन के संदर्भ में ही अपने मत का निर्वचन किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने दो 'नव्यमतों' के उपस्थापन में रस को एक प्रकार का भ्रमात्मक ज्ञान माना है। पंडितराज का यह अभिमत कालान्तर में मान्यता प्राप्त न कर सका। वस्तुतः 'शुद्ध चैतन्य के अज्ञानावरण के भंग होने के उपरान्त जिस आत्मास्वाद की उपलब्धि होती है, वही रस है' : इस मान्यता को ही पंडितराज का प्रतिनिधि रसाभिमत मानना चाहिए। अभिनवगुप्त के शैव दर्शन-प्रेरित 'संविद्-विश्रांति' की ही अद्वैत-वेदान्ती दर्शन की छाया में पुनर्व्याख्या कर उसे उन्होंने 'अज्ञानावरण के विच्छिन्न होने से उपलब्ध शुद्ध चैतन्य का आत्मास्वाद' की संज्ञा प्रदान की। इस प्रकार अद्वैतवादी वेदान्त-दर्शन की भूमि पर रस-सिद्धान्त की आत्मवादी व्याख्या का श्रेय पंडितराज जगन्नाथ को ही दिया जाना चाहिए।

निष्कर्ष

संस्कृत-काव्यशास्त्र के प्रमुख रस-विवेचकों के मतों के विवेचन-विश्लेषण के उपरान्त काव्यास्वाद के स्वरूप का निर्धारण करना कठिन नहीं है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र की मीमांसा के अन्तर्गत रस का विवेचन किया था, उनकी दृष्टि लौकिक, सहज, व्यावहारिक एवं यथार्थवादी थी। उन्होंने रंगमंच पर प्रस्तुत उत्कृष्ट कलात्मक दृश्यों में रस-घटना की प्रकल्पना की थी। इसीलिए वे काव्य-व्यापार के दो ध्रुवों—काव्य और आस्वादक—में से द्वितीय की चेतना और उसके अन्तर्जगत् की अनुभूति को सम्यक् महत्त्व न दे पाए। उनकी वस्तुमुखी दृष्टि ने रस को आस्वाद्य पदार्थ के रूप में देखा तथा उसकी स्थिति अनुकार्य और नट में स्वीकार की। रस की इस वस्तुमुखी व्याख्या का इतिहास भामह तक परिव्याप्त है। भरतसूत्र के व्याख्याताओं तथा रस के स्वतंत्र विवेचकों ने सहज मनोविज्ञान तथा विभिन्न दार्शनिक मतों के प्रकाश में काव्यास्वाद के स्वरूप को अधिक विस्तार एवं सूक्ष्मता के साथ व्याख्यायित और विश्लेषित किया। भरतसूत्र के प्रथम उल्लेखनीय व्याख्याता भट्टलोल्लट ने रस को पदार्थ रूप न मान कर अनुभूति-रूप माना।[2] उनका यह दृष्टिकोण यद्यपि भरत की भाँति वस्तुमुखी ही है, तथापि, कालान्तर में पल्लवित रस-स्वरूप की आत्मवादी व्याख्या की दिशा में, अस्पष्ट ही सही, यह पहला संकेत था। रस की प्रमातागत व्याख्या की दिशा में प्रथम चरण-न्यास भरत-सूत्र के द्वितीय व्याख्याता श्रीशंकुक ने किया। उनके अनुसार रस है तो आस्वाद्य-रूप ही, किन्तु नट में अनुमित रस की चर्वणा प्रमाता द्वारा

---

१. सर्वथैव चास्या विशिष्टात्मनो विशेषणं विशेष्यं वा चिदंशमादाय नित्यत्वं स्वप्रकाशत्वं च सिद्धम्।—वही, पृष्ठ ८९।

२. तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायी त्वनुपचितः। स चोभयोरपि। मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये, अनुकर्तरि च नटे रामादिरूपतानुसन्धानबलादिति।
—हिन्दी अभिनवभारती, पृष्ठ ४४२ पर उद्धृत भट्टलोल्लट का मत।

ही निष्पन्न होती है।[1] भरतसूत्र के तृतीय व्याख्याता भट्टनायक ने रस-विवेचन के क्षेत्र में युगान्तर प्रस्तुत किया। काव्यास्वादन-प्रक्रिया के विश्लेपण के सन्दर्भ में काव्य-शब्द के तीन व्यापारों—अभिधा, भावकत्व एवं भोजकत्व—की प्रकल्पना की। मीमांसा पर आधारित भावकत्व व्यापार के अन्तर्गत उन्होंने साधारणीकरण-सिद्धान्त की प्रस्थापना की तथा इस व्यापार को प्रमातृ-चेतना को परिवद्ध करने वाली 'मोह-संकटता' का निवारण करने वाला घोपित किया।[2] भट्टनायक ने शैव दर्शन से प्रेरित भोजकत्व व्यापार के अन्तर्गत काव्यानुभूति के अर्थ में 'निजसंविद्-विश्रांति'[3] का प्रयोग किया और इस प्रकार सामाजिक को भावित रस का उपभोक्ता वताया[4] भरत के रस-सूत्र के चतुर्थ व्याख्याता आचार्य अभिनवगुप्त ने रसानुभूति को भट्टनायक के द्वैता-धृत भोगवाद के स्थान पर अद्वैत-प्रेरित अभिव्यक्तिवाद की दार्शनिक भूमि प्रदान की। भट्टनायक ने रस को भावित (अथवा 'सिद्ध') अनुभूति के रूप में स्वीकार किया था, अभिनवगुप्त ने उसे स्पष्टतः चर्वणा-रूप माना। इसके अतिरिक्त रस को कविगत और 'मूलवीज स्थानीय'[5] मानते हुए तथा सामाजिक को कवि-समान[6] वतलाते हुए, कविगत मूल वीज से विकसित वृक्षरूप-काव्य के फल[7] के रूप में काव्यास्वाद की प्रकल्पना कर उन्होंने कवि और प्रमाता के वीच संचरण-सूत्र का अभूतपूर्व सिद्धान्त प्रतिपादित किया। काव्यास्वाद के विवेचन में अभिनव का निश्चय ही यह महान योगदान है। संस्कृत-काव्यशास्त्र के अन्तिम समर्थ आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने रस को अभिनवगुप्त के शैव-मतावलम्वी द्वैतदर्शन से निकाल कर भारतवर्प के मूलभूत दर्शन वेदान्त की अद्वैतवादी भूमि पर स्थापित किया। अभिनवगुप्त की दृप्टि में रसानुभूति 'निर्विघ्न संविद्' का विश्रान्तिजन्य आत्मास्वाद है, तो पण्डितराज की दृप्टि में वह 'रत्यादि से अवच्छिन्न भग्नावरण चिति' का आत्मास्वाद। इस प्रकार भरत से लेकर जगन्नाथ तक आते-आते रस

---

१. ...अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रसः।
—काव्यप्रकाश (व्या० आचार्य विश्वेश्वर), पृष्ठ १०३ पर उद्धृत शंकुक का मत।

२. ...निविडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना........ भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसः...
—हिन्दी अभिनवभारती, पृष्ठ ४६४-६५ पर उद्धृत भट्टनायक का मत।

३. ...सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन........
—वही, पृष्ठ ४६५ पर उद्धृत भट्टनायक का मत।

४. भाविते च रसे तस्य भोगः...
—ध्वन्यालोक-लोचन की तारावती हिन्दी व्याख्या, (व्याख्याकार डॉ० रामसागर त्रिपाठी), पृष्ठ ३८७ पर उद्धृत भट्टनायक का मत।

५. ...तदेवं मूलबीजस्थानीयः कविगतो रसः।
—हिन्दी अभिनव भारती, पृष्ठ ५१५।

६. कविर्हि सामाजिकतुल्य एव।
—वही।

७. ...ततो वृक्षस्थानीयं काव्यम्। तत्र फलस्थानीयः सामाजिकरसास्वादः।
—वही।

विभिन्न दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक पद्धतियों में से गुजरता हुआ अन्त में एक तो पदार्थ रूप न रहकर चर्वणारूप हो गया—आधुनिक शब्दावली में उसका स्वरूप वस्तुगत न रहकर आस्वादमयी अनुभूति में परिणत हो गया, और दूसरे, उसकी अवस्थिति अनुकार्यगत अथवा नटगत के स्थान पर कविगत और अन्त में प्रमातृगत मानी गई।

(२)

संस्कृत-काव्यशास्त्र के रामचन्द्र-गुणचन्द्र,[1] रुद्रभट्ट[2] आदि जैनाचार्यों एवं वामन[3] तथा भोज[4] आदि ने यद्यपि रसानुभूति को सुख-दुःखात्मक माना है, तथापि संस्कृत-काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि रस-मीमांसकों ने एक स्वर से उसे अनिवार्यतः आनन्दमयी अनुभूति माना है। भरतमुनि द्वारा प्रयुक्त 'हर्षादि' शब्द यद्यपि कुछ काव्यशास्त्रियों द्वारा हर्षेतर कटु अनुभवों के अर्थ में ग्रहण किया गया है, किन्तु भरत के व्याख्याता अभिनवगुप्त ने अत्यंत स्पष्ट शब्दों में इस मत का खण्डन कर रस को एकान्ततः आनन्दात्मक अनुभूति घोषित किया।[5] इनके अतिरिक्त भट्टनायक, मम्मट, धनिक तथा पंडितराज जगन्नाथ आदि ने भी निर्भ्रान्त शब्दों में रस की ऐकान्तिक आनन्दरूपता का प्रतिपादन किया है। संस्कृत-रसशास्त्र के अनुसार रसानुभूति लौकिक स्थायी भावों पर आधृत होती है और ये स्थायी भाव प्रिय-अप्रिय दोनों प्रकार के होते हैं। किन्तु रस-प्रक्रिया की विलक्षणता अप्रिय-कटु भावों को भी सुखद बना देती है। सुखदुःखात्मक लौकिक भाव काव्यनिबद्ध हो कर अपना विशिष्ट, देशकाल की सीमा से आबद्ध स्थूल रूप छोड़ कर प्रमाता के मन में आनन्दमय साधारणीकृत रूप धारण कर लेते हैं।

(३)

संस्कृत-रसशास्त्र के अनुसार काव्यास्वाद का एक अन्य अनिवार्य लक्षण उसकी स्वप्रकाशता तथा रसेतर ज्ञानों से विनिर्मुक्तता है। भट्टनायक ने भावकत्व व्यापार के स्वरूप की चर्चा करते हुए 'निबिडनिजमोहसंकट' के निवारण को रसानुभूति की अखण्डता और स्वप्रकाशता का कारण

---

१. स्थायी भावः श्रितोत्कर्षो विभावव्यभिचारिभिः।
स्पष्टानुभावनिश्चेयः सुखदुःखात्मको रसः॥१०९॥
—हिन्दी नाट्य-दर्पण (आचार्य विश्वेश्वर), तृतीय विवेक, पृष्ठ २९०।

२. करुणभयानामप्युपादेयत्वं सामाजिकानाम्, रसस्य सुखदुःखात्मकतया तदुभयलक्षणत्वेन उपपद्यते, अतएव तदुभयजनकत्वम्।
—डॉ० राघवन की पुस्तक 'द नम्बर ऑफ़ रसज़', पृष्ठ १५५ पर उद्धृत रुद्रभट्ट (रसकलिका) का मत।

३. करुणप्रेक्षणीयेषु सम्प्लवः सुखदुःखयोः।
—हिन्दी काव्यालंकारसूत्र (व्याख्याकार—आचार्य विश्वेश्वर), प्रथम अध्याय, तृतीय अधिकरण, पृष्ठ १२२।

४. रसा हि सुखदुःखरूपाः
—शृंगारप्रकाश, द्वितीय भाग, पृष्ठ ३६९।

५. हिन्दी अभिनवभारती, षष्ठ अध्याय, पृष्ठ ५००।

बताया है। उनके भोजकत्व-व्यापार द्वारा रस-स्थिति में प्रमाता की चेतना में सत्त्व का उद्रेक होता है और वह लोकोत्तर भूमि पर स्थित हो जाता है। भट्टनायक के अनुसार भोजकत्व-व्यापार का लक्षण 'निजसंविद्विश्रान्ति' रसानुभूति का भी लक्षण है। प्रमाता की विश्रान्त संवित्-चेतना विरोधी भावों तथा अन्य सभी प्रकार के ज्ञानों से विनिर्मुक्त होकर अखण्ड काव्यास्वाद प्राप्त करती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने भट्टनायक की 'निजसंविद्विश्रान्ति' के स्थान पर इसी अर्थ में 'निर्विघ्न संविति' अथवा 'निर्विघ्न संवेदना' शब्द का प्रयोग किया है। मम्मट ने इसी संदर्भ में 'वेद्यान्तरसंस्पर्शरहितस्वात्ममात्रपर्यवसित' का प्रयोग किया है। उनके अनुसार रसानुभूति की स्थिति में प्रमाता के लौकिक ज्ञान वेद्यान्तर के स्पर्श से रहित आत्मानुभूति में पर्यवसित हो जाते हैं तथा उसका 'नियतप्रमातृभाव' विनष्ट होकर अपरिमित मातृभाव में परिणत हो जाता है। विश्वनाथ के प्रसिद्ध रस-लक्षण में 'सत्वोद्रेकादखंड. . .', 'स्वप्रकाशानन्द', 'चिन्मय' तथा 'वेद्यान्तरस्पर्शशून्य' का प्रयोग भी इसी संदर्भ में हुआ है। पंडितराज जगन्नाथ ने प्रमाता के 'तन्मयीभाव', शुद्ध-चैतन्य के 'भग्नावरण' तथा स्वतःप्रकाशित आत्मा के स्वरूपानन्द की चर्चा भी रसानुभूति की इसी विशेषता के संदर्भ में की है।

(४)

संस्कृत के रस-विवेचकों ने रसानुभूति के लिए 'अनिर्वचनीय', 'लोकोत्तर' एवं 'ब्रह्मास्वाद-सहोदर' आदि विशेषणों का प्रयोग भी किया है। भट्टनायक ने भोजकत्व-व्यापार के आनन्द को ब्रह्मास्वाद के समान[1] कहा है। अभिनवगुप्त ने 'अलौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः' कहकर रस की लोकोत्तरता का आख्यान किया है। मम्मट ने 'ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्' तथा 'अलौकिक-चमत्कारकारी' के द्वारा रस की ब्रह्मास्वाद से समकक्षता तथा उसकी त्रिविध[2] अलौकिकता का उल्लेख किया है। कविराज विश्वनाथ ने 'ब्रह्मास्वादसहोदर' तथा 'लोकोत्तरचमत्कारप्राण' कह कर रस की इसी विशेषता की पुष्टि की है। पंडिराज जगन्नाथ ने रसानुभूति को 'लोकोत्तर' तथा 'अनिवर्चनीय' तो माना है, किन्तु 'परब्रह्मास्वादात् समाधेर्विलक्षणा'[3] कह कर ब्रह्मास्वाद से उसकी भिन्नता का निर्भ्रान्ति प्रतिपादन किया है। काव्यास्वाद को उन्होंने लौकिक सुखों के 'आनन्दाभास' तथा निरुपाधिक चैतन्य के स्वरूपानन्द ब्रह्मास्वाद का मध्यवर्ती, चित्तवृत्ति का आत्मानन्द माना है। वस्तुतः पण्डितराज का यह मत भी अन्य विवेचकों के मत से भिन्न नहीं है, वे भी रस को ब्रह्मास्वाद-रूप नहीं, ब्रह्मास्वाद के समान लौकिक सुखों से श्रेष्ठ आस्वाद ही मानते हैं।

संक्षेप में, संस्कृत-काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि रस-विवेचकों के मतों के विवेचन के उपरान्त निष्कर्षों का आकलन इस प्रकार किया जा सकता है—

---

१. (क) भाविते च रसे तस्य भोगः. . .परब्रह्मास्वादसविधः।
—ध्वन्यालोक-लोचन, तारावती हिन्दी-व्याख्या, (व्या० डॉ० रामसागर त्रिपाठी), द्वितीय उद्योत, पृष्ठ ३८७ पर उद्धृत भट्टनायक का मत।

(ख) . . .परब्रह्मास्वादसविधेनभोगेन परं भुज्यत इति।
—हिन्दी अभिनव-भारती, षष्ठ अध्याय, पृष्ठ ४६५ पर उद्धृत भट्टनायक का मत।

२. मम्मट के रस-स्वरूप-विश्लेषण के प्रसंग में इसकी विस्तृत चर्चा की जा चुकी है।

३. रसगंगाधर चौखम्बा विद्याभवन, संस्कृत ग्रंथमाला सन् १९५५; प्रथम आनन, पृष्ठ ९०।

१. काव्यास्वाद (रसानुभूति) अनिवार्यतः आनन्दमयी अनुभूति है।
२. लौकिक भाव काव्यनिबद्ध होने पर अपना विशिष्ट ऐहिक रूप छोड़ कर प्रमाता की चेतना में साधारणीकृत रूप धारण कर लेते हैं। लौकिक भावों की यह अलौकिक, अविशिष्ट साधारणीकृत अनुभूति ही काव्यास्वाद है।
३. काव्यास्वाद अपने ही प्रकाश से प्रकाशित रहता है, यह अन्य सभी प्रकार के भावों और ज्ञानों से विनिर्मुक्त देशकाल की सीमाओं से अतीत, व्यक्तिगत मोह-विराग तथा 'स्व'-'पर' की भावना से रहित, सत्त्वोद्रिक्त मनःस्थिति में प्रमाता का अनिर्वचनीय आत्मास्वाद है।
४. लौकिक भावों पर आधारित होने के कारण काव्यास्वाद जहाँ एक ओर शुद्ध आध्यात्मिक आनन्द से भिन्न है, वहाँ दूसरी ओर प्रत्यक्ष ऐहिक भोगास्वाद से उच्चतर एवं सूक्ष्मतर भूमि पर अवस्थित होने के कारण इसे स्थूल लौकिक आनन्द भी नहीं कहा जा सकता। यह आनन्द ब्रह्मास्वाद के समान सूक्ष्म-परिष्कृत आनन्द तो है, किन्तु ब्रह्म-साक्षात्कार-रूप शुद्ध आनन्द नहीं है।

निष्कर्षतः, संस्कृत के रसशास्त्र की दृष्टि में : 'काव्यास्वाद (रस) इतर भावों और ज्ञानों से विनिर्मुक्त, देशकाल की सीमाओं से अनिबद्ध, व्यक्तिगत मोह-विराग एवं 'स्व'-'पर' की भावना से रहित, प्रमाता की सत्त्वोद्रिक्त मनःस्थिति में अनुभूयमान, ऐहिक भोगास्वाद से भिन्न, ब्रह्मास्वाद के समान सूक्ष्म-परिष्कृत, स्वतःप्रकाशित आनन्दमयी आत्मानुभूति है।'

(ख) ध्वनिवादियों की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप : ध्वनि का स्वरूप

रस-सिद्धान्त की भाँति ध्वनि-सिद्धान्त भी संस्कृत-काव्यशास्त्र में अत्यन्त व्यापक काव्य-सिद्धान्त के रूप में मान्य हुआ। इसके प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन ने अलंकार, रीति और रस—काव्य के प्रायः सभी पूर्वप्रतिष्ठित सिद्धान्तों को ध्वनि से सम्बद्ध कर उसे काव्य की आत्मा घोषित किया। ध्वनिवादियों के अनुसार चमत्कारपूर्ण व्यंग्यार्थ से प्राप्त आनन्द ही काव्यास्वाद है। अतः ध्वनिवादियों की दृष्टि में काव्यास्वाद के स्वरूप का विवेचन करने के लिए ध्वनि के स्वरूप का विश्लेषण आवश्यक है।

ध्वनि की प्रेरणा : स्फोटवाद

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक को इसके प्रस्थापन की प्रेरणा व्याकरण के स्फोटवाद[1] से प्राप्त हुई।[2] प्राचीन वैयाकरणों के अनुसार किसी भी शब्द का सम्पूर्ण उच्चारण एक साथ सम्भव नहीं है। शब्द के विभिन्न वर्ण क्रमशः उच्चरित होते हुए नष्ट होते रहते हैं, किन्तु प्रत्येक वर्ण

---

१. स्फोट का व्युत्पत्त्यर्थ है—
स्फुटति अर्थो यस्मात् स स्फोटः।

२. प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचक-सम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यंजकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः।
—हिन्दी ध्वन्यालोक, प्रथम संस्करण, प्रथम उद्योत, पृष्ठ ७४।

नष्ट होने से पूर्व बाद में उच्चरित होने वाले वर्ण को अपना संस्कार दे जाता है; शब्द के अन्तिम वर्ण तक यही क्रम चलता है। अन्तिम वर्ण का अनुभव पूर्ववर्ती वर्णों के अनुभव-प्रसूत संस्कार के आधार पर अर्थ की व्यंजना करता है। अन्तिम वर्ण की यह व्यंजना-प्रक्रिया ही स्फोट है।[1] वैयाकरणों के अनुसार स्फोट को प्रकट करने वाला वर्णोच्चारण ही ध्वनि है।[2] जिस प्रकार शब्द के विभिन्न वर्ण अपनी पृथक् सत्ता में स्वतंत्र रूप से अर्थाभिव्यक्ति में समर्थ नहीं होते, उसी प्रकार काव्य में वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ पूर्ण सौन्दर्य के उद्घाटन में समर्थ नहीं होता; यह कार्य तो व्यंग्यार्थ द्वारा ही सम्पादित होता है। व्यंग्यार्थ की प्राप्ति 'ध्वनि' द्वारा ही होती है। काव्य का सूक्ष्म व्यंग्यार्थ वस्तुतः घण्टे पर चोट होने से उत्पन्न स्थूल टंकार के अनन्तर सुनाई पड़ने वाली मधुर झंकार के समान है।[3]

ध्वनि का स्वरूप

'ध्वनि' का सामान्य अर्थ समझ लेने के उपरान्त उसके शास्त्रीय स्वरूप का व्याख्यान-विश्लेषण सहज होगा। ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आन्दवर्द्धनाचार्य के अतिरिक्त आचार्य मम्मट एवं पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति ध्वनिवादियों ने ध्वनि-स्वरूप के सम्बन्ध में मूल्यवान विचार प्रस्तुत किए हैं, ध्वन्यालोकलोचनकार अभिनवगुप्त एवं कविराज विश्वनाथ का मत भी इस सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण है। उनके मूल अभिमतों के प्रकाश में ध्वनि-स्वरूप का विश्लेषण समीचीन होगा। संक्षेप में ये मत इस प्रकार हैं—

आनन्दवर्द्धनाचार्य

१. बुधैः काव्यतत्त्वविद्भिः, काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः, परम्परया यः समाम्नातपूर्वः सम्यक् आसमन्ताद्, म्नातः, प्रकटितः, तस्य सहृदयजनमनःप्रकाशमानस्याप्यभावमन्ये जगदुः।[4]

२. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥[5]

३. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥[6]

---

१. पूर्वपूर्ववर्णानुभवाहितसंस्कारसचिवेन अन्त्यवर्णानुभवेन अभिव्यंज्यते स्फोटः।

२. ... स वर्णव्यंजनद्वारा तमर्थं व्यंज्येत्स्फुटम्।
स ध्वनिः स्फोट इत्यत्र शाब्दिकः परिभाष्यते। भावप्रकाशन', पृष्ठ १७८।

३. एवं घण्टानिर्ह्लादस्थानीयोऽनुरणनात्मोपलक्षितो व्यंग्योऽप्यर्थो ध्वनिरिति व्यवहृतः।
—ध्वन्यालोक-लोचन, तारावती व्याख्या (पूर्वार्द्ध), व्याख्याकार डॉ० रामसागर त्रिपाठी, प्रथम उद्योत, पृष्ठ २७०।

४. हिन्दी ध्वन्यालोक, सं० डॉ० नगेन्द्र, व्या० आचार्य विश्वेश्वर (प्रथम संस्करण), प्रथम उद्योत, कारिका १, पृष्ठ ५।

५. वही कारिका १, पृ० ५।

६. वही, कारिका ४, पृष्ठ १९।

४. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥[1]

अर्थात्

१. काव्य के जिस आत्मभूत तत्त्व को काव्य-मर्मज्ञों ने 'ध्वनि' अभिधान दिया, परम्परा से जिसको बारंबार प्रकाशित किया तथा विशद रूप से अनेक बार जिसको प्रकट किया है, सहृदयों के मन में प्रकाशमान् उस (चमत्कारप्राण काव्यात्म-रूप ध्वनि) तत्त्व का भी कुछ लोग अभाव मानते हैं।
२. जहाँ पर अर्थ अथवा शब्द दोनों अपनी आत्मा और अपने अर्थ को उपसर्जन (गौण) बना कर उस व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति करते हैं, वह काव्यविशेष विद्वानों द्वारा 'ध्वनि' नाम स अभिहित किया जाता है।
३. प्रतीयमान् कुछ और ही वस्तु है जो रमणियों के प्रसिद्ध शरीरांगों से भिन्न उनके लावण्य के समान महाकवियों की वाणी में (वाच्यार्थ से पृथक् रूप में) प्रतिभासित होता है।
४. उस आस्वाद में अर्थ तत्त्व को प्रवाहित करने वाली महाकवियों की वाणी उनकी अलौकिक प्रतिभासित प्रतिभा के वैशिष्ट्य को प्रकट करती है।

अभिनवगुप्त

काव्यस्य तत्त्वभूतो योऽर्थस्तस्य भावना वाच्यातिरेकेणानवरतचर्वणा तत्र विमुखानाम्।[2]

अर्थात्—काव्य के तत्त्वभूत अर्थ की भावना अर्थात् वाच्य से भिन्न रूप में अनवरत चर्वणा से जो विमुख हैं (उन्हें काव्यानन्द की प्रतीति कभी नहीं हो सकती)।

मम्मट

इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।[3]

अर्थात् वह काव्य 'उत्तम काव्य' होता है जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक सुन्दर अथवा चमत्कारजनक हुआ करता है और जिसे काव्यतत्त्वदर्शी विद्वान् 'ध्वनि' कहते हैं।

विश्वनाथ

वाच्यातिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्। वाच्यादधिकचमत्कारिणि व्यंग्यार्थे ध्वन्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या ध्वनिर्नामोत्तमं काव्यम्।

अर्थात्—'ध्वनि' वह काव्य है जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यरूप अर्थ अतिशय चमत्कारजनक प्रतीत होता है। वह काव्य ही 'उत्तम' काव्य है।

---

१. वही, कारिका ६, पृष्ठ ४५।
२. ध्वन्यालोकलोचन, तारावती टीका (पूर्वार्द्ध), व्या० डॉ० रामसागर त्रिपाठी, प्रथम उद्योत, पृष्ठ १७२।
३. काव्यप्रकाश, द्वितीय संस्करण, व्या० आचार्य विश्वेश्वर, प्रथम उल्लास, का० ४, सूत्र २।
४. हिन्दी साहित्यदर्पण, संस्करण : सन् १९५७, व्या० डॉ० सत्यव्रतसिंह, चतुर्थ परिच्छेद, पृष्ठ २७९

पण्डितराज जगन्नाथ

१. शब्दार्थौ यत्र गुणीभवितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यंक्तस्तदाद्यम्।[1]

२. काव्यजीवितं चमत्कारित्वं ... ...।[2]

अर्थात्

१. जिसमें शब्द और अर्थ दोनों अपने को गौण बनाकर किसी (चमत्कारजनक, अतएव प्रधान) अर्थ को अभिव्यक्त करें—व्यंजना वृत्ति द्वारा समझावें, (उसे उत्तमोत्तम काव्य कहते हैं)

२. चमत्कार (-पूर्ण व्यंग्यार्थ ही) काव्य की आत्मा है।

विश्लेषण

उपर्युक्त उद्धरणों के विश्लेपण के उपरान्त निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं:

१. अर्थ द्वारा अपनी आत्मा तथा शब्द द्वारा अपने अभिधेय अर्थ को गौण बना कर किसी (अन्य) व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति करना ही 'ध्वनि' है। दूसरे शब्दों में, 'गौण' वाच्यार्थ की अपेक्षा 'प्रधान' व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति का नाम ध्वनि है। इसका अर्थ यह हुआ कि काव्य में व्यंग्यार्थ 'प्रमुख' होता है तथा वाच्यार्थ 'गौण'।

२. यह ध्वनि-तत्त्व काव्य का 'आत्मभूत' तत्त्व है। दूसरे शब्दों में, काव्य का काव्यत्व वस्तुतः ध्वनि में ही निहित होता है।

३. काव्य का यह ध्वनि-तत्त्व सहृदयों के मन में प्रकाशमान् रहता है तथा प्रकृतितः चमत्कारप्राण होता है। दूसरे शब्दों में, व्यंग्यार्थ की प्रतीति से सहृदय के मन में एक विशेष प्रकार के चमत्कार की सृष्टि होती है। काव्य के अध्ययन के समय प्रमाता के मन में उसका प्रकाश विद्यमान रहता है। यह 'काव्यात्म-रूप' व्यंग्यार्थ चर्वणीय है तथा उसकी प्रतीति आस्वाद-रूप है।

४. काव्य का अर्थ दो प्रकार का हो सकता है। प्रथम : वाच्यार्थ, तथा द्वितीय : 'प्रतीयमान'। वाच्यार्थ से चारुतर व्यंग्यार्थ का स्थान काव्य में ठीक उतना ही ऊँचा होता है जितना कि सुन्दरी स्त्री के शरीर में नेत्र, नासिका आदि स्पष्टतः दृश्यमान् अवयवों की अपेक्षा लावण्य का होता है; अर्थात् व्यंग्यार्थ काव्य का अन्तर्व्याप्त गुण है।

५. प्रतिभाशाली महाकवियों की वाणी काव्य के व्यंग्यार्थ के माध्यम से अपूर्व आस्वाद (काव्यास्वाद) कराने में समर्थ होती है।

६. (अभिनवगुप्त के अनुसार) काव्य के 'तत्त्वभूत' अर्थ की चर्वणा (काव्यास्वाद) वस्तुतः वाच्य से भिन्न व्यंग्यार्थ के माध्यम से ही संभव है।

७. (मम्मट तथा विश्वनाथ के अनुसार) ध्वनि काव्य ही 'उत्तम काव्य' है, उसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक सुन्दर एवं चमत्कारपूर्ण हुआ करता है।

---

१. रसगंगाधर : हिन्दी व्या० पं० मदनमोहन झा, चौखम्बा सं० सी०, प्रथम आनन, पृष्ठ ३३। ९

२. वही, पृष्ठ २१।

८. (पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार) चमत्कारपूर्ण व्यंग्यार्थ ही काव्य की आत्मा है। ऐसा काव्य 'उत्तमोत्तम' होता है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर ध्वनिवादियों की दृष्टि में काव्यास्वाद के स्वरूप को समझना कदाचित् सरल होगा। ध्वनि-सिद्धान्त मूलतः काव्य के 'अर्थान्तर' की प्रकल्पना पर आधृत है। वाच्यार्थ में सहृदय को आस्वाद प्रदान करने की क्षमता नहीं होती, उसके लिए तो प्रमाता को अभिधार्थ से इतर किसी अन्य विशिष्ट एवं चारुतर अर्थ को प्राप्त करना होगा। आनन्दवर्द्धन ने वाच्यार्थ से भिन्न व्यंग्य अर्थ के लिए 'प्रतीयमान'[१] शब्द का प्रयोग किया है। यह प्रतीयमान वस्तु (व्यंग्यार्थ) चमत्कारपूर्ण[२] स्वादु[३] (आस्वादपूर्ण) चर्वणीय[४] तथा प्रकाशमान्[५] होती है। इन सब गुणों से युक्त ध्वन्यर्थ को प्रमाता स्वयं ग्रहण करता है। आनन्दवर्द्धन के अनुसार 'इसी प्रकार वाच्यार्थ से विमुख (उससे विश्रान्तिरूप परितोष को प्राप्त न करने वाले) सहृदयों की तत्त्वदर्शन-समर्थ बुद्धि में वह (प्रतीयमान्) अर्थ तुरन्त ही प्रतीत हो जाता है'[६] तथा वह 'सहृदयश्लाघ्य'[७] होता है।

---

१. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव . . .
—हिन्दी ध्वन्यालोक (प्रथम संस्करण), सं० डॉ० नगेन्द्र, व्या० आचार्य विश्वेश्वर, प्रथम उद्योत, का० ४, पृष्ठ १९।

२. (क) वाच्यादधिकचमत्कारिणि व्यंग्यार्थे . . . .
—हिन्दी साहित्यदर्पण, संस्करण, सन् १९५७, व्या० डॉ० सत्यव्रतसिंह, चतुर्थ परिच्छेद, पृष्ठ २७९।

(ख) काव्यजीवितं चमत्कारित्वं . . . .
—रसगंगाधर, हिन्दी व्या० पं० मदनमोहन झा, चौखम्बा सं० सी०, प्रथम आनन, पृष्ठ ३३।

३. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु . . . .
—हिन्दी ध्वन्यालोक, का० ६, पृष्ठ ४५।

४. '. . . तत्त्वभूतो योऽर्थस्तस्य भावना वाच्यातिरेकेणानवरतचर्वणा . . .
—अभिनवगुप्त, ध्वन्यालोकलोचन, तारावती टीका (पूर्वार्द्ध), व्या० डॉ० रामसागर त्रिपाठी, प्रथम उद्योत, पृष्ठ १७२।

५. . . . तस्य सहृदयमनःप्रकाशमानस्याप्यभावमन्ये जगदुः।
—हिन्दी ध्वन्यालोक, का० १, पृष्ठ ५।

६. तद्वत्सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम्।
बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते॥
—हिन्दी ध्वन्यालोक, का० १२, पृष्ठ ५२।

७. योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
—वहीं, का० २, पृष्ठ १७।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वाच्यार्थ से चारुतर, 'चमत्कारपूर्ण', 'प्रकाशमान्', 'चर्वणीय' तथा 'स्वादु' ध्वन्यर्थ का उपभोक्ता—आस्वादयिता प्रमाता है और ध्वन्यर्थ की आह्लादमयी प्रतीति ही काव्यास्वाद है। प्रमाता वाच्यार्थ से भिन्न चारुतर तथा सर्वथा अभिनव अर्थ को प्राप्त करने के लिए अपनी कल्पना शक्ति का आश्रय लेता है। 'ध्वनित' अर्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ काव्य के प्रणयन के लिए कवि को तो निश्चय ही 'विशेष प्रतिभावान्'[1] होना ही चाहिए, साथ ही पाठक के पास भी इस ध्वन्यर्थ को प्राप्त करने के लिए एक विशिष्ट, भावप्रवण, कल्पनाशील तथा सजग मन की सम्पदा अपेक्षित है। अपनी कल्पना से वह वाच्यार्थ में चारुतर 'अर्थान्तर'[2] ग्रहण करता है। इस प्रकार प्रतीयमान व्यंग्यार्थ अथवा ध्वन्यर्थ का आनन्द एक प्रकार से वाच्यार्थ के कल्पनात्मक अर्थान्तरण का आनन्द है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि ध्वनिवादियों के अनुसार काव्य में वाच्यार्थ से भिन्न, चारुतर एवं सर्वथा नवीन अर्थ की प्रतीति का आनन्द ही काव्यास्वाद है।

(ग) अलंकारवादियों की दृष्टि में काव्यास्वाद का (स्वरूप : शब्दार्थ) का चमत्कार

यों तो संस्कृत-साहित्यशास्त्र के आद्याचार्य भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र[3] में अलंकार-विवेचन प्रस्तुत किया है, किन्तु एक काव्य-सिद्धान्त के रूप में 'अलंकारवाद' का सूत्रपात वस्तुतः भामह से हुआ। भामह से लेकर जगन्नाथ तक लगभग सभी प्रमुख[4] आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से अलंकार का विवेचन किया है, किन्तु अलंकार को काव्य के सर्वस्व के रूप में प्रतिष्ठित करने का आग्रह मुख्य रूप से भामह, दण्डी और उद्भट का ही रहा है।

अलंकारवादियों के अनुसार शब्दार्थ के चमत्कार से उत्पन्न प्रमाता के मन का आह्लाद ही काव्यास्वाद है। प्रमुख अलंकारवादियों के मूल अभिमतों के परिवेश में ही इस चमत्कार के स्वरूप का विश्लेपण समीचीन होगा। ये मत इस प्रकार हैं—

भामह

१. वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।[5]
२. वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते।[6]

---

१. सरस्वती . . . परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्
—वही, प्रथम उद्योत, का० ६, पृष्ठ ४५।

२. अर्थो गुणीकृतात्मा गुणीकृताभिधेयः शब्दो वा यत्रार्थान्तरमभिव्यनक्ति स ध्वनिरिति।
—हिन्दी ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योग, का० १३ की वृत्ति, पृष्ठ ५६, (सं० डॉ० नगेन्द्र, व्या० आचार्य विश्वेश्वर)।

३. नाट्यशास्त्र के षोडश अध्याय के श्लोक सं० ४३ से ८७ तक।

४. भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, अग्निपुराणकार, आनन्दवर्धन, राजशेखर, अभिनवगुप्त, कुन्तक, क्षेमेन्द्र, भोज, मम्मट, रुय्यक, हेमचन्द्र, वाग्भट्ट, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, केशव मिश्र, अप्पय्यदीक्षित तथा जगन्नाथ के नाम उल्लेखनीय हैं।

५. भामह, काव्यालंकार, सन् १९६२ ई०, भाष्यकार प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा, परि० १, श्लोक ३६, पृष्ठ १९।

६. वही, ५।६६, पृष्ठ १४१।

३. रूपकादिरलंकारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्॥[1]

अर्थात्—

१. वक्र (विचित्र) शब्द और अर्थ का प्रयोग वाणी का अलंकार (सौन्दर्य) है।
२. वाणी की शोभा तो वक्र (विचित्र) शब्द और अर्थ से ही निष्पन्न होती है।
३. उस (काव्य) के रूपक आदि अलंकार का कुछ आलंकारिकों ने अनेक प्रकार से उल्लेख किया है। रमणी का सुन्दर मुख भी अलंकार के अभाव में शोभित नहीं होता।

दण्डी

१. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।[2]
२. काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृति।[3]

अर्थात्—

१. काव्य के सौन्दर्यकारक धर्मों को अलंकार कहते हैं।
२. सदलंकृत काव्य कल्पों तक स्थायी (चिरस्थायी) होता है।

उद्भट

चारुत्वहेतुत्वेऽपि गुणानामलंकाराणां चाश्रयभेदाद् भेदव्यपदेशः।
संघटनाश्रयाः गुणाः। शब्दार्थाश्रयस्त्वलंकाराः।[4]

अर्थात्—

गुण और अलंकार (समान रूप से ही) चारुत्व के हेतु हैं, इनमें केवल विषय अथवा आश्रय का ही भेद है—गुण संघटना के आश्रित हैं, तो अलंकार शब्दार्थ के।

वामन, रुद्रट और जयदेव यद्यपि अलंकारवादी आचार्य नहीं हैं, तथापि अलंकारवाद की दृष्टि से उनके निम्नोक्त उद्धरण अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं—

वामन

१. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्[5]।
२. सौन्दर्यमलंकारः[6]।

---

१. भामह, काव्यालंकार, सन् १९६२ ई०, भाष्यकार प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा, १।१३, पृष्ठ ७।
२. हिन्दी काव्यादर्श, सन् १९५८ ई०, व्या० आचार्य श्री रामचन्द्र मिश्र, द्वितीय परिच्छेद, श्लोक १, पृष्ठ ७४।
३. वही, प्रथम परिच्छेद, श्लोक १९, पृष्ठ २१।
४. प्रतापरुद्रयशोभूषण और उस पर रत्नापण टीका, पृष्ठ ३३७ पर उद्धृत उद्भट का मत: भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा (सं० डॉ० नगेन्द्र), पृष्ठ ५५ से उद्धृत।
५. हिन्दी काव्यालंकारसूत्र, सं० प्रथम (१९५४ ई०), सं० डॉ० नगेन्द्र, व्या० आचार्य विश्वेश्वर, अध्याय १, का० १, सूत्र १, पृष्ठ ४।
६. वही, १.१.२, पृष्ठ ५।

अर्थात्—

१. अलंकार के कारण ही काव्य ग्राह्य (उपादेय) होता है।

२. काव्य में सौन्दर्य (मात्र) अलंकार कहलाता है।

रुद्रट

काव्यमलंकर्तुमलं कर्तुरुदारा मतिर्भवति।[1]

अर्थात्—

कवि की उज्ज्वल बुद्धि ही सालंकार काव्य की रचना में समर्थ होती है।

जयदेव

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनलं कृती॥[2]

अर्थात्—जो (मम्मट) अलंकार-रहित शब्दार्थ में काव्य की विद्यमानता स्वीकार करता है, उसे उष्णता से रहित अग्नि को भी स्वीकार करना होगा।

विश्लेषण

अलंकार-सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्यों के उपर्युक्त उद्धरणों के विश्लेषण के उपरान्त निम्नलिखित तथ्य प्रकाश में आते हैं—

१. वक्र शब्द और अर्थ का प्रयोग ही वाणी का अलंकार है। यहाँ 'वक्र' शब्द का अर्थ है विचित्र अर्थात् साधारण से भिन्न। दूसरे शब्दों में, शब्दार्थ का विचित्र एवं असाधारण प्रयोग ही अलंकार है।

२. काव्य-सौन्दर्य, वस्तुतः शब्दार्थ में निहित होता है, इस सौन्दर्य के कारक स्थायी धर्म का नाम ही अलंकार है।

३. अलंकार काव्य का प्राणतत्त्व है अर्थात्, काव्य में अलंकार-राहित्य का अर्थ होगा—काव्यत्व का पूर्ण क्षय।

४. अलंकार सौन्दर्य मात्र का पर्याय है। प्रमाता काव्य का ग्रहण अलंकार के माध्यम से ही करता है।

५. काव्य में अलंकार प्रधान होता है, रस, भाव आदि अन्य काव्यांग उसके अधीनस्थ अंगरूप हैं।

६. कवि की नैसर्गिक प्रतिभा अलंकार की सृष्टि में सहज ही सफल होती है। अलंकार-युक्त काव्य अपने शाश्वत सौन्दर्य के कारण कालजयी होता है।

निष्कर्ष

अलंकार शब्द का निर्माण 'अलम्' और 'कार' के योग से हुआ है। 'अलम्' शब्द का अर्थ है—भूषण। इस प्रकार अलंकार का सामान्य अर्थ हुआ—वाणी को भूषित करने वाला तत्त्व। संस्कृत में इस शब्द की तीन व्युत्पत्तियाँ प्रसिद्ध हैं—

---

१. काव्यालंकार, संस्करण १९६५, व्या० डॉ० सत्यदेव चौधरी, का० ३, पृष्ठ ५।

२. चन्द्रालोक : १।८।

(क) अलंकरोतीति अलंकारः,
(ख) अलंक्रियतेऽनेन इति अलंकारः ,
(ग) अलंकरणम् इति अलंकारः।

प्रथम व्युत्पत्ति में अलंकार काव्य-सौन्दर्य का कारक-धर्म है, द्वितीय में उसकी प्रकल्पना केवल साधन-रूप में की गई है और तृतीय में उसे एक स्वतंत्र धर्म का रूप दे दिया गया है। तत्वतः, पहले और तीसरे व्युत्पत्त्यर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं है। संस्कृत-काव्यशास्त्र की परम्परा में काव्य-सौंदर्य के 'कर्त्ता' और 'साधन'—अलंकार के इन दो रूपों को ले कर विवाद रहा है। भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, रुय्यक तथा जयदेव आदि शुद्ध अलंकारवादियों की दृष्टि में अलंकार काव्य-शोभा का कारण ही नहीं, वह काव्यात्मा है। किन्तु दूसरी ओर ध्वनिवादी आनन्दवर्धन,[1] वामन,[2] कुन्तक,[3] मम्मट,[4] विश्वनाथ[5] तथा जगन्नाथ[6] ने अलंकार को पर्याप्त सम्मान देते हुए भी उसे काव्य-

---

१. (क) . . . .
अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥६॥
—हिन्दी ध्वन्यालोक (सं० डॉ० नगेन्द्र), द्वितीय उद्योत, कारिका ६, पृष्ठ १३०।
(ख) अलंकारो हि वाह्यालंकारसाम्यादंगिनश्चारुत्वहेतुरुच्यते।
—वही, कारिका १७ की वृत्ति, पृष्ठ १४९।

२. (क) तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः। ३, १।२।
—हिन्दी काव्यालंकारसूत्र, (सं० डॉ० नगेन्द्र), तृतीय अधिकरण, प्रथम अध्याय, कारिका ३, पृष्ठ ११६।
(ख) यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो,
वपुरिव यौवनवन्ध्यमंगनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं,
नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते॥ —वही, पृष्ठ ११७

३. अलंकारशब्दः शरीरस्य शोभातिशयकारित्वान्मुख्यतया कटकादिषु वर्तते।
—हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, (सं०डॉ०नगेन्द्र), प्रथम उन्मेष, कारिका २ की वृत्ति, पृष्ठ ८।

४. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥६७॥
—काव्यप्रकाश, सं० डॉ० नगेन्द्र, व्या० आ० विश्वेश्वर, अष्टम उल्लास, कारिका ६७, पृष्ठ ३८१।

५. (क) उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालंकाररीतयः॥३॥
—साहित्यदर्पण, व्या० डॉ० सत्यव्रतसिंह, प्रथम परिच्छेद, कारिका ३, पृष्ठ २९।
(ख) शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्।'
—वही, दशम परिच्छेद, कारिका १, पृष्ठ ६६५।

६. . . . काव्यात्मनो व्यंग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलंकारा. . .
—रसगंगाधर, व्या० पं० बदरीनाथ झा और पं० मदनमोहन झा, द्वितीय आनन, पृष्ठ १९४।

सौन्दर्य का साधन मात्र ही माना है। द्वितीय वर्ग के आचार्यों के अभिमत अलंकारवादियों को कभी मान्य नहीं रहे।

अलंकार-सिद्धान्त उक्ति-चमत्कार को ही काव्य-सर्वस्व मानता है। उसके अनुसार शब्दार्थ ही काव्य है।[१] शब्दार्थमयी अभिव्यक्ति में जो सौन्दर्य उसे आस्वादनीयता प्रदान करता है, उसका निर्माता एवं स्थायी धर्म अलंकार है। अतएव सम्पूर्ण कवि-कर्म अलंकाराश्रित है : शब्दार्थ में काव्यत्व की संघटना अलंकार के द्वारा ही होती है, उक्ति की चारुता प्रमाता की अन्तश्चेतना में एक विलक्षण चमत्कार उत्पन्न करती है, जो अनिवार्यतः आह्लादकारी होता है। अलंकारवादियों की दृष्टि में यही काव्यास्वाद है।

निष्कर्षतः, अलंकार-सिद्धान्त के अनुसार प्रमाता की चेतना में उक्ति की चारुता से निष्पन्न अन्तश्चमत्कार की आनन्दमयी प्रतीति ही काव्यास्वाद है।

(घ) रीतिवादियों की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप : रचना-सौष्ठव का चमत्कार

संस्कृत-काव्यशास्त्र के इतिहास में अन्य काव्य-सम्प्रदायों की भाँति ही रीति-सम्प्रदाय भी महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी रहा है। रीति-सम्प्रदाय की विधिवत् स्थापना ९वीं शताब्दी में आचार्य वामन ने की। यों उनसे पूर्व रीति-विवेचन के इतिहास का प्रारंभ 'नाट्यशास्त्र' से माना जा सकता है। भरतमुनि ने 'रीति' अभिधान का प्रयोग तो नहीं किया, किन्तु प्रवृत्ति[२] के 'आवन्ती', 'दाक्षिणात्या', 'पांचाली' तथा 'उड्रमागधी' नामक चार प्रभेदों का उल्लेख किया है।[३] अग्नि-पुराणकार ने भी इन्हीं शैलियों को 'लाटी', 'वैदर्भी,' 'पांचाली' तथा 'गौडी' नाम से रीति के चार[४] भेदों के रूप में स्वीकार किया। वामन से पूर्व भामह और दण्डी ने भी रीति की चर्चा प्रासंगिक रूप से की है। भामह ने वैदर्भ और गौड नामक काव्य (रीति के अर्थ में) के दो भेदों की चर्चा की है।[५] दण्डी ने रीति के लिए 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने रीति को 'वैदर्भ मार्ग' में परिसीमित कर दस गुणों को उसका प्राण माना है।[६]

---

१. 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।'
—भामह : काव्यालंकार, व्या० देवेन्द्रनाथ शर्मा, प्रथम परिच्छेद, कारिका १६, पृष्ठ ९।

२. भरत के अनुसार प्रवृत्ति की परिभाषा इस प्रकार है—
पृथिव्यां नानादेशवेशभाषाचारावार्ताः ख्यापयतीति वृत्ति प्रवृत्तिश्च (नाट्यशास्त्र),
—गायकवाड़ संस्कृत सीरीज, बड़ौदा, खण्ड २, सन् १९३४, १३।३७ की वृत्ति, पृष्ठ २०५।

३. चतुर्विधावृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोक्तृभिः।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पांचाली चोड्रमागधी। नाट्यशास्त्र १३।३७, पृष्ठ २०५।

४. वाग्विद्या सम्प्रतिज्ञाने रीतिः सापि चतुर्विधा। —अग्निपुराण ३४०।१।

५ 'काव्यालंकार' (चौ० सं० सी०) : प्रथम संस्करण १।३१, १।३२, १।३३, १।३४, १।३५।

६. इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मृताः —काव्यादर्श १।४२

वामन के परवर्ती आचार्यों में आनन्दवर्द्धन का रीति-विवेचन महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने रीति को 'पदसंघटना' से अभिहित कर समास के आधार पर उसके असमासा, मध्यमसमासा तथा दीर्घसमासा—तीन भेद निरूपित किए हैं।[1] उनके अनुसार रीति की स्थिति गुणों के आश्रित होती है तथा वह रसाभिव्यक्ति का साधन है।[2] राजशेखर ने 'शब्द' के लिए 'वचन' तथा 'रचना' के लिए 'विन्यासक्रम' अभिधानों का प्रयोग करते हुए वचनों के विन्यास के क्रम को रीति माना है।[3] राजशेखर की यह परिभाषा तत्त्वतः वामन की परिभाषा का ही रूपान्तर है। इसके उपरान्त वक्रोक्तिकार कुन्तक ने रीति के लिए 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया तथा रीतियों के वैदर्भी आदि क्षेत्रीय वर्गीकरण को अमान्य ठहराते हुए रीति को 'कवि-प्रस्थान हेतु'[4] की संज्ञा दे कर कवि के वैयक्तिक विशिष्ट दृष्टिकोण को रीति के आधार के रूप में मान्यता प्रदान की। मम्मट ने रीति के लिए 'वृत्ति' शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने वृत्ति (रीति) को 'नियत' वर्णों के रस-विषयक व्यापार,[5] के रूप में परिभाषित कर पूर्ववर्ती आचार्यो द्वारा निरूपित वैदर्भी, गौडी और पांचाली रीतियों का क्रमशः उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों के नाम से विवेचन किया। विश्वनाथ ने रीति को अंगसंस्थान के समान पदों की संघटना मानते हुए उसे रस की 'उपकर्त्री' के रूप में मान्यता प्रदान की है।[6]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि वामन से पूर्ववर्ती तथा परवर्ती अनेक आचार्यों ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काव्यतत्त्व के रूप में रीति का वैज्ञानिक विवेचन किया है, तथापि काव्यात्मा के रूप में वामन के अतिरिक्त किसी भी अन्य आचार्य ने उसे प्रतिष्ठा प्रदान नहीं की। अतएव रीति के स्वरूप-विश्लेषण के लिए हमें वामन के अभिमत का ही आधार ग्रहण करना होगा।

रीति का स्वरूप

आचार्य वामन का रीति-स्वरूप-विषयक अभिमत इस प्रकार है:

१. रीतिरात्मा काव्यस्य।[7]

---

१. असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता॥—ध्वन्यालोक : ३।५

२. गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा रसादीन् . . .।
—ध्वन्यालोक : ३।६

३. वचनविन्यासक्रमो रीतिः।
—काव्यमीमांसा, व्या० पं० केदारनाथ सारस्वत, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, प्रथम सं०, तृतीय अध्याय, पृष्ठ २१।

४. सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।—वक्रोक्तिजीवितम्, (व्या० आ० विश्वेश्वर) १।२४, पृष्ठ ९८।

५. वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः।
—काव्यप्रकाश : उल्लास ९, का० ७९, सूत्र १०४।

६ पदसंघटना रीतिरंगसंस्थानविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनाम्। —साहित्यदर्पण : ९।१

७. काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः १।२।६।

२. विशिष्टा पदरचना रीतिः।[1]
३. विशेषो गुणात्मा।[2]
४. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।[3]
५. ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः।[4]

अर्थात्––

१. रीति (ही) काव्य की आत्मा है।
२. विशेष प्रकार की पदरचना को रीति कहते हैं।
३. गुणात्म (गुणयुक्त) ही विशेष होता है, अर्थात् इसमें यह विशेषता गुणों के कारण आती है।
४. काव्यशोभा के उत्पादक धर्म गुण होते हैं। शब्द और अर्थ के जो धर्म काव्यशोभा को उत्पन्न करते हैं, उन्हें गुण कहा जाता है।

विश्लेषण

रीति के प्रतिष्ठापक आचार्य वामन के अनुसार काव्य की आत्मा रीति है, अर्थात् काव्य का प्राण रीति है; उसी में काव्य का चमत्कार निहित है––काव्य में काव्यत्व रीति के कारण ही अस्तित्व में आता है। यह रीति क्या है? इस विषय में वामन का कथन है कि विशेष प्रकार की पदरचना ही रीति है। दण्डी तथा कुन्तक ने इसी 'विशिष्ट पद रचना' के लिए 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है। आचार्य आनन्दवर्द्धन ने पदरचना के लिए 'पदसंघटना', राजशेखर ने 'वचन-विन्यास-क्रम' तथा मम्मट ने 'नियत वर्णों का व्यापार' शब्दावली का प्रयोग किया है। इन सभी अभिधानों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है।

रीति को विशिष्ट पदरचना कहने के उपरान्त आचार्य वामन ने पदरचना की इस 'विशिष्टता' का आधार उसका गुणसम्पन्न होना बतलाया है और गुण, उनके अनुसार शब्द और अर्थ के उन धर्मों का नाम है जो काव्य के सौन्दर्य का निर्माण करते हैं। इस प्रकार वामन के अनुसार काव्यसौन्दर्य का निर्माण करने वाले शब्द और अर्थ के धर्मों से युक्त विशेष प्रकार की पदरचना का नाम रीति है। यह रीति ही काव्य का प्राण-तत्त्व है।

निष्कर्ष

रीतिवाद का समस्त प्रपंच पदरचना की चारुता पर आधृत है, और वामन के अनुसार पदरचना की चारुता शब्द और अर्थ के गुणों पर निर्भर रहती है। गुणसम्पन्न रचना का सौष्ठव एक विशेष प्रकार के चर्वणीय चमत्कार की सृष्टि करता है। शब्दार्थ के विभिन्न गुण विशिष्ट अर्थवान् शब्दों की विशिष्ट क्रम-योजना के द्वारा अपनी विशिष्ट भंगिमा-शैली के अनुरूप रचना में एक विशेष प्रकार का चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं। रचना-सौष्ठव का यह चमत्कार प्रमाता की

---

१. वही, १।२।७।
२. वही, १।२।८।
३. वही, ३।१।१।
४. उपर्युक्त टिप्पणी––३ की वृत्ति।

चेतना में उद्बुद्ध होकर आह्लादमयी प्रतिक्रिया को जन्म देता है। रीतिवादियों की दृष्टि में यही काव्यास्वाद है। संक्षेप में, रीति-सम्प्रदाय के अनुसार शब्द और अर्थ के विशिष्ट गुणों से युक्त विशेष प्रकार के रचना-सौष्ठव के चमत्कार से प्रमाता की चेतना में उद्बुद्ध आह्लादमयी अनुभूति ही काव्यास्वाद है।

(ङ) वक्रोक्तिवादी कुन्तक की दृष्टि में काव्यास्पद का स्वरूप : प्रयोगवक्रता : काव्यकला-जन्य अन्तश्चमत्कार

यद्यपि वाद के आचार्यों ने अलंकारवाद तथा रीतिवाद की भाँति वक्रोक्तिवाद को भी एक देहवादी काव्य-सम्प्रदाय के रूप में ही स्वीकार किया, किन्तु वक्रोक्तिकार आचार्य कुन्तक ने काव्य के मूल तत्त्व के रूप में वक्रोक्ति की प्रकल्पना कर उसे काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने का अभूतपूर्व प्रयत्न किया।

एक सर्वव्यापक काव्य-सिद्धान्त के रूप में कुन्तक द्वारा वक्रोक्ति की स्थापना यद्यपि ११ वीं शताब्दी में ही की गई, किन्तु वक्रोक्ति के व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होने के संकेत कुन्तक से बहुत पूर्व भामह और उनसे भी किंचित् पूर्व बाणभट्ट के युग में उपलब्ध होते हैं। बाणभट्ट ने कादम्बरी में शूद्रक के लिए विशेषण-रूप में जिन[1] शब्दों का प्रयोग किया है, उनसे यह सिद्ध हो जाता है कि उन्हें वक्रोक्ति का व्यापक अर्थ ही अभीष्ट था—शब्दालंकार मात्र नहीं। 'हर्षचरित'[2] में भी उन्होंने एक स्थान पर वक्रोक्ति के विभिन्न तत्त्वों की गणना की है। संस्कृत के प्रसिद्ध साहित्याचार्य भामह ने भी व्यापक अर्थ में ही वक्रोक्ति को ग्रहण किया था। उन्होंने काव्य-सौन्दर्य के लिए 'अलंकार' शब्द का प्रयोग करते हुए वक्र शब्दार्थ से युक्त वाणी के अलंकार को ही अभीष्ट माना है,[3] तथा उनके अनुसार काव्य-सौन्दर्य (अलंकार) का मूलाधार वक्रोक्ति ही है, उसी के द्वारा काव्यार्थ का विभाजन होता है तथा वक्रोक्ति के अभाव में काव्य-सौन्दर्य (अलंकार) की स्थिति सम्भव नहीं है।[4] भामह के उपरान्त दण्डी ने भी विस्तृत परिप्रेक्ष्य में ही वक्रोक्ति का अर्थ ग्रहण किया। स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति को वाङ्मय के दो भेदों[5] के रूप में प्रतिपादित करते हुए उन्होंने वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को काव्य-सौन्दर्य का मूलाधार माना। दण्डी ने स्वभावोक्ति को काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से यद्यपि वक्रोक्ति की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण माना है, तथापि दण्डी की भाँति उसे सर्वथा तिरस्कृत नहीं किया। दण्डी के उपरान्त रुद्रट[6] एवं रीतिवादी

---

१. वक्रोक्तिनिपुणेन आख्यायिकाख्यानपरिचयचतुरेण। —कादम्बरी

२. नवोऽर्थो जातिरग्राम्या, श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्॥ —हर्षचरित, १।८

३. वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।—काव्यालंकार, १।६

४. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना। —वही, २।८५

५. द्विधा भिन्नं स्वभावोक्तिवक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्। —काव्यादर्श २।३६

६. वक्त्रा तदन्यथोक्तं व्याचष्टे चान्यथा तदुत्तरदः।
वचनं यत्पदभंगैर्ज्ञेया सा श्लेषवक्रोक्तिः॥ —काव्यालंकार : २।१४

वामन[1] ने वक्रोक्ति को काव्य-सौन्दर्य के व्यापक मूल्य के रूप में मान्यता न देते हुए एक अलंकार के रूप में ही उसका उल्लेख किया है। आनन्दवर्धन ने वक्रोक्ति को एक स्थल पर यद्यपि अलंकार के रूप में उल्लिखित किया है[2], तथापि एक अन्य स्थान पर अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को पर्याय मानते हुए उन्होंने भामह के मत[3] का जिस रूप में पृष्ठपोषण किया है, उससे यही जान पड़ता है कि उन्हें वक्रोक्ति का व्यापक अर्थ भी स्वीकार्य था। अभिनवगुप्त ने भी वक्रोक्ति को सामान्यतः व्यापक अर्थ में ही ग्रहण किया।[4] कुन्तक के समकालीन भोज ने सारग्राहक दृष्टिकोण अपनाया। उन्होंने वाङमय को तीन भेदों—वक्रोक्ति, रसोक्ति एवं स्वभावोक्ति में विभक्त कर[5] अलंकार की सभी जातियों को सामूहिक रूप से वक्रोक्ति का अभिधान दिया तथा भामह के मत का आधार ग्रहण करते हुए वक्रता को काव्य की परम शोभा घोषित किया।[6] कुन्तक के परवर्ती आचार्यो ने कुन्तक द्वारा प्रतिष्ठित वक्रोक्ति-सिद्धान्त को कोई महत्त्व प्रदान नहीं किया। मम्मट तथा विश्वनाथ ने एक शब्दालंकार एवं रुय्यक, विद्यानाथ तथा अप्पय्यदीक्षित ने अर्थालंकार के संकुचित रूप में ही उसे ग्रहण किया।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वामन को छोड़ कर कुन्तक के प्रायः सभी पूर्ववर्ती आचार्यो ने वक्रोक्ति को यद्यपि व्यापक अर्थ में ही ग्रहण किया, किन्तु कुन्तक की भाँति एक अत्यन्त विस्तृत काव्य-सिद्धान्त के रूप में किसी ने भी उसकी प्रकल्पना नहीं की थी। कुन्तक के परवर्ती आचार्यो ने तो अलंकार से अधिक महत्त्व उसको दिया ही नहीं। वक्रोक्तिवाद की विधिवत् स्थापना तथा व्यापक सन्दर्भ में काव्यात्मा के रूप में वक्रोक्ति का प्रतिष्ठापन कुन्तक की मौलिक प्रतिभा का ही परिणाम था। अतः वक्रोक्तिवाद के अन्तर्गत काव्यास्वाद के स्वरूप का निर्धारण कुन्तक की तद्विषयक मान्यताओं के परिवृत्त में ही सम्भव है।

इस प्रसंग में कुन्तक के निम्नांकित उद्धरण विचारणीय हैं:

(क) वक्रोक्तिः, प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी, वैदग्ध्य-

---

१. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः—काव्यालंकारसूत्र वृत्तिः ४।३।८

२. . . . तत्र वक्रोक्त्यादिवाच्यालंकारव्यवहार एव।
—ध्वन्यालोक, द्वितीय उद्योत, कारिका २१ की वृत्ति, (व्या० आ० विश्वेश्वर), पृष्ठ १६९।

३. भामहेनाप्यतिशयोक्तिलक्षणे यदुक्तम्—
. . सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयोऽर्थो . . . . । वही, तृतीय उद्योत, कारिका ३७ की वृत्ति, पृष्ठ ३९४।

४. शब्दस्य हि वक्रता, अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तरेण रूपेण अवस्थानम्।
. . . लोकोत्तरेण चैवातिशयः। तेन अतिशयोक्ति सर्वालंकारसामान्यम्।
—ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ २०८।

५. वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।
—सरस्वतीकण्ठाभरण ५८

६. . . सर्वालंकारजातयो वक्रोक्त्यभिधानवाच्या भवन्ति। तदुक्तम्—
वक्रत्वमेव काव्यानां परा भूषेति भामहः॥
—भोज'स् श्रृंगारप्रकाश, सं० वी. राघवन द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ४१०

भंगीभणितिः। वैदग्ध्यं विदग्धभावः, कविकर्मकौशलं, तस्य भंगी विच्छित्तिः, तया भणितिः। विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।'[1]

(ख) चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥[2]

(ग) चमत्कारो वितन्यते चमत्कृतिर्विस्तार्यते, ह्लादः पुनः पुनः क्रियत इत्यर्थः।[3]

(घ) शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥[4]

(च) सुकुमारस्वभावस्य कवेस्तथाविधैव सहजा शक्तिः समुद्भवति, शक्तिशक्तिमतोरभेदात्। तया च तथाविधसौकुमार्यरमणीयां व्युत्पत्तिमाबध्नाति। ताभ्यां च सुकुमारवर्त्मनाभ्यासतत्परः क्रियते।[5]

अर्थात्—

(क) वक्रोक्ति ही (शब्द तथा अर्थ दोनों का) एक मात्र अलंकार है। प्रसिद्ध कथन से भिन्न प्रकार की विचित्र वर्णन-शैली ही वक्रोक्ति है। कैसी?—वैदग्ध्यपूर्ण कथनशैली (ही वक्रोक्ति है)। वैदग्ध्य का आशय है विदग्धता—कवि-कर्म-कौशल, उसकी भंगिमा अथवा शैली का सौन्दर्य, उसके द्वारा कथन करना वक्रोक्ति है।

(ख) काव्यामृत का रस उस (काव्य) को समझने वाले (सहृदय अथवा प्रमाता) के अन्तःकरण में चतुर्वर्ग-रूप फल के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कार को उत्पन्न करता है।

(ग) 'चमत्कारो वितन्यते' का अर्थ यह है कि अलौकिक काव्यानन्द (अन्तश्चमत्कार) का संचार किया जाता है। अभिप्राय यह (है कि वह) बार बार आनन्द की अनुभूति कराता है।

(घ) काव्यमर्मज्ञों के लिए आह्लादकारक, वक्र कविव्यापार से युक्त रचना (बन्ध) में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य (कहलाते) हैं।

(च) सुकुमार स्वभाव वाले कवि में उसी प्रकार की (सुकुमार) सहज शक्ति उत्पन्न होती है, शक्ति तथा शक्तिमान् के अभिन्न होने से। और वह उस (सहज सुकुमार शक्ति) से उस प्रकार की (सहज) सौकुमार्य से रमणीय व्युत्पत्ति को प्राप्त करता है। (उस सहज सुकुमार शक्ति तथा उससे उपार्जित सुकुमार-व्युत्पत्ति) उन दोनों के द्वारा सुकुमार मार्ग से ही (काव्य-रचना के) अभ्यास में तत्पर होता है।

विश्लेषण

कुन्तक की उपर्युक्त मान्यताओं के विश्लेषण द्वारा ये तथ्य प्रकाश में आते हैं :

---

१. वक्रोक्तिजीवित : प्रथम उन्मेष, का० १० की वृत्ति।
२. वही, १।५।
३. वही, प्रथम उन्मेष का० ५ की वृत्ति।
४. वही, १।७।
५. वही, प्रथम उन्मेष, का० २४ की वृत्ति।

१. प्रसिद्ध कथन (शास्त्र[1] एवं लोक में व्यवहृत[2]) की शैली से व्यतिरिक्त, चारुतर, विचित्र एवं असाधारण वर्णन-शैली ही वक्रोक्ति है।
२. कवि-कर्म के कौशल के आश्रय से ही इस प्रकार की असाधारण विदग्धतापूर्ण वर्णन-शैली का सृजन होता है। काव्य मूलतः कवि-व्यापार है, कवि की असाधारण प्रतिभा ही काव्य-सौन्दर्य का हेतु है। कवि-प्रतिभा के प्रताप से ही, दूसरे शब्दों में—कवि के संस्कार-स्वभाव की सुकुमारता से, काव्य में एक विशेष प्रकार का रमणीय चमत्कार उत्पन्न होता है। इस प्रकार कुन्तक के अनुसार काव्य मूलतः कवि-व्यापार होने के कारण एक कला है तथा काव्यानन्द काव्यकला-जन्य ही होता है।
३. वक्रोक्ति से अनुप्राणित काव्य प्रमाता के अन्तःकरण में आनन्दमय चमत्कार की सृष्टि करता है। प्रमाता इस चमत्कार की अनुभूति बार-बार करता है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विश्लेषण से वक्रोक्तिवाद के अन्तर्गत काव्यास्वाद का स्वरूप सहज ही उभर आता है। कुन्तक की दृष्टि में, विशिष्ट स्वभाव-संस्कार से युक्त कवि की सहज शक्ति-सम्पन्न प्रतिभा शास्त्र एवं लोक में व्यवहृत सामान्य (–कुन्तक के शब्दों में 'प्रसिद्ध'–) कथन-शैली से भिन्न असाधारण वर्णन-शैली द्वारा काव्य में अलौकिक चमत्कार उत्पन्न करती है। प्रमाता इस असाधारण रूप से चारु कथन-भंगिमा से प्रभावित होता है, तदनन्तर इस प्रभाव की अन्विति से कवि-प्रतिभा द्वारा सृष्ट काव्य का बाह्य-चमत्कार प्रमाता के अन्तःकरण में प्रविष्ट हो उसकी चेतना में एक प्रीतिकर अन्तश्चमत्कार की सृष्टि कर देता है। काव्यकला-जन्य यह अन्तश्चमत्कार ही कुन्तक की दृष्टि में काव्यास्वाद है।

(च) औचित्यवादी क्षेमेन्द्र की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप : समानुरूपता-जन्य चमत्कार का आनन्द

संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्यास्वाद के स्वरूप का विवेचन मुख्यतया रस-सिद्धान्त, ध्वनि-सिद्धान्त, अलंकार-सिद्धान्त, रीति-सिद्धान्त तथा वक्रोक्ति-सिद्धान्त के अन्तर्गत ही हुआ है। इन पाँच प्रमुख काव्य-सम्प्रदायों के अतिरिक्त आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा प्रतिपादित औचित्य-सिद्धान्त भी संस्कृत काव्यशास्त्र में विशेष महत्त्व का अधिकारी रहा है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'औचित्य-विचार-चर्चा' में काव्यास्वाद-सम्बन्धी अपनी किसी विशिष्ट एवं मौलिक मान्यता का उल्लेख यद्यपि नहीं किया है, तथापि उनके औचित्य-विवेचन में उनके काव्यास्वाद-विषयक विचारों के कुछ बिखरे हुए सूत्र अवश्य ही उपलब्ध होते हैं।

आचार्य क्षेमेन्द्र की मान्यताओं के अन्वेषण से पूर्व संस्कृत काव्यशास्त्र में विभिन्न पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा उल्लिखित एतद्विषयक विचारों का परिचय उपयोगी होगा। संस्कृत-काव्यशास्त्र

---

१. 'शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकि ।'
—हिन्दी वक्रोक्तिजीवित; प्रथम उन्मेष, कारिका ७ की वृत्ति, पृष्ठ ३६।

२. 'अतिक्रान्तप्रसिद्धव्यवहारसरणि': —वही

के आद्याचार्य भरतमुनि ने यद्यपि 'औचित्य' शब्द का प्रयोग नहीं किया है, किन्तु नाटक के 'लोकानुकरणत्व' तथा 'लोकस्वभावत्व' के औचित्य का प्रकारान्तर से समर्थन करते हुए पात्रों की वय, उनके वेष, चाल-ढाल तथा बोलचाल आदि के परस्पर 'अनुरूप' होने की आवश्यकता पर बल दिया है।[2] भरत द्वारा विवेचित यह आनुरूप्य ही क्षेमेन्द्र का 'औचित्य' है। भामह ने भी 'औचित्य' शब्द का प्रयोग तो नहीं किया है, किन्तु 'काव्य-दोष'-सम्बन्धी उनके विवेचन में औचित्य-विषयक कुछ स्पष्ट संकेत अवश्य ही प्राप्त होते हैं। भरत की भाँति भामह ने भी **'युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्'**[3] में नाटक की 'लोकस्वभावता' के औचित्य पर बल दिया है। इसी प्रकार अन्य स्थलों पर उन्होंने महाकाव्य में नायक-वध[4] तथा नायक द्वारा आत्मश्लाघा[5] के अनौचित्य की भर्त्सना द्वारा प्रकारान्तर से औचित्य का ही गौरव-गान किया है। नवीं शती के आचार्य रुद्रट ने प्रत्यक्षतः एवं प्रकारान्तर से औचित्य की चर्चा की है। वृत्ति के विवेचन के प्रसंग में निरूपण-शैली की एकरूपता की अवांछनीयता पर बल देते हुए उन्होंने वृत्तियों के पात्रगत औचित्य[6] का प्रतिपादन किया है। एक अन्य स्थल पर ग्राम्य-दोष प्रकरण के अन्तर्गत पद और विषय की अनुकूलता से उत्पन्न अनौचित्य की भर्त्सना भी उन्होंने की है।[7] आनन्दवर्द्धन ने अनेकविध औचित्य की चर्चा की है। ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में ही 'ललित और उचित सन्निवेश'[8] को 'सहृदयश्लाघनीय' अर्थ से सम्पन्न काव्य का कारण बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त इसी ग्रन्थ के द्वितीय उद्योत में अलंकार-विवेचन के प्रसंग में अनेक श्लोकों में अनेक रस-विघातक तत्त्वों के

---

१. लोकसिद्धं भवेत्सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्।
× × × ×
तस्मान्नाट्यप्रयोगेषु प्रमाणं लोक इष्यते॥
—नाट्यशास्त्र, पंचविंश अध्याय, खण्ड ३, (सन् १९५४), कारिका १२१, १२४।

२. वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषः,
वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।
गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं,
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः॥ —वही, १४।६८

३. काव्यालंकार (भामहकृत) : १।२१

४. नायकं प्रागुपन्यस्य वंशवीर्यश्रुतादिभिः।
न तस्यैव वधं ब्रूयादन्योत्कर्षाभिधित्सया॥—वही, १।२२

५. अन्यैः स्वचरितं तस्यां नायकेन तु नोच्यते।
स्वगुणाविष्कृतिं कुर्यादभिजातः कथं जनः॥—वही, १।२९

६. एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यगौचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थम्।
मिश्राः कवीन्द्रैरघनाल्पदीर्घाः कार्या मुहुश्चैव गृहीतमुक्ताः॥
—काव्यालंकार (रुद्रटकृत) : २।३२

७. यदनुचितं यत्र पदं तत्तत्रैवोपजायते ग्राम्यम्।
तद्वक्तृवस्तुविषयं विभिद्यमानं द्विधा भवति॥—वही, ६।१७

८. काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा
साररूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यः. . . ।—ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, का० २ की वृत्ति।

अनौचित्य की चर्चा की गई है।[1] तृतीय उद्योत की छठी, सातवीं, आठवीं, नवीं, दसवीं एवं तेतीसवीं कारिका में रस, भाव, विभाव एवं 'अनुभाव' आदि रसांगों के परिप्रेक्ष्य में औचित्य की अत्यन्त विस्तृत विवेचना की गई है। आनन्दवर्द्धनाचार्य ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में अनौचित्य को रस-विघ्न का एकमात्र कारण तथा औचित्य के अनुसरण को रस का परम रहस्य घोषित किया है।[2] अभिनवगुप्त ने भी अनेक स्थलों पर रस एवं विभिन्न रसांगों से सम्बद्ध औचित्य का महत्त्व प्रतिपादित किया है।[3] कुन्तक ने भी यद्यपि काव्यात्मा तो वक्रोक्ति को ही स्वीकार किया, किन्तु वक्रता के मूलाधार के रूप में औचित्य को ही मान्यता प्रदान की है।[4] उन्होंने स्वभाव के महत्त्व का पोषण करने वाले स्पष्ट वर्णन-प्रकार को 'औचित्य-गुण' की संज्ञा दी है तथा उसका आधार उचित आख्यान बतलाया है।[5]

आचार्य क्षेमेन्द्र के उपर्युक्त प्राक्तन आचार्यो के अतिरिक्त उनके परवर्ती आचार्यों—मम्मट, विश्वनाथ एवं पंडितराज जगन्नाथ ने औचित्य-सिद्धान्त के काव्यात्मपरक पक्ष को व्यापक महत्त्व प्रदान नहीं किया, तथापि मम्मट ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' के सातवें तथा आठवें उल्लास में औचित्य का अप्रत्यक्षतः उल्लेख कर,[6] विश्वनाथ ने उसे गुण-दोषों के निर्धारण के आधार के रूप में स्वीकार कर[7] तथा पंडितराज जगन्नाथ ने 'रस-दोष' तथा 'गुण-निरूपण' के प्रसंग में 'औचित्य'[8] को रस एवं काव्य-गुण के रूप में मान्यता प्रदान कर औचित्य-सिद्धान्त को अप्रत्यक्षतः समादृत किया है। उपर्युक्त विवरण से यह तो भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि क्षेमेन्द्र के पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आचार्यो ने औचित्य को पर्याप्त महत्त्व प्रदान किया, किन्तु इस बात का संकेत कहीं

---

१. देखिए—ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत की १६ वीं तथा १९ वीं कारिका में दिए गए उदाहरण।

२. अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥
—ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, का० १४ की वृत्ति (चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वि० सं० १९९७), पृष्ठ ३३०

३. (क) विभावाद्यौचित्येन हि विना का रसवत्ताकवेः।
—ध्वन्यालोकलोचन, तृतीय उद्योत, पृष्ठ ३३४।
(ख) विभावाद्यौचित्यमेव हि सद्यःप्रीतेर्निदानमित्यसकृदवोचाम।
—वही, पृष्ठ ३३६-७।

४. तत्र पदस्य तावदौचित्यं. . .वक्रतायाः परं रहस्यम्।
उचिताभिधानजीवितत्वाद्।. . .
—वक्रोक्तिजीवित, प्र० उन्मेष, का० ५७ की वृत्ति।

५. आंसजेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम्॥—वही, १।५३

६. देखिए—काव्यप्रकाश : (क) सप्तम उल्लास (दोषदर्शन) तथा (ख) अष्टम उल्लास (गुणालंकारभेद-निर्णय)

७. देखिए—साहित्यदर्पण : (क) सप्तम परिच्छेद (ख) अष्टम परिच्छेद।

४. देखिए—रसगंगाधर (सं० सी०, चौखम्बा विद्याभवन), व्या० पं० बदरीनाथ झा तथा पं० मदनमोहन झा, प्रथम आनन, पृष्ठ १८८ से २०९।

भी प्राप्त नहीं होता कि क्षेमेन्द्र के अतिरिक्त किसी अन्य काव्यशास्त्री ने एक सर्वव्यापक काव्य-सिद्धान्त के रूप में उसे मान्यता दी हो। औचित्य-सिद्धान्त को काव्य के व्यापक सिद्धान्त एवं समीक्षा-मूल्य के रूप में प्रकल्पित करने एवं औचित्य को एक काव्य-सम्प्रदाय के रूप में प्रवर्तित करने का श्रेय वस्तुतः आचार्य क्षेमेन्द्र को ही प्राप्त है। अतएव, उन्हीं की मान्यताओं के प्रकाश में औचित्य-सम्प्रदाय के अन्तर्गत काव्यास्वाद के स्वरूप को समझने का प्रयत्न समीचीन होगा : विषय से सम्बद्ध आचार्य क्षेमेन्द्र के महत्त्वपूर्ण उद्धरण इस प्रकार हैं :

१. उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥[1]
—यत् किल यस्यानुरूपं तद् उचितमुच्यते, तस्य भावमौचित्यं कथयन्ति।[2]

२. काव्यस्यातमलंकारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते॥[3]

३. अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥[4]

४. औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारः क्रियतेऽधुना॥[5]

अर्थात्—

१. आचार्यों ने उसे ही उचित कहा है जो जिसके अनुरूप हो। इसी उचित का भाव ही औचित्य कहलाता है।
—अर्थात् जो जिसके अनुरूप हो, वही उचित कहलाता है। उसी के भाव को औचित्य कहते हैं।

२. यदि काव्य में खोज करने पर भी औचित्य के दर्शन न हों तो उसके अलंकार एवं गुणों की मिथ्या गणना निरर्थक है।

३. अलंकार अन्ततः अलंकार ही है और गुण गुण ही। रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवित तो औचित्य ही है।

४. अब चारु चर्वणा में निमित्तभूत (हेतु) तथा चमत्कारोत्पादक उस औचित्य पर विचार करते हैं, जो रस का जीवित है।

---

१. औचित्य-विचार-चर्चा : १।७।
२. वही, १।४ की वृत्ति।
३. वही, १।४।
४. वही, १।५।
५. वही, १।३।

विश्लेषण

आचार्य क्षेमेन्द्र के उपर्युक्त मन्तव्यों के विश्लेषण द्वारा निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं :—

१. काव्य का 'स्थिर जीवित' औचित्य ही है : काव्य की आत्मा औचित्य है।
२. काव्य में परस्पर अनुरूप भावों, विचारों अथवा कल्पनाओं की समानुरूप व्यवस्था ही औचित्य है। दूसरे शब्दों में, काव्य में निबद्ध विषयों की पारस्परिक अनुरूपता औचित्य है।
३. काव्य की चारु चर्वणा का हेतु औचित्य ही है। दूसरे शब्दों में, औचित्य काव्यास्वाद का मूल उद्‌गम है। वह सहृदय के चित्त में चमत्कार की सृष्टि करता है।
४. अलंकार, गुण आदि काव्य-तत्त्वों का सौन्दर्य मूलतः औचित्य पर आश्रित है। अलंकार का अलंकारत्व तथा गुण का गुणत्व औचित्य के संस्पर्श से ही सिद्ध होता है, अन्यथा वह अस्तित्व में ही नहीं आता।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य-सिद्धान्त की स्थापना काव्य-मूल्यांकन के एक सर्वव्यापक, स्वतःपूर्ण एवं स्वतंत्र मानदण्ड के रूप में ही की थी तथा उसके पृथक् साम्प्रदायिक रूप के प्रवर्त्तन का प्रयास किया था। यह कहना कि उनका उद्देश्य अलंकार तथा गुण आदि काव्य-तत्त्वों में औचित्य के समुचित निर्वाह का महत्त्व-प्रतिपादन करना मात्र था, अथवा यह कि रस के व्यापक परिवेश में या उसके अन्तर्गत एक सापेक्षिक सिद्धान्त के रूप में ही उन्होंने औचित्य की प्रतिष्ठा की थी, क्षेमेन्द्र के प्रति अन्याय होगा। **औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्**[1] (औ० वि० च० १।५) से उनका अभिप्राय रस के विशिष्ट एवं साम्प्रदायिक रूप से न होकर उसके सामान्य आनन्दानुभूति-रूप (काव्यास्वाद) से ही था, अन्यथा उनकी काव्य-परिभाषा[2] में 'रस' शब्द अनुपस्थित न होता।

निष्कर्षतः, क्षेमेन्द्र की उपर्युद्धृत मान्यताओं के आलोक में काव्यास्वाद का स्वरूप सहज ही स्पष्ट हो जाता है। उनके अनुसार सहृदय के चित्त में काव्य-निबद्ध विषयों की पारस्परिक अनुरूपता के औचित्य से उद्‌भूत चमत्कार की आनन्दमयी अनुभूति ही काव्यास्वाद है।

(छ) उपसंहार

संस्कृत-काव्यशास्त्र में निरूपित काव्यास्वाद के विवेचन-विश्लेषण के उपरान्त प्रस्तुत अध्याय के विभिन्न प्रकरणों में प्राप्त निष्कर्षों का सारांश उपसंहार रूप में उद्धृत करना समीचीन होगा :

---

१. औचित्य-विचार-चर्चा : १।५
२. परस्परोपकाररुचिर-शब्दार्थ-रूपस्य काव्यस्य . . . . ।
—१।५ की वृत्ति।

(क) रस-सिद्धान्त की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप

काव्यास्वाद (रस) इतर भावों और ज्ञानों से विनिर्मुक्त, देशकाल की सीमाओं से अनिबद्ध, व्यक्तिगत मोह-विराग एवं 'स्व'-'पर' की भावना से रहित, प्रमाता की सत्त्वोद्रिक्त मनःस्थिति में अनुभूयमान, ऐहिक भोगास्वाद से भिन्न, ब्रह्मास्वाद के सदृश सूक्ष्म-परिष्कृत, स्वतः-प्रकाशित आनन्दमयी आत्मानुभूति है।

(ख) ध्वनि-सिद्धान्त की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप

वाच्यार्थ से चारुतर, 'चमत्कारपूर्ण', 'प्रकाशमान', 'चर्वणीय' तथा 'स्वादु' ध्वन्यर्थ का उपभोक्ता—आस्वादयिता प्रमाता है और ध्वन्यर्थ की आह्लादमयी प्रतीति ही काव्यास्वाद है। प्रमाता वाच्यार्थ से भिन्न चारुतर तथा सर्वथा अभिनव अर्थ को प्राप्त करने के लिए अपनी कल्पना-शक्ति का आश्रय लेता है। 'ध्वनित' अर्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ काव्य के प्रणयन के लिए कवि को तो निश्चय ही विशेष प्रतिभावान् होना ही चाहिए, साथ ही पाठक के पास भी इस ध्वन्यर्थ को प्राप्त करने के लिए एक विशिष्ट, भावप्रवण, कल्पनाशील तथा सजग मन की आवश्यकता होती है। अपनी कल्पना से वह वाच्यार्थ में चारुतर अर्थान्तर उपस्थित करता है। इस प्रकार प्रतीयमान व्यंग्यार्थ अथवा ध्वन्यर्थ का आनन्द एक प्रकार से वाच्यार्थ के कल्पनात्मक अर्थान्तरण अथवा पुनःसृजन का आनन्द है। निष्कर्षतः, काव्य में वाच्यार्थ से भिन्न, चारुतर एवं सर्वथा नवीन अर्थ की प्रतीति का आनन्द ही काव्यास्वाद है।

(ग) अलंकार-सिद्धान्त की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप

अलंकार-सिद्धान्त उक्ति-चमत्कार को ही काव्य-सर्वस्व मानता है। उसके अनुसार सम्पूर्ण कवि-कर्म अलंकाराश्रित है। शब्दार्थमयी अभिव्यक्ति में जो सौन्दर्य उसे आस्वादनीयता प्रदान करता है, उसका निर्माता एवं स्थायी धर्म अलंकार है। सारांशतः, अलंकार-सिद्धान्त के अनुसार प्रमाता की चेतना में उक्ति की चारुता से निष्पन्न अन्तश्चमत्कार की आनन्दमयी प्रतीति ही काव्यास्वाद है।

(घ) रीति-सिद्धान्त की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप

रीतिवाद का समस्त प्रपंच काव्य-गुणजन्य पद-रचना की चारुता पर आश्रित है जो एक विशेष प्रकार के चर्वणीय चमत्कार की सृष्टि करता है। सारांश रूप में, शब्द और अर्थ के विशिष्ट गुणों से युक्त विशेष प्रकार के रचना-सौष्ठव के चमत्कार से प्रमाता की चेतना में उद्बुद्ध आह्लादमयी अनुभूति ही काव्यास्वाद है।

(ङ) वक्रोक्ति-सिद्धान्त की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप

वक्रोक्तिवादी कुन्तक की दृष्टि में विशिष्ट स्वभाव-संस्कार से युक्त कवि की सहज शक्तिसम्पन्न प्रतिभा शास्त्र एवं लोक में व्यवहृत सामान्य कथनशैली से भिन्न असाधारण रूप से विलक्षण शैली द्वारा काव्य में अलौकिक चमत्कार उत्पन्न करती है। प्रमाता इस असाधारण

रूप से चारु कथन-भंगिमा से प्रभावित होता है, तदनन्तर इस प्रभाव की अन्विति से कवि-प्रतिभा द्वारा सृष्ट काव्य का बाह्य चमत्कार प्रमाता के अन्तःकरण में प्रविष्ट हो उसकी चेतना में एक प्रीतिकर अन्तश्चमत्कार की सृष्टि कर देता है। काव्यकला-जन्य यह अन्तश्चमत्कार ही कुन्तक की दृष्टि में काव्यास्वाद है।

(च) औचित्यवादी क्षेमेन्द्र की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप

सहृदय के चित्त में काव्यनिबद्ध विषयों की पारस्परिक अनुरूपता के औचित्य से उद्भूत चमत्कार की आनन्दमयी अनुभूति ही काव्यास्वाद है।

संस्कृत-काव्यशास्त्र के प्रमुख सम्प्रदायों में विवेचित काव्यास्वाद-स्वरूप-विषयक मान्यताओं का यह अध्ययन हिन्दी-काव्यशास्त्र में निरूपित काव्यास्वाद के विवेचन-विश्लेपण में पूर्व-पीठिका के रूप में सहायक होगा।

अध्याय : ३

पाश्चात्य काव्यशास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्र में काव्यास्वाद का स्वरूप

(क) प्लेटो के पूर्ववर्ती आचार्यों और प्लेटो की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप

(ख) अरस्तू की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप

(ग) अन्य यूनानी-रोमी आचार्यों की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप

(घ) पुनर्जागरण-काल के आचार्यों और सौन्दर्यशास्त्रियों की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप

(ङ) नव्यशास्त्रवादी आचार्यों तथा उनके समसामयिक सौन्दर्यशास्त्रियों की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप

(च) स्वच्छन्दतावादी कवियों एवं आलोचकों तथा उनके समसामयिक जर्मन सौन्दर्यशास्त्रियों की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप

(छ) आधुनिक आचार्यों की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप

(ज) समाहार एवं निष्कर्ष

पाश्चात्य काव्यशात्र एवं सौन्दर्यशास्त्र में काव्यास्वाद का स्वरूप

प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रथम अध्याय के 'ख' भाग में हिन्दी-साहित्यशास्त्र के प्रभाव-स्रोतों के विवेचन-क्रम में आधुनिक हिन्दी-आलोचना पर पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रभाव को दिग्दर्शित किया जा चुका है। प्रस्तुत अध्याय में आधुनिक हिन्दी-काव्यशास्त्र में काव्यास्वाद के विवेचनात्मक अध्ययन के एक संदर्भ एवं पृष्ठभूमि के रूप में पाश्चात्य काव्यशास्त्र की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं का संक्षिप्त विवेचन-विश्लेपण प्रस्तुत किया जाएगा।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र की पच्चीस सौ वर्षों से भी अधिक की सुदीर्घ परम्परा के विकास-क्रम को समझने के लिए उसके वर्गीकरण की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित हैं। उन सब के आधारों की वैज्ञानिकता अथवा औचित्य-सम्बन्धी तर्कों के विस्तार में न जाकर सर्वाधिक प्रचलित एवं सर्वसुलभ वर्गीकरण का अनुसरण समीचीन होगा। एतदर्थ पाश्चात्य काव्यशास्त्र में निरूपित काव्यास्वाद के स्वरूप का विवेचन निम्नलिखित वर्गों के अन्तर्गत किया जायगा :

(क) प्लेटो के पूर्ववर्ती आचार्यों और प्लेटो की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप।
(ख) अरस्तू की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप।
(ग) अन्य यूनानी-रोमी आचार्यों की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप।
(घ) पुनर्जागरणकाल के आचार्यों और सौन्दर्यशास्त्रियों की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप।
(ङ) नव्यशास्त्रवादी आचार्यों तथा उनके समसामयिक सौंदर्यशास्त्रियों की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप।
(च) स्वच्छन्दतावादी कवियों एवं आलोचकों तथा उनके समसामयिक जर्मन सौंदर्य-शात्रियों की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप।
(छ) आधुनिक आचार्यों की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप।

(क) प्लेटो के पूर्ववर्ती आचार्यों और प्लेटो की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप

प्लेटो-पूर्व

यों तो पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन की सुनिश्चित परम्परा का समारम्भ यूनानी आचार्य प्लेटो से ही माना जाता है, किन्तु उनसे पूर्व एरिस्टॉफ़ेनीज़ तथा उनसे भी पूर्व हेसियड, पिण्डार एवं गोर्जियास आदि विचारकों में यूनानी समीक्षा का अत्यन्त धूमिल रूप उपलब्ध होता है। वैसे तो प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता प्रोफ़ेसर बोसाँके ने 'इलियड' के सतरहवें भाग की दो पंक्तियों के आधार पर यूनान के आदि कवि होमर के कृतित्व में भी सैद्धान्तिक प्रतिपादन की विद्यमानता का संकेत किया है।[१]

---

१. Professor Bernard Bosanquet : *A History of Aesthetic*, Second Edition (Reprinted : 1956) p. 12.

पाश्चात्य काव्यशास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्र में काव्यास्वाद का स्वरूप

प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रथम अध्याय के 'ख' भाग में हिन्दी-साहित्यशास्त्र के प्रभाव-स्रोतों के विवेचन-क्रम में आधुनिक हिन्दी-आलोचना पर पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रभाव को दिग्दर्शित किया जा चुका है। प्रस्तुत अध्याय में आधुनिक हिन्दी-काव्यशास्त्र में काव्यास्वाद के विवेचनात्मक अध्ययन के एक संदर्भ एवं पृष्ठभूमि के रूप में पाश्चात्य काव्यशास्त्र की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं का संक्षिप्त विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया जाएगा।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र की पच्चीस सौ वर्षों से भी अधिक की सुदीर्घ परम्परा के विकास-क्रम को समझने के लिए उसके वर्गीकरण की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित हैं। उन सब के आधारों की वैज्ञानिकता अथवा औचित्य-सम्बन्धी तर्कों के विस्तार में न जाकर सर्वाधिक प्रचलित एवं सर्वसुलभ वर्गीकरण का अनुसरण समीचीन होगा। एतदर्थ पाश्चात्य काव्यशास्त्र में निरूपित काव्यास्वाद के स्वरूप का विवेचन निम्नलिखित वर्गों के अन्तर्गत किया जायगा :

(क) प्लेटो के पूर्ववर्ती आचार्यों और प्लेटो की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप।

(ख) अरस्तू की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप।

(ग) अन्य यूनानी-रोमी आचार्यों की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप।

(घ) पुनर्जागरणकाल के आचार्यों और सौन्दर्यशास्त्रियों की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप।

(ङ) नव्यशास्त्रवादी आचार्यों तथा उनके समसामयिक सौंदर्यशास्त्रियों की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप।

(च) स्वच्छन्दतावादी कवियों एवं आलोचकों तथा उनके समसामयिक जर्मन सौंदर्य-शास्त्रियों की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप।

(छ) आधुनिक आचार्यों की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप।

(क) प्लेटो के पूर्ववर्ती आचार्यों और प्लेटो की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप

प्लेटो-पूर्व

यों तो पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन की सुनिश्चित परम्परा का समारम्भ यूनानी आचार्य प्लेटो से ही माना जाता है, किन्तु उनसे पूर्व एरिस्टॉफ़ेनीज तथा उनसे भी पूर्व हेसियड, पिण्डार एवं गोर्जियास आदि विचारकों में यूनानी समीक्षा का अत्यन्त धूमिल रूप उपलब्ध होता है। वैसे तो प्रसिद्ध तत्ववेत्ता प्रोफ़ेसर बोसाँके ने 'इलियड' के सतरहवें भाग की दो पंक्तियों के आधार पर यूनान के आदि कवि होमर के कृतित्व में भी सैद्धान्तिक प्रतिपादन की विद्यमानता का संकेत किया है।[1]

---

१. Professor Bernard Bosanquet : *A History of Aesthetic*, Second Edition (Reprinted : 1956) p. 12.

अपने प्रसिद्ध काव्य 'इलियड' में अशिलेस की स्वर्ण-निर्मित ढाल पर हेफ़ेस्तस द्वारा चित्रित दृश्य का वर्णन होमर ने इन शब्दों में किया है—'हल के पीछे की पृथ्वी श्यामल प्रतीत हो रही थी। यद्यपि ढाल सोने की वनी हुई थी, तथापि उस पर चित्रित जुती हुई धरती काली दिखाई पड़ती थी: यही उसकी कला का चमत्कार था।'[1] इन पंक्तियों में होमर ने सुनहरी ढाल पर चित्रित दृश्य के श्यामल प्रभाव से उद्भूत अपने मन के अन्तश्चमत्कार की निर्द्वन्द्व अभिव्यक्ति की है। होमर का यह मत यूनानी काव्यशास्त्र में कलानुभूति के स्वरूप के विषय में सर्वप्रथम अभिमत है। होमर के दूसरे महाकाव्य 'ओडेसी' में भी उनका कलानुभूति-(काव्यास्वाद-) विषयक मत उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ में एक स्थान पर ईश्वर द्वारा प्रदत्त चारणत्व के विशेष वरदान के फलस्वरूप गीतों द्वारा मनुष्यों को प्रफुल्लित-आनन्दित करने की दिव्य शक्ति से सम्पन्न प्रसिद्ध 'दिव्य' चारण डेमोडोकस का उल्लेख किया गया है।[2] यहाँ होमर ने कला द्वारा प्रमाता को प्राप्त होने वाली आस्वादमयी आनन्दानुभूति का स्पष्ट कथन किया है। इस प्रकार महाकवि होमर की दृष्टि में हृदय को प्रफुल्लित करने वाला आनन्दमय अन्तश्चमत्कार ही कला का आस्वाद है।

आठवीं शती ई० पू०[3] के हेसियड ने होमर द्वारा प्रतिपादित आनन्द के स्थान पर शिक्षा प्रदान करना तथा किसी मार्मिक सन्देश द्वारा जन-कल्याण करना काव्य का उद्देश्य वतलाया।[4] हेसियड के इस मत से अप्रत्यक्षत: यह अर्थ तो अवश्य ही निकाला जा सकता है कि उन्हें कलानुभूति का आध्यात्मिक रूप ही उचित लगता था, किन्तु काव्यास्वाद अथवा कलानुभूति के रूप के विषय में उन्होंने कोई मत-प्रतिपादन नहीं किया। हेसियड के अनन्तर यूनान के महान गीति-काव्यकार 'इपिनका' के अमर रचयिता पिण्डार[5] ने भी यद्यपि काव्य में आन्तरिक प्रेरणा[6] तथा प्रतिभा-प्रसूत काव्य-सृजन[7] आदि से सम्बन्धित सुनिश्चित समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत किया,

---

१. Iliad, 17/548 : : मूल यूनानी पाठ के सर्वश्री लैंग, लैफ़ तथा मायर्स द्वारा किए गए अंग्रेज़ी अनुवाद का हिन्दी अनुवाद।

२. 'Bid hither (says Alcinous) the divine minstral, Demodocusm for the God hath given minstrelsy to him as to none other, to make men glad in what way soever his spirit stirs him to sing.'

—*Odyssey*, VIII, 43-45 (Translation—Butcher and Lang)

३. Sir Paul Harvey : *The Oxford Companion to English Literature*, pages 380-81.

४. Atkins I, 80-I; W. C. Greene, *The Greek Criticism of Poetry in Perspectives of Criticism*, ed. Harry Levin (Cambridge, Mass, 1950) p. 21.

५. अनुमानित समय : ५२२ से ४४२ ई० पू०; आधार—Sir Paul Harvey : *The Oxford Companion to English Literature*, P. 621.

६. William K. Wimsatt, gr. & Cleanth Brooks: *Literary Criticism: A Short History* P. 92.

७. वही, पृष्ठ ९।

किन्तु काव्यानुभूति के विषय में कोई विचार व्यक्त नहीं किया। इसी शताब्दी के अन्य विचारक गोर्जियास ने काव्य के शाब्दिक प्रभाव के महत्त्व पर बहुत बल दिया तथा काव्यास्वाद के स्वरूप की भी प्रसंगवश चर्चा की है। उनके अनुसार 'कथित शब्द में महान् शक्ति है; इसके द्वारा भय तथा दुःख का शमन होता है और आनन्द तथा आत्मविश्वास का प्रकाश।. . .प्रेरणात्मक काव्य आनन्द का प्रसार तथा पीड़ा का निवारण करके मानवात्मा को आश्चर्यजनक रूप से प्रभावित करता है।'[1] श्रोताओं के मन पर पड़ने वाले काव्य-प्रभाव के सम्बन्ध में गोर्जियास का मत है: 'श्रोताओं को काव्य विचित्र रूप से प्रभावित करता है; उसके द्वारा गाम्भीर्य, नैतिक भय तथा करुणा का सम्यक् संचार होता है।'[2] इस प्रकार गोर्जियास के मत से काव्यास्वाद गाम्भीर्य, नैतिक भय तथा करुणा का संचार करने वाली एक ऐसी आनन्दानुभूति है जिसमें भय एवं दुःख की भावनाएँ स्वभावतः शमित हो जाती हैं।

प्लेटो-पूर्व यूनानी काव्य-चिन्तकों में गोर्जियास के उपरान्त एरिस्टॉफ़ेनीज़[3] का नाम उल्लेख्य है। अपने चार[4] प्रसिद्ध सुखान्तक नाटकों में यूरीपिडीज़ नामक एक प्रसिद्ध नाटककार की कला के विवेचन के अन्तर्गत उन्होंने यद्यपि महाकाव्य, गीतिकाव्य, कामदी तथा त्रासदी के गंभीर विवेचन के अतिरिक्त काव्य में कल्पनाहीनता, परम्परा-पालन, संकुचित विचारधारा तथा नीरसता आदि के प्रति तीव्र विरोध प्रकट किया है, किन्तु काव्यानन्द अथवा कलानुभूति पर उनका कोई स्पष्ट मत उपलब्ध नहीं होता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्लेटो-पूर्व यूनानी आचार्यों ने काव्यास्वाद का कोई स्पष्ट, सुनिश्चित एवं व्यवस्थित विवेचन नहीं किया। उनके द्वारा व्यक्त स्फुट विचारों का सारांश इस प्रकार है:

(क) हृदय को प्रफुल्लित करने वाला आनन्दमय अन्तश्चमत्कार ही कला का आस्वाद (अथवा काव्यास्वाद) है।

(ख) काव्यास्वाद एक उच्चकोटि की धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभूति है।

(ग) काव्यास्वाद गांभीर्य, नैतिक भय तथा करुणा का संचार करने वाली एक ऐसी आनन्दानुभूति है, जिसमें भय एवं दुःख की भावनाएँ स्वभावतः शमित हो जाती हैं।

प्लेटो

प्राचीन यूनानी काव्यशास्त्र के अरस्तू-पूर्व युग के महानतम दार्शनिक प्लेटो[5] ने अपने ग्रंथों में यद्यपि स्वतंत्र एवं प्रमुख रूप से काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का निरूपण नहीं किया है, तथापि

---

१. दे० डॉ० एस० पी० खत्री तथा शिवदानसिंह चौहान : आलोचना, इतिहास तथा सिद्धान्त, पृष्ठ ४१ पर उद्धृत गोर्जियास का मत।

२. वही।

३. अनुमानित समय ४४८ से ३८० ई० पू०। आधार—Sir Paul Harvey, *The Oxford Compann to English Litetaiure*, P. 38

४. 'एकारनियन्स', 'क्लाउड्स', 'थेस्मोस्फोरियाजुसी' तथा 'फ्रॉग्स'।

५. अनुमानित समय : ४२७ से ३४८ ई० पू०। आधार— Sir Paul Harvey *The Oxford Companion to English Literature*, P. 624

इस प्रकार प्लेटो के अनुसार काव्यास्वाद निम्न प्रकार के मनोवेगों के उत्तेजन, आभ्यन्तरिक भावनाओं के आलोड़न तथा कहीं-कहीं कला की उत्कृष्टता से व्युत्पन्न अन्तश्चमत्कार का नितान्त लौकिक आत्मभोग-सदृश अत्यंत निम्न कोटि का सम्मोहनकारी, किन्तु त्याज्य, आनन्द है।

(ख) अरस्तू की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप

प्लेटो द्वारा आदर्श नगर से निष्कासित कवि और उसके कृतित्व को उन्हीं के शिष्य अरस्तू ने अत्यंत उत्साहपूर्वक समादृत किया। प्लेटो की 'अनुकरण'-विषयक धारणा पर ही मुख्यतः आधृत 'अनुकरण-सिद्धान्त' के प्रवर्त्तक होने पर भी अरस्तू की दृष्टि अपने गुरु से अनेक मौलिक अर्थों में भिन्न थी। जहाँ प्लेटो ने काव्य को सत्य से दुगुना दूर, अनुकरण का भी अनुकरण[1], गर्हित तथा उद्दाम वासनात्मक मनोवेगों को उत्तेजित करने वाला,[2] पूर्णतः अनैतिक एवं क्षणिक आनन्द[3] की वस्तु घोषित करते हुए मानव के लिए अकल्याणकारी[4] बताया, वहाँ अरस्तू ने उसे 'मूल सत्य के अनुरूप सृजनशील प्रतिभा का परिणाम'[5] बताया। प्लेटो ने कलास्वाद की तुलना मिष्टान्न बनाने की प्रक्रिया से प्राप्त आनन्द[6] से करते हुए उसका उपहास किया था, जबकि अरस्तू ने अत्यंत निर्भ्रान्त शब्दों में यह प्रस्थापना की कि कला (काव्य) का लक्ष्य विवेक-सम्मत आनन्द प्रदान करना है।[7]

अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्यशास्त्र' (पेरि पोइतिकेस) में अरस्तू ने (चित्र, काव्य आदि) कला को सुन्दर[8] तथा अपने ही प्रकार का विशिष्ट आनन्द प्रदान करने वाली वस्तु माना है।[9]

अरस्तू ने काव्यास्वाद के स्वरूप का निरूपण निम्नलिखित शब्दों में किया है:

१. 'शायद वह अपने मन में कहता है, 'अरे! यह तो अमुक है।' क्योंकि यदि आपने

---

१. 'And so if the tragic poet is an imitator he too is thrice removed from the king and from the truth : and so are all other imitators.'

—B. Jowett : *Dialogues of Plato*, Vol. II, p. 470-471.

(टिप्पणी—प्लेटो ने मूल पाठ में यद्यपि तिगुने (थ्राइस) शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु विवेचन के संदर्भ और उसकी व्याख्या से स्पष्ट है कि उन्हें 'दुगुना' ही अभीष्ट था।)

२. '...it (poetry) feeds and waters the passions instead of drying them up; she lets them rule, although they ought to be controlled, if mankind are ever to increase in happiness and virtue.'

—वही पृ० ४८२-४८३

३. Gorg. 462 E-463 B.

४. देखिए, इसी पृष्ठ पर पाद टिप्पणी २।

५. '...a faculty of production in accordance with a true idea......'
—Aristotle : *Ethics* Nic., VI. 4.1140 a 10.

६. देखिए, इसी पृष्ठ पर पाद-टिप्पणी ३।

७. Aristotle : *Metaphysics*, i.1. 981 b 17.

८. Aristotle : *Poetics*, VII. 1450 b 38-1451 a 12.

९. वही, XIV. 1453 b 11-14.

मूल वस्तु को नहीं देखा तो आपका आनन्द अनुकरण-जन्य न होगा, वह अंकन, रंग-योजना या किसी अन्य कारण पर आधृत होगा।"[1]

२. 'इसका कारण यह है कि ज्ञान के अर्जन से अत्यंत प्रबल आनन्द प्राप्त होता है— केवल दार्शनिक को ही नहीं, सामान्य व्यक्ति को भी।...अतः किसी प्रतिकृति को देखकर मनुष्य के आह्लादित होने का कारण यह है कि वह उसका (भावन) करने में कुछ ज्ञान प्राप्त करता है या निष्कर्ष ग्रहण करता है।"[2]

उपर्युक्त उद्धरणों से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं:

१. कला का आस्वाद एक प्रकार से अभिनव ज्ञान तथा नए अनुभवों की उपलब्धि का आस्वाद है।
२. काव्यास्वाद (कलास्वाद) मूलतः प्रत्यभिज्ञान का आनन्द है। मूल वस्तु से अपरिचित होने पर भी प्रमाता उसे कलाकृति के माध्यम से मानो पहचानकर आह्लाद की प्रतीति करता है। स्पष्ट ही यह आस्वादमयी अनुभूति प्रमाता की अपनी कल्पना का प्रतिफल होती है, अनुकरणजन्य नहीं। दूसरे शब्दों में, प्रमाता अपनी प्रबल कल्पनाशक्ति के आश्रय से मूल अनुकृत वस्तु के नितान्त आत्मपरक बिम्ब की सृष्टि करता है और फिर उसका प्रत्यभिज्ञानात्मक आस्वाद ग्रहण करता है। अतएव इसे प्रमाता का निजी आस्वाद भी कहा जा सकता है। संक्षेप में, अरस्तू के अनुसार काव्यास्वाद वस्तुतः कल्पनात्मक प्रत्यभिज्ञान का विषयिगत आस्वाद है।
३. कलाकृति (काव्यकृति) के अभिव्यंजना-शिल्प, रंग-रूप आदि की रमणीयता से उद्भूत प्रमाता का अन्तश्चमत्कार भी कलास्वाद (काव्यास्वाद) है।

अरस्तू ने, इसमें संदेह नहीं कि उपयोगी कलाओं के क्षेत्र में उनके बौद्धिक पक्ष को आवश्यकता से अधिक महत्त्व प्रदान किया है, किन्तु ललित कलाओं और उनमें भी मूर्द्धन्य स्थान की अधिकारिणी काव्य-कला की सौन्दर्यानुभूति (काव्यास्वाद) के विषय में उनकी स्पष्ट मान्यता है कि उसकी प्रकृति मूलतः भावनात्मक है, बौद्धिक नहीं। कला का संवेदन बुद्धि की अपेक्षा भावना के प्रति ही अधिक होता है।[3]

---

१. 'And saying perhaps, 'Ah ! that is he.' For if you happen not to have seen the original, the pleasure will be due not to the imitation as such, but to the execution, the colouring, or some such other cause.'
—Aristotle's *Poetics*—IV. 6, p. 15.
(Edited by S. H. Butcher, Fourth Edition.)

२. 'The cause of this again is, that to learn gives the liveliest pleasure, not only to philosophers but to men in general....Thus the reason why men enjoy seeing a likeness is, that in contemplating it they find themselves learning or inferring.' —वही।

३. S. H. Butcher : *Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art*, Fourth Edition, p. 202.

इस प्रकार प्लेटो के अनुसार काव्यास्वाद निम्न प्रकार के मनोवेगों के उत्तेजन, आभ्यन्तरिक भावनाओं के आलोड़न तथा कहीं-कहीं कला की उत्कृष्टता से व्युत्पन्न अन्तश्चमत्कार का नितान्त लौकिक आत्मभोग-सदृश अत्यंत निम्न कोटि का सम्मोहनकारी, किन्तु त्याज्य, आनन्द है।

(ख) अरस्तू की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप

प्लेटो द्वारा आदर्श नगर से निष्कासित कवि और उसके कृतित्व को उन्हीं के शिष्य अरस्तू ने अत्यंत उत्साहपूर्वक समादृत किया। प्लेटो की 'अनुकरण'-विषयक धारणा पर ही मुख्यतः आधृत 'अनुकरण-सिद्धान्त' के प्रवर्त्तक होने पर भी अरस्तू की दृष्टि अपने गुरु से अनेक मौलिक अर्थों में भिन्न थी। जहाँ प्लेटो ने काव्य को सत्य से दुगुना दूर, अनुकरण का भी अनुकरण[1], गर्हित तथा उद्दाम वासनात्मक मनोवेगों को उत्तेजित करने वाला,[2] पूर्णतः अनैतिक एवं क्षणिक आनन्द[3] की वस्तु घोषित करते हुए मानव के लिए अकल्याणकारी[4] बताया, वहाँ अरस्तू ने उसे 'मूल सत्य के अनुरूप सृजनशील प्रतिभा का परिणाम'[5] बताया। प्लेटो ने कलास्वाद की तुलना मिष्टान्न बनाने की प्रक्रिया से प्राप्त आनन्द[6] से करते हुए उसका उपहास किया था, जबकि अरस्तू ने अत्यंत निर्भ्रान्ति शब्दों में यह प्रस्थापना की कि कला (काव्य) का लक्ष्य विवेक-सम्मत आनन्द प्रदान करना है।[7]

अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्यशास्त्र' (पेरि पोइतिकेस) में अरस्तू ने (चित्र, काव्य आदि) कला को सुन्दर[8] तथा अपने ही प्रकार का विशिष्ट आनन्द प्रदान करने वाली वस्तु माना है।[9]

अरस्तू ने काव्यास्वाद के स्वरूप का निरूपण निम्नलिखित शब्दों में किया है:

१. 'शायद वह अपने मन में कहता है, 'अरे! यह तो अमुक है।' क्योंकि यदि आपने

---

१. 'And so if the tragic poet is an imitator he too is thrice removed from the king and from the truth : and so are all other imitators.'

—B. Jowett : *Dialogues of Plato*, Vol. II, p. 470-471.

(टिप्पणी—प्लेटो ने मूल पाठ में यद्यपि तिगुने (थ्राइस) शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु विवेचन के संदर्भ और उसकी व्याख्या से स्पष्ट है कि उन्हें 'दुगुना' ही अभीष्ट था।)

२. '. . .it (poetry) feeds and waters the passions instead of drying them up; she lets them rule, although they ought to be controlled, if mankind are ever to increase in happiness and virtue.'

—वही पृ० ४८२-४८३

३. Gorg. 462 E-463 B.

४. देखिए, इसी पृष्ठ पर पाद टिप्पणी २।

५. '. . .a faculty of production in accordance with a true idea......'
—Aristotle : *Ethics* Nic., VI. 4.1140 a 10.

६. देखिए, इसी पृष्ठ पर पाद-टिप्पणी ३।

७. Aristotle : *Metaphysics*, i.1. 981 b 17.

८. Aristotle : *Poetics*, VII. 1450 b 38-1451 a 12.

९. वही, XIV. 1453 b 11-14.

मूल वस्तु को नहीं देखा तो आपका आनन्द अनुकरण-जन्य न होगा, वह अंकन, रंग-योजना या किसी अन्य कारण पर आधृत होगा।"[1]

२. 'इसका कारण यह है कि ज्ञान के अर्जन से अत्यंत प्रबल आनन्द प्राप्त होता है—केवल दार्शनिक को ही नहीं, सामान्य व्यक्ति को भी।...अतः किसी प्रतिकृति को देखकर मनुष्य के आह्लादित होने का कारण यह है कि वह उसका (भावन) करने में कुछ ज्ञान प्राप्त करता है या निष्कर्ष ग्रहण करता है।'[2]

उपर्युक्त उद्धरणों से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं:

१. कला का आस्वाद एक प्रकार से अभिनव ज्ञान तथा नए अनुभवों की उपलब्धि का आस्वाद है।

२. काव्यास्वाद (कलास्वाद) मूलतः प्रत्यभिज्ञान का आनन्द है। मूल वस्तु से अपरिचित होने पर भी प्रमाता उसे कलाकृति के माध्यम से मानो पहचानकर आह्लाद की प्रतीति करता है। स्पष्ट ही यह आस्वादमयी अनुभूति प्रमाता की अपनी कल्पना का प्रतिफल होती है, अनुकरणजन्य नहीं। दूसरे शब्दों में, प्रमाता अपनी प्रबल कल्पनाशक्ति के आश्रय से मूल अनुकृत वस्तु के नितान्त आत्मपरक बिम्ब की सृष्टि करता है और फिर उसका प्रत्यभिज्ञानात्मक आस्वाद ग्रहण करता है। अतएव इसे प्रमाता का निजी आस्वाद भी कहा जा सकता है। संक्षेप में, अरस्तू के अनुसार काव्यास्वाद वस्तुतः कल्पनात्मक प्रत्यभिज्ञान का विषयिगत आस्वाद है।

३. कलाकृति (काव्यकृति) के अभिव्यंजना-शिल्प, रंग-रूप आदि की रमणीयता से उद्भूत प्रमाता का अन्तश्चमत्कार भी कलास्वाद (काव्यास्वाद) है।

अरस्तू ने, इसमें संदेह नहीं कि उपयोगी कलाओं के क्षेत्र में उनके बौद्धिक पक्ष को आवश्यकता से अधिक महत्त्व प्रदान किया है, किन्तु ललित कलाओं और उनमें भी मूर्द्धन्य स्थान की अधिकारिणी काव्य-कला की सौन्दर्यानुभूति (काव्यास्वाद) के विषय में उनकी स्पष्ट मान्यता है कि उसकी प्रकृति मूलतः भावनात्मक है, बौद्धिक नहीं। कला का संवेदन बुद्धि की अपेक्षा भावना के प्रति ही अधिक होता है।[3]

---

१. 'And saying perhaps, 'Ah! that is he.' For if you happen not to have seen the original, the pleasure will be due not to the imitation as such, but to the execution, the colouring, or some such other cause.'
—Aristotle's *Poetics*—IV. 6, p. 15.
(Edited by S. H. Butcher, Fourth Edition.)

२. 'The cause of this again is, that to learn gives the liveliest pleasure, not only to philosophers but to men in general....Thus the reason why men enjoy seeing a likeness is, that in contemplating it they find themselves learning or inferring.' —वही।

३. S. H. Butcher : *Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art*, Fourth Edition, p. 202.

त्रासदी के विवेचन-क्रम में अरस्तू ने अत्यत निर्भ्रान्त एवं प्रबल शब्दों में स्थापित किया है कि काव्यास्वाद अनिवार्यतः एक आनन्दपूर्ण अनुभूति है। कामदी आदि सुखान्तक काव्य-रूपों से तो स्पष्ट ही आनन्द की प्राप्ति होती है, किन्तु काव्य के अधिक गंभीर रूप त्रासदी में करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा (इन तथा इनके समान अन्य कटु-दुःखद) मनोविकारों के उचित विरेचन[1] से विशिष्ट प्रकार के आनन्द[2] की सृष्टि होती है। अतएव अरस्तू के अनुसार काव्यास्वाद सुख-दुःखात्मक अनुभूति न होकर एकान्ततः आनन्दमयी अनुभूति है। विरेचन-जन्य होने के कारण काव्य का यह आनन्द अभावात्मक है, किन्तु अभावात्मक होने पर भी नैतिक सन्तुलन के लिए उपयोगी है। यह प्रमाता का सामाजिक पक्ष है जो व्यक्ति के मानसिक सन्तुलन और स्वास्थ्य पर आधारित है।

अरस्तू ने उपयोगी कलाओं तथा ललित कलाओं के तात्त्विक भेद को स्वीकार करते हुए उपयोगी कलाओं का उद्देश्य भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति और जीवन के नैतिक एवं बौद्धिक साधनों का संग्रह तथा उच्चस्तरीय ललित कलाओं का उद्देश्य विशिष्ट प्रकार का विवेक-सम्मत आनन्द[3] माना है। ललित कलाओं में भी काव्य को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हुए उसकी विभिन्न विधाओं में भी उन्होंने निश्चित कोटि-क्रम स्थापित किया है—उदाहरण के रूप में कामदी[4] को निम्नतर काव्य-रूप और 'समय व्यतीत करने का साधन' (पास टाइम)[5] मानते हुए उनके आस्वाद को हीनतर कोटि का आनन्द-मनोरंजन मात्र माना है।

कलास्वाद (काव्यास्वाद)-प्रक्रिया के विवेचन के संदर्भ में अरस्तू ने एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत किया है। उनके अनुसार काव्यास्वाद का स्वरूप विभिन्न प्रेक्षकों की काव्या-स्वादन की क्षमता पर निर्भर करता है। वह यह स्वीकार करते हैं कि काव्यास्वादन की क्षमता का यह भेद विभिन्न प्रेक्षक-वर्गों के अतिरिक्त किसी एक वर्ग-विशेष के भी विभिन्न व्यक्तियों में उनके निजी संस्कारों, शैक्षिक एवं अन्य योग्यताओं तथा भावन-सामर्थ्य के अनुरूप स्पष्टतः परिलक्षित होता है।[6] किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अरस्तू प्रत्येक प्रेक्षक के नितान्त आत्मपरक

---

१. '. . . . through pity and fear effecting the proper purgation of these emotions' —S. H. Butcher, Aristotle's *Poetics* (Text), VI, p. 23.

२. '. . . the pleasure which the poet should afford is that which comes from pity and fear through imitation . . .'
—S. H. Butcher, Aristotle's *Poetics* (Text), XIV, p. 49.

३. Aristotle : *Metaphysics,* i 1.981 b 17.

४. 'Comedy is, as we have said, an imitation of characters of a lower type . . . the Ludicrous being merely a subdivision of the ugly.'
—*Poetics* (Text Edited by S. H. Butcher) Fourth Edition, V. p. 21.

५. Aristotle : *Politics,* V. (VIII) 5. 1339 b 25.

६. क 'Music, apart from its other functions, may serve as an amusement for children, it is a toy which takes the place of infant's rattle.
—Aristotle : *Politics,* V (VIII)5. 1339 b 13-17.

ख '. . . or it (music) may afford a noble and rational enjoyment

आनन्द की स्वतंत्र एवं समाज-निरपेक्ष सत्ता मानते हैं। उनके अनुसार काव्य का समुचित आस्वादन एक शिक्षित, सुसंस्कृत-सुरुचि-सम्पन्न व्यक्ति ही कर सकता है; इस प्रकार की उच्चकोटि की अनुभावन-सामर्थ्य से युक्त सुसंस्कृत प्रेक्षकों की अनेक व्यष्टियाँ एक साथ एक ही वर्ग में विद्यमान हो सकती हैं। इन व्यष्टियों से विनिर्मित उच्चस्तरीय समष्टि रूप प्रेक्षक-समुदाय का कलास्वाद ही अरस्तू के अनुसार किसी भी कला के आस्वाद का एक सर्वसामान्य मानदण्ड बन जाता है।[1] परिष्कृत और निम्न रुचि वाले प्रेक्षक-वर्गों में उन्होंने सदा ही भेद किया है।[2] इस प्रकार अरस्तू ने वैयक्तिकता के मध्य निर्वैयक्तिकता की सिद्धि का प्रयत्न किया है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वे विभिन्न ललित कलाओं एवं काव्य-कला के विभिन्न रूपों से प्राप्त होने वाले आस्वाद तथा विभिन्न प्रेक्षक-समुदायों की काव्यास्वादन-क्षमता के मध्य स्तर-भेद स्वीकार करते हैं।

अन्त में यह निर्देश करना भी आवश्यक है कि अरस्तू का काव्यानन्द नैतिकता से असम्पृक्त नहीं है। उन्होंने 'सुन्दर' की परिभाषा देते हुए अत्यंत प्रबल शब्दों में कहा है कि सुन्दर वस्तु का शिवत्व ही उसे सौंदर्य और आस्वादनीयता प्रदान करता है।[3] अरस्तू की दृष्टि में कला राष्ट्र के उच्चतर जीवन का अविभाज्य अंग है। यह अपूर्व आस्वाद प्रदान करती है, किन्तु इस आस्वाद की स्थिति उच्चतर, नैतिक तथा नागरिक उद्देश्यों की पूर्ति के अभाव में संभव नहीं है।[4] इस प्रकार अरस्तू ने काव्यास्वाद के परिवृत्त में सुन्दर के साथ शिव का अनायास ही समायोग कर दिया है।

निष्कर्षतः अरस्तू के काव्यास्वाद-विषयक विवेचन का सारांश इस प्रकार है—

१. अरस्तू काव्य को मूल सत्य के अनुरूप सृजनशील प्रतिभा का परिणाम तथा उसका लक्ष्य विशिष्ट प्रकार का विवेक-सम्मत आनन्द प्रदान करना मानते हैं।

२. उनके अनुसार कलास्वाद (काव्यास्वाद) अभिनव ज्ञान तथा नए अनुभवों की उपलब्धि का आनन्द है।

३. यह आस्वाद वस्तुतः कल्पनात्मक प्रत्यभिज्ञान से निष्पन्न प्रमाता का आत्मास्वाद है।

४. साथ ही यह आस्वाद काव्य-कृति के अभिव्यंजना-शिल्प की रमणीयता से उद्भूत प्रमाता का अन्तश्चमत्कार भी है।

५. काव्यास्वाद की प्रकृति मूलतः भावनात्मक है, बौद्धिक नहीं।

---

and become an element of the highest happiness to an audience that is capable of appreciating it.'

—Aristotle : *Politics,* V (VIII) 7. 1342 a 18-28.

१. Aristotle : *Ethics* Nic. III.4. 1113 a 33

२. '. . .if the more refined art is the higher, and the more refined in every case is that which appeals to *the better sort of audience.*'

—Aristotle's *Poetics* (Text, Edited by S. H. Butcher), Fourth Edition, XXVI, p. 107.

३. 'The Beautiful is that good which is pleasant because it is good.'

—Aristotle's *Rhetoric* 1366.

४. देखिए—Courthope, *Life in Poetry,* p. 209.

त्रासदी के विवेचन-क्रम में अरस्तू ने अत्यत निर्भ्रान्त एवं प्रबल शब्दों में स्थापित किया है कि काव्यास्वाद अनिवार्यतः एक आनन्दपूर्ण अनुभूति है। कामदी आदि सुखान्तक काव्य-रूपों से तो स्पष्ट ही आनन्द की प्राप्ति होती है, किन्तु काव्य के अधिक गंभीर रूप त्रासदी में करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा (इन तथा इनके समान अन्य कटु-दुःखद) मनोविकारों के उचित विरेचन[१] से विशिष्ट प्रकार के आनन्द[२] की सृष्टि होती है। अतएव अरस्तू के अनुसार काव्यास्वाद सुख-दुःखात्मक अनुभूति न होकर एकान्ततः आनन्दमयी अनुभूति है। विरेचन-जन्य होने के कारण काव्य का यह आनन्द अभावात्मक है, किन्तु अभावात्मक होने पर भी नैतिक सन्तुलन के लिए उपयोगी है। यह प्रमाता का सामाजिक पक्ष है जो व्यक्ति के मानसिक सन्तुलन और स्वास्थ्य पर आधारित है।

अरस्तू ने उपयोगी कलाओं तथा ललित कलाओं के तात्त्विक भेद को स्वीकार करते हुए उपयोगी कलाओं का उद्देश्य भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति और जीवन के नैतिक एवं बौद्धिक साधनों का संग्रह तथा उच्चस्तरीय ललित कलाओं का उद्देश्य विशिष्ट प्रकार का विवेक-सम्मत आनन्द[३] माना है। ललित कलाओं में भी काव्य को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हुए उसकी विभिन्न विधाओं में भी उन्होंने निश्चित कोटि-क्रम स्थापित किया है—उदाहरण के रूप में कामदी[४] को निम्नतर काव्य-रूप और 'समय व्यतीत करने का साधन' (पास टाइम)[६] मानते हुए उनके आस्वाद को हीनतर कोटि का आनन्द-मनोरंजन मात्र माना है।

कलास्वाद (काव्यास्वाद)-प्रक्रिया के विवेचन के संदर्भ में अरस्तू ने एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत किया है। उनके अनुसार काव्यास्वाद का स्वरूप विभिन्न प्रेक्षकों की काव्या-स्वादन की क्षमता पर निर्भर करता है। वह यह स्वीकार करते हैं कि काव्यास्वादन की क्षमता का यह भेद विभिन्न प्रेक्षक-वर्गों के अतिरिक्त किसी एक वर्ग-विशेष के भी विभिन्न व्यक्तियों में उनके निजी संस्कारों, शैक्षिक एवं अन्य योग्यताओं तथा भावन-सामर्थ्य के अनुरूप स्पष्टतः परिलक्षित होता है।[५] किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अरस्तू प्रत्येक प्रेक्षक के नितान्त आत्मपरक

---

१. '. . . . through pity and fear effecting the proper purgation of these emotions' —S. H. Butcher, Aristotle's *Poetics* (Text), VI, p. 23.

२. '. . . the pleasure which the poet should afford is that which comes from pity and fear through imitation . . .'
—S. H. Butcher, Aristotle's *Poetics* (Text), XIV, p. 49.

३. Aristotle : *Metaphysics*, i 1.981 b 17.

४. 'Comedy is, as we have said, an imitation of characters of a lower type . . . the Ludicrous being merely a subdivision of the ugly.'
—*Poetics* (Text Edited by S. H. Butcher) Fourth Edition, V. p. 21.

५. Aristotle : *Politics*, V. (VIII) 5. 1339 b 25.

६. क 'Music, apart from its other functions, may serve as an amusement for children, it is a toy which takes the place of infant's rattle.
—Aristotle : *Politics*, V (VIII)5. 1339 b 13-17.

ख '. . . or it (music) may afford a noble and rational enjoyment

आनन्द की स्वतंत्र एवं समाज-निरपेक्ष सत्ता मानते हैं। उनके अनुसार काव्य का समुचित आस्वादन एक शिक्षित, सुसंस्कृत-सुरुचि-सम्पन्न व्यक्ति ही कर सकता है; इस प्रकार की उच्चकोटि की अनुभावन-सामर्थ्य से युक्त सुसंस्कृत प्रेक्षकों की अनेक व्यष्टियाँ एक साथ एक ही वर्ग में विद्यमान हो सकती हैं। इन व्यष्टियों से विनिर्मित उच्चस्तरीय समष्टि रूप प्रेक्षक-समुदाय का कलास्वाद ही अरस्तू के अनुसार किसी भी कला के आस्वाद का एक सर्वसामान्य मानदण्ड बन जाता है।[१] परिष्कृत और निम्न रुचि वाले प्रेक्षक-वर्गों में उन्होंने सदा ही भेद किया है।[२] इस प्रकार अरस्तू ने वैयक्तिकता के मध्य निर्वैयक्तिकता की सिद्धि का प्रयत्न किया है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वे विभिन्न ललित कलाओं एवं काव्य-कला के विभिन्न रूपों से प्राप्त होने वाले आस्वाद तथा विभिन्न प्रेक्षक-समुदायों की काव्यास्वादन-क्षमता के मध्य स्तर-भेद स्वीकार करते हैं।

अन्त में यह निर्देश करना भी आवश्यक है कि अरस्तू का काव्यानन्द नैतिकता से असम्पृक्त नहीं है। उन्होंने 'सुन्दर' की परिभाषा देते हुए अत्यंत प्रबल शब्दों में कहा है कि सुन्दर वस्तु का शिवत्व ही उसे सौंदर्य और आस्वादनीयता प्रदान करता है।[३] अरस्तू की दृष्टि में कला राष्ट्र के उच्चतर जीवन का अविभाज्य अंग है। यह अपूर्व आस्वाद प्रदान करती है, किन्तु इस आस्वाद की स्थिति उच्चतर, नैतिक तथा नागरिक उद्देश्यों की पूर्ति के अभाव में संभव नहीं है।[४] इस प्रकार अरस्तू ने काव्यास्वाद के परिवृत्त में सुन्दर के साथ शिव का अनायास ही समायोग कर दिया है।

निष्कर्षतः अरस्तू के काव्यास्वाद-विषयक विवेचन का सारांश इस प्रकार है—

१. अरस्तू काव्य को मूल सत्य के अनुरूप सृजनशील प्रतिभा का परिणाम तथा उसका लक्ष्य विशिष्ट प्रकार का विवेक-सम्मत आनन्द प्रदान करना मानते हैं।
२. उनके अनुसार कलास्वाद (काव्यास्वाद) अभिनव ज्ञान तथा नए अनुभवों की उपलब्धि का आनन्द है।
३. यह आस्वाद वस्तुतः कल्पनात्मक प्रत्यभिज्ञान से निष्पन्न प्रमाता का आत्मास्वाद है।
४. साथ ही यह आस्वाद काव्य-कृति के अभिव्यंजना-शिल्प की रमणीयता से उद्भूत प्रमाता का अन्तश्चमत्कार भी है।
५. काव्यास्वाद की प्रकृति मूलतः भावनात्मक है, बौद्धिक नहीं।

---

and become an element of the highest happiness to an audience that is capable of appreciating it.'

—Aristotle : *Politics*, V (VIII) 7. 1342 a 18-28.

१. Aristotle : *Ethics* Nic. III.4. 1113 a 33

२. '. . .if the more refined art is the higher, and the more refined in every case is that which appeals to *the better sort of audience.*'

—Aristotle's *Poetics* (Text, Edited by S. H. Butcher), Fourth Edition, XXVI, p. 107.

३. 'The Beautiful is that good which is pleasant because it is good.'

—Aristotle's *Rhetoric* 1366.

४. देखिए—Courthope, *Life in Poetry*, p. 209.

६. काव्यास्वाद सुख-दुःखात्मक अनुभूति न हो कर एकान्ततः आनन्दमयी अनुभूति है।
७. विभिन्न ललित कलाओं, काव्य-कला के विभिन्न रूपों से प्राप्त होने वाले आस्वाद तथा विभिन्न प्रेक्षक-समुदायों की काव्यास्वादन-क्षमता के मध्य निश्चय ही स्तर-भेद होता है।
८. नीति-निरपेक्ष काव्यानन्द की सत्ता अरस्तू को स्वीकार्य नहीं है।

(ग) अन्य यूनानी-रोमी आचार्यों की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप

अरस्तू के उपरान्त यूनानी-रोमी आचार्यों की परम्परा में लोंगिनुस या लॉन्जाइनस, सिसरो, होरेस तथा क्विंटीलियन आदि के नामों का उल्लेख किया जाता है। इनमें लॉन्जाइनस अपनी नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा, नवीन एवं मौलिक विषय-प्रतिपादन-शैली तथा युग-युगान्तर-व्यापी प्रभावशालिता और होरेस अपनी सहज प्रतिपादन-शैली, बोधगम्यता तथा विशिष्ट ऐतिहासिक महत्त्व के कारण विशेष स्थान के अधिकारी हैं। होरेस ने अनेक परवर्ती साहित्य-कारों—विशेषतः इटली के वीडा, फ्रांस के बुअलो, तथा इंगलैण्ड के पोप—को अत्यधिक प्रभावित किया। इसके अतिरिक्त ये दोनों आचार्य पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की दो विशिष्ट विचारधाराओं के प्रतिनिधि होने के नाते भी महत्त्वपूर्ण हैं। उपर्युक्त कारणों से प्रस्तुत प्रकरण में इन दो आचार्यों की काव्यास्वाद-विषयक अवधारणाओं का अनुशीलन ही उपयोगी होगा।

लॉन्जाइनस

काव्यास्वाद के सम्बन्ध में लॉन्जाइनस ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'ऑन द सब्लाइम' में निम्नांकित विचार प्रस्तुत किए हैं—

१. 'प्रतिभा-प्रसूत काव्य-कृति का लक्ष्य प्रमाता को आग्रहपूर्वक प्रभावित करना न होकर उसे (प्रमाता को) हर्षोन्मत्त अथवा आत्मविस्मृत करना होता है। इसका चमत्कार किसी भी दशा में हमें विस्मय-विमुग्ध कर देता है।...आग्रहपूर्ण प्रभाव से तो बच निकलना संभव है, किन्तु प्रतिभा के उत्कट प्रभुत्व से लोहा लेना दुष्कर है। यह (प्रतिभा) हमें अपने दुर्दमनीय आकर्षण-पाश में बांध लेती है।'[1]
२. 'मैं यह विश्वासपूर्वक उद्घोषित करता हूँ कि उद्दाम भावावेग की समुचित अभिव्यक्ति से अधिक औदात्त्य का संवर्द्धक तत्त्व कोई और नहीं है। यह उद्दाम भावावेग एक प्रकार के 'भव्य उन्माद' और दैवी प्रेरणा के रूप में फूट पड़ता है तथा हमारे कानों पर इसका प्रभाव देववाणी के समान होता है।'[2]

---

१. 'For a work of genius does not aim at persuation, but ecstasy—or lifting the reader out of himself. The wonder of it, wherever and whenever it appears, startles us; . . . *for persuation depends mainly on ourselves,* but there is no fighting against the Sovereignty of genius. It imposes its irresistible will upon us all.'
—Longinus : *De Sublimitate*, 1, 3-4.

२. 'For I would confidently pronounce that nothing is so conducive to

३. 'एक भव्य साहित्यिक अनुच्छेद प्रमाता की तर्क-बुद्धि का परितोष न कर उसे व्यक्तिगत सीमा-बंधनों से मुक्त कर देता है। (काव्य में) जो कुछ प्रशंसनीय होता है, वह सदैव हमारी निर्णायिका बुद्धि को संकरित तथा मात्र तर्क-संगत अथवा रुचिकर को आच्छादित कर लेता है।'[1]

४. 'हमारे लिए यह अनुभव करना स्वाभाविक ही है कि सच्चे औदात्य से हमारी आत्माएँ ऊपर उठ जाती हैं तथा एक प्रकार के अपार उल्लास का अनुभव करती हुई हर्ष और गर्व से इस प्रकार परिपूर्ण हो उठती हैं कि हमें लगता है कि जिन विचारों को हमने पढ़ा है उनका सृजन जैसे स्वयं हमने ही किया हो।'[2]

५. 'जो (रचना) अपनी ओर हमारा ध्यान सर्वाधिक आकृष्ट करे, हमारी चेतना पर जिसका प्रभाव अत्यंत प्रबल और दुर्निवार हो, और जो हमारी स्मृति को इतनी दृढ़ता से बाँध ले कि उसका विस्मरण संभव न हो, (वह रचना महान् होती है)।'[3]

६. 'सामान्यतः औदात्त्य का सौंदर्य और सत्य उन साहित्यिक अनुच्छेदों में माना जा सकता है जो सभी प्रकार के पाठकों के लिए सदैव आह्लादकारी हों।'[4]

---

sublimity as an appropriate display of genuine passion, which bursts out with a kind of 'fine madness' and divine inspiration, and falls on our ears like the voice of a god.'

Longinus : *On the Sublime* (Essays in Classical Criticism—Longinus on the Sublime, Edited & introduced by T. A. Moxon), Everyman's Library Edition, 1953, p. 281.

१. 'A lofty passage does not convince the reason of the reader, but takes him out of himself. That which is admirable ever confounds our judgement, and eclipses that which is merely reasonable or agreeable.'
—वही, पृष्ठ २७२

२. 'It is natural to us to feel our souls lifted up by the true sublime and conceiving a sort of generous exultation to be filled with joy and pride, as though, we had ourselves originated the ideas which we read.'
—वही, पृष्ठ २७९

३. ' ... when it makes the utmost demand on the attention, when it forces itself upon us importunately, irresistably, when it takes so strong a hold on the memory that it cannot be forgotten.'
—Longinus : *De Sublimitate*, 7, 3.

४. 'In general we may consider the passages which always please, and please all readers, contain the beauty and truth of the sublime.'
—*De Sublimitate*, 7, 4.

६. काव्यास्वाद सुख-दुःखात्मक अनुभूति न हो कर एकान्ततः आनन्दमयी अनुभूति है।
७. विभिन्न ललित कलाओं, काव्य-कला के विभिन्न रूपों से प्राप्त होने वाले आस्वाद तथा विभिन्न प्रेक्षक-समुदायों की काव्यास्वादन-क्षमता के मध्य निश्चय ही स्तर-भेद होता है।
८. नीति-निरपेक्ष काव्यानन्द की सत्ता अरस्तू को स्वीकार्य नहीं है।

(ग) अन्य यूनानी-रोमी आचार्यों की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप

अरस्तू के उपरान्त यूनानी-रोमी आचार्यों की परम्परा में लोंगिनुस या लॉन्जाइनस, सिसरो, होरेस तथा क्विंटीलियन आदि के नामों का उल्लेख किया जाता है। इनमें लॉन्जाइनस अपनी नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा, नवीन एवं मौलिक विषय-प्रतिपादन-शैली तथा युग-युगान्तर-व्यापी प्रभावशालिता और होरेस अपनी सहज प्रतिपादन-शैली, बोधगम्यता तथा विशिष्ट ऐतिहासिक महत्त्व के कारण विशेष स्थान के अधिकारी हैं। होरेस ने अनेक परवर्ती साहित्यकारों—विशेषतः इटली के वीडा, फ्रांस के बुअलो, तथा इंगलैण्ड के पोप—को अत्यधिक प्रभावित किया। इसके अतिरिक्त ये दोनों आचार्य पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की दो विशिष्ट विचारधाराओं के प्रतिनिधि होने के नाते भी महत्त्वपूर्ण हैं। उपर्युक्त कारणों से प्रस्तुत प्रकरण में इन दो आचार्यों की काव्यास्वाद-विषयक अवधारणाओं का अनुशीलन ही उपयोगी होगा।

लॉन्जाइनस

काव्यास्वाद के सम्बन्ध में लॉन्जाइनस ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'ऑन द सब्लाइम' में निम्नांकित विचार प्रस्तुत किए हैं—

१. 'प्रतिभा-प्रसूत काव्य-कृति का लक्ष्य प्रमाता को आग्रहपूर्वक प्रभावित करना न होकर उसे (प्रमाता को) हर्षोन्मत्त अथवा आत्मविस्मृत करना होता है। इसका चमत्कार किसी भी दशा में हमें विस्मय-विमुग्ध कर देता है।...आग्रहपूर्ण प्रभाव से तो बच निकलना संभव है, किन्तु प्रतिभा के उत्कट प्रभुत्व से लोहा लेना दुष्कर है। यह (प्रतिभा) हमें अपने दुर्दमनीय आकर्षण-पाश में बांध लेती है।'[1]
२. 'मैं यह विश्वासपूर्वक उद्घोषित करता हूँ कि उद्दाम भावावेग की समुचित अभिव्यक्ति से अधिक औदात्त्य का संवर्द्धक तत्त्व कोई और नहीं है। यह उद्दाम भावावेग एक प्रकार के 'भव्य उन्माद' और दैवी प्रेरणा के रूप में फूट पड़ता है तथा हमारे कानों पर इसका प्रभाव देववाणी के समान होता है।'[2]

---

१. 'For a work of genius does not aim at persuation, but ecstasy—or lifting the reader out of himself. The wonder of it, wherever and whenever it appears, startles us; . . . for persuation depends mainly on ourselves, but there is no fighting against the Sovereignty of genius. It imposes its irresistible will upon us all.'
—Longinus : *De Sublimitate*, 1, 3-4.

२. 'For I would confidently pronounce that nothing is so conducive to

३. 'एक भव्य साहित्यिक अनुच्छेद प्रमाता की तर्क-बुद्धि का परितोष न कर उसे व्यक्तिगत सीमा-बंधनों से मुक्त कर देता है। (काव्य में) जो कुछ प्रशंसनीय होता है, वह सदैव हमारी निर्णायिका बुद्धि को संकरित तथा मात्र तर्क-संगत अथवा रुचिकर को आच्छादित कर लेता है।'[१]

४. 'हमारे लिए यह अनुभव करना स्वाभाविक ही है कि सच्चे औदात्य से हमारी आत्माएँ ऊपर उठ जाती हैं तथा एक प्रकार के अपार उल्लास का अनुभव करती हुई हर्ष और गर्व से इस प्रकार परिपूर्ण हो उठती हैं कि हमें लगता है कि जिन विचारों को हमने पढ़ा है उनका सृजन जैसे स्वयं हमने ही किया हो।'[२]

५. 'जो (रचना) अपनी ओर हमारा ध्यान सर्वाधिक आकृष्ट करे, हमारी चेतना पर जिसका प्रभाव अत्यंत प्रबल और दुर्निवार हो, और जो हमारी स्मृति को इतनी दृढ़ता से बाँध ले कि उसका विस्मरण संभव न हो, (वह रचना महान् होती है)।'[३]

६. 'सामान्यतः औदात्य का सौंदर्य और सत्य उन साहित्यिक अनुच्छेदों में माना जा सकता है जो सभी प्रकार के पाठकों के लिए सदैव आह्लादकारी हों।'[४]

---

sublimity as an appropriate display of genuine passion, which bursts out with a kind of 'fine madness' and divine inspiration, and falls on our ears like the voice of a god.'

Longinus : *On the Sublime* (Essays in Classical Criticism—Longinus on the Sublime, Edited & introduced by T. A. Moxon), Everyman's Library Edition, 1953, p. 281.

१. 'A lofty passage does not convince the reason of the reader, but takes him out of himself. That which is admirable ever confounds our judgement, and eclipses that which is merely reasonable or agreeable.'
—वही, पृष्ठ २७२

२. 'It is natural to us to feel our souls lifted up by the true sublime and conceiving a sort of generous exultation to be filled with joy and pride, as though, we had ourselves originated the ideas which we read.'
—वही, पृष्ठ २७९

३. '... when it makes the utmost demand on the attention, when it forces itself upon us importunately, irresistably, when it takes so strong a hold on the memory that it cannot be forgotten.'
—Longinus : *De Sublimitate*, 7, 3.

४. 'In general we may consider the passages which always please, and please all readers, contain the beauty and truth of the sublime.'
—*De Sublimitate*, 7, 4.

लॉन्जाइनस के ग्रन्थ के उपर्युक्त उद्धरणों से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं :

१. प्रमाता की आत्मविस्मृत तथा विस्मय-विमुग्ध मनःस्थिति में अनुभूयमान् परम आनन्दमयी अनुभूति ही काव्यास्वाद है।
२. काव्यास्वाद दैवी प्रेरणा से उद्भूत अलौकिक आनन्दानुभूति के समकक्ष है।[1]
३. बौद्धिक, ऐन्द्रिय आदि सभी प्रकार के लौकिक आनन्द[2] तथा वैयक्तिक मनोरागों से सर्वथा विनिर्मुक्त[3] चित्त की विशद अवस्था में आस्वाद्यमान् आनन्द ही काव्यास्वाद है।
४. उदात्त काव्य का अत्यंत प्रबल और दुर्दमनीय प्रभाव प्रमाता की चेतना पर पूर्णतया छा जाता है; चेतना की इस अभिभूत अवस्था में वह (प्रमाता) जिस आनन्दमयी अनुभूति की चर्वणा करता है, वही काव्यास्वाद है।
५. काव्यानुभूति की स्थिति में प्रमाता की ऊर्ध्वमुखी चेतना अखण्ड उल्लास से परिपूर्ण होकर कवि के संवेद्य से तदाकार हो जाती है।[4]
६. काव्यास्वाद एक सार्वभौमिक और सार्वकालिक आस्वाद है।
७. काव्य में क्षुद्र भावों (घृणा आदि) से आनन्द की प्राप्ति संभव नहीं है।

संक्षेप में लॉन्जाइनस के मतानुसार सभी प्रकार के ऐन्द्रिय-बौद्धिक लौकिक आस्वादों से भिन्न, वैयक्तिक मनोरागों से मुक्त, प्रमाता की आत्म-विस्मृत, विस्मय-विमुग्ध, विशद तथा काव्य के उत्कट प्रभाव से पूर्णतया अभिभूत मनःस्थिति में आस्वाद्यमान् दैवी प्रेरणाजन्य अलौकिक आनन्द के समकक्ष आनन्द ही काव्यास्वाद है।

होरेस

होरेस ने अपने ग्रंथ 'काव्य-कला' (आर्स पोएतिका[5]) में मुख्यतया औचित्य के महत्व, काव्य-वस्तु, नाटक, काव्य-प्रयोजन तथा काव्य-हेतु आदि विषयों पर असम्बद्ध और विशृंखल

---

१. तुलना के लिए देखिए भारतीय काव्यशास्त्र में निरूपित रसानुभूति का स्वरूप—
'. . . ब्रह्मास्वाद सहोदरः।'—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, ३, २, ३।

२. तुलनार्थ देखिए—(क) . . . 'लोकोत्तरचमत्कारप्राणः . . . ''
—वहीं।
(ख) 'तेनालौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः लौकिकस्वसंवेदन विलक्षण एव।
—हिन्दी अभिनवभारती, आचार्य विश्वेश्वर, पृष्ठ ४८५।

३. तुलनार्थ देखिए—'. . . निविड़निजमोहसंकटतानिवारणकारिणा . . .
—वही, पृष्ठ ४६४ (भट्टनायक का मत)।

४. तुलनार्थ देखिए—'कविर्हि सामाजिकतुल्य एव। . . . '
—वही पृष्ठ ५१५।

५. इस ग्रंथ का मूल रोमी शीर्षक 'एपिसोला एॅड पीज़ोनिज़' (*Epistola Ad Pisones*) है, जिसका अंग्रेज़ी रूपान्तर *Epistle to the Pisos* है। यह होरेस-लिखित काव्य-पत्रों में अन्तिम माना गया है।

शैली में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। इस पुस्तक में काव्यानुभूति या कलानुभूति के विषय में उनका कोई स्पष्ट अभिमत उपलब्ध नहीं होता फिर, भी कुछ ऐसे बिखरे हुए सूत्र-संकेत अवश्य ही विद्यमान हैं जिनके आधार पर होरेस की काव्यास्वाद-विषयक मान्यता के आकलन का प्रयास किया जा सकता है। वे इस प्रकार हैं—

१. 'कवि का उद्देश्य या तो उपयोगिता होता है या आह्लाद।...जो कवि उपयोगी और मधुर का संश्लेषण करता है वही सफल होता है, क्योंकि वह अपने पाठक को आह्लादित करता है और शिक्षित भी।'[1]

२. 'कविताओं का सुन्दर होना ही पर्याप्त नहीं है, वे आकर्षक भी होनी चाहिएं—उनमें ऐसी शक्ति होनी चाहिए जो श्रोता के मन को जिधर चाहे खींच ले। मानव-मुख मुस्कराहट का उत्तर मुस्कराहट से देता है; अश्रुओं से उसके नेत्रों में अश्रुओं का उद्रेक होता है।'[2]

३. '...सामाजिकों के कोलाहल को शान्त करने की उसमें (कामदी और भव्य त्रासदी में) शक्ति है...।'[3]

४. 'कभी-कभी कोई नाट्यकृति साधारण तत्त्वों के कुशल आयोजन और सुष्ठु चरित्र-निरूपण के द्वारा...सामाजिकों को अधिक आह्लादित करती है और उनकी चित्तवृत्तियों को रमा लेती है।'[4]

उपर्युक्त उद्धरणों के विश्लेषण द्वारा निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं :

१. काव्य का उद्देश्य प्रमाता को आनन्द प्रदान करने के साथ ही शिक्षित करना भी है। कवि अपने कृतित्व में मधुर तत्त्वों के समावेश द्वारा प्रमाता को आस्वादमयी आनन्दानुभूति प्रदान करता है।

२. कवि अपनी अद्‌भुत प्रभाव-सामर्थ्य द्वारा प्रमाता को मंत्रमुग्ध-सा कर लेता है और प्रमाता की चेतना कवि की अनुभूति से तदाकार होकर आनन्द की विलक्षण स्थिति में लीन हो जाती है। आनन्द की यह विलक्षण स्थिति ही काव्यास्वाद है।

३. सुखात्मक अथवा दुःखात्मक किसी भी प्रकार की भावनाओं को व्यक्त करने वाला साहित्य प्रमाता की चित्तवृत्ति को वहिर्जगत् की सामान्य यथातथ्यता से विमुख कर अपने सम्मोहनकारी प्रभाव में एकाग्र कर उसे अनुपम आनन्द प्रदान करता है।

४. रमणीय शिल्प-विधान और कुशल वस्तु-संयोजन के वैचित्र्य से उद्‌भूत प्रमाता का अंतश्चमत्कार भी काव्यास्वाद है।

होरेस की काव्यास्वाद-विषयक उपर्युक्त मान्यताओं का समाहार करते हुए कहा जा सकता है कि कवि सुखात्मक अथवा दुःखात्मक—किसी भी प्रकार की काव्य-रचना द्वारा उसमें मधुर तत्त्वों के समावेश तथा रमणीय शिल्प-विधान एवं कुशल वस्तु-संयोजन से एक ऐसे अद्‌भुत सम्मोहनकारी प्रभाव की सृष्टि करता है कि प्रमाता की चेतना वहिर्जगत् की यथातथ्यता से

---

१. होरेस : 'काव्यकला', प्रधान सम्पादक—डॉ० नगेन्द्र, अनुवादक—महेन्द्र चतुर्वेदी, पृष्ठ १७-१८।
२. वही, पृष्ठ ६।
३. वही, पृष्ठ ५।
४. वही, पृष्ठ १६।

अहितकर बनाता है।[१] सिडनी ने प्रकारान्तर से यह सिद्ध कर दिया है कि 'सुन्दर' से ही 'शिव' की सिद्धि होती है, 'शिव' से 'सुन्दर' की नहीं। प्रसिद्ध आलोचक स्कॉट जेम्स ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि सिडनी ने काव्य-प्रयोजन की चर्चा में 'आनन्दप्रद शिक्षा प्रदान करने' की अपेक्षा 'आनन्द' पर अधिक बल दिया है।[२]

काव्य को एक ओर 'नैतिक' तथा दूसरी ओर 'परम आह्लादपूर्ण वस्तु' बतलाकर सिडनी ने अपने काव्य-चिन्तन में कोई विरोधाभास उपस्थित नहीं किया है। नैतिकता से रहित आनन्द[३] को वे आनन्द न मानकर, अधिक से अधिक, उसे निम्न प्रकार के मनोरंजन के रूप में ही स्वीकार करते हैं। उन्होंने इस मिथ्या विचार का खंडन किया है कि हास्य के अभाव में आनन्द संभव नहीं है तथा ऐसे लेखकों का तीव्र विरोध किया है जो ऐसी पापपूर्ण वस्तुओं में भी हँसी उत्पन्न कर देते हैं, जिनसे हँसी के स्थान पर घृणा ही अधिक उपजती है।[४] इस प्रकार सिडनी के मत से काव्यानन्द एक गंभीर आनन्द है।

सिडनी काव्यानन्द को आध्यात्मिक अनुभूति के रूप में भी स्वीकार करते हैं। ऐन्द्रिय लालसाओं को प्रश्रय देने वाले अपने युग के छिछले काव्य की भर्त्सना करते हुए सिडनी ने कहा

---

१. 'Nay, truly, though I yield that poesy may not only be abused, but that by being abused, by the reason of his sweet charming force, it can do more hurt than any other army of words, yet shall it be so far from concluding that the abuse should give reproach to the abused, that contrariwise it is a good reason, that whatsoever, being abused, doth most harm, being rightly used—and upon the right use each thing receiveth his title—doth most good.'

—*Defence of Poesie*, Ed. A. S. Cook, p. 38.

२. 'While, like Horace, he (Sidney) still maintains that "delightful teaching is the end of poesy", he is already beginning to put more emphasis on "delight."

—R. A. Scott James : *The Making of Literature*, 1962. p. 119.

३. टिप्पणी : अपने निबन्ध में अनैतिक काव्य (को भी आनन्दप्रद मान कर) पर प्लेटोवादी आपत्ति की चर्चा करते हुए सिडनी ने कहा है : 'The phenomenon of immoral poetry ("amorous conceits") "lust", "vanity", "Scurrility" in poetry) means not....that poetry abuseth man's wit, but that man's wit abuseth poetry.'

—विलियम के० विमसॅट् तथा क्लिअण्थ ब्रुक्स की पुस्तक *Literary Criticism—A short History* के पृष्ठ १७० पर उद्धृत एवं उन्हीं द्वारा परिवर्द्धित सिडनी का मत।

४. '(Writers) who stir laughter in sinful things; which are rather execrable than ridiculous

—*Defence of Poesie* (Sidney) Ed. A. S. Cook, p. 13.

है कि वह ज्ञान की लगभग उच्चतम भूमि से गिरकर बच्चों की हँसी का पात्र बनकर रह गई है,[१] सच्ची कविता के विषय में सिडनी का मत इससे भिन्न है : उनके अनुसार काव्य अज्ञान का सर्वप्रथम प्रकाशदाता है। कविता एक ऐसी धात्री है कि जिसके दूध के सेवन से मनुष्य कठिन से कठिन ज्ञान को प्राप्त करने में समर्थ होता है।[२] उनके अनुसार काव्य मानव-मन तथा उसके चरित्र का उन्नयन करता है[३] तथा उसकी प्रेरणा ईश्वरीय होती है।[४] प्रमाता के मन पर काव्य के अलौकिक एवं दिव्य अनुभूति जगाने वाले प्रभाव तथा उसके स्थायी एवं अनिर्वचनीय सौन्दर्य की ऐसी सम्मोहिनी का उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है जिसे मनुष्य के मन की आँखें देखती रह जाती हैं।[५] कवि जैसे मनुष्य को ईश्वर के दर्शन करा देता है।[६] इस प्रकार सिडनी के अनुसार काव्यास्वाद एक अत्यन्त सम्मोहनकारी, दिव्य एवं अलौकिक आध्यात्मिक अनुभूति के समतुल्य आनन्दानुभूति है।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश इस प्रकार है :

१. काव्य का उद्देश्य प्रमाता को शिक्षापूर्ण आनन्द प्रदान करना है।
२. काव्यानुभूति सम्मोहनकारी होती है।
३. काव्यानुभूति एक आनन्दमयी अनुभूति है। काव्य के 'सुन्दर' से ही 'शिव' की सृष्टि होती है, 'शिव' से 'सुन्दर' की नहीं। अतः काव्यानुभूति का आनन्द नीति-पुष्ट सौन्दर्यानुभूति का आनन्द है।
४. काव्यास्वाद लौकिक क्रीड़ा आदि के ऐन्द्रिय आस्वाद से भिन्न दिव्य आध्यात्मिक अनुभूति के समतुल्य एक गंभीर आनन्दानुभूति है।

---

१. 'From almost the highest estimation of learning, it (the poetry) is fallen to be the laughing-stock of children.'
—*The Defence of Poesie* (Sidney) Ed. A. S. Cook, p. 16.

२. '(Poetry) hath been the first light given to ignorance, and first Nurse, whose milk by little and little enabled them to feed afterwards of tougher knowledges.'
—वही, पृष्ठ ११।

३. '(Poetry is) the formative moulder and enlarger of human mind and character.'
—वही, पृष्ठ १८।

४. द्रष्टव्य : डॉ० प्रतापनारायण टंडन : समीक्षा के मान और हिन्दी-समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ, प्रथम खण्ड, पृष्ठ १७९।

५, ६. "....he (the poet) maketh you as it were, see God coming in his Majesty; ... a heavenly poesy. Wherein almost he showeth himself a passionate lover of that unspeakable and everlasting beauty to be seen by the eyes of the mind."
—*Defence of Poesie'* (Sidney) Ed. A. S. Cook, p. 11.
—उपरिवत् पृष्ठ ११।

बॅन जोॅनसन्

महान् आलोचक और कवि बॅन जोनसन् (सन् १५७३ ई०-१६३७ ई०) ने भी प्राचीन यूनानी-रोमी आचार्यों से प्रभाव ग्रहण किया। उनके युग में आलोचना की स्पष्टतया तीन धाराएँ विद्यमान थीं: (१) आदर्शवादी धारा, जिसके प्रतिनिधि आलोचक फ़िलिप सिडनी थे, (२) काव्य का नितान्त शैल्पिक दृष्टि से मूल्यांकन करने वाली धारा; इसके प्रतिनिधि समीक्षक विलियम वॅब, पटनहॅम तथा डेनियर माने गए हैं, तथा (३) प्राचीन काव्यशास्त्रों के आधार पर काव्य-मूल्यों का विश्लेषण तथा उसके परिवेश में समकालीन कृतियों का समीक्षण प्रस्तुत करने वाली धारा। बॅन जोनसन् इसी धारा के प्रमुखतम आलोचक हैं।

इन्होंने भी काव्य के आनन्द तथा जीवन-परिष्कार—इन परम्परागत मूल्यों को स्वीकार किया है। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'डिस्कवरी' में काव्य और चित्रकला के पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना करते हुए उन्होंने काव्य को श्रेष्ठतर घोषित किया तथा इन दोनों का लक्ष्य कल्याण और आनन्द बतलाया। इसके साथ ही उन्होंने निम्नकोटि के मनोरंजन से बचे रहने की आवश्यकता पर भी बल दिया है।[1] एक अन्य स्थल पर काव्योद्देश्य का निर्वचन उन्होंने इन शब्दों में किया है: 'यदि अरस्तू का मान्यता पर विश्वास किया जाए तो काव्य का अध्ययन हमें सुचारु और प्रसन्न जीवन व्यतीत करने का सुनिश्चित मार्ग दिखलाता है।'[2] संक्षेप में बॅन् जोनसन ने काव्य के उद्देश्य में आनन्दित करने के साथ जीवन-परिष्कार और कल्याण की शिक्षा देने को भी सम्मिलित किया है तथा यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उनके अनुसार आनन्द का अर्थ 'परिष्कृत आनन्द' है।

इस 'परिष्कृत' काव्यानन्द के स्वरूप की व्याख्या उन्होंने दो तीन स्थलों पर इन शब्दों में की है:

१. 'कविता कला की रानी है। इसका मूल उद्गम स्वर्ग है।.. '.. वह मनोमुग्धकारी आह्लाद तथा अनुपम माधुर्य के साथ हमें कर्म में प्रवृत्त करती है।'[3]

---

१. 'Yet of the two (poetry and picture) the pen (poetry) is more noble than the pencil (painting) .... They both behold pleasure and profit as their common object; but should abstain from all base pleasures.'

—Ben Jonson : *Discoveries* (Poesis et Pictura), quoted from the collection *'Loci Critici'* by George Saintsbury, p. 114.

२. 'The study of it (poetry), if we trust Aristotle, offers to mankind a certain rule and pattern of living well and happily.'

—पृष्ठ १२४

३. 'Poesy is .... the queen of arts, 'artium regina' which had her original from heaven.'

—वही पृष्ठ १२४।

२. कविता की वाणी मर्त्य वाणी (सामान्य लौकिक वाणी) से उच्चतर होती है। वह भावक को अपने साथ ऊपर उड़ा ले चलती है।"[1]
३. '(कवि) मधुमक्खियों की भाँति चुने हुए सर्वश्रेष्ठ (भाव के) फूलों को लेकर उन्हें मधु में परिणत कर एक अखंड आनन्दमय आस्वाद का रूप प्रदान कर देता है।'[2]

उपर्युक्त उद्धरणों के प्रकाश में बैन् जोनसन् के अभिमत का सारांश इस प्रकार है:

१. काव्य प्रमाता को उत्कृष्ट जीवन-पद्धति के निर्देशन के साथ ही उसे एक प्रकार का परिष्कृत आनन्द प्रदान करता है।
२. यह आनन्दमयी काव्यानुभूति मनोमुग्धकारी तथा परम मधुर होती है। दूसरे शब्दों, में काव्यास्वाद मधुर एवं सम्मोहनकारी आनन्दानुभूति है।
३. काव्यास्वादन की स्थिति में प्रमाता की चेतना अलौकिक आनन्द की उच्च भूमि में लीन हो जाती है।

देकार्त्त

फ्रान्सीसी सौन्दर्यशास्त्री देकार्त्ते (सन् १५९६ ई०-१६५० ई०) आध्यात्मिक प्रकृति तथा आस्तिक-बुद्धि-सम्पन्न एवं भावप्रवण व्यक्ति होने पर भी पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के इतिहास में कठोर बुद्धिवादी तार्किक एवं दार्शनिक रूप में विख्यात रहे हैं। इसका कारण कदाचित् यही रहा है कि वे अपने सम्पूर्ण चिन्तन-क्रम में हृदय और बुद्धि को परस्पर-विरोधी तत्त्व न मानकर उनमें सदा ही एक अविच्छिन्न सम्बन्ध मानते रहे हैं।[3] उनका समस्त सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचन, विशेष रूप से काव्यानुभूति (सौन्दर्यानुभूति) का स्वरूप-विश्लेषण, उनकी इसी मान्यता से अनुप्राणित है।

अपने ग्रंथ 'दि फ़िलॉसोफ़िकल वर्क्स ऑव देकार्त्ते' के 'दि सर्च आफ़्टर ट्रुथ' शीर्षक प्रकरण में देकार्त्ते कलानुभूति पर पृथक् रूप से विचार करने वाले थे, किन्तु दुर्भाग्य से वह प्रसंग अधूरा ही रह गया। देकार्त्ते ने भाव, मनोवेग, आत्मा, मन, बुद्धि आदि अन्य विषयों पर जो विचार अन्यत्र व्यक्त किए हैं, उनके आधार पर उनके काव्यास्वाद-विषयक अभिमत का सन्धान सहज ही किया जा सकता है।

देकार्त्ते ने कविता के कोमल एवं सम्मोहनकारी उत्कट आनन्द को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है।[4] इस काव्यानन्द की प्रतीति की प्रक्रिया अथवा काव्यानुभूति के स्वरूप

---

१. 'It (poetry) utters somewhat above a mortal mouth. Then it gets aloft and flies away with his rider.'

—Ben Jonson : *Discoveries* (Poesis at Pictura), quoted from the collection *Loci Critici* by George Saintsbury, p. 125.

२. '... to draw forth out of the best and choicest flowers, with the bee, and turn all into honey, work it into one relish and savour.'

—वही, पृष्ठ १२६

३. *The Philosophical Works of Descartes* : Translated by Elizabeths Haldane, Vol. I, p. 346.

४. वही, पृष्ठ ८०-८६।

का स्वतंत्र विश्लेषण तो उन्होंने अवश्य ही नहीं किया है, किन्तु विभिन्न सन्दर्भों में व्यक्त उनके मन्तव्यों के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे 'आवेगयुक्त-बौद्धिक आनन्दानुभूति' को ही काव्यास्वाद मानते थे। उनकी इस मान्यता को समझने के लिए उनकी आनन्द (विशेषतः बौद्धिक आनन्द) एवं आवेग-सम्बन्धी अवधारणाओं का परिज्ञान आवश्यक है।

देकार्त्ते ने मनुष्य की चिन्तन शक्ति[1] को दो वर्गों में विभक्त किया है: (क) ज्ञान-शक्ति अथवा बुद्धि-तत्त्व, (ख) इच्छा-शक्ति। ज्ञान-शक्ति विशुद्ध आध्यात्मिक शक्ति है।[2] यह शक्ति नवीन विचार एवं बिम्बों का निर्माण करने के अतिरिक्त बाह्य जगत की घटनाओं के प्रभाव के अवधारण, नवीन कल्पनाएँ करने तथा स्मृति में अवशिष्ट तत्त्वों के पोषण का कार्य भी करती है। इच्छा एक स्वतन्त्र-निरपेक्ष शक्ति है, यह परस्पर विरोधी तथा सम्भव-असम्भव किसी भी कार्य से सम्बद्ध हो सकती है।[3] काव्य-सृजन की प्रक्रिया में प्रथम वर्ग के अन्तर्गत विवेचित प्रभाव-अवधारणा, नवीन विचारों एवं बिम्बों का निर्माण तथा नूतन कल्पना-शक्ति का विशेष महत्त्व है। देकार्त्ते ने मनुष्य की दो प्राथमिक प्रवृत्तियों—आवेग और क्रिया को उपर्युक्त 'ज्ञान-शक्ति' और 'इच्छा-शक्ति' के आश्रित माना है। उनके अनुसार आत्मा का सर्वप्रमुख कार्य विचारों की उद्भावना है। जब ये विचार 'ज्ञान-शक्ति' से अनुशासित होते हैं तो वे आवेग का रूप धारण करते हैं। इच्छा-शक्ति द्वारा परिचालित होने पर वे ही 'क्रिया' में परिणत हो जाते हैं।[4] साहित्यिक कृति के कलात्मक शब्द भी प्रमाता के चित्त में सुख-दुःखात्मक आवेगों की सृष्टि करते हैं।[5] देकार्त्ते की दृष्टि में किसी कलाकृति के भावन से उद्दीप्त इन्हीं आवेगों की अनुभूति के साथ ही जिस विशिष्ट बौद्धिक आनन्द की अनुभूति होती है, वही काव्यास्वाद है।

देकार्त्ते के काव्यास्वाद-विवेचन के क्रम में इस बौद्धिक आनन्द पर भी थोड़ा विचार करना उपयुक्त होगा। देकार्त्ते ने आनन्द को तीन वर्गों में विभक्त किया है:—(क) ऐन्द्रिय, (ख) कल्पनात्मक, (ग) बौद्धिक। काव्यास्वाद का संबंध केवल बौद्धिक आनन्द से है। रंगमंच पर प्रस्तुत किसी कलाकृति के प्रेक्षण अथवा किसी साहित्यिक कृति के विचित्र एवं अद्भुत वर्णनों की भाषा के द्वारा विषय-भेद के अनुपात से भावक के अन्तर्जगत में विभिन्न आवेगों की उद्दीप्ति से एक विशिष्ट प्रकार के आनन्द की सृष्टि होती है—देकार्त्ते के अनुसार यह आनन्द ही बौद्धिक आनन्द है।[6] उनका कथन है कि ये आवेग किसी भी दृष्टि से हानिकर न होकर प्रमाता की चेतना को आनन्दोन्मत्त करते हैं।[7]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर देकार्त्ते के मन्तव्य का सारांश इस प्रकार है:

---

१. 'Thinking faculty.'

२. *The Philosophical Works of Descartes,* Translated by Elizabeths Haldane, Vol. I, p. 38-39.

३. वही, पृष्ठ ४३४।

४. प्रस्तुत संदर्भ में 'आवेग' तथा 'क्रिया' देकार्त्ते द्वारा प्रयुक्त क्रमशः 'Passion' तथा 'Action' के रूपान्तर में व्यवहृत हुए हैं।

५. *The Philosophical Works of Descartes,* Vol. I, p. 294.

६. वही, पृष्ठ ३९८।

७. वही, पृष्ठ ३७३।

१. काव्य-प्रभाव निश्चय ही सम्मोहनकारी एवं आनन्दपूर्ण है।
२. काव्यानन्द अनिवार्य रूप से एक बौद्धिक आस्वाद है।
३. रंगमंच पर अभिनीत नाटक के दृश्यों अथवा किसी साहित्यिक कृति के अद्‌भुत वर्णनों की माया से भावक के चित्त में विभिन्न आवेगों की उद्दीप्ति से उत्पन्न बौद्धिक आनन्द ही काव्यास्वाद है।

लीवनित्ज़

लीवनित्ज (सन् १६४६-१७१६) भी देकार्त्ते की भाँति ही एक आस्तिक बुद्धि वाले दार्शनिक थे। वे ईश्वर को इस सृष्टि का मूल नियन्ता और नियामक मानते थे। उनके अनुसार ईश्वर अपनी दिव्य शक्ति द्वारा इस जगत् में असंख्य चराचर आणविक इकाइयों[1] में परस्पर सामरस्य[2] की सिद्धि करता है। वही उनका मूल लक्ष्य है। लीवनित्ज़ का कलानुभूति-(काव्यास्वाद-)विषयक सिद्धान्त मूलतः उनके इसी 'सामरस्य-सिद्धान्त'[3] पर आधारित है।

लीवनित्ज का 'सामरस्य-सिद्धान्त' प्लॉटीनुस आदि द्वारा प्रवर्तित रहस्यवादी चिन्ताधारा से प्रभावित है। लीवनित्ज़ के अनुसार ईश्वर स्वयं सर्वप्रमुख इकाई है और वह अपनी शक्ति से असंख्य सांसारिक इकाइयों की सृष्टि करते हैं। ये सभी इकाइयाँ मूल ईश्वरीय इकाई की सीमाओं में आवर्त्तन-व्यावर्त्तन करती रहती हैं। ईश्वर की सार्वभौमिक अनन्तता में संसार की सभी जीवधारी इकाइयों तथा पदार्थों को प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। ये सभी इकाइयाँ परस्पर तथा मूल इकाई ईश्वर के साथ पृथक्-पृथक् सामरस्य स्थापित कर लेती हैं। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति की चेतना विश्व-व्यापी सार्वभौमिक विस्तार प्राप्त कर लेती है। लीवनित्ज़ के अनुसार काव्यास्वादन की चरम स्थिति में प्रमाता की चेतना भी अनन्त सार्वभौमिकता का स्पर्श कर लेती है।

लीवनित्ज़ की काव्यास्वाद-विषयक अवधारणा को और अधिक स्पष्ट रूप में समझने के लिए उनके द्वारा प्रतिपादित 'वस्तु-बोध' को जानना आवश्यक है। उन्होंने बोध के चार वर्ग माने हैं—

(१) अस्पष्ट और धूमिल बोध,[4] जिसमें व्यक्ति को स्वप्न-सदृश अस्पष्ट एवं खण्डित बिम्बों का आभास मात्र होता है।
(२) स्पष्ट, किन्तु उलझा हुआ बोध[5], जिसमें वस्तु और विषय का बोध तो स्पष्ट रूप से होता है, किन्तु उसका बौद्धिक विश्लेषण संभव नहीं होता। लीवनित्ज़ ने सौंदर्यानुभूति (काव्यास्वाद) का संबंध इसी बोध से स्थापित किया है।
(३) स्पष्ट बोधः[6], इसका वैज्ञानिक विश्लेषण पूर्णतया संभव होता है।

---

१. 'Monad' (एकवचन)।
२. 'Harmony'.
३. 'Theory of Harmony.'
४. 'Obscure and dark knowledge.'
५. 'Clear but confused knowledge.'
६. 'Distinct knowledge.'

(४) अन्तःप्रज्ञा का बोध[1], जिसमें विषयों का पूर्ण और अखण्ड ज्ञान होता है।

वस्तु-बोध स्तरों के वर्गीकरण की भाँति ही लीबनित्ज़ ने सौंदर्यानुभूति (कलानुभूति : काव्यास्वाद) के भी चार विभिन्न स्तर माने हैं, जो क्रमशः प्रमाता की चेतना को कलात्मक अनुभूति की चरम स्थिति तक पहुँचाते हैं :

(१) कलानुभूति की प्राथमिक स्थिति में प्रमाता की चेतना में कलाकृति के भावन-द्वारा कुछ ऐसे अरूप संवेदन उत्पन्न होते हैं, जिनका भाषा के माध्यम से विश्लेषण संभव नहीं होता। लीबनित्ज़ ने इसका संबंध उपरि-विवेचित बोध के द्वितीय वर्ग से स्थापित किया है।

(२) द्वितीय स्थिति में प्रमाता कलाकृति का बुद्धिसम्मत तथा उपयोगी एवं नैतिक संदेश ग्रहण करता है। इस स्थिति में काव्यास्वाद बौद्धिक अनुभूति से भिन्न नहीं होता।

(३) यह बौद्धिक अनुभूति तीसरी स्थिति में अन्तःप्रज्ञा के ज्ञान का रूप धारण कर लेती है। इस स्थिति में प्रमाता द्वारा प्राप्त बौद्धिक अनुभूति अन्तःप्रज्ञा की एक अखण्ड, पूर्ण एवं संश्लिष्ट अनुभूति में परिणत हो जाती है।

(४) चौथी और अन्तिम स्थिति में कला की प्रतीकात्मक प्रस्तुति के माध्यम से प्रमाता की चेतना सार्वभौमिक सामरस्य की स्थिति में लीन हो जाती है।[2] यह सामरस्य की अखण्ड अनुभूति ही लीबनित्ज़ के अनुसार काव्यास्वादन की पूर्ण और चरम स्थिति है।

संक्षेप में, लीबनित्ज़ के अनुसार कला की प्रतीकात्मक प्रस्तुति के माध्यम से प्रमाता की चेतना क्रमशः बौद्धिक एवं अन्तःप्रज्ञा की अनुभूति के विभिन्न स्तरों का स्पर्श करती हुई अन्ततः सार्वभौमिक सामरस्य की जिस अखण्ड अनुभूति में अवस्थित हो जाती है, वही काव्यास्वाद (सौंदर्यानुभूति) है।

(ङ) नव्यशास्त्रवादी आचार्यों तथा उनके समसामयिक सौन्दर्यशास्त्रियों की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के इतिहास में, यद्यपि, सत्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध को ही नव्य-शास्त्रवाद का समय माना जाता रहा है, तथापि अनेक आलोचक इसका प्रारंभ पुनर्जागरण काल के प्रारंभिक वर्षों के महान लेखक वीदा[3] की अमर कृति 'काव्यकला'[4] (सन् १५२७) से मानते हैं। अपने इस ग्रंथ में वीदा ने प्राचीन आचार्यों के प्रति आदर व्यक्त करते हुए साहित्य-रचना के लिए प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के व्यापक महत्त्व का प्रतिपादन किया था। परन्तु यह निश्चय ही सत्य है कि वीदा की मान्यताओं में नव्यशास्त्रवाद के बीज तो अवश्य थे, किन्तु उनमें या उनका अनुसरण करने वाले परवर्ती लेखकों में नव्यशास्त्रवाद का पल्लवन और विकास न

---

१. 'Intuitive knowledge'.

२. Gilbert & Kuhn : *A History of Aesthetics*, p. 227.

३. Marco Girolamo Vida.

४. *De Arte Poetica*.

हो पाया। यह कार्य वस्तुतः बोइलो, ड्राइडन, एडीसन और जॉन्सन आदि लेखकों द्वारा सम्पन्न हुआ। इस युग में सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान करने वाले लेखकों में लॉक तथा बर्क के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

बोइलो;

निकोलास बोइलो (सन् १६३६-१७११) फ्रांसीसी नव्यशास्त्रवाद के प्रवर्त्तक के रूप में विख्यात हैं। नव्यशास्त्रवाद की तीन प्रमुख विशेषताएं मानी गई हैं—(१) धर्म से प्रेरित काव्य की रचनात्मक प्रकृति की महत्त्व-प्रतिष्ठा, (२) प्राचीन साहित्यशास्त्रीय सिद्धान्तों को एकमात्र आदर्श के रूप में ग्रहण करना, (३) परम्परा के प्रति पूर्ण आस्था तथा प्रकृति और विवेक में अखण्ड विश्वास। बोइलो में ये सभी प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं।

बोइलो ने काव्य में सत्य की प्रेरणा,[१] नैतिकता, प्रकृति के चिरन्तन साहचर्य[२] तथा विवेकशीलता[३] पर बहुत अधिक बल दिया है। उन्होंने अपने ग्रंथ 'ल आर्त पोइतिके' में मुख्यतया फ्रांसीसी काव्य के इतिहास के साथ काव्य-रचना के नियमों का भी शास्त्रीय शैली में प्रतिपादन किया है। प्रमाता की रुचि, सौंदर्यानुभूति अथवा काव्यास्वाद के स्वरूप पर विशेष प्रकाश नहीं डाला, परन्तु फिर भी उनकी पुस्तक से ऐसे दो-तीन वाक्य अवश्य ही उद्धृत किये जा सकते हैं जिनके आधार पर उनकी काव्यास्वाद-विषयक मान्यता को समझा जा सकता है:

१. (क) '.....तुम जो कुछ लिखो उसमें सावधानी और कलात्मकता से भावों के उद्रेक का और हृदय को आकर्षित करने का ध्यान रखो।'[४]

(ख) 'पहले मन को आन्दोलित किया जाए और तब मनोरंजन।'[५]

२. 'वह (होमर) जिसे वस्तु का भी स्पर्श करता है उसे स्वर्ण बना देता है। उसके हाथ में पहुँचकर प्रत्येक वस्तु नया सौंदर्य ग्रहण कर लेती है। वह सदैव आनन्द प्रदान करता है... ...उसमें सर्वत्र एक आह्लाददायी ऊष्मा मिलती है।'[६]

---

१. Prof. G. E. Spingarn : *Literary Criticism in Renaissance*, p. 134-5.

२. (क) 'Let Nature then, be your only study.'
—*L'Art Poetique*, III. 359.
(जॉर्ज सेन्ट्सबरी द्वारा सम्पादित *Loci Critici* शीर्षक संकलन से उद्धृत, पृष्ठ १४०)

(ख) 'We must never separate ourselves from Nature.'
—*L'Art Poetique*, III. 414.
(उपर्युक्त संकलन से उद्धृत, पृष्ठ १४०)

३. 'Whatsoever subject we treat, be it pleasant or sublime, let Good sense always keep company with our rhymes. . . . Everything must tend towards Good sense.'
—*L'Art Poetique*, I. 27-45
(उपर्युक्त संकलन से उद्धृत, पृष्ठ १३९)

४. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, प्रधान सम्पादक : डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ ९१।

५. वही, पृष्ठ ९१-९२।

६. वही, पृष्ठ ९४।

उपर्युक्त उद्धरणों के प्रकाश में बोइलो की काव्यास्वाद-विषयक मान्यता का सारांश इस प्रकार है:

(१) काव्य-कला की रमणीयता प्रमाता के मनोभावों को उद्रिक्त कर उसके चित्त को चमत्कृत कर देती है।

(२) काव्य के प्रभाव से भावक का मन भावोद्वेलित होकर आनन्द प्राप्त करता है।

(३) प्रमाता के चित्त पर काव्य की प्रतिक्रिया सदैव आह्लादकारी होती है।

ड्राइडन

जॉन ड्राइडन (सन् १६३१-१७००) को अंग्रेजी नव्यशास्त्रवाद के प्रतिनिधि सैद्धान्तिक समीक्षक तथा अंग्रेजी के प्रथम व्यावहारिक आलोचक के रूप में मान्यता दी जाती रही है। इनके युग में नव्यशास्त्रवाद की इतालवी तथा फ्रांसीसी दो धाराएँ प्रवहमान थीं। इतालवी नव्यशास्त्रवाद प्राचीन शास्त्रीय मान्यताओं के प्रति आदर-भाव रखता हुआ भी नवीन विचारधाराओं के प्रति उदार था—उसमें परम्परा के प्रति तो सम्मान का भाव था, किन्तु रूढ़ियों के प्रति मोह नहीं था। इसके विपरीत फ़्रांसीसी नव्यशास्त्रवाद प्राचीन शास्त्रीयता तथा सैद्धान्तिक मतवादों की संकीर्णता से ग्रस्त था। ड्राइडन का दृष्टिकोण इनमें से प्रथम के अधिक समीप था। उन्होंने न केवल अरस्तू और होरेस के अतिरिक्त सॉफ़ोक्लीज़, यूरिपिडीज़, थियोक्रिटस तथा वर्जिल आदि प्राचीनों का अत्यंत सम्मानपूर्वक विधिवत् अध्ययन किया, प्रत्युत शेक्सपीयर, बॅन जोन्सन् तथा फ़्लेचर की कृतियों से भी वे लाभान्वित हुए। किन्तु उनकी दृष्टि कहीं भी एकांगी और रूढ़िग्रस्त नहीं रही। इसीलिए उन्होंने अरस्तू, होरेस तथा लॉन्जाइनस की भाँति काव्य का लक्ष्य समान रूप से शिक्षा और आनन्द न मानकर उसका प्राथमिक लक्ष्य प्रमाता को आह्लादित करना माना है। उनके विचार में शिक्षा का स्थान आनन्द की अपेक्षा गौण है।[1] आनन्द के प्रति उनका मोह इतना प्रबल था कि वे 'अपने युग को आह्लादित करने के लिए अपकीर्त्ति के मूल्य पर भी अपनी प्रतिभा का उपयोग प्रहसन आदि निम्नकोटि के साहित्य-रूपों के लिए भी करने को तत्पर थे।'[2]

ड्राइडन ने अनेक स्थलों पर काव्यास्वाद के स्वरूप-विश्लेपण का प्रयत्न किया है। उनके

---

१. '· · · delight is the chief, if not the only, end of poesy : instruction can be admitted but in the second place; · · ·'
—Dryden : Defence of the Essay.
(जॉर्ज सेंट्सबरी द्वारा सम्पादित *Loci Critici* शीर्षक संकलन, पृष्ठ १५३-४ से उद्धृत)।

२. 'For I confess my chief endevours are to delight the age in which I live. If the humour of this be for the low comedy, small accidents, and raillery, I will force my genius to obey it, though with more reputation I could write in verse.'
—Dryden : *Defence of the Essay*, (जॉर्ज सेंट्सबरी द्वारा सम्पादित *Loci Critici* शीर्षक संकलन, पृष्ठ १५५ से उद्धृत)।

मतानुसार कवि का कर्तव्य-कर्म प्रमाता के संवेगों को उद्दीप्त कर उसकी आत्मा को प्रभावित करना है।[1] यह प्रभाव निश्चय ही आनन्दपूर्ण होता है।

प्रमाता के चित्त में इस आनन्द की उद्भूति कवि की सौंदर्यमयी अभिव्यक्ति के भावन से होती है। ड्राइडन के अनुसार वस्तु के प्रत्येक रूप और आकार के यथातथ्य अंकन से उत्कृष्ट कलाकृति का जन्म नहीं होता—उसके लिए वस्तु के समग्र रूप में से केवल सुन्दरतम तत्त्वों का संचयन और नियोजन आवश्यक हैं। यह कार्य कलाकार की सर्जनात्मक कल्पना-शक्ति द्वारा ही संभव है।[2] कलाकार प्रकृति और जगत के कुरूप पक्षों को उपेक्षित करता हुआ उनके सुन्दर पक्षों को उद्घाटित कर कला में रमणीयता की सिद्धि करता है।[3] सौंदर्यावृत कला की रमणीयता से ही प्रमाता आनन्दपूर्ण काव्यास्वाद की प्रतीति करता है।

संक्षेप में, कवि की सर्जनात्मक-कल्पना-शक्ति के माध्यम से की गई सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति का भावन प्रमाता के संवेगों को उद्दीप्त तथा उसकी आत्मा को प्रभावित करता हुआ उसे जिस आह्लादमयी अनुभूति में निमग्न कर देता है ड्राइडन की दृष्टि में वही काव्यास्वाद है।

एडीसन

एडीसन[4] (सन् १६७२-१७१९) ने काव्यास्वाद के स्वरूप का व्याख्यान अपने 'कल्पनानंद' के प्रसिद्ध सिद्धान्त के अन्तर्गत किया है। इनके पूववर्ती सौन्दर्यशास्त्री लॉक का ग.हन प्रभ व के अन्तर्गत किया गया है। इन पर इनके पूववर्ती सौंदयशास्त्री लाक का गहन प्रभाव है। लॉक की भाँति ही इन्होंने ऐन्द्रिय प्रभाव की चर्चा करते समय कल्पनात्मक प्रक्रिया के 'ऐतिहासिक उद्गम' की ओर संकेत किया है। सौंदर्यानुभूति के कारणों में 'महान्'[5] तत्त्व की उद्भावना इनकी मौलिक देन है। एडीसन ऐन्द्रिय और बौद्धिक अनुभूतियों से भिन्न कल्पना के आनन्द को काव्यास्वाद मानते हैं।

एडीसन के सिद्धान्त को उसके उचित परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए उनकी कल्पनानन्द-

---

१. "It is true, that to imitate well is a poet's work; but to effect the soul, and excite the passions. and above all to move admiration (which is the delight of serious plays) a bare imitation will *not* serve."

—वही, पृष्ठ १५४ से उद्धृत।

२. '. . . it is fancy that gives the life-touches, and the secret graces to it . .'

—Dryden : *Defence of the Essay* (जॉर्ज सेंट्सबरी द्वारा सम्पादित '*Loci Critic*' शीर्षक संकलन के पृष्ठ १५६ से उद्धृत)

३. '. . . to take every lineament and feature is not to make an excellent piece; but to take so much only as will make a beautiful resemblance of the whole; and, with an ingenious flattery of nature, to heighten the beauties of some part, and hide the deformities of the rest.'

—वही, पृष्ठ १५४ से उद्धृत।

४. इनके सौंदर्यानुभति-विषयक विचार *Spectator* (No. 411-421) में संकलित हैं।

५. The Great.

विषयक अवधारणा का स्पष्ट ज्ञान आवश्यक है। उनकी मान्यता है कि प्रकृति और कला दोनों से ही कल्पना के आनन्द की उपलब्धि होती है। उनके अनुसार यह आनन्द मूलतः चाक्षुप पदार्थों से प्राप्त आनन्द है; यह दो प्रकार का है—(१) प्राथमिक आनन्द, जो सम्पूर्णतः दृश्यमात्र पदार्थों से उद्भूत होता है तथा (२) दूसरी प्रकार का आनन्द, जो चाक्षुप पदार्थों के प्रत्यक्ष दर्शन की अपेक्षा उनके स्मृति-प्रेरित मानस-विम्बों से उत्पन्न होता है।[१]

प्रकृति के साक्षात् चाक्षुप दर्शन से प्राप्त आनन्द तथा कलाकृति के भावन से प्राप्त आनन्द पृथक्-पृथक् कोटि के आनन्द हैं। कवि अथवा कलाकार प्रकृति के साक्षात् दर्शन से विम्व अथवा विचार-खण्डों को अपनी प्राथमिक कल्पना-शक्ति के कौशल से चारुतर एवं भव्यतर रूप प्रदान करता है। प्रमाता के मानस-पटल पर प्रकृति के साक्षात् दर्शन से जो विम्व उभरते हैं वे कालान्तर में उसकी स्मृति[२] के स्थायी अंग बन जाते हैं। कला में प्रस्तुत उनके सदृश चित्रण अथवा वर्णन के अनुभावन से प्रमाता की चेतना में सुप्त वे विम्व पुनर्जीवित[३] होकर मूल की अपेक्षा कहीं अधिक भव्य और रमणीय रूप ग्रहण कर लेते हैं और वह मन ही मन अपने स्मृति-शेष विगत विम्बों और कला-संसर्ग से व्युत्पन्न नवोदित विम्बों की तुलना करता है। इस तुलना से उसे जो आनन्द मिलता है, एडीसन के मतानुसार वही कलास्वाद (काव्यास्वाद) है।

एडीसन ने कल्पना के आनन्द के तीन स्रोतों की चर्चा की है—(१) महान्—काव्य में वर्णित महान् दृश्य प्रमाता द्वारा प्रकृति के साक्षात् चाक्षुप दर्शन से उत्पन्न सीमाबद्ध विशिष्ट दृश्यों की अपेक्षा अपरिसीम, अतः महान् होते हैं। इसीलिए इनकी कलात्मक प्रस्तुति से वह असीम आनन्द प्राप्त करता है। (२) अभिनव और अद्भुत—वस्तु जगत् से प्रेरित प्रमाता के सामान्य और निजी-विशिष्ट मानस-विम्बों की अपेक्षा कला-निबद्ध नवीन और अद्भुत विम्ब उसकी कल्पना को उद्बुद्ध कर आनन्द से परिपूर्ण कर देते हैं। (३) सुन्दर—इसी प्रकार वस्तु-जगत् की अपेक्षा काव्य-जगत् के बिम्बों का अधिक रमणीय और सुनियोजित-सुसज्जित संयोजन प्रमाता की कल्पना को सहज ही आकृष्ट कर उसे आनन्द प्रदान करता है।[४] इस प्रकार प्रमाता वस्तु-जगत् के प्रत्यक्ष

---

१. ". . . . .by the pleasures of the Imagination, I mean only such pleasures as arise originally from sight, and that I divide these pleasures into two kinds : my design being first of all to discourse of those primary pleasures of the imagination, which entirely proceed from such objects as are before our eyes; and in the next place to speak of those secondary pleasures of the imagination which flow the ideas of visible objects, when the objects are not actually before the eye, but are called up into our memories, or formed into agreeable visions of things that are either absent or fictitious.'

—Addison : *Spectator* No. 411 (The Pleasures of the Imagination) (जॉर्ज सेंट्सवरी द्वारा सम्पादित *Loci Critici* शीर्षक संकलन, पृष्ठ १९६ से उद्धृत)

२. *The works of Joseph Addison*; Ed. Henry G. Bohn, Vol. III, p. 394.

३. वही, पृष्ठ ४१५।

४. वही, पृष्ठ ४१२।

दर्शन से प्रेरित एवं स्मृति में अवशिष्ट मूल बिम्बों की अपेक्षा काव्य के माध्यम से प्रस्तुत किये गए महत्तर-भव्यतर, अभिनव-अद्भुत तथा सुन्दरतर-चारुतर बिम्बों के अनुभावन से अपनी कल्पना की उद्बुद्धि द्वारा काव्यास्वाद की प्रतीति करता है।

इस काव्यास्वाद की प्रकृति का स्पष्ट विवेचन करते हुए एडीसन ने उसे ऐन्द्रिय आनन्द की अपेक्षा सूक्ष्मतर तथा बौद्धिक आनन्द से अधिक स्पष्ट एवं मुखर तथा सरलता से अनुभूयमान, अतः उससे अपेक्षाकृत कम परिष्कृत आनंद माना है।[1]

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में एडीसन की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं का सारांश इस प्रकार है :

१. काव्यास्वाद एक आनन्दमयी अनुभूति है।
२. यह आनन्द प्रमाता की अपनी कल्पना का आनन्द है।
३. इस कल्पनानन्द की प्रतीति प्रमाता को वस्तु-जगत् के प्रत्यक्ष दर्शन से प्रेरित एवं स्मृति में अवशिष्ट मूल मानस-बिम्बों की अपेक्षा काव्य-निबद्ध महत्तर-भव्यतर, अभिनव-अद्भुत तथा चारुतर बिम्बों की तुलना एवं उनके अनुभावन से होती है।
४. काव्यास्वाद ऐन्द्रिय और बौद्धिक दोनों प्रकार के आनन्द से भिन्न अनुभूति है। वह प्रथम की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म तथा द्वितीय की अपेक्षा कम परिष्कृत कल्पना का आनन्द है।

लॉक

लॉक (सन् १६३२-१७०४) ने सौन्दर्यानुभूति को सुखद भ्रम की अनुभूति माना है। अंग्रेजी के सौन्दर्यशास्त्रियों में लॉक का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने 'मानव-बोध की समस्या' की ओर दार्शनिकों का ध्यान पहली बार आकृष्ट किया। आगे चलकर कदाचित् उनके तत्संबंधी विवेचन के आधार पर ही काण्ट का 'शुद्ध तर्क'-संबंधी सिद्धान्त पल्लवित हुआ।

लॉक के काव्यास्वाद-विषयक दर्शन की पूर्ण अवगति के लिए उनके मानव-विचार-संबंधी दृष्टिकोण को जानना आवश्यक है। उन्होंने बाह्य एवं आन्तरिक इन्द्रियों की प्रकल्पना की है। उनके मत में मनुष्य बाह्य इन्द्रियों के माध्यम से बहिर्जगत् से संबद्ध कुछ धारणाएँ अथवा बोध प्राप्त करता है। ये उसकी स्मृति में अवस्थित हो जाते हैं, तदनन्तर मनुष्य अपनी आन्तरिक इन्द्रियों की सहायता से उन धारणाओं एवं अवबोधों में तुलना द्वारा परस्पर साम्य एवं वैषम्य को खोजता हुआ, उनके आधार पर कुछ नवीन धारणाओं का निर्माण कर लेता है। बहिर्जगत् से बाह्य-इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त अवबोधों को लॉक ने 'संवेदन' तथा उनके आधार पर आन्तरिक इन्द्रियों की सहायता से उत्पन्न नवीन अवबोधों को 'प्रभाव-छवि' का अभिधान दिया है।[2] इन्द्रियों

---

१. 'The pleasures of Imaginations, taken in the full extent are not so gross as those of sense, nor so refined as those of the understanding. . . . they are more obvious, and more easy to be acquired.'
—*Spectator*, No. 411 : Addison, (The Pleasures of Imagination) जॉर्ज सेंट्सबरी द्वारा संपादित *Loci Critici* शीर्षक संकलन, पृष्ठ १९६ से उद्धृत

२. H. A. Prichard : *Kant's Theory of knowledge*, p. 106.

के माध्यम से प्राप्त ये संवेदन अथवा प्रभाव-छवियाँ लॉक के अनुसार दो प्रकार की हो सकती हैं—(१) सरल[1] और (२) मिश्र[2]। रंग, स्वाद, आकार, गति आदि के अवबोध बाह्य इन्द्रियों से अर्जित और तुलना, विवेचना, विश्लेषण, अवधारणा आदि के अवबोध आन्तरिक इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सरल अवबोध हैं तथा ऐसे ही अन्य अवबोधों के संयुक्त रूप 'मिश्र अवबोध' कहलाते हैं। लॉक ने 'सौंदर्य' को इन द्वितीय प्रकार के अवबोधों के अन्तर्गत रखा है। उन्होंने आस्वाद तथा सृजनशील प्रतिभा का विवेचन करते हुए बड़े ही सुन्दर ढंग से यह प्रतिपादित किया है कि आन्तरिक इन्द्रिय द्वारा सौंदर्य की अनुभूति सहृदय का आस्वाद है तथा कलात्मक सौंदर्य का सृजन कवि की सृजनशील प्रतिभा का कार्य है।[3]

लॉक ने सौंदर्य को अवास्तविक माना है। उनके अनुसार वस्तु-जगत् की वास्तविक स्थितियों तथा पदार्थों से संबद्ध बहिरिन्द्रिय द्वारा प्राप्त सरल अवबोध ही वास्तविक हो सकते हैं। मानसी सृष्टि होने पर भी सौंदर्य की मन से निरपेक्ष अथवा मन के भीतर कोई सत्ता नहीं होती।[4] अतः सौंदर्य अवास्तविक होता है।

इस अवास्तविक सौंदर्य के आधार पर ही लॉक ने काव्यास्वाद का स्वरूप-विश्लेपण किया है। कवि अपनी सृजनशील कल्पना-शक्ति[5] द्वारा काव्य-निबद्ध विषयों को मिथ्या किन्तु आकर्षक रूप-रंग प्रदान कर प्रमाता को उसके अनजाने में ही सत्य से दूर अवास्तविक सौंदर्य के सम्मोहक संसार में ले जाता है और वह (प्रमाता) एक सुखद भ्रम का आस्वादन करने लगता है। प्रमाता के सुखद भ्रम की यह आनन्दमयी अनुभूति ही काव्यास्वाद है।

संक्षेप में, कवि की कल्पनाशील सृजनात्मक प्रतिभा द्वारा सर्जित अवास्तविक कलात्मक सौंदर्य के भावन से प्रमाता द्वारा अनुभूत सुखद भ्रम ही लॉक की दृष्टि में काव्यास्वाद है।

बर्क

बर्क (सन् १७२९-१७९७) की सौंदर्यानुभूति-विषयक मान्यता लॉक और एडीसन से तत्वतः भिन्न है। लॉक की भाँति ये काव्यास्वाद को 'सुखद-भ्रम' न मानकर उसे एक वास्तविक अनुभूति मानते हैं तथा एडीसन की भाँति वे काव्यानन्द को एक प्रकार का कल्पनानन्द तो मानते हैं, किन्तु उनकी भाँति उसे केवल चाक्षुप पदार्थों के प्रत्यक्ष दर्शन से उद्भूत आनन्द तक ही सीमित नहीं करते, उनकी दृष्टि में काव्यानन्द का संवेदन-क्षेत्र कहीं अधिक व्यापक है।

बर्क ने कलास्वाद और कलात्मक अभिरुचि के स्वरूप का विश्लेपण विशेपतः काव्य के संदर्भ में ही किया है, क्योंकि उनकी दृष्टि में अन्य कलाओं की अपेक्षा काव्य का प्रभाव प्रमाता के चित्त पर कहीं अधिक गहन होता है।[6]

काव्यास्वाद के स्वरूप-विश्लेपण के क्रम में बर्क ने मन की तीन शक्तियों की प्रकल्पना की

---

१. Frank Thilly : *A Hisiorv of Philosophy*, p. 310-11.
२. Fuller : *A History of Philosophy*, p. 146.
३. Gilbert & Kuhn : *A History of Aesthetis*. p. 234-35.
४. वही, पृष्ठ २४९-५०।
५. वही, पृष्ठ २०३।
६. *The Works of Edmund Burke*, Ed. by Judge Willis, p: 216.

है—(१) ऐन्द्रिय बोध[1]—बाह्य जगत् का बोध कराने वाली शक्ति; (२) कल्पना[2]—मन की वह शक्ति जो ऐन्द्रिय बोध-जन्य बिम्बों को यथावत् अथवा नवीन एवं सुन्दरतर अनुक्रम में संयोजित कर उन्हें हमारे सम्मुख प्रस्तुत करती है; (३) निर्णायिका शक्ति[3]—यह ऐन्द्रिय बोध-जन्य बिम्बों में परस्पर तुलना करती हुई विभेद स्थापित करती है। मन की इन शक्तियों में से कल्पना ही काव्यास्वाद के मूल में रहती है। इसी शक्ति के द्वारा प्रमाता ऐन्द्रिय बोध-जन्य मूल बिम्बों की अपेक्षा काव्य-निबद्ध बिम्बों को चारुतर अथवा उन्हीं के सदृश-समरूप पाकर आनन्द की अनुभूति करता है—बर्क की दृष्टि में यह आनंद ही काव्यास्वाद है। यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि एडीसन जहाँ काव्यानन्द को कल्पना का आनन्द तथा लॉक उसे कवि की कल्पना-शील सृजनात्मक प्रतिमा द्वारा सर्जित अवास्तविक सौंदर्य के भावन से उत्पन्न एक सुखद भ्रम मानते हैं, वहाँ बर्क उसे कल्पनानन्द के स्थान पर कल्पना-प्रसूत और सुखद भ्रम के स्थान पर एक वास्तविक भावात्मक[4] अनुभूति मानते हैं।

इसी संदर्भ में बर्क ने काव्य-निबद्ध त्रासद-स्थितियों से उद्भूत काव्यास्वाद की आनन्दमयता[5] तथा सृजन के क्षणों में कवि की अनुभूति और काव्यास्वादन की स्थिति में प्रमाता की अनुभूति की समरूपता[6] का प्रतिपादन भी किया है।

बर्क के काव्यास्वाद-विषयक अभिमत का सारांश इस प्रकार है—

अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा ऐन्द्रिक बोध-जन्य वस्तु-जगत् के मूल बिम्बों से काव्य-निबद्ध चारुतर अथवा उनके सदृश की तुलना करता हुआ प्रमाता कवि की मूल अनुभूति से तादात्म्य स्थापित कर काव्य के भावन से जिस वास्तविक भावात्मक आनन्दमयी अनुभूति को प्राप्त करता है, वही काव्यास्वाद है।

(च) स्वच्छन्दतावादी कवियों एवं आलोचकों तथा उनके समसामयिक जर्मन सौन्दर्यशास्त्रियों की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप

(१) स्वच्छन्दतावादी कवि एवं आलोचक

आभिजात्यवाद एवं नव्यशास्त्रवाद के विरुद्ध यूरोप में उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में स्वच्छन्दतावाद का जन्म मुख्यतः एक प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। स्वच्छंदतावाद साहित्यिक रूढ़िवाद, जड़ शास्त्रीयता तथा काव्य में समष्टिगत वस्तुनिष्ठता के प्रति कल्पना-वैभव, व्यक्तिनिष्ठता तथा अभिनव भावोन्मेष के विद्रोह का प्रतिफल था। लैसिलस एवरक्रॉम्बी के शब्दों में, 'स्वच्छंदता-

---

१. 'Sense.'
२. 'Imagination.'
३. 'Judgement.'
४. देखिए—जज विलिस द्वारा सम्पादित *The works of Edmund Burke*, पृष्ठ ८४, ९०-१, १०१ तथा २०६।
५. वही, पृष्ठ ९७।
६. वही, पृष्ठ २१२।

वाद बाह्य अनुभूतियों से पलायन है, जिससे आन्तरिक अनुभूतियों में रमा जा सके।[1] ल्यूकस के अनुसार, 'स्वच्छंद साहित्य जीवन का वह स्वप्न-चित्र है जो समाज अथवा यथार्थ परिस्थितियों द्वारा दमित इच्छाओं को प्रश्रय और परितोष प्रदान करता है।'[2]

स्वच्छन्दतावाद की काव्यात्मक अभिव्यक्ति मुख्यतः वर्ड्सवर्थ, शैले, कॉलरिज और मैथ्यू आर्नल्ड के माध्यम से तथा उसके सैद्धान्तिक पक्ष की प्रस्तुति मुख्यतः आनन्दवादी वॉल्टर पेटर एवं कलावादी ब्रैडले द्वारा हुई।

स्वच्छन्दतावादी कवि

वर्ड्सवर्थ

वर्ड्सवर्थ (सन् १७७०-१८५०) को अंग्रेज़ी काव्य में स्वच्छन्दतावाद का अग्रदूत माना जाता है। उनके 'लिरिकल बैलेड्स' के प्राक्कथन ने 'एक नवीन युग का समारम्भ करते हुए अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य एक विभाजन-रेखा खींच दी। इसके द्वारा उन्होंने समालोचना के दो विभिन्न विचार-क्षेत्रों में स्पष्ट विभेद स्थापित किया।[3]

वर्ड्सवर्थ ने अत्यंत स्पष्ट शब्दों में कवि का एकमात्र अनिवार्य प्रतिबन्ध प्रमाता को तात्कालिक आनन्द प्रदान करना माना है।[4] कविता की आनन्दमयता के कारण उसे हेय समझने वालों को उत्तर देते हुए उन्होंने कहा है कि, 'तात्कालिक आनन्द प्रदान करने की इस आवश्यकता को कवि की कला का अपकर्ष समझा जाए। बात बिल्कुल उलटी ही है। यह तो सृष्टि के सौंदर्य की स्वीकृति है।'[5] वर्ड्सवर्थ काव्यास्वाद को अनिवार्यतः आनन्दमयी अनुभूति मानते हैं। उनके अनुसार काव्य-निबद्ध दुःखद स्थितियों के अनुभावन से भी प्रमाता को आनन्द ही मिलता है क्योंकि उनकी दृष्टि में कविता का जन्म आनन्द से होता है, अतः आनन्द से उद्भूत कविता का आस्वाद आनन्दविहीन कैसे हो सकता है।[6] दूसरे शब्दों में सृजन की स्थिति में कवि द्वारा अनुभूत

---

१. L. Aber Crombie : *Romanticism*, p. 51.

२. F. L. Lucus : *The Decline and Fall of the Romantic Ideal*, p. 35-36.

३. Smith & Parks : *The Great Critics*, p. 496.

४. 'The Poet writes under one restriction only, namely, the necessity of giving immediate pleasure to a human being........'
Wordsworth : Preface to cond edition of *Lyrical Ballads*, 1800. (जॉर्ज सेंट्सबरी द्वारा सम्पादित *Loci Critici* शीर्षक संकलन, पृष्ठ २७३ से उद्धृत)।

५. 'Nor let this necessity of producing immediate pleasure be considered as a degradation of the Poet's art. It is far otherwise. It is an acknowledgement of the beauty of the Universe,......' —वही

६. '....but wherever we sympathise with pain, it will be found that the sympathy is produced and carried on by subtle combinations with pleasure. We have no knowledge, that is, no general principles drawn from the contemplation of particular facts, but what has been built

आनन्द प्रमाता तक संप्रेषित होकर उसे जो आनन्दमयी अनुभूति प्रदान करता है, वही काव्यास्वाद है। इस प्रकार वर्ड्सवर्थ के अनुसार—(१) कवि का एकमात्र लक्ष्य प्रमाता को तात्कालिक आह्लाद प्रदान करना है। (२) काव्यास्वाद अनिवार्यतः आनन्दमयी अनुभूति है : काव्य-निबद्ध दुःखद प्रसंगों से भी प्रमाता को आनन्द ही प्राप्त होता है। (३) यह आनन्द की स्थिति भावात्मक तादात्म्य की स्थिति है।

शैले

शैले (सन् १७९२-१८२२) का काव्यास्वाद-विषयक दृष्टिकोण वर्ड्सवर्थ से मूलतः भिन्न नहीं है। उन्होंने भी आनन्द को काव्य का लक्ष्य माना है। उनके अनुसार 'कविता का चिर-संगी है आनन्द। जिन प्राणों का वह स्पर्श करती है वे आह्लाद से पुष्ट उसकी बुद्धिमत्ता ग्रहण करने के लिए उन्मुक्त हो जाते हैं।'[1] शैले की दृष्टि में 'काव्य एक दिव्य वस्तु है।'[2] 'यह प्रमाता के मन को परितुष्ट करता है तथा उसके मन के बांध को तोड़ता हुआ उसकी चेतना का विस्तार कर उसे उस सार्वभौम तत्त्व में विलीन कर देता है, जिसके साथ उसकी (प्रमाता) की चिरन्तन सह-अनुभूति होती है।'[3] काव्यास्वाद को उन्होंने एक उत्कट एवं विशुद्ध आनन्द माना है।[4] इस प्रकार शैले के मतानुसार—(१) काव्यास्वाद उत्कट एवं विशुद्ध आनन्द से पूर्ण एक दिव्य अनुभूति है। (२) काव्यास्वादन की इस आनन्दपूर्ण स्थिति में प्रमाता की चेतना सार्वभौम विस्तार प्राप्त कर लेती है।

कॉलरिज

कॉलरिज (सन् १७७२-१८३४) ने यद्यपि भाव और अनुभूति की अपेक्षा कल्पना को अधिक महत्त्व दिया है, तथापि वे भी वर्ड्सवर्थ और शैले की भाँति प्रमाता के आह्लाद को ही

---

up by pleasure, and exists in us by pleasure alone'.
—Wordsworth : Preface to second edition of *Lyrical Ballads*, 1800. (जॉर्ज सेंट्सबरी द्वारा सम्पादित '*Loci Critici*' शीर्षक संकलन, पृष्ठ २७३-७४ से उद्धृत)।

१. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, प्रधान सं० डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ १७४।

२. 'Poetry is indeed something divine.'
—Shalley : *Defence of Poetry* (जॉर्ज सेंट्सबरी द्वारा सम्पादित *Loci Critici* शीर्षक संकलन के पृष्ठ ४०३ से उद्धृत)।

३. '....satifies the sense,......it is a strain which distends, and bursts the circumference of the reader's mind, and pours itself forth together with it into the Universal element with which it has perpetual sympathy'
—वही, पृष्ठ ४०२

४. '....the hearer and the spectator receive an intenser and purer pleasure......'
—वही, पृष्ठ ३९८

वाद वाह्य अनुभूतियों से पलायन है, जिससे आन्तरिक अनुभूतियों में रमा जा सके।[1] ल्यूकस के अनुसार, 'स्वच्छंद साहित्य जीवन का वह स्वप्न-चित्र है जो समाज अथवा यथार्थ परिस्थितियों द्वारा दमित इच्छाओं को प्रश्रय और परितोष प्रदान करता है।'[2]

स्वच्छन्दतावाद की काव्यात्मक अभिव्यक्ति मुख्यतः वर्ड्सवर्थ, शैले, कॉलरिज और मैथ्यू ऑर्नल्ड के माध्यम से तथा उसके सैद्धान्तिक पक्ष की प्रस्तुति मुख्यतः आनन्दवादी वॉल्टर पेटर एवं कलावादी ब्रैडले द्वारा हुई।

स्वच्छन्दतावादी कवि

वर्ड्सवर्थ

वर्ड्सवर्थ (सन् १७७०-१८५०) को अंग्रेजी काव्य में स्वच्छन्दतावाद का अग्रदूत माना जाता है। उनके 'लिरिकल बैलेड्स' के प्राक्कथन ने 'एक नवीन युग का समारम्भ करते हुए अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य एक विभाजन-रेखा खींच दी। इसके द्वारा उन्होंने समालोचना के दो विभिन्न विचार-क्षेत्रों में स्पष्ट विभेद स्थापित किया।[3]

वर्ड्सवर्थ ने अत्यंत स्पष्ट शब्दों में कवि का एकमात्र अनिवार्य प्रतिवन्ध प्रमाता को तात्कालिक आनन्द प्रदान करना माना है।[4] कविता की आनन्दमयता के कारण उसे हेय समझने वालों को उत्तर देते हुए उन्होंने कहा है कि, 'तात्कालिक आनन्द प्रदान करने की इस आवश्यकता को कवि की कला का अपकर्ष समझा जाए। बात बिल्कुल उलटी ही है। यह तो सृष्टि के सौंदर्य की स्वीकृति है।'[5] वर्ड्सवर्थ काव्यास्वाद को अनिवार्यतः आनन्दमयी अनुभूति मानते हैं। उनके अनुसार काव्य-निबद्ध दुःखद स्थितियों के अनुभावन से भी प्रमाता को आनन्द ही मिलता है क्योंकि उनकी दृष्टि में कविता का जन्म आनन्द से होता है, अतः आनन्द से उद्भूत कविता का आस्वाद आनन्दविहीन कैसे हो सकता है।[6] दूसरे शब्दों में सृजन की स्थिति में कवि द्वारा अनुभूत

---

१. L. Aber Crombic : *Romanticism*, p. 51.
२. F. L. Lucus : *The Decline and Fall of the Romantic Ideal*, p. 35-36.
३. Smith & Parks : *The Great Critics*, p. 496.
४. 'The Poet writes under one restriction only, namely, the necessity of giving immediate pleasure to a human being........'
Wordsworth : Preface to cond edition of *Lyrical Ballads*, 1800. (जॉर्ज सेंट्सबरी द्वारा सम्पादित *Loci Critici* शीर्षक संकलन, पृष्ठ २७३ से उद्धृत)।
५. 'Nor let this necessity of producing immediate pleasure be considered as a degradation of the Poet's art. It is far otherwise. It is an acknowledgement of the beauty of the Universe,......' —वही
६. '....but wherever we sympathise with pain, it will be found that the sympathy is produced and carried on by subtle combinations with pleasure. We have no knowledge, that is, no general principles drawn from the contemplation of particular facts, but what has been built

आनन्द प्रमाता तक संप्रेषित होकर उसे जो आनन्दमयी अनुभूति प्रदान करता है, वही काव्यास्वाद है। इस प्रकार वर्ड्सवर्थ के अनुसार—(१) कवि का एकमात्र लक्ष्य प्रमाता को तात्कालिक आह्लाद प्रदान करना है। (२) काव्यास्वाद अनिवार्यतः आनन्दमयी अनुभूति है : काव्य-निबद्ध दुःखद प्रसंगों से भी प्रमाता को आनन्द ही प्राप्त होता है। (३) यह आनन्द की स्थिति भावात्मक तादात्म्य की स्थिति है।

शैले

शैले (सन् १७९२-१८२२) का काव्यास्वाद-विषयक दृष्टिकोण वर्ड्सवर्थ से मूलतः भिन्न नहीं है। उन्होंने भी आनन्द को काव्य का लक्ष्य माना है। उनके अनुसार 'कविता का चिर-संगी है आनन्द। जिन प्राणों का वह स्पर्श करती है वे आह्लाद से पुष्ट उसकी बुद्धिमत्ता ग्रहण करने के लिए उन्मुक्त हो जाते हैं।'[१] शैले की दृष्टि में 'काव्य एक दिव्य वस्तु है।'[२] 'यह प्रमाता के मन को परितुष्ट करता है तथा उसके मन के बाँध को तोड़ता हुआ उसकी चेतना का विस्तार कर उसे उस सार्वभौम तत्त्व में विलीन कर देता है, जिसके साथ उसकी (प्रमाता) की चिरन्तन सह-अनुभूति होती है।'[३] काव्यास्वाद को उन्होंने एक उत्कट एवं विशुद्ध आनन्द माना है।[४] इस प्रकार शैले के मतानुसार—(१) काव्यास्वाद उत्कट एवं विशुद्ध आनन्द से पूर्ण एक दिव्य अनुभूति है। (२) काव्यास्वादन की इस आनन्दपूर्ण स्थिति में प्रमाता की चेतना सार्वभौम विस्तार प्राप्त कर लेती है।

कॉलरिज

कॉलरिज (सन् १७७२-१८३४) ने यद्यपि भाव और अनुभूति की अपेक्षा कल्पना को अधिक महत्त्व दिया है, तथापि वे भी वर्ड्सवर्थ और शैले की भाँति प्रमाता के आह्लाद को ही

---

up by pleasure, and exists in us by pleasure alone'.

—Wordsworth : Preface to second edition of *Lyrical Ballads*, 1800. (जॉर्ज सेंट्सबरी द्वारा सम्पादित '*Loci Critici*' शीर्षक संकलन, पृष्ठ २७३-७४ से उद्धृत)।

१. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, प्रधान सं० डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ १७४।

२. 'Poetry is indeed something divine.'

—Shalley : *Defence of Poetry* (जॉर्ज सेंट्सबरी द्वारा सम्पादित *Loci Critici* शीर्षक संकलन के पृष्ठ ४०३ से उद्धृत)।

३. '....satifies the sense,......it is a strain which distends, and bursts the circumference of the reader's mind, and pours itself forth together with it into the Universal element with which it has perpetual sympathy'

—वही, पृष्ठ ४०२

४. '....the hearer and the spectator receive an intenser and purer pleasure......'

—वही, पृष्ठ ३९८

काव्य का लक्ष्य मानते हैं। उन्होंने कविता को विज्ञान से इसी अर्थ में भिन्न माना है कि वह सत्य की अपेक्षा आनन्द को अपना मूल प्रयोजन मानती है।[१] काव्य द्वारा प्राप्त प्रमाता के आनन्द का विश्लेषण करते हुए कॉलरिज ने उसे (आनन्द को) सर्वाधिक उच्च कोटि का स्थायी आनन्द घोषित किया है।'[२] उन्होंने कविता की दो प्रधान शक्तियों की चर्चा की है—(१) प्रकृति-सत्य के चिरन्तन साहचर्य द्वारा प्रमाता की चेतना को उद्बुद्ध करना तथा (२) कल्पना के नवरूपान्तर-कारी रंगों द्वारा प्रमाता के मन में नूतनता का आकर्षण उत्पन्न करना।[३] प्रमाता की कौतूहल वृत्ति अथवा काव्य के अन्तिम निष्कर्ष तक पहुँचने की उत्कण्ठा उसे काव्यास्वादन की चरम स्थिति तक पहुँचने की प्रेरणा प्रदान नहीं करती, प्रत्युत काव्य-भावन की सम्पूर्ण प्रक्रिया की आनन्दा-त्मकता ही उसे इस ओर प्रवृत्त करती है।[४]

कॉलरिज के मत का सारांश इस प्रकार है :

(१) काव्य का लक्ष्य प्रमाता को आनन्द प्रदान करना है।

(२) यह आनन्द सर्वाधिक उच्च कोटि का स्थायी आनन्द है।

(३) कवि प्रकृति के चिन्तन साहचर्य द्वारा प्रमाता की चेतना को उद्बुद्ध करता हुआ अपनी नवरूपान्तरकारी कल्पना के रंगों से काव्य-विषयों को इस प्रकार अभिनव आकर्षण प्रदान कर देता है कि काव्य-भावन की सम्पूर्ण प्रक्रिया ही उसके लिए (प्रमाता के लिए) आनन्दकारी हो जाती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर अधिकाधिक आनन्द प्राप्त करती हुई प्रमाता की चेतना काव्यास्वाद की आनन्दपूर्ण चरम स्थिति में लीन हो जाती है।

मैथ्यू आर्नल्ड

मैथ्यू आर्नल्ड (सन् १८२२-१८८८) का काव्य-दर्शन मूलतः लोककल्याण की भावना

---

१. 'A poem is that species of composition, which is opposed to works of science, by proposing for its immediate object pleasure, not truth.'
—Coleridge : *Biographia Literaria* (1956), Cha. XIV, p. 172 (ed. by George Watson)

२. 'Pleasure, and that of the highest and most permanent kind, may result from the attainment of the end.'
—वही, पृष्ठ १७१

३. '. . . . the power of exciting the sympathy of the reader by a faithful adherence to the truth of nature and the power of giving the interest of novelty by the modifying colours of imagination'
—वही, पृष्ठ १६८

४. 'The reader should be carried forward, not merely or chiefly by the mechanical impulse of curiosity, or by a restless desire to arrive at the final solution; but by the pleasurable activity of mind excited by the attractions of the Journey itself.'
—Coleridge : *Biographia Literaria* (1956) Chap. XIV, p. 173.

से अनुप्राणित है। उनके अनुसार जीवन से निरपेक्ष सौंदर्य की कल्पना संभव नहीं है। इस दृष्टि से मैथ्यू आर्नल्ड की चिंताधारा वर्ड्सवर्थ, शैले और कॉलरिज से किंचित् भिन्न है। इतना होने पर भी वे आनन्द-विरोधी नहीं हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि काव्य के लिए केवल मनोरंजक होना ही पर्याप्त नहीं है, उसमें प्रमाता को अन्तःस्फूर्त कर उसके मनःप्रसादन की शक्ति भी होनी चाहिए; प्रमाता के चित्त पर उसका प्रभाव सम्मोहनकारी तथा आह्लादपूर्ण होना चाहिए।[1] उन्होंने काव्यास्वाद की अनिवार्य आनन्दात्मकता पर बल देते हुए दुःखद स्थितियां की काव्यमयी प्रस्तुति से भी आनन्द की निष्पत्ति मानी है। उनके अनुसार स्थिति जितनी अधिक कारुणिक होगी उससे निष्पन्न आह्लाद भी उसी अनुपात में गहनतर होता जायेगा[2]।

संक्षेप में, मैथ्यू आर्नल्ड के अनुसार—

(१) काव्य प्रमाता का मनःप्रसादन करता है।

(२) काव्यास्वाद अनिवार्यतः आनन्दमय होता है—काव्य-निबद्ध दुःखद स्थितियों से भी प्रमाता के मन में आनन्द की ही निष्पत्ति होती है।

स्वच्छन्दतावादी समीक्षक

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जिन स्वच्छंदतावादी आलोचकों ने साहित्य में 'कला कला के लिए' आन्दोलन में प्रमुख भाग लिया, उनमें वॉल्टर पेटर, ब्रैडले, ऑस्कर वाइल्ड, व्हिसलर आदि के नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं।

वॉल्टर पेटर (सन् १८३९-१८९४) का कला-दर्शन सौन्दर्य-तत्त्व पर आधृत है। उन्होंने काव्य में काव्येतर जीवन-मूल्यों की पूर्ण उपेक्षा कर कलावादी मूल्यों की महत्त्व-प्रतिष्ठा की। उन्हीं के शब्दों में, 'अनुभूति (से प्राप्त आत्मपरिष्कार आदि) का फल नहीं, प्रत्युत स्वयं अनुभूति ही (काव्य का) साध्य है।'[3] काव्यानुभूति के आस्वादनीय क्षणों को ही वॉल्टर पेटर ने सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है[4]। उन्होंने काव्यास्वाद के स्वरूप का विश्लेषण प्रभाववादी

---

१. 'It is demanded, not only that it shall interest, but also that it shall inspirit and rejoice the reader : that it shall convey a charm and infuse delight.'

—Matthew Arnold : *Preface to poems* (1853-1854), (जॉर्ज सेंट्सबरी द्वारा संपादित Loci Critici शीर्षक संकलन, पृष्ठ ४२३ से उद्धृत)।

२. 'In presence of the most tragic circumstances, represented in a work of Art, the feeling of enjoyment, ... may still subsist : . . . the more tragic the situation, the deeper becomes the enjoyment.'

—वही

३. 'Not the fruit of experience, but experience itself, is the end.'
—Walter Pater : *Renaissance*, (I Ed.) (William K. Whimsatt, Jr. & Kleanth Brooks : *Literary Criticism, A Short History*, p. 486.

४. 'Art comes proposing to us frankly to give nothing but the highest

शैली में अत्यंत उच्छ्वासपूर्ण शब्दों द्वारा करते हुए कहा है कि 'काव्य प्रमाता के आभ्यंतर में आनन्दोन्माद की रत्न-शिखा-सदृश ज्वाला प्रदीप्त कर देता है।'[1]

ब्रैडले (सन् १८५१-१९३५) ने काव्यानुभूति को एक अखण्ड, पूर्ण एवं समग्र इकाई माना है : 'वह (काव्यानुभूति) तो एक इकाई है जिसमें सार-वस्तु और रूप-विधान को एक दूसरे से उसी प्रकार पृथक् नहीं किया जा सकता, जिस प्रकार रक्त में व्याप्त जीवन को जीवनमय रक्त से पृथक् नहीं किया जा सकता।'[2] उनके अनुसार प्रमाता काव्यास्वादन की स्थिति में 'अपनी सृजनात्मक कल्पना के द्वारा कविता के प्रभाव-संवेदनों को ग्रहण'[3] करता है। ब्रैडले भी पेटर की भाँति काव्यानुभूति से इतर काव्य के किसी अन्य साध्य को स्वीकार नहीं करते। वे काव्य और काव्यानुभूति को लगभग पर्याय के रूप में ही ग्रहण करते हैं : 'काव्य से अभिप्राय तो काव्यानुभूति से है।'[4]

प्रसिद्ध कलावादी साहित्यकार **ऑस्कर वाइल्ड** ने भी सौंदर्यानुभूति (काव्यानुभूति-काव्यास्वाद) को ही काव्य का चरम उद्देश्य माना है।[5] **ह्विस्लर** भी शिक्षा आदि के स्थान पर प्रत्येक स्थिति में सौन्दर्य-सृष्टि को ही कला का एकमात्र कर्तव्य-कर्म घोषित करते हैं।[6] **क्लाइव बैल** ने रचना-रूपों की रमणीयता से ही काव्यास्वाद की उद्भूति मानी है। उनके अनुसार उत्कृष्ट शिल्प-रूप से प्रमाता की सौंदर्य-चेतना उद्बुद्ध होकर[7] उसे आनन्द प्रदान करती है।

उपर्युक्त स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों की दृष्टियों में यद्यपि आपाततः पूर्ण साम्य परिलक्षित नहीं होता, तथापि उनकी काव्यास्वाद-विषयक अवधारणाओं में कोई मौलिक भेद नहीं है। उनकी मान्यताओं का सारांश इस प्रकार है :—

१. काव्यानुभूति से इतर काव्य का कोई अन्य लक्ष्य नहीं है।

---

quality to your moments as they pass, and simply for those moments' sake.'

—Walter Pater, *Rendissance*, p. 239.

१. Walter Pater : *Renaissance*, (**ह्विमसैट और ब्रुक्स की 'लिटरेरी क्रिटिसिज्म, ए शॉर्ट हिस्ट्री' पुस्तक के पृष्ठ ४८६ से उद्धृत**)।

२. **पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा, प्रधान सं० डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ २४२।**

३. **वही, पृष्ठ २४१।**

४. **वही, पृष्ठ २४२।**

५. 'Beauty is the symbol of symbols. Beauty reveals everything, because it expresses nothing.'

—Oscar Wild : *Intentions*, p. 145.

६. "Art is selfishly occupied with her own perfection only—having no desire—only seeking and finding the beautiful in all conditions and in all times.'

—Whistler : *The Gentle Art of Making Enemies*, p. 136.

७. '. . . certain forms and relations of forms stir our aesthetic emotions.'

—Clive Bell : *Art* p. 8.

२. रचना-विधान के सौन्दर्य अथवा कला की रमणीयता से प्रेरित प्रमाता का अन्तश्चमत्कार ही काव्यास्वाद है।
३. काव्यास्वाद एक अखंड एवं समग्र अनुभूति है।
४. काव्यास्वाद की स्थिति में प्रमाता का चित्त आनन्दोन्माद से भर उठता है।
५. काव्यास्वाद का जीवन अथवा नैतिकता से कोई अनिवार्य संबंध नहीं है।

जर्मन सौन्दर्य-चिन्तक : काण्ट, हीगेल

काण्ट (सन् १७२४-१८०४) का समय यद्यपि स्वच्छंदतावाद से बहुत पूर्व का है, तथापि स्वच्छन्दतावाद के सन्दर्भ में ये इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं कि इन्होंने साहित्य में स्वच्छन्दतावाद के आविर्भाव से बहुत समय पूर्व ही उसके लिए दार्शनिक एवं सौंदर्यशास्त्रीय शास्त्रीय पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। काण्ट जर्मन सौंदर्यशास्त्र के प्रथम अतीन्द्रियतावादी[1] चिन्तक के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनके अनुसार 'सौंदर्यानुभूति (काव्यास्वाद) अन्तःप्रज्ञा[2] के विषय के रूपाकार-विषयक बोध[3] से सम्बद्ध स्वच्छंद कल्पना[4] और स्वच्छंद ज्ञान-बोध[5] के मध्य पूर्ण सामंजस्य[6] की अनुभूति है। सौंदर्यानुभूति की यह परिभाषा व्याख्या-सापेक्ष है।

काण्ट ने मानवीय ज्ञान के दो मूल स्रोतों की चर्चा की है—(१) संवेदन-शक्ति तथा (२) ज्ञान-शक्ति। मनुष्य की संवेदन-शक्ति बाह्य जगत् से जो संवेदनाएँ उपार्जित करती है, काण्ट ने सौंदर्यानुभूति का संबंध उन्हीं से माना है। अन्तःप्रज्ञा (सहजानुभूति) वस्तु का यथावत् ज्ञान नहीं है,[7] यह पूर्ण ज्ञान से पूर्व की स्थिति है। विषय के बाह्य रूपाकार द्वारा मन पर अंकित अन्तःप्रभावों को ही काण्ट अन्तःप्रज्ञा मानते हैं। काण्ट ने कल्पना के तीन रूपों की चर्चा की है—(१) पुनःसृजनकारी, (२) सृजनकारी तथा (३) स्वच्छंद अथवा सौंदर्यात्मक कल्पना।[8] उनकी सौंदर्यानुभूति की परिभाषा के अन्तर्गत उल्लिखित स्वच्छंद कल्पना से उनका आशय सौंदर्यात्मक कल्पना से ही है, क्योंकि पुनःसृजनकारी कल्पना अनुभवाश्रित नियमों से अनुशासित होने के कारण तथा सृजनात्मक कल्पना ज्ञान-बोध के नियमों के अधीनस्थ होने के कारण स्वच्छन्द नहीं होती; केवल स्वच्छन्द सौंदर्यात्मक कल्पना ही काव्यानुभूति के परिपाक में सहायक होती है।

काण्ट ने अपनी तीन प्रसिद्ध मीमांसाओं—'विशुद्ध तर्क-मीमांसा' (क्रिटीक् ऑफ़ प्योर रीज़न), 'व्यावहारिक तर्क-मीमांसा' (क्रिटीक् ऑफ़ प्रैक्टिकल रीज़न) तथा 'निर्णय-मीमांसा' (क्रिटीक् ऑफ़ जज्मैन्ट)—में क्रमशः (१) सैद्धान्तिक, (२) व्यावहारिक तथा (३) सौंदर्यात्मक

---

१. 'Transcendentalist.'
२. 'Intuition.'; Kant : *Critiqne of Judgement*,, Translated by Bernard, p. 30-31.
३. 'Apprehension.'
४. H. W. Cassirer : *A commentary on Kant's Critique of Judgemene.* p. 140.
५. 'Understanding.'
६. 'Harmony.'
७. H. W. Cassirer : *A Commentary on Kant's Critique of Judgement*, p. 4.
८. वही, पृष्ठ २१६।

—इन तीन प्रकार के अनुभवों का विश्लेपण किया है। सैद्धान्तिक अनुभव वाह्य जगत् के सहज वोध से और व्यावहारिक अनुभव इच्छा के स्वच्छन्द विचरण से प्राप्त होते हैं तथा सौन्दर्यात्मक अनुभव मनुष्य की 'निष्प्रयोजन प्रयोजनीयता'[1] की सहज वृत्ति के प्रतिफल हैं। ये अनुभव ही स्वच्छंद इच्छा-शक्ति की सहायता से सौंदर्यानुभूति का रूप ग्रहण कर लेते हैं।

'निर्णय-मीमांसा' में काण्ट ने मन की विशिप्ट आस्वाद वृत्ति की चर्चा की है।[2] उनके अनुसार मन की यह आस्वाद वृत्ति कल्पना तथा ज्ञान-वोध के मध्य सामंजस्य की प्रतीति करती है[3] तथा कलाकृति के भावन द्वारा सौंदर्यानुभूति की स्थिति तक पहुँचने की प्रक्रिया में वह (आस्वाद-वृत्ति) किसी तर्क, युक्ति अथवा प्रमाण से पूर्णतया अप्रभावित रहती है।[4] प्रमाता की काव्या-स्वादन-प्रक्रिया के मूल में यही आस्वाद-वृत्ति विद्यमान रहती है।

सौन्दर्यानुभूति के स्वरूप का विवेचन करते हुए काण्ट ने उसकी चार विशेपताओं का निरू-पण किया है—(१) यह अन्य अनुभवों से निरपेक्ष होती है। (२) यह एक सार्वभौमिक अनुभूति है। (३) किसी निश्चित प्रयोजन को सिद्ध किए बिना ही यह सप्रयोजन अनुभूति है। (४) कला के संदर्भ में यह एक अनिवार्य अनुभूति है।[5]

संक्षेप में काण्ट, के मतानुसार सौन्दर्यानुभूति (काव्यास्वाद) स्वच्छन्द कल्पना और स्वच्छन्द ज्ञान-वोध के मध्य पूर्ण सामंजस्य की एक अनुभवातीत सार्वभौमिक अनुभूति हैं।

हीगेल (सन् १७७०-१८३१) पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत तत्त्वमीमांसा-विपयक नीतिशास्त्र के अन्यतम आचार्य हैं। उन्होंने सामान्य मनोरंजन आदि की अपेक्षा आत्म-परिप्कार आदि उच्चतर नैतिक मूल्यों को ही कला के उद्देश्य के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने अत्यंत स्पप्ट शव्दों में घोपणा की है कि कला का उच्चतम कर्त्तव्य-कर्म वही है जो कि धर्म अथवा दर्शन का होता है।[6]

हीगेल ने मनुष्य के शुद्ध-वुद्ध चैतन्य के तीन पक्षों—दर्शन, धर्म और कला—में से कला को यद्यपि तृतीय स्थान दिया है, फिर भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि कला चैतन्य का ही एक रूप है। कला को धर्म और दर्शन की अपेक्षा निम्नतर स्थान प्रदान करने का कारण कदाचित् यह रहा है कि उनकी दृप्टि में कला का आधार सौंदर्य-तत्त्व अपने आप में एक ऐन्द्रिय विपय है। हीगेल ने ऐन्द्रिय विपयों के माध्यम से भी भावक को उच्चतम सौंदर्यानुभूति करानेवाली कला को चैतन्य का अंग होने का गौरव इसलिए दिया है कि कलानुभूति का केवल विपय मात्र

---

१. 'Purposiveness without purpose.'
२. Kant : *Critique of Judgement,*, Translated by Bernard, p. 173.
३. H. W. Cassirer : *A commentary on Kant's Critique of Judgement* p. 263.
४. Kant : *Critique of Jndgement*, Translated by Beranard, p. 158.
५. देखिए काण्ट के *Critique of Judgement* ग्रंथ का उन्नीसवां अध्याय।
६. 'The highest function of Art is the same as that of religion and philosophy.'
—Hegel : *Philosophy of Fine Art*, Translated by F. P. B. Osmaston, Vol. I, p. 9.

ही ऐन्द्रिय होता है, भावक उसके माध्यम से आत्मास्वाद की दिव्य अनुभूति प्राप्त करता है। इस प्रक्रिया में विषय की ऐन्द्रियता लुप्त होकर विशुद्ध चैतन्य अनुभूति में परिणत हो जाती है। इस प्रकार हीगेल के मतानुसार कलानुभूति (काव्यास्वाद) ऐन्द्रिय विषयों से उत्पन्न एक अतीन्द्रिय अनुभूति है।

कला के अन्तर्गत हीगेल ने काव्य-कला को उच्चतम गौरव प्रदान किया है। उनकी दृष्टि में विशुद्ध (एब्सोल्यूट) कला ही उच्चतम कला है और उसका प्रतिनिधान काव्य द्वारा होता है। काव्य के माध्यम से व्यक्ति की चेतना लौकिक सीमाओं का अतिक्रमण कर सार्वभौमिता का अपरिसीम विस्तार प्राप्त कर लेती है।

सारांशतः हीगेल कलानुभूति को आत्माभिज्ञान की अनुभूति मानते हैं। उनकी दृष्टि में कलाकृति निमित्त मात्र है; काव्यास्वादन की स्थिति में काव्य-विषयों की वस्तुनिष्ठ ऐन्द्रियता लुप्त हो जाती है और प्रमाता की चेतना काव्य के भावन से लौकिक सीमाओं से परे अनंत सार्वभौमिकता का असीम विस्तार प्राप्त कर आत्मास्वाद की स्थिति में लीन हो जाती है।

(छ) आधुनिक आचार्यों की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप

यूरोप में वर्तमान शती का काव्यशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र १९ वीं शती के सैद्धान्तिक विवेचन से मुख्यतया इस अर्थ में भिन्न है कि प्रावतन काव्यशास्त्रीय एवं सौंदर्यशास्त्रीय चिन्तकों ने जहाँ नीतिशास्त्र एवं अनुभववाद की छाया में काव्यानुभूति के स्वरूप का विवेचन किया, वहाँ आधुनिक आचार्यों ने मनोविज्ञान, मनोविश्लेपण एवं प्रकृतवाद की पृष्ठिभूमि पर काव्यानुभूति अथवा सौंदर्यानुभूति का विश्लेपण करने का प्रयत्न किया। इस क्षेत्र में यों तो क्रोचे, आर० जी० कॉलिंगवुड, जॉन ड्यूई, टॉमस मुनरो, आई० ए० रिचर्ड्स, टी० एस० इलियट, एवं सूजन लैंगर के नाम उल्लेखनीय हैं, किन्तु इनमें क्रोचे, रिचर्ड्स और इलियट अपने मौलिक दृष्टिकोण, अभिनव विचार-प्रतिपादन की शैली तथा सौंदर्य-मीमांसा के क्षेत्र में व्यापक प्रभाव के कारण विशेष स्थान के अधिकारी माने जाते हैं। इन चिन्तकों के काव्यास्वाद-विषयक मन्तव्यों का संक्षिप्त विवेचन पाश्चात्य कला-चिन्तकों के कलानुभूति-विषयक दृष्टिकोण को समझने में सहायक होगा।

क्रोचे

क्रोचे (सन् १८६६-१९५२) का कलानुभूति-विषयक दृष्टिकोण अपने पूर्ववर्ती दार्शनिक काण्ट की कलानुभूति-विषयक 'निष्प्रयोजन प्रयोजनीयता' की रूपवादी व्याख्या तथा हीगेल की 'निर्वैयक्तिक अनुभवातीतवादी' व्याख्या से इस अर्थ में भिन्न है कि वे कलानुभूति को वैयक्तिक कल्पना की उद्‌बुद्धि से निष्पन्न विषयिगत अनुभूति मानते हैं।

क्रोचे के अनुसार कलास्वाद अन्तःप्रज्ञा (सहजानुभूति) की ऐसी आत्मपरक अनुभूति है जिसमें कलाकृति एवं भावक का पार्थक्य समाप्त हो जाता है। यह बौद्धिक एवं विशुद्ध ऐन्द्रिय अनुभूति से भिन्न आनन्दमयी भावानुभूति है। उन्होंने अन्तःप्रज्ञा अथवा सहजानुभूति को आत्मा के चार शाश्वत रूपों—(१) सहजानुभूति; (२) अवधारणा, (३) विक्षेपणा तथा (४) आचार-संबंधी इच्छा' में से सर्वप्रथम तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना है। कला का क्षेत्र यह अन्तःप्रज्ञा

---

१. Benedetto Croce : *Aesthetic*, Translated by Douglas Ainslie, p. 140,

ही है तथा शाश्वत आत्मा के अनुरूप यह भी शाश्वत है। क्रोचे ने सामान्य सहजानुभूति एवं कलात्मक सहजानभूति के बीच प्रकृतिगत अन्तर न मानकर केवल मात्रागत अन्तर माना है। उनके अनुसार सामान्य सहजानुभूति की अपेक्षा कलात्मक सहजानुभूति अधिक गहन एवं विस्तृत, अतएव भव्यतर अनुभूति है।[1]

क्रोचे ने कलास्वादन (काव्यास्वादन) की प्रक्रिया के तीन सोपानों का उल्लेख किया है:

१. कलाकृति के माध्यम से सौंदर्य-चेतन का उद्‌बोध।
२. तदनन्तर काव्य-सजन की स्थिति में कवि की कलात्मक सहजानुभूति का प्रमाता द्वारा पुनःसृजन तथा प्रमाता द्वारा कवि की कलात्मक सहजानुभूति का अनुभावन।
३. आनन्दमय परितोष की अनभूति।[2]

यह तृतीय अवस्था ही काव्यास्वाद है। इस प्रक्रिया में क्रोचे कलाकृति के अभिव्यंजनात्मक वाह्य उपकरणों का महत्त्व लगभग नगण्य मानते हैं। उनके अनुसार 'यह समझना एक भूल होगी कि कविता का छन्द अपने स्वरों द्वारा हमारी श्रवणेन्द्रिय को उत्तेजित कर हमें आनन्दोन्माद से भर देता है। वस्तुतः कविता हमारी कल्पना की उद्दीप्ति द्वारा हमारे भावों को उद्‌वुद्ध कर हमें आनन्द प्रदान करती है।'[3] उनकी इस मान्यता से दो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—(१) काव्यास्वाद विपयगत न होकर विपयिगत है। (२) यह कल्पना की उद्दीप्ति एवं भावों की उद्‌वुद्धि से प्राप्त एक तीव्र अनुभूति है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर क्रोचे की काव्यास्वाद-विपयक मान्यता संक्षेप में इस प्रकार है:

(१) काव्यास्वाद वौद्धिक एवं प्रकृत अनुभूति से भिन्न सहजानुभूति का आनन्द है।
(२) यह विषयगत न होकर विषयिगत आनन्दानभूति है।
(३) काव्यास्वाद कवि तथा प्रमाता की कलात्मक सहजानुभूतियों के पूर्ण तादात्म्य का प्रतिफल है।
(४) यह तादात्म्य कल्पना तथा भावना की उद्‌वुद्धि की सहायता से प्रमाता द्वारा कवि की मूल कलात्मक सहजानुभूति के पुनःसृजन से सिद्ध होता है।

आई० ए० रिचर्ड्स

आई० ए० रिचर्ड्स (सन् १८९३-) ने काव्यास्वाद का स्वरूप-विश्लेपण मनोविज्ञान के परिवेश में किया है। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'प्रिंसिपल्ज़ ऑफ़ लिट्रेरी क्रिटिसिज़्म' के सप्तम[4] अध्याय में मनुष्य की संवेदनशीलता के विस्तृत मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा उन्होंने यह सिद्ध किया है कि प्रमाता के चित्त पर कलाकृति के भावन से अनेक संवेदन-रूप अरूप विम्व उभरते हैं। ये विम्व प्रमाता के अन्तर्मन में अनेकरूप एवं प्रायशः परस्पर-विरोधी विशृंखल आवेगों की

---

१. वही, पृष्ठ १३।
२. वही, पृष्ठ ९७।
३. Benedetto croce : *Defence of Poetry* (Oxford Lecture) Oxford University Press, p. 23.
४. I. A. Richards : *The Principles of Literary Criticism*, Chap. VII (A Psychological Theory of Value), p. 44-57.

सृष्टि करते हैं, तदनन्तर ये आवेग समीकृत रूप धारण कर प्रमाता को एक प्रकार का परितोष प्रदान करते हैं, रिचर्ड्स के मतानुसार आवेगों के समीकरण द्वारा प्राप्त यह परितोष ही काव्यास्वाद है। यह काव्यास्वाद प्रायः आनन्दपूर्ण होता है, यद्यपि यह आनन्द संयोगात् ही निष्पन्न होता है, उद्दिष्ट नहीं होता।[1]

रिचर्डस के अनुसार समीकरण की संघटना उद्दीपनकारी विषय-वस्तु में न होकर प्रमाता की अन्तर्वृत्तियों में होती है।[2] दूसरे शब्दों में काव्यास्वादन की प्रक्रिया में वस्तु की अपेक्षा प्रमाता का महत्त्व अधिक है।

संक्षेप में, रिचर्डस के मतानुसार काव्यास्वाद अन्तर्विरोधी मनोवेगों के समंजन[3] द्वारा प्राप्त परितोष की अनुभूति है।

टी० एस० (एस०) इलियट

टी० एस० इलियट (सन् १८८८-१९६५) ने अपनी आलोचनात्मक कृतियों में मुख्यतः आलोचना की प्रकृति, आलोचक के कर्त्तव्य-कर्म, साहित्य में परम्परा और स्वच्छंदता, अभिजात साहित्य एवं नाटक का विवेचन किया है। काव्यानुभूति के सम्बन्ध में इनका अभिमत अपने आप में मौलिक न होने पर भी महत्त्वपूर्ण है। काव्यास्वाद के स्वरूप के विषय में उनका कथन है कि 'कलाकृति के रसास्वादन का अनुभव सहृदय के निकट कला से इतर किसी अन्य सूत्र से प्राप्त होने वाले अनुभव से भिन्न होता है। वह किसी एक भाव से अथवा कई भावों के संयोग से निर्मित हो सकता है और निष्पन्न कृति में विशेष शब्दों, पदावलियों अथवा बिम्बों के रूप में स्थित लेखक की भावनाओं का योग भी हो सकता है।'[4]

---

१. 'Both 'enjoyment' and 'Satisfaction' are unsuitable terms in this connection. . . .the full exercise of an activity is commonly its own 'satisfaction', and, as we shall see later, what pleasure may accompany it is derivative and incidental'

—वही, पृष्ठ ५२ की पाद टिप्पणी।

२. 'The balance is not in the structure of the stimuating object, it is in the response.'

—वही, ३२ वाँ अध्याय, पृष्ठ २४८।

३. 'But that so many different impulses should enter in is only what may be expected in an experience whose groundplan is a balance of opposities.'

—वही, पृष्ठ २५२।

४. 'The effect of a work of art upon the person who enjoys it is an experience different in kind from any experience not of art. It may be formed out of one emotion, or a combination of several; and various feelings, inhering for the writer in particular words or phrases or images, may be added to compose the final result.'

—T. S. Eliot Selected Essays (Tradition and the Individual Talent), p.18.

इस प्रकार इलियट की दृष्टि में काव्यानुभूति (काव्यास्वाद)—

(१) काव्येतर समस्त लौकिक अनुभवों से भिन्न एक विशिष्ट अनुभूति है।

(२) इसकी निष्पत्ति प्रमाता के विभिन्न जीवनानुभवों तथा कवि की मूल अनुभूति से तादात्म्य द्वारा होती है।

(३) यह एक मिश्र अनुभूति है।

(ज) समाहार एवं निष्कर्ष

होमर से लेकर पश्चिम के अधुनातन समीक्षकों एव सौंदर्यशास्त्रियों तक की लगभग ढाई हजार वर्षों की काव्यशास्त्रीय तथा सौंदर्यशास्त्रीय परम्परा में काव्यास्वाद के स्वरूप का विश्लेषण अनेकविध रूप में किया गया है। इन विवेचनाओं में काव्यास्वाद के स्वरूप के विषय में दृष्टि के वैविध्य का व्यापक विस्तार परिलक्षित होता है। उदाहरण के रूप में प्लेटो काव्या-स्वाद को निम्न प्रकार के मनोवेगों के उत्तेजन से निष्पन्न नितान्त ऐन्द्रिय एवं विगर्हणीय आनन्द मानकर उसे सर्वथा अकाम्य घोषित करते हैं, तो दूसरी ओर हीगेल आदि आत्मवादी सौंदर्यशास्त्री उसके लिए 'आत्माभिज्ञान', प्रमाता की चेतना का ससीम लौकिकता के वृत्त से वाहर 'सार्वभौमि-कता का असीम विस्तार' जैसी उदात्त शब्दावली का प्रयोग कर उसे अभिनन्दित करते हैं।

यहाँ पाश्चात्य काव्यशास्त्र एव सौंदर्यशास्त्र में निरूपित काव्यास्वाद-विपयक मन्तव्यों के विकासक्रम को अत्यंत संक्षेप में स्पष्ट करना समीचीन होगा। यूनान में प्लेटो से पूर्व होमर, हेसियड एवं गोर्जियस आदि ने काव्यास्वाद को उच्चकोटि की धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभूति एवं गंभीर नैतिकता से परिपुष्ट आनन्द मानने की जिस परम्परा का सूत्रपात किया था, प्लेटो ने उसकी पूर्ण अवहेलना कर उसे सर्वथा निम्न कोटि का विगर्हणीय ऐन्द्रिय आनंद घोषित किया। वाद में उन्हीं के शिष्य अरस्तू ने उसे 'कल्पनात्मक प्रत्यभिज्ञान की विवेक-सम्मत आनन्दमयी अनुभूति, मानकर उसे प्लेटो-पूर्व परम्परा के साथ संपृक्त किया। उनके परवर्ती रोमी-यूनानी आचार्य लॉन्जाइनस ने उसे ऐन्द्रिय-बौद्धिक अनुभवों से भिन्न दैवी प्रेरणा का प्रतिफल वताकर और भी अधिक ऊँची भूमि पर अधिष्ठित कर दिया। इसके वाद से पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय परम्परा में काव्यास्वाद की अवमानना नहीं की गई। पुनर्जागरण-काल के सिडनी और वेन जॉन्सन आदि आलोचक उसे 'आध्यात्मिक अनुभूति के समकक्ष सम्मोहनकारी आनन्द' की भव्य संज्ञा प्रदान करते हैं, तो सौंदर्यशास्त्री लीवनित्ज उसे 'सार्वभौमिक सामरस्य की अखण्ड अनुभूति' और देकार्त उसे बौद्धिक आनन्द मानते हैं। नव्यशास्त्रवादी युग के वोइलो, ड्रायडन, एडीसन, लॉक तथा वर्क काव्यास्वाद को अपने-अपने ढंग से चित्त-चमत्कार, भावोद्वेलन का आनन्द, संवेगोद्दीप्ति अथवा कल्पना का आनन्द एवं वस्तु-जगत् के ऐन्द्रिय विम्व और चारुतर कलात्मक विम्वों की पारस्परिक तुलना से प्राप्त आनन्द की अनुभूति मानते हैं। स्वच्छन्दतावादी कवि-आलोचक भी उसे सृजना-त्मक कल्पना एवं काव्य-भावन द्वारा उद्रिक्त प्रभाव-संवेगों से प्राप्त आनंदपूर्ण अनुभूति मानते हैं। इन्हीं के समसामयिक दार्शनिक काण्ट और हीगेल उसे क्रमशः 'सामंजस्य की अनुभवातीत सार्वभौमिक अनुभूति, तथा 'आत्माभिज्ञान एवं चेतन के सार्वभौमिक विस्तार का अनुभव' मानते हैं। आधुनिक युग में क्रोचे काव्यास्वाद को 'सहजानुभूति का विपयिगत आनन्द', रिचर्ड्स 'अन्तर्विरोधी मनोवेगों के समंजन की परितोपमयी अनुभूति' तथा इलियट 'कवि और प्रमाता के भाव-तादात्म्य की लौकिकेतर मिश्र अनुभूति' के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं।

इस प्रकार संपूर्ण पाश्चात्य चिन्तन के परिवृत्त में काव्यास्वाद-विषयक मूल अवधारणाएँ संक्षेप में एवं मुख्यतया निम्नांकित हैं:

१. वैषयिक-ऐन्द्रिय आनन्द—(प्लेटो)
२. बौद्धिक आनन्द—(देकार्त्ते आदि।)
३. कल्पना का आनन्द—(एडीसन, कॉलरिज आदि।)
४. संवेगोद्दीप्ति और भावोद्वेलन-जन्य आह्लाद—(बोइलो, ड्रायडन आदि।)
५. आध्यात्मिक आनन्द—(सिडनी, बेन जॉन्सन, काण्ट, हीगेल आदि।)
६. कवि एवं प्रमाता के भावगत तादात्म्य से प्राप्त आनन्द—(इस धारणा का संकेत होरेस के विवेचन में तथा स्पष्ट निरूपण क्रोचे और इलियट के विवेचन में प्राप्त होता है।)
७. पश्चिम में काव्यास्वाद-विषयक उक्त मूल अवधारणाओं के अतिरिक्त तत्संबंधी कुछ अन्य अवधारणाएँ भी उपलब्ध होती हैं—(क) रचना-कौशल से उत्पन्न चित्तचमत्कार—(ऑस्कर वाइल्ड), (ख) सुख-भ्रम का अवास्तविक आनन्द—(लॉक), (ग) वस्तु-जगत् के मूल बिम्बों तथा काव्य-निबद्ध बिम्बों की तुलना से प्राप्त आनन्द—(एडीसन, बर्क), (घ) सहजानुभूति का विषयिगत आनन्द—(क्रोचे) तथा (च) अन्तर्विरोधी मनोवेगों के समंजन से प्राप्त परितोषमयी अनुभूति—(रिचर्ड्स)।

आरम्भ काल के हिन्दी साहित्यशास्त्र में काव्यास्वाद का विवेचन

प्रस्तुत प्रबंध के प्रथम अध्याय में हिन्दी साहित्यशास्त्र के विकास-क्रम के अन्तर्गत आरंभकालीन हिन्दी-काव्यशास्त्र के परिवृत्त में केशव के पूर्ववर्ती निम्नांकित कवि एवं आचार्यों का उल्लेख किया गया है:

१. कृपाराम
२. सूरदास
३. गोपा
४. मोहनलाल मिश्र
५. नन्ददास
६. करनेस
७. बलभद्र मिश्र

इन कवि-आचार्यों में विभिन्न काव्यांगों के लक्षण-निरूपण अथवा उनके लक्षणों के अनुरूप काव्य-रचना की प्रवृत्ति में रीति-विवेचन के संस्कार असंदिग्ध रूप से विद्यमान हैं। वास्तव में केशव ने इन्हीं के काव्यों में सन्निहित रीति-संस्कारों को परिपक्व एवं प्रौढ़ रूप में ढाल कर हिन्दी की एक विशिष्ट काव्य-परम्परा और युग-प्रवृत्ति का प्रवर्त्तन किया। केशव के पचास वर्ष पश्चात् आचार्य चिंतामणि के समय से रीति-परम्परा का यह प्रवाह लगभग दो सौ वर्ष तक अनवरुद्ध रहा। इस प्रकार युग-प्रवृत्ति को भगवद्भक्ति से रीति-शृंगार की ओर उन्मुख करने वाले केशव तथा रीति-ग्रन्थों की अविच्छिन्न परम्परा के मध्य पचास वर्ष का अन्तराल रहा। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए आरंभकालीन कवि-आचार्यों के काव्यास्वाद-विषयक दृष्टिकोण के साथ ही आचार्य केशव की भी तद्विषयक मान्यताओं पर प्रकाश डालना समीचीन होगा। अध्ययन की सुविधा के लिए प्रस्तुत अध्याय की अध्ययन-सामग्री का विवेचन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जाएगा:

(क) आरंभकालीन रीति-ग्रंथों में काव्यास्वाद का विवेचन।
(ख) केशव के पूर्ववर्त्ती कवियों द्वारा काव्यास्वाद का निरूपण।
(ग) केशवदास का काव्यास्वाद-विवेचन।

(क) आरंभकालीन रीतिग्रंथों में काव्यास्वाद का विवेचन

(१) रस-निरूपक आचार्य

कृपाराम

हिन्दी-काव्यशास्त्र में रीति-विवेचन का प्रारंभ कृपाराम की 'हिततरंगिणी' से माना जाता है। स्वयं लेखक की आत्मस्वीकृति के अनुसार भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' का आश्रय

में आनन्द-प्रदाता तथा उसके उपभोक्ता के अभेद के आश्रय से काव्य के संसर्ग से प्रमाता के मन पर होने वाली आनन्दमयी प्रतिक्रिया का सृजन की स्थिति में कवि द्वारा प्राप्त आनन्द से अभेद स्थापित किया है। इस प्रकार यहाँ लेखक ने स्रष्टा और भावक के तादात्म्य की ओर संकेत किया है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कृपाराम के काव्यास्वाद-विषयक अभिमत का सारांश इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है:

१. काव्य का प्रमुख उद्देश्य प्रमाता को आनन्दमग्न करना है।
२. काव्यास्वाद की आनन्दमयता मूलतः उसकी अर्थगर्भिता और भाव-गहनता पर आश्रित है।
३. काव्यास्वाद ऐन्द्रिय विषयों और उनसे प्रेरित भावों की रमणीय अभिव्यक्ति के चमत्कार से निष्पन्न आनन्द है।
४. काव्यास्वादन की स्थिति में स्रष्टा और भावक में पूर्ण तादात्म्य स्थापित हो जाता है।

मोहनलाल मिश्र तथा बलभद्र मिश्र

आरंभकालीन रस-निरूपक ग्रंथों में कृपाराम की 'हिततरंगिणी' के अतिरिक्त मोहनलाल मिश्र के 'शृंगार-सागर' तथा केशव के अग्रज बलभद्र मिश्र के 'नखशिख' और 'रस-विलास' का उल्लेख भी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों[1] में मिलता है। मोहनलाल मिश्र का 'शृंगार-सागर' नायिका-भेद का निरूपण करने वाला रस-विवेचक ग्रंथ माना जाता है[2] तथा बलभद्र मिश्र के 'नख-शिख' और 'रस-विलास' भी अपने शीर्षकों से रस-निरूपक-ग्रंथ प्रतीत होते हैं, लेकिन अनुपलब्ध[3] होने के कारण आरंभकालीन रीति-आचार्यों के काव्यास्वाद-विषयक अभिमतों के विवेचन-क्रम में इन ग्रंथों का उपयोग संभव नहीं है।

(२) आरंभकालीन अलंकार-निरूपक आचार्य

आरंभकाल के केशव-पूर्ववर्ती अलंकार-निरूपक ग्रंथों में गोपा के 'रामालंकार', 'रामचंद्रभूषण' और 'रामचन्द्राभरण' तथा करनेस-कृत 'करुणाभरण' 'श्रुति-भूषण' और 'भूप-भूषण' उल्लेख्य हैं। इनमें से भी करनेस कवि की रचनाएँ अप्राप्य हैं।[4] गोप या गोपा के भी दो ही ग्रंथ—'रामचंद्राभरण' और 'रामचन्द्र भूषण' टीकमगढ़ के सवाई महेन्द्र पुस्तकालय (ओरछा) से प्राप्त हुए हैं।[5] 'रामचन्द्रभूषण' और 'रामचंद्राभरण' अलंकार-ग्रन्थ हैं। 'रामचन्द्रभूषण' में गोपा द्वारा रचित एक दोहा प्राप्त होता है, जिसमें अलंकार के स्वरूप-विवेचन के साथ ही उनकी काव्यास्वाद-विषयक धारणा पर भी प्रकाश पड़ता है। वह इस प्रकार है—

---

१. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास : षष्ठ भाग, सं० डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ १६७, १७७।
२. वही, पृष्ठ १६६।
३. वही, पृष्ठ १६९।
४. वही, पृष्ठ ४४३।
५. वही, पृष्ठ ४५५।

शब्द अर्थ रचना रुचिर, अलंकार सों जान।
भाव भेद गुन रूप ते, प्रगट होत है आन॥[1]

अर्थात्—

शब्द और अर्थ की सुन्दर (रुचिर) रचना ही अलंकार है जिनकी उद्‌भूति भाव, रस और गुण के सौंदर्य से होती है।

विश्लेषण

उक्त दोहे का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि गोपा अलंकार को शब्दार्थ का सुन्दर एवं कलात्मक विन्यास—दूसरे शब्दों में काव्य के वाह्य सौंदर्य का विधायक तत्त्व—मानते हुए भी उसे रस, गुण एवं भावगत सौंदर्य के आश्रित मानते हैं। उनकी दृष्टि में काव्य में अलंकारों का अनिवार्य महत्त्व होते हुए भी उनकी रस-भाव-निरपेक्ष सर्वथा स्वतंत्र सत्ता नहीं हो सकती; शब्दार्थगत चमत्कार से संयुक्त आलंकारिक रचना भी भावादि के सौंदर्य से संयुक्त हो कर ही आस्वाद-योग्य बनती है।

निष्कर्ष रूप में, भाव, गुण आदि के आन्तरिक सौंदर्य से प्रेरित शब्दार्थ के रमणीय संयोजन से उद्‌भूत प्रमाता का आनन्दपूर्ण अन्तश्चमत्कार ही गोपा के मतानुसार काव्यास्वाद है।

(ख) रीति-पूर्व प्रमुख कवियों द्वारा काव्यास्वाद का निरूपण

प्रस्तुत प्रबंध के विवेच्य विषय की परिसीमा को दृष्टि में रखते हुए आरंभकालीन कवियों के काव्यास्वाद-विषयक दृष्टिकोण के विवेचन-क्रम में केशव के पूर्ववर्ती केवल उन्हीं कवियों के अभिमतों का परीक्षण समीचीन होगा जिनके काव्यों में रीति-विवेचन के संकेत सर्वथा स्पष्ट एवं निर्भ्रान्त हैं। इस दृष्टि से केशव-पूर्व के प्रमुख कवियों में सूरदास, नन्ददास तथा रहीम के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सूर की 'साहित्य-लहरी', नन्ददास की 'रसमंजरी' तथा रहीम का 'बरवै नायिका-भेद'—इन तीनों ग्रंथों का संबंध नायिका-भेद-निरूपण से है। इनमें से नन्ददास की 'रसमंजरी' इस दृष्टि से विशिष्ट है कि जहाँ सूर की 'साहित्य-लहरी' और रहीम के 'बरवै-नायिका-भेद' में विभिन्न नायिकाओं का स्वरूप-वर्णन केवल उदाहरण रूप में ही किया गया है, वहाँ नन्ददास ने अपने ग्रंथ में विभिन्न नायिकाओं के लक्षण भी प्रस्तुत किये हैं।

सूरदास

सूरदास की 'साहित्य-लहरी' का वैशिष्ट्य स्वकीया-परकीया, ज्ञातयौवना-अज्ञात-यौवना, मध्या-प्रौढ़ा नायिका[2] आदि विभिन्न नायिकाभेदों तथा अलंकारों को उदाहृत करने में है।[3] इसी विशेषता को लक्षित करते हुए कृपाराम की 'हिततरंगिनी' के पश्चात् यह हिन्दी का

---

१. डॉ० भगीरथ मिश्र : हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ १०९ पर उद्धृत।

२. सूरदास : साहित्य-लहरी, व्याख्याकार—प्रभुदयाल मीतल, साहित्य-संस्थान, मथुरा। देखिए—पद सं० १, ८; ३, २; ४, ५।

३. सूरदास : साहित्य-लहरी, व्याख्याकार—प्रभुदयाल मीतल, साहित्य-संस्थान, मथुरा। उदाहरण के लिए पद सं० २ देखिए। यह पद अज्ञातयौवना नायिका तथा लुप्तोपमालंकार का उदाहरण है।

दूसरा काव्यशास्त्रीय ग्रंथ माना गया है।[१] लेकिन सूरदास के इस ग्रंथ से उनके काव्यानन्द-(रस-) विषयक दृष्टिकोण पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। सम्पूर्ण ग्रंथ में 'रस' शब्द एकाध स्थल पर ही प्रयुक्त हुआ है—एक स्थल पर तो सूरदास ने दृष्टिकूट पद-रचना की शैली में 'रस' शब्द के प्रयोग द्वारा षड्रसों की ओर संकेत किया है।[२] (स्पष्ट ही है कि यहाँ कवि को काव्यगत नव-रसों की ओर इंगित करना अभीष्ट नहीं है), अन्यत्र उनकी उक्ति है—

सूर रसवत देखियै, नँदनंद जीवन मूर।[३]

अर्थात्—

उस जीवनमूल नंदनंदन को रस-रूप में ही देखिए। यहाँ 'रसवत' शब्द का प्रयोग द्व्यर्थक है, श्रीकृष्ण को रस रूप या आनन्द रूप कहने के अतिरिक्त कवि आलंकारिकों के 'रसवत्' अलंकार की ओर भी लक्ष्य करना चाहता है।

सूरदास के काव्यास्वाद-विषयक अभिमत का सन्धान करने के लिए उनका 'सूर-सागर' 'साहित्यलहरी' की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। उनके काव्यास्वाद-संबंधी दृष्टि-कोण को जानने के लिए 'सूरसागर' से उद्धृत निम्न-लिखित पंक्तियाँ कुछ उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं—

१. सूरदास प्रभु नव-रस विलसत नवल राधिका जोवन-भोरी[४] ॥६२५।१३०३॥

अर्थात्—अपने यौवन से अनभिज्ञ नवयौवना राधिका-सहित श्रीकृष्ण जहाँ विहार कर रहे हैं, वहाँ नवरस सुशोभित हो रहे हैं।

२. गुन-सागर अरु रस-सागर मिलि, मानत सुख व्यवहार।
सूर स्याम स्यामा नव रस रमि, रीझे नन्दकुमार[५]॥ ६८७॥१३०५॥

अर्थात्—

गुन-सागर (राधा) और रस-सागर (श्रीकृष्ण) परस्पर मिलन से सुख का अनुभव करते हैं। इस प्रकार श्याम और श्यामा (राधा) दोनों नवरस में मग्न हैं—नंदकुमार कृष्ण अत्यंत प्रसन्न हैं।

३. सूरदास रसरासि बरसि कै चली,
जनौ हर-तिलक कुहू उग्यौ री।[६] ६३१।१३०९॥

---

१. सम्मेलन-पत्रिका, पौष संवत् २००२, महावीर सिंह गहलौत का लेख।

२. सूरदास : साहित्य-लहरी, व्याख्याकार—प्रभुदयाल मीतल, साहित्य-संस्थान, मथुरा। पद सं० १०८, पृष्ठ २०१।

३. वही, पद सं० १०५, पृष्ठ १९७।

४. सूरसागर, सं० आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, प्रथम खंड (दशम स्कन्ध), पृष्ठ ५०१।

५. वही।

६. वही, पृष्ठ ५०३।

अर्थात्---राधा-कृष्ण के रस-विलास से आनन्द-वर्षा होने लगी, मानो अमावस्या की रात्रि में अनायास ही चन्द्रमा का उदय हो गया हो।

४. 'सूरदास फल गिरिधर नागर, मिलिरस-रीति ठई' ॥१७६२॥२३८०॥

अर्थात्---(प्रेमवेलि का रूपक) इस वेलि पर गिरिधर नागर का फल लग जाने से रस की रीति स्थापित हो गई।

विश्लेषण

उपर्युक्त तथा इसी प्रकार की अन्य अनेकानेक पंक्तियों से सूर के काव्य-रस से पूर्ण परिचय की पुष्टि हो जाती है। 'रस' शब्द के आनन्द के अर्थ में प्रयोग से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि वे काव्य की आनन्दमयता के विषय में पूर्णतः आश्वस्त थे। उनके द्वारा किए गए 'नवरस' के उल्लेख में तो इस तथ्य का प्रबल प्रमाण उपस्थित है कि रस के सामान्य आनन्दपरक अर्थ के अतिरिक्त उसके काव्यास्वादपरक अर्थ का भी उन्हें पूर्ण ज्ञान था। 'रस-रीति' शब्द का प्रयोग तो उनके रस-विषयक शास्त्रीय ज्ञान तथा रीति-विवेचन की परम्परा से परिचय को भी प्रमाणित कर देते हैं, किन्तु भक्त-कवि होने के कारण उनके काव्यानन्द-विषयक अभिमत का विवेचन विशेष पृष्ठभूमि में ही करना तर्क-संगत होगा।

कृष्णभक्ति के वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित सूर ने अनेक स्थलों पर परब्रह्म-रूप कृष्ण के सगुण-साकार रूप को रस-रूप कहा है तथा उनके इसी रस-रूप के राधा-गोपियों के साथ आनन्द विहार के संदर्भ में ही नवरस के प्रसार की बात कही है। सूरदास स्वयं भी इस रस का उपभोग करते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सूरदास की दृष्टि में---

१. रस अथवा काव्यानन्द आध्यात्मिक आनन्द है।
२. इस आध्यात्मिक रस का आलम्बन ब्रह्म का सगुण-साकार लीलाकारी रूप है।
३. इस आध्यात्मिक रस का उपभोक्ता भक्त होता है। ब्रह्म के रस-रूप के साक्षात्कार से उसका चित्त चमत्कृत हो उठता है तथा वह विस्मय-विमुग्ध और आत्मविस्मृत हो कर समस्त लोक-व्यवहारों की उपेक्षा करने लगता है।[२]

---

१ सूर सागर (द्वितीय खंड), काशी नागरी प्रचारिणी सभा, दशम स्कन्ध, पृष्ठ ८६५।

२. टिप्पणी---सूरदास ने अनेक स्थलों पर कृष्ण के अपार सौंदर्य के दर्शन से गोपियों की विस्मय-विमुग्ध तथा आत्मविस्मृत दशा का वर्णन किया है, उदाहरणार्थ---

तन मन नारि डारतिं वार।
स्याम सोभा-सिंधु जान्यौ, अंग-अंग निहारि॥

... ...

चकित भई तिय निरखि सोभा देह-गति बिसराई।
॥१८२०॥२४३८॥

---सूरसागर (द्वितीय खण्ड), दशम स्कन्ध, पृष्ठ ८८३-८८४।

इसी प्रकार मुरली की मधुर ध्वनि सुन कर सम्मोहित गोपियों का लोक-लाज की उपेक्षा कर देना तो लोक-प्रसिद्ध है ही; सूर ने अनेक पदों में इसका वर्णन किया है।

४. भक्त के इस अन्तश्चमत्कार की चरम परिणति अखण्ड आनन्द की स्थिति में होती है जिसमें वह सगुण ब्रह्म के लोक में उसी के समान आनन्द-विहार करता हुआ मग्न हो जाता है। सूरदास ने इसी आध्यात्मिक आनन्द को अत्यंत आग्रहपूर्वक 'रस' और 'नवरस' कहा है जिससे यह ध्वनि निकलती है कि वे भक्त-रूप में उस विशुद्ध आध्यात्मिक रस की प्रतीति करते हैं तथा अपनी सृजन-प्रतिभा द्वारा उसकी रमणीय अभिव्यक्ति कर उपभोक्ता के रूप में पुनः जिस आनन्द का आस्वादन करते हैं, वही उनकी दृष्टि में काव्यास्वाद या रसानुभूति है।

संक्षेप में, सूर ने राधा-कृष्ण के आनन्द-विहार के समय जिस आत्मगत आनन्दानुभूति की चर्चा की है, काव्यगत आनन्द भी उसी का प्रतिरूप है।

नंददास

अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नन्ददास की काव्य-कृतियों में रीति-विवेचन की प्रवृत्ति सूरदास की अपेक्षा अधिक स्पष्ट एवं मुखर है। उनकी 'रूपमंजरी', 'रसमंजरी' तथा 'विरहमंजरी' कृतियाँ तो अत्यन्त स्पष्ट रूप से रीतिबद्ध हैं। 'रसमंजरी', नायिका-भेद-निरूपक ग्रंथ है जिसमें नन्ददास ने स्वयं अपने ही कथनानुसार भानुदत्त की 'रसमंजरी' का आधार ग्रहण किया है,[१] यद्यपि उनका नायिकाओं का वर्गीकरण भानुदत्त के सर्वथा समान नहीं है।[२] 'विरहमंजरी' भी विप्रलम्भ शृंगार के भेदोपभेदों का निरूपण होने के कारण रस-निरूपक ग्रंथ है। 'रूपमंजरी' रीतिबद्ध शैली में प्रेम-तत्त्व का निरूपण करने वाला प्रेमाख्यानक काव्य है। यद्यपि नन्ददास के उक्त तीनों ग्रन्थ निर्विवाद रूप से रीतिबद्ध ग्रन्थ हैं, तथापि उनका काव्यास्वाद-विषयक दृष्टिकोण प्रमुखतः उनकी भक्तिरस से परिपूर्ण-काव्य-कृतियों 'रासपंचाध्यायी' और 'श्रीकृष्ण-सिद्धान्त-पंचाध्यायी' में व्यक्त हुआ है। कतिपय संकेत-सूत्र उनकी अन्य कृतियों में भी उपलब्ध हैं।

---

१. रसमंजरि अनुसार कै, 'नंद' सुमति अनुसार।
बरनत वनिता-भेद जहँ, प्रेम सार विस्तार २४॥
—नंददास ग्रन्थावली, सं० ब्रजरत्नदास, रसमंजरी, पृष्ठ १२७।

२. टिप्पणी—उदाहरणार्थ भानुदत्त ने स्वकीया के मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा तीन भेद किए हैं—स्वीयां विभजते—
स्वीया तु त्रिविधा—मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा चेति।
—भानुदत्त कृत रसमंजरी, सुरभि व्याख्या, व्याख्याकार—पं० बदरीनाथ शर्मा, पृष्ठ ७।

किन्तु नन्ददास ने स्वकीया, परकीया और सामान्या ये तीनों भेद तीनों नायिकाओं के किए हैं—
जग में जुवती त्रय परकार। ... ...
प्रथम स्वकीया पुनि परकीया। इक सामानि बखानी तिया॥
ते पुनि तीन तीन परकार। मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ विहार॥

नन्ददास के काव्यास्वाद-विषयक दृष्टिकोण के विवेचन के लिए उनकी काव्य-कृतियां के निम्नलिखित उद्धरण विशेष रूप से उपयोगी होंगे—

१. है जो कछू रस इहि संसार। ताकहुँ प्रभुतुम ही आधार॥
ज्यों अनेक सरिता जल वहै। आनि सब सागर में रहै॥[1]

अर्थात्—इस संसार में जो कुछ भी 'रस' है उसके प्रभु ही एकमात्र आधार हैं। जिस प्रकार जल अनेक नदियों में प्रवहमान होता हुआ अन्ततः सागर में निमग्न हो जाता है (उसी प्रकार सभी लौकिक रस ईश्वरोन्मुख हैं)।

२. सब रस कौ निर्त्तास रास रस कहिए सोई।[2]

अर्थात्—समस्त रसों का सार 'रास रस' है।

३. नव रस, रस घृत, रस अमृत, रस विषया अरु नीर।
रस वर को रस प्रेम रस, जाके बस बलवीर॥[3]

अर्थात्—नव रस, घृत, अमृत, विषय-रस और जल—इन समस्त रसों में श्रेष्ठ रस प्रेम-रस ही है, स्वयं श्रीकृष्ण भी जिसके वशीभूत हैं।

४. सकल शास्त्र सिद्धान्त परम एकान्त महा रस।
जाकैं रंचक सुनत गुनत श्रीकृष्ण होत बस॥[4]

अर्थात्—यह महारस संसार के समस्त शास्त्रों और सिद्धान्तों से एकान्तः महत्तर है जिसके रंचमात्र श्रवण एवं अनुसरण से ही श्रीकृष्ण वश में हो जाते हैं।

५. अदभुत रस रह्यो रास गीत धुनि सुनि मोहे मुनि।
सिला सलिल ह्वै चली सलिल ह्वै रह्यो सिला पुनि॥[5]

अर्थात्—(चारों ओर) अद्भुत रास-रस व्याप्त हो गया, मुनि गीत की ध्वनि सुन कर मुग्ध हो गए, शिला द्रवित हो कर जल में परिणत हो गई तथा जल जड़ीभूत होकर शिलावत् हो गया।

६. यह अदभुत रस रासि कहत कछु नहिं कहि आवै।[6]

अर्थात्—इस अद्भुत रस-राशि का वर्णन नहीं किया जा सकता।

---

१. नंददास ग्रंथावली, रसमंजरी, पृष्ठ १२६।
२. वही, (श्रीकृष्ण-सिद्धान्त-पंचाध्यायी), दोहा सं० १३, पृष्ठ ३१।
३. वही, अनेकार्थ-ध्वनि मंजरी, दोहा सं० ११९, पृष्ठ ५४।
४. वही, श्रीकृष्ण-सिद्धान्त-पंचाध्यायी, दोहा सं० १३६, पृष्ठ ४०।
५. वही, रासपंचाध्यायी (पाँचवाँ अध्याय), दोहा सं० २२, पृष्ठ १८।
६. वही, दोहा सं० ३०, पृष्ठ १९।

७. जैसोइ कृष्ण अखंड रूप चिदरूप उदारा।
तैसोइ उज्जल रस अखंड तिन कर परिवारा॥[1]

अर्थात्—जैसे श्रीकृष्ण अखंड, चित्-रूप तथा उदार हैं, वैसा ही यह 'उज्ज्वल रस' भी अखण्ड तथा उनका समवर्गी है।

८. अनाधिकारी जिते तिते सुनि सुनि मुरझाए।
अदभुत रास बिलास सुरस देखन नहिं पाए॥[2]

अर्थात्—जितने अनधिकारी थे, वे इस अद्भुत एवं सरस रास-विलास को देख नहीं सके तथा वे भी (उसकी सरस ध्वनि को) सुनते ही मुरझा गए।

विश्लेषण

नंददास के मतानुसार काव्यानन्द मूलतः आध्यात्मिक आनन्द है। सूरदास आदि अन्य कृष्णभक्त कवियों की भाँति ही नन्ददास की काव्य-कृतियों में निरूपित शृंगार रस की आध्यात्मिकता आलम्बन के अलौकिक होने के कारण असंदिग्ध है। इसके अतिरिक्त इन्होंने सर्वथा स्पष्ट एवं निर्भ्रान्ति शब्दों में रस को ब्रह्म के आश्रित माना है। इस रस के उनके द्वारा 'रास-रस', 'महारस', 'उज्ज्वल रस' आदि नामों से अभिहित किए जाने से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। वास्तव में नंददास की रस-प्रकल्पना समस्त साहित्यशास्त्रीय रसों में भक्ति रस की सर्वोत्कृष्टता सिद्ध करने वाले गौड़ीय वैष्णव आचार्य श्री रूप गोस्वामी के प्रसिद्ध ग्रंथों—'भक्तिरसामृत-सिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि'—से निश्चय ही प्रभावित है। रूप-गोस्वामी के समान ही नन्ददास ने भी भक्ति-रस को 'उज्ज्वल-रस'[3] की संज्ञा प्रदान की

---

१. वही, श्रीकृष्ण-सिद्धान्त-पंचाध्यायी, दोहा सं० ९१, पृष्ठ ३७।
२. वही, रासपंचाध्यायी (परिशिष्ट), दोहा ७२, पृष्ठ २६।
३. (क) भक्तानां हृदि राजन्ती संस्कारयुगलोज्ज्वला।
रतिरानन्दरूपैव नीयमाना तु रस्यताम्॥१०॥
—हिन्दी भक्तिरसामृतसिन्धु, भाष्यकार—आचार्य विश्वेश्वर, (दक्षिण-विभागे प्रथमा विभावलहरी), पृष्ठ ११६।
(ख) 'भक्तिरसामृतसिन्धावप्यलक्षितचरप्रायमतिरहस्यमुज्ज्वलरसमुज्ज्वलं नीलमणिमिव...'
—श्री रूपगोस्वामी विरचित उज्ज्वलनीलमणि, (जीवगोस्वामी विरचित 'लोचनरोचिनी' व्याख्या तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती विरचित 'आनन्दचंद्रिका' व्याख्या सहित), द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २ पर 'आनन्दचन्द्रिका' व्याख्या के अनुसार।
(ग) 'यह उज्जल रसमाल कोटि जतनन करि पोई।'
—नंददास ग्रंथावली, रासपंचाध्यायी (पांचवां अध्याय), दोहा सं० ४०, पृष्ठ १९।

है तथा उसे 'महारस' कहते हुए समस्त लौकिक रसों का सार और उद्गम एवं पर्यवसान माना है।[1]

उपर्युक्त पाँचवें उद्धरण में नंददास ने इस 'रास रस' अथवा 'महारस' के प्रमाता के मन पर पड़ने वाले सम्मोहनकारी प्रभाव का भी भावात्मक वर्णन किया है। राधा-कृष्ण के सरस रास-विलासजन्य मधुर-रस का आस्वादन कर सहृदय का चित्त मन्त्रमुग्ध होकर द्रवित हो जाता है—प्रमाता के चित्त की यह द्रुति ही नन्ददास की दृष्टि में काव्यास्वाद है।

भारतीय काव्यशास्त्र की रस-प्रकल्पना के अनुरूप ही नन्ददास ने भक्तिरस के आस्वाद की अनिर्वचनीयता तथा अखंडता पर भी प्रकाश डाला है।

इसी संदर्भ में नन्ददास ने इस आध्यात्मिक रस के अधिकारी एवं अनधिकारी[2] की चर्चा करते हुए रसास्वादन के लिए सहृदय की आस्वादन-क्षमता की भी महत्त्व-प्रतिष्ठा की है।

संक्षेप में, नन्ददास के काव्यास्वाद-विषयक अभिमत के विश्लेषण के उपरान्त निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

१. काव्यास्वाद एक आनन्दमयी अनुभूति है।
२. यह आनन्द आध्यात्मिक आनन्द है।
३. (नन्ददास ने) इस आध्यात्मिक-लोकोत्तर आनन्द को 'उज्ज्वल रस', 'रास-रस', 'प्रेम रस', 'मधुर-रस' आदि विभिन्न नामों से अभिहित किया है।
४. यह उज्ज्वल रस ही समस्त लौकिक रसों का सारभूत 'महारस' है। समस्त लौकिक रस इसी से उद्भूत एवं उसी में पर्यवसित होते हैं।
५. इस रास-रस के सम्मोहनकारी प्रभाव से प्रमाता का चित्त मन्त्रमुग्ध और द्रवित हो जाता है—प्रमाता के चित्त की यह द्रुति ही काव्यास्वाद है।
६. काव्यानन्द अनिर्वचनीय एवं अखण्ड आनन्द है।
७. आस्वादन-सामर्थ्य से युक्त काव्य का वास्तविक अधिकारी ही इस आनंद की प्रतीति कर सकता है। दूसरे शब्दों में, काव्यानन्द सहृदय-सापेक्ष है।

रहीम

नन्ददास के उपरान्त केशव-पूर्ववर्ती आरंभकालीन कवियों में रहीम का नाम महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने 'बरवै-नायिका-भेद' नामक रीति-ग्रन्थ की रचना कर हिन्दी की रीति-परम्परा को

---

१. (क) मुख्यरसेषु पुरा यः संक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात्।
पृथगेव भक्तिरसराट् स विस्तरेणोच्यते मधुरः॥२॥
—उज्ज्वलनीलमणि, कारिका सं० २, पृष्ठ ४।

(ख) टिप्पणी—'भक्तिरसामृतसिंधु' में रूपगोस्वामी ने समस्त काव्यशास्त्रीय रसों का उद्गम एवं पर्यवसान भक्ति रस में ही दिखाया है।
—देखिए, हिन्दी भक्तिरसामृतसिंधु, पश्चिम विभाग, पृष्ठ ३१७-४२०।

२. तुलना के लिए द्रष्टव्य—
प्राक्तन्याधुनिकी चास्ति यस्य सद्भक्तिवासना।
एष भक्तिरसास्वादस्तस्यैव हृदि जायते ॥७॥
—हिन्दी भक्तिरसामृतसिन्धु (दक्षिण-विभागे प्रथमा विभावलहरी), पृष्ठ ११५।

७. जैसोइ कृष्ण अखंड रूप चिदरूप उदारा।
तैसोइ उज्जल रस अखंड तिन कर परिवारा॥[1]

अर्थात्—जैसे श्रीकृष्ण अखंड, चित्-रूप तथा उदार हैं, वैसा ही यह 'उज्ज्वल रस' भी अखण्ड तथा उनका समवर्गी है।

८. अनाधिकारी जिते तिते सुनि सुनि मुरझाए।
अदभुत रास बिलास सुरस देखन नहि पाए॥[2]

अर्थात्—जितने अनधिकारी थे, वे इस अद्‌भुत एवं सरस रास-विलास को देख नहीं सके तथा वे भी (उसकी सरस ध्वनि को) सुनते ही मुरझा गए।

विश्लेषण

नंददास के मतानुसार काव्यानन्द मूलतः आध्यात्मिक आनन्द है। सूरदास आदि अन्य कृष्णभक्त कवियों की भाँति ही नन्ददास की काव्य-कृतियों में निरूपित श्रृंगार रस की आध्यात्मिकता आलम्बन के अलौकिक होने के कारण असंदिग्ध है। इसके अतिरिक्त इन्होंने सर्वथा स्पष्ट एवं निर्भ्रान्त शब्दों में रस को ब्रह्म के आश्रित माना है। इस रस के उनके द्वारा 'रास-रस', 'महारस', 'उज्ज्वल रस' आदि नामों से अभिहित किए जाने से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। वास्तव में नंददास की रस-प्रकल्पना समस्त साहित्यशास्त्रीय रसों में भक्ति रस की सर्वोत्कृष्टता सिद्ध करने वाले गौड़ीय वैष्णव आचार्य श्री रूप गोस्वामी के प्रसिद्ध ग्रंथों—'भक्तिरसामृत-सिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि'—से निश्चय ही प्रभावित है। रूप-गोस्वामी के समान ही नन्ददास ने भी भक्ति-रस को 'उज्ज्वल-रस'[3] की संज्ञा प्रदान की

---

१. वही, श्रीकृष्ण-सिद्धान्त-पंचाध्यायी, दोहा सं० ९१, पृष्ठ ३७।
२. वही, रासपंचाध्यायी (परिशिष्ट), दोहा ७२, पृष्ठ २६।
३. (क) भक्तानां हृदि राजन्ती संस्कारयुगलोज्ज्वला।
रतिरानन्दरूपैव नीयमाना तु रस्यताम्॥१०॥
—हिन्दी भक्तिरसामृतसिन्धु, भाष्यकार—आचार्य विश्वेश्वर, (दक्षिण-विभागे प्रथमा विभावलहरी), पृष्ठ ११६।
(ख) 'भक्तिरसामृतसिन्धावप्यलक्षितचरप्रायमतिरहस्यमुज्ज्वलरसमुज्ज्वलं नीलमणिमिव...'
—श्री रूपगोस्वामी विरचित उज्ज्वलनीलमणि, (जीवगोस्वामी विरचित 'लोचनरोचिनी' व्याख्या तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती विरचित 'आनन्दचंद्रिका' व्याख्या सहित), द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २ पर 'आनन्दचन्द्रिका' व्याख्या के अनुसार।
(ग) 'यह उज्जल रसमाल कोटि जतनन कै पोई।'
—नंददास ग्रंथावली, रासपंचाध्यायी (पाँचवाँ अध्याय), दोहा सं० ४०, पृष्ठ १९।

है तथा उसे 'महारस' कहते हुए समस्त लौकिक रसों का सार और उद्‌गम एवं पर्यवसान माना है।[1]

उपर्युक्त पाँचवें उद्धरण में नंददास ने इस 'रास रस' अथवा 'महारस' के प्रमाता के मन पर पड़ने वाले सम्मोहनकारी प्रभाव का भी भावात्मक वर्णन किया है। राधा-कृष्ण के सरस रास-विलासजन्य मधुर-रस का आस्वादन कर सहृदय का चित्त मन्त्रमुग्ध होकर द्रवित हो जाता है—प्रमाता के चित्त की यह द्रुति ही नन्ददास की दृष्टि में काव्यास्वाद है।

भारतीय काव्यशास्त्र की रस-प्रकल्पना के अनुरूप ही नन्ददास ने भक्तिरस के आस्वाद की अनिर्वचनीयता तथा अखंडता पर भी प्रकाश डाला है।

इसी संदर्भ में नन्ददास ने इस आध्यात्मिक रस के अधिकारी एवं अनधिकारी[2] की चर्चा करते हुए रसास्वादन के लिए सहृदय की आस्वादन-क्षमता की भी महत्व-प्रतिष्ठा की है।

संक्षेप में, नन्ददास के काव्यास्वाद-विषयक अभिमत के विश्लेषण के उपरान्त निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

१. काव्यास्वाद एक आनन्दमयी अनुभूति है।
२. यह आनन्द आध्यात्मिक आनन्द है।
३. (नन्ददास ने) इस आध्यात्मिक-लोकोत्तर आनन्द को 'उज्ज्वल रस', 'रास-रस', 'प्रेम रस', 'मधुर-रस' आदि विभिन्न नामों से अभिहित किया है।
४. यह उज्ज्वल रस ही समस्त लौकिक रसों का सारभूत 'महारस' है। समस्त लौकिक रस इसी से उद्‌भूत एवं उसी में पर्यवसित होते हैं।
५. इस रास-रस के सम्मोहनकारी प्रभाव से प्रमाता का चित्त मन्त्रमुग्ध और द्रवित हो जाता है—प्रमाता के चित्त की यह द्रुति ही काव्यास्वाद है।
६. काव्यानन्द अनिर्वचनीय एव अखण्ड आनन्द है।
७. आस्वादन-सामर्थ्य से युक्त काव्य का वास्तविक अधिकारी ही इस आनंद की प्रतीति कर सकता है। दूसरे शब्दों में, काव्यानन्द सहृदय-सापेक्ष है।

रहीम

नन्ददास के उपरान्त केशव-पूर्ववर्ती आरंभकालीन कवियों में रहीम का नाम महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने 'बरवै-नायिका-भेद' नामक रीति-ग्रन्थ की रचना कर हिन्दी की रीति-परम्परा को

---

१. (क) मुख्यरसेषु पुरा यः संक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात्।
पृथगेव भक्तिरसराट् स विस्तरेणोच्यते मधुरः ॥२॥
—उज्ज्वलनीलमणि, कारिका सं० २, पृष्ठ ४।

(ख) टिप्पणी—'भक्तिरसामृतसिंधु' में रूपगोस्वामी ने समस्त काव्यशास्त्रीय रसों क उद्‌गम एवं पर्यवसान भक्ति रस में ही दिखाया है।
—देखिए, हिन्दी भक्तिरसामृतसिंधु, पश्चिम विभाग, पृष्ठ ३१७-४२०।

२. तुलना के लिए द्रष्टव्य—
प्राक्तन्याधुनिकी चास्ति यस्य सद्‌भक्तिवासना।
एष भक्तिरसास्वादस्तस्यैव हृदि जायते ॥७॥
—हिन्दी भक्तिरसामृतसिन्धु (दक्षिण-विभागे प्रथमा विभावलहरी), पृष्ठ ११५।

पुष्ट किया। रहीम की कृतियों का एक संग्रह इलाहाबाद से श्री लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी के सम्पादन में 'रहीम रत्नावली' के नाम से प्रकाशित हुआ है, जिसमें संगृहीत 'वरवै नायिका-भेद' में विभिन्न नायिकाओं के केवल उदाहरण ही रहीम द्वारा रचित हैं, लक्षण मतिराम के 'रसराज' से उद्धृत हैं।[1] इससे स्पष्ट है कि रहीम ने नायिकाओं की स्वरूप-व्याख्या केवल उदाहरण-रूप में की थी। अतएव यह एक रीतिबद्ध रचना ही कहला सकती है, रीतिग्रंथ नहीं।

काव्यास्वाद के स्वरूप के सम्बन्ध में रहीम ने कुछ विशेष नहीं लिखा। उनके काव्य से केवल कुछ ही ऐसे उद्धरणों का चयन किया जा सकता है जो काव्यास्वाद के स्वरूप-विवेचन में उपयोगी सिद्ध हो सकें। वे निम्नलिखित हैं—

१. कवित कह्यो दोहा कह्यो, तुलै न छप्पय छंद।
बिरच्यो यही विचारि कैं, यह वरवा रस कंद॥१॥[2]

अर्थात्—मैं कवित्त और दोहों में रचना कर चुका, छप्पय छंद इनकी समता नहीं कर सकता। इसी विचार से मैंने रस के मूल वरवै छंद में रचना की है।

२. बेधक अनियारो बड़ो, समझै चतुर सुजान।
सुनत जात चित चाव पै, यह वरवै के बान॥२॥[3]

अर्थात्—ये वरवै छंद के वाण वहुत तीखे और हृदय को वेधने वाले हैं। इन्हें कोई चतुर और विज्ञ व्यक्ति ही समझ सकता है। इसका आस्वादन सुरुचिपूर्वक किया जाता है।

विवेचन

उपर्युक्त उद्धरणों में रहीम के काव्यास्वाद-विषयक अभिमत के कतिपय संकेत-सूत्र ही उपलब्ध हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इस संदर्भ में कुछ नहीं कहा। इसका विश्लेषण कर कुछ निष्कर्ष अवश्य निकाले जा सकते हैं। वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

१. प्रथम उद्धरण से स्पष्ट है कि रहीम की दृष्टि में सरसता काव्य-रचना का सर्वप्रमुख एवं अनिवार्य अनुवंव तथा मूल प्रयोजन है।
२. काव्य का सहृदय के चित्त पर अत्यंत तीव्र तथा मर्म-वेधी प्रभाव पड़ता है। काव्य-सौंदर्य से चमत्कृत होकर प्रमाता जो आनन्दमयी अनुभूति करता है, रहीम की दृष्टि में वही काव्यास्वाद है।
३. काव्यास्वादन की सामर्थ्य किसी प्रतिभावान् एवं विज्ञ व्यक्ति में ही सम्भव है। दूसरे शब्दों में प्रतिभावान्, विज्ञ एवं सुयोग्य भावक ही काव्यास्वाद का वास्तविक अधिकारी है।

---

१. देखिए—रहीम रत्नावली, सं० श्री लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी, भारतवासी प्रेस, इलाहाबाद, 'वरवै नायिका-भेद', पृष्ठ ३३-५५।
२. वही 'वरवै नायिका-भेद', दोहा सं० १, पृष्ठ ३३।
३. वही, दोहा सं० २, पृष्ठ ३३।

४. काव्यास्वादन के लिए सहृदय में सुरुचि का संस्कार भी अपेक्षित है, अर्थात् काव्यानन्द की प्राप्ति के लिए भावक का प्रवीण होने के साथ ही काव्य-रसिक होना भी आव- श्यक है।

संक्षेप में, काव्य-सौंदर्य से चमत्कृत होकर प्रतिभावान, विज्ञ, प्रवीण एवं रसिक प्रमाता सुरुचिपूर्वक काव्य के मर्म से पूर्णतः अवगत होने के उपरान्त जिस आनन्द का आस्वादन करता है—रहीम की दृष्टि में वही काव्यास्वाद है।

(ग) केशवदास का काव्यास्वाद-विवेचन

हिन्दी में संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के आधार पर लक्षण-उदाहरण-सहित काव्य के सर्वांग-विवेचन की नवीन एवं मौलिक काव्य-परम्परा का प्रवर्त्तन करने वाले आचार्य केशव की काव्यशास्त्रीय मान्यताएँ प्रमुखतः उनकी 'कविप्रिया' तथा 'रसिकप्रिया' में व्यक्त हुई हैं। उनकी अलंकार-निरूपण करने वाली 'कविप्रिया' तथा रस-निरूपण करने वाली 'रसिक-प्रिया' काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में मौलिक सिद्धान्त-प्रतिपादक ग्रंथों, अथवा काव्यांगों का गहन-गंभीर, सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक विवेचन-विश्लेषण करने वाले रीति-ग्रंथों के रूप में प्रतिष्ठित न होकर काव्य-रसिकों को विविध काव्यांगों का सामान्य परिचयात्मक ज्ञान कराने वाले कवि-शिक्षा के आदर्श-ग्रंथों के रूप में मान्य हैं। केशव की रीति-विवेचन की पद्धति का हिन्दी के परवर्ती रीति-ग्रंथों में अनुसरण न होने पर भी उनके ग्रंथों का आधार-ग्रंथों के रूप में उल्लेख किया जाना उनके आचार्यत्व को सिद्ध कर देता है। 'रसिक-प्रिया' को पढ़ने से स्पष्ट होता है कि केशव यद्यपि सिद्धान्त-रूप से काव्य में रस के अनिवार्य महत्त्व को मानते रहे, तथापि 'कवि-प्रिया' के अनेक स्थलों और काव्य-रचना में उक्ति-चमत्कार, कथन-भंगिमा की वक्रता और कल्पनात्मक सौंदर्य के प्रति उनके अपार एवं स्पष्ट मोह को देखते हुए इसमें संदेह नहीं रह जाता कि केशव मूलतः आलंकारिक ही थे।

आचार्य केशव के काव्यास्वाद-विषयक दृष्टिकोण के विवेचन के लिए निम्नलिखित उद्धरण विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं—

१. मिल विभाव अनुभाव धुनि, संचारी सु अनूप।
   व्यंग करै थिर भाव जो सोई रस सुख रूप॥[1]

अर्थात्—

विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से संयुक्त होकर जो स्थायी भाव व्यंजित होता है, वही आनन्द-रूप रस है।

२. सब सुख दै करि यों कह्यो, 'रसिक-प्रिया' करि देहु॥[2]

अर्थात्—

सबको आनन्द प्रदान करने के उद्देश्य से ही मैंने 'रसिक-प्रिया' की रचना की है।

---

१. केशवदास : रसिक-प्रिया, नवल किशोर प्रेस, १।२।

२. केशवदास : रसिक प्रिया, (प्रियाप्रसाद तिलक), टीकाकार—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रथम संस्करण (कल्याणदास एंड ब्रदर्स, वाराणसी), प्रथम प्रभाव, दोहा सं० १०, पृष्ठ ४।

३. ज्यों बिन डीठि न सोभिजै, लोचन लोल विसाल।
त्यों ही 'केसव' सकल कवि, बिन बानी न रसाल॥'[1]

अर्थात्—

जिस प्रकार चंचल और विशाल नेत्र भी दृष्टि के अभाव में सुशोभित नहीं होते, उसी प्रकार कवियों की शोभा भी सरस वाणी के बिना नहीं होती।

४. नवहू रस के भाव बहु, तिनके भिन्न विचार।
सबको केसवदास, हरि नायक है सृंगार॥[2]

अर्थात्—

नव रसों के भी अनेक भाव हैं, और उनके भी पृथक्-पृथक् रूप हैं—इन सभी का 'हरि नायक' शृंगार रस है।

५. कहि केसव सेवहु रसिकजन, नवरसमय ब्रजराज नित॥[3]

अर्थात्—

केशवदास कहते हैं कि 'नवरसमय ब्रजराज' की सेवा रसिकजन नित्य करें।

विश्लेषण

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर केशव के काव्यास्वाद-विषयक विचारों का विश्लेषण कर किसी निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन नहीं होगा।

'रसिक-प्रिया' में केशव का रस-निरूपण संस्कृत के भोजराजकृत 'शृंगार-प्रकाश' और गौड़ीय वैष्णव आचार्य रूपगोस्वामी के 'उज्ज्वलनीलमणि' और 'भक्तिरसामृतसिन्धु' से विशेषतः तथा भरत, विश्वनाथ, अभिनवगुप्त और मम्मट आदि के प्रसिद्ध ग्रथों से सामान्यतः प्रभावित है। रसाभिव्यक्ति के संबंध में केशव का अभिमत भारतीय आचार्यों के रसविषयक शास्त्रीय दृष्टिकोण से भिन्न नहीं है। विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के संयोग से रस का परिपाक भरत, भट्ट-नायक, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि सभी आचार्यों को मान्य है, किन्तु

---

१. वही दोहा : सं० १३।

२. केशवदास रसिक-प्रिया (प्रियाप्रसाद तिलक), टीकाकार—विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्रथम संस्करण (कल्याणदास ऐंड ब्रदर्स, वाराणसी), प्रथम प्रभाव, दोहा सं० १६, पृष्ठ ५।

३. वही, छं० सं० २, पृष्ठ २।

४. (क) विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्॥
—कविराज विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, विमला टीका, व्या० शालग्राम शास्त्री, पृष्ठ ४६-४७।

(ख) विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः॥'२८॥
—मम्मट : काव्यप्रकाश, व्याख्याकार—आचार्य विश्वेश्वर, चतुर्थ उल्लास, कारिका २८, पृष्ठ ९५।

विभाव, अनुभाव और संचारी भावों तथा रस में व्यंग्य-व्यंजक संबंध स्वीकार करने में केशव के रस-विवेचन पर अभिनवगुप्त के रसाभिमत का विशेष प्रभाव सर्वथा स्पष्ट है।[1] इस व्यंजित स्थायी भाव की आनन्दमयी परिणति ही रस है। सहृदय को काव्यास्वाद प्रदान करना ही काव्य-रचना का मूल प्रयोजन है।

काव्य-सौंदर्य मूलतः रस के आश्रित है। अन्यत्र उन्होंने अलंकार—उक्तिचमत्कार को काव्य-सौंदर्य का विधायक तत्त्व घोषित किया है।[2] लेकिन कवि-भेदों का निरूपण करते हुए उन्होंने 'हरि-रसलीन'[3] कवियों को उत्तम कवि की संज्ञा प्रदान की। केशव की ये उक्तियाँ परस्पर विरोधी सी प्रतीत होती हैं। एक स्थल पर तो वे काव्यास्वाद को रमणीय भावों के आश्रित मानते हैं, किन्तु अन्यत्र उनकी दृष्टि में काव्यास्वाद शब्दार्थगत वैचित्र्य से प्रेरित सहृदय का अन्तश्चमत्कार रूप है। वास्तव में सिद्धान्त-रूप में केशव सहृदय-स्थित स्थायी भाव की आनन्दमयी परिणति को ही काव्यानन्द मानते हैं तथा रसोत्कर्ष को ही वे काव्योत्कर्ष का मानदण्ड मानते हैं, लेकिन उक्ति-चमत्कार के प्रति तीव्र मोह के कारण वे काव्य में उसकी महत्त्व-प्रतिष्ठा का लोभ संवरण नहीं कर सके। इसके अतिरिक्त भामह, दण्डी, रुय्यक, उद्भट आदि आलंकारिकों के अलंकार-विवेचन को आधार बनाने के कारण भी केशव ने 'कविप्रिया' में उनके काव्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। किन्तु फिर भी इसके प्रति उनके स्पष्ट झुकाव का निषेध नहीं किया जा सकता। उक्त तथ्यों से इस निष्कर्ष पर पहुँचना असंगत न होगा कि केशव की दृष्टि में काव्यास्वाद मूलतः सरस एवं रमणीय काव्य के भावन से प्राप्त आनन्द है, किन्तु अलंकारों तथा उक्ति-सौंदर्य को प्रश्रय देने वाले काव्यों के भावन से उत्पन्न प्रमाता का अन्तश्चमत्कार भी काव्यास्वाद ही है, क्योंकि इसकी चरम परिणति आनन्दानुभूति में ही होती है।

केशव ने नवरसों, उनके अनेकानेक भावों तथा प्रत्येक के पृथक्-पृथक् रूपों की स्थिति स्वीकार करते हुए शृंगार रस को उन सबका नायक एवं रसराज घोषित किया है। रसराज अथवा सर्वश्रेष्ठ रस के लिए 'हरि-नायक' अभिधान शृंगार के अलौकिकत्व की ओर इंगित करता है। शृंगार के आलम्बन भी श्रीकृष्ण और राधा हैं, साथ ही व्रजराज श्रीकृष्ण को नवरस का आश्रय मानने से भी स्पष्ट है कि उन्होंने लोकोत्तर शृंगार—जिसे रूप गोस्वामी ने 'मधुर रस' तथा 'उज्ज्वल रस'[4] की संज्ञा प्रदान की—को ही रसराज की उपाधि से विभूषित किया है, सामान्य

---

१. तस्माद् व्यंग्यव्यंजकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालंकारौचित्यादिकयेतिकर्त्तव्यतया काव्यं भावकं रसान् भावयति, . . . ।

—ध्वन्यालोक, चौखम्बा सं० सी०, १९९७; पृष्ठ १८७-१९०।

२. यदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिन न विराजई, कविता वनिता मित्त॥

—केशवदास : कविप्रिया (टीकाकार—श्री लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी, मातृभाषा मन्दिर, प्रयाग), पाँचवाँ प्रभाव : काव्यालंकार, दोहा सं० १, पृष्ठ ४३।

३. उत्तम, मध्यम, अधम कवि, उत्तम हरि-रस लीन।

—वही चौथा प्रभाव (कवि-भेद-वर्णन), दोहा सं० २, पृष्ठ ३५।

४. देखिए—हिन्दी भक्तिरसामृतसिन्धु, भाष्यकार—आचार्य विश्वेश्वर (दक्षिण-विभागे, प्रथमा विभाव-लहरी), पृष्ठ ११६।

लौकिक शृंगार को नहीं। इसी अध्याय में नन्ददास के काव्यास्वाद-विवेचन के संदर्भ में रूप गोस्वामी की रस-विपयक मान्यताओं पर प्रकाश डाला जा चुका है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, रूप गोस्वामी ने भक्ति-रस का रसत्व सिद्ध करते हुए उसी में समस्त रसों को अन्तर्भुक्त माना है। है।[1] केशव का रस-राज हरि-रस भी, आलम्बन की अलौकिकता के कारण, उसी का प्रतिरूप है। रूप गोस्वामी के अतिरिक्त केशव के रस-विवेचन पर भोजराज के शृंगार-निरूपण का भी स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। भोज ने शृंगार को एकमात्र रस स्वीकार किया है। रति आदि उनकी दृष्टि में भाव मात्र ही हैं, रस नहीं। वे अहंकार-रूप शृंगार के अनुप्रवेश के कारण ही विभावादि के द्वारा उद्दीप्त होकर आनन्दप्रद वन जाते हैं, इसीलिए केवल उपचार से ही उन्हें रस कहा जाता है।[2] केशव पर इनका प्रभाव केवल शृंगार को नव रसों में सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हुए अन्य सभी रसों की उत्पत्ति उसी से मानने तक ही सीमित है। केशव ने सिद्धान्त-निरूपण की सुवोधता को दृष्टि में रखते हुए युक्ति एवं प्रमाणों के एकांत अभाव में ही उसके रस-नायकत्व की घोपणा कर दी है।

संक्षेप में, उपर्युक्त विश्लेपण द्वारा केशव की काव्यास्वाद-विपयक मान्यताओं के संवंध में निम्नलिखित निष्कर्प उपलव्ध होते हैं—

१. काव्य-रचना का मूल उद्देश्य प्रमाता को आनन्द प्रदान करना है।
२. सहृदय के मन में स्थित स्थायी भाव विभावानुभाव तथा संचारी भावों से व्यंजित होकर जिस आनन्दमयी अनुभूति में परिणत हो जाता है, वही काव्यास्वाद है।
३. काव्यास्वाद मूलतः सरस एवं रमणीय काव्य के भावन से प्राप्त आनन्द है, किन्तु अलंकार तथा शव्दार्थगत चमत्कार-प्रधान काव्यों के भावन से उत्पन्न प्रमाता का अन्तश्चमत्कार भी काव्यास्वाद ही है, क्योंकि इसकी चरम परिणति भी आनन्दानुभूति में ही होती है।
४. काव्यास्वाद समस्त लौकिक अनुभूतियों से भव्यतर-लोकोत्तर आनन्द है।

(घ) समाहार एवं निष्कर्ष

केशव तथा उनके पूर्ववर्ती आरंभकालीन कवियों और रीतिग्रंथकारों के काव्यास्वाद-विपयक दृष्टिकोण के अनुसंधान और विवेचन-विश्लेपण के उपरान्त कुछ सामान्य तथ्य उभर कर आते हैं, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

---

१. (क) उज्ज्वलनीलमणि, (जीवगोस्वामी विरचित 'लोचनरोचिनी' व्याख्या तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती विरचित 'आनन्दचन्द्रिका' व्याख्या), कारिका सं० २, पृष्ठ ४।
(ख) हिन्दी भक्तिरसामृत सिन्धु, पश्चिम-विभाग, पृष्ठ ३१७-४२०।

२. (क) तस्माद् रत्यादयः सर्व एवैते भावाः। शृंगार एव एको रस इति।
—शृंगारप्रकाश, पृष्ठ ५१७।
(ख) यद्यपि शृंगार एव एको रसः, तथापि तत्प्रभावा ये रत्यादयः तेऽप्युद्दीपनविभावैसंदीप्यमानाः, तदनुप्रवेशादेव, संचारिणाम् अनुभावानां च निमित्तभावमुपयन्तः रसव्यपदेशं लभन्ते।

आरंभकालीन कवियों तथा रीति ग्रंथकारों के अनुसार—

१. काव्य का मुख्य उद्देश्य प्रमाता की चेतना को आनन्दमग्न करना है।

२. काव्यानुभूति अनिवार्य रूप से आनन्दमयी अनुभूति है। (समस्त कवियों ने एक स्वर से रस की आनन्दरूपता की घोषणा की है।)

३. काव्यानन्द लौकिक अनुभूतियों से भव्यतर एवं उदात्ततर आध्यात्मिक आनन्द है। (काव्य-रस में लौकिक एवं ऐन्द्रिय संचारी भावों तथा अनुभावों की स्थिति स्वीकार करते हुए भी उसे ब्रह्मानंद के समकक्ष आध्यात्मिक आनंद मानने में संस्कृत के काव्यशास्त्रियों के मतों के अतिरिक्त इन रीतिकारों पर भक्तिकाल की आध्यात्मिक आस्था का व्यापक प्रभाव भी था।)

४. यह काव्यास्वाद केवल आस्वादन-क्षमता-सम्पन्न प्रतिभावान् एवं विज्ञ प्रमातृ-वर्ग वर्ग को ही सुलभ है।

५. काव्यास्वाद मूलरूप से भाव की सरसता एवं रमणीयता से उद्भूत आनन्द है, गौण रूप से शब्दार्थ के चमत्कारपूर्ण संयोजन से उद्भूत प्रमाता का आनन्दपूर्ण अन्तश्चमत्कार भी काव्यास्वाद ही है।

आरंभकाल के काव्यों में काव्यानुभूति, काव्यास्वाद (रसास्वाद) के विषय में कवियों के स्पष्ट विचार बहुत कम मिलते हैं; उनमें उपलब्ध कतिपय संकेत-सूत्रों के विश्लेषण के आधार पर ही उक्त निष्कर्षों पर पहुँचना संभव हो सका है। ये संकेत भी इन कवियों की किसी मौलिक एवं सुचिन्तित अवधारणा की ओर इंगित नहीं करते; काव्यास्वाद-विवेचन स्पष्टतः इनमें से किसी का भी प्रमुख लक्ष्य नहीं रहा। संस्कृत के प्रमुख काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के पूर्ण-अपूर्ण परिचय के आधार पर उन्होंने काव्यास्वाद के स्वरूप के विषय में जो विचार प्रासंगिक रूप से व्यक्त किए हैं, मौलिक न होने के कारण हिन्दी काव्यशास्त्र में काव्यास्वाद के स्वरूप-विवेचन-क्रम में उनका कोई विशेष योगदान नहीं है। इस दिशा में केशव-पूर्ववर्ती कवियों का थोड़ा-बहुत महत्त्व केवल इस दृष्टि से माना जा सकता है कि उन्होंने परवर्ती कवियों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। इसी के परिणामस्वरूप केशव ने उत्तरोत्तर परिवर्तित होती हुई युग-प्रवृत्ति से सुनिश्चित रूप प्रदान कर रीति-परम्परा का सूत्रपात किया। केशव का काव्यास्वाद विवेचन मौलिक न होता हुआ भी सम्पूर्ण रीति-काल में किए गए काव्यास्वाद-विवेचन में ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है।

अध्याय ५

विकास-काल : रीतिकाल के हिन्दी-साहित्य-शास्त्र में काव्यास्वाद का विवेचन

(क) विविधांग-निरूपक आचार्यों द्वारा काव्यास्वाद का विवेचन

(ख) रस-निरूपक आचार्यों द्वारा काव्यास्वाद का विवेचन

(ग) अलंकार-निरूपक आचार्यों द्वारा काव्यास्वाद का विवेचन

(घ) ध्वनि-निरूपक आचार्यों द्वारा काव्यास्वाद का विवेचन

(ङ) समाहार एवं निष्कर्ष

अध्याय ५

विकासकाल : रीतिकाल के हिन्दी-साहित्यशास्त्र में काव्यास्वाद का विवेचन

हिन्दी-काव्यशास्त्र के इतिहास में विकास (रीति)-काल रीति-विवेचन की स्पष्ट प्रवृत्ति, संस्कृत के काव्य-शास्त्र का अपेक्षाकृत अधिक आधार-ग्रहण, स्पष्ट एवं सटीक विवेचन तथा सामग्री के क्रमबद्ध उपस्थापन के कारण अपने पूर्ववर्ती युग से विशिष्ट है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस युग के कवि-आचार्यों ने काव्यशास्त्रीय विवेचन के क्षेत्र में अपनी मौलिक एवं सूक्ष्म विवेचनाओं द्वारा कोई युगान्तर प्रस्तुत किया हो। विवेच्य सामग्री और प्रतिपादन-शैली का आधार तो अधिकांशतः एवं आद्यन्त संस्कृत-ग्रंथ ही रहे, केवल उनकी संयोजना और प्रस्तुति में ही कहीं-कहीं किंचित् नवीनता के दर्शन होते हैं।

प्रस्तुत अध्याय में हिन्दी-रीतिशास्त्र के परिवेश में काव्यास्वाद का विवेचन विषयों के प्रवृत्तिगत पार्थक्य को दृष्टि में रखते हुए निम्नोक्त शीर्षकों के अन्तर्गत किया जायेगा :

(क) विविधांग-निरूपक आचार्यों द्वारा काव्यास्वाद का विवेचन।

(ख) रस-निरूपक आचार्यों द्वारा काव्यास्वाद का विवेचन।

(ग) अलंकार-निरूपक आचार्यों द्वारा काव्यास्वाद का विवेचन।

(घ) ध्वनि-निरूपक आचार्यों द्वारा काव्यास्वाद का विवेचन।

उक्त रूप में रीति-कालीन आचार्यों के वर्ग-विभाजन का मूल आधार उनके सिद्धान्त-विशेष के प्रति आग्रह की प्रबलता तथा उसमें अचल निष्ठा ही है। इसी दृष्टि से काव्य के विविधांग का निरूपण करने वाले उन आचार्यों को भी सिद्धान्त-विशेष से संबंधित वर्ग के अन्तर्गत ही स्थान दिया गया है, जिसके प्रति उन्होंने विशेष आस्था व्यक्त की है, उदाहरणार्थ देव, मतिराम और भिखारीदास को अन्य रसेतर काव्यांगों का निरूपण करने पर भी, उनके रस के प्रति आग्रह को देखते हुए रस-निरूपक आचार्यों के वर्ग में रखा गया है; इसी प्रकार कुमारमणि भट्ट ने अपने ग्रंथ 'रसिक रसाल' में यद्यपि केवल रस का ही निरूपण किया है, तथापि ध्वनि में उनकी विशेष आस्था को लक्ष्य कर उन्हें ध्वनि-निरूपक आचार्यों के वर्ग में स्थान दिया गया है।

(क) विविधांग-निरूपक आचार्यों द्वारा काव्यास्वाद का विवेचन

हिन्दी के रीतिकालीन कवि-आचार्यों में काव्य के सर्वांग अथवा काव्य के विविध प्रमुख अंगों के विवेचन द्वारा अपना 'प्रकांड पाण्डित्य' सिद्ध कर 'आचार्यत्व का गौरव' प्राप्त करने के प्रयत्न की विशेष प्रवृत्ति परलक्षित होती है। यही कारण है कि संस्कृत-काव्यशास्त्र के सिद्धान्त विशेष में आस्थावान् होते हुए भी अधिकांश रीति-आचार्यों ने विविधांग-निरूपक ग्रंथों की रचना की है। प्रस्तुत अध्याय में रीतिकालीन आचार्यों द्वारा काव्यास्वाद-विवेचन के क्रम में विविधांग-

निरूपक आचार्यों के वर्ग के अन्तर्गत केवल चिंतामणि, श्रीपति, सोमनाथ तथा पद्माकर ही को स्थान इस दृष्टि से दिया गया है कि इन्होंने काव्य के विभिन्न अंगों का निरूपण समान मनोयोग से, विना किसी सिद्धान्त-विशेष के प्रति पक्षपात प्रदर्शित किये, किया है। इन आचार्यों के लिए 'सर्वांग-निरूपक' जैसे अधिक प्रचलित-प्रतिष्ठित अभिधान के स्थान पर इन्हें 'विविधांग निरूपक' कहने का औचित्य इस तथ्य में निहित है कि इनमें से प्रत्येक ने काव्य के समस्त अंगों का विवेचन न कर केवल प्रमुख अंगों का ही विवेचन किया है।

चिंतामणि

केशव के पश्चात् लगभग पचास वर्ष तक अवरुद्ध हिन्दी की रीति-परम्परा चिंतामणि से पुनः प्रवहमान होकर आधुनिक काल तक प्रायः अनवरुद्ध रही। इनके द्वारा रचित 'काव्य-विवेक', 'काव्य-प्रकाश', 'कविकुलकल्पतरु', 'रसमंजरी', 'पिंगल' तथा 'शृंगार-मंजरी' में से केवल 'कविकुलकल्प-तरु' और 'शृंगार-मंजरी' ही उपलब्ध हैं। चिंतामणि के इन उपलब्ध ग्रंथों में से 'पिंगल' मूलतः छन्दशास्त्रीय ग्रंथ होने के कारण तथा 'शृंगार-मंजरी' मौलिक ग्रंथ न होकर तेलुगु भाषा में बड़े साहिब अकबर साह विरचित 'शृंगार-मंजरी' नामक मूल ग्रंथ का छायानुवाद[1] और मात्र नायिका-भेद-विषयक ग्रंथ होने के कारण प्रस्तुत प्रबन्ध में विवेच्य नहीं है। चिंतामणि के काव्यास्वाद-विवेचन का आधार उनका 'कविकुलकल्पतरु' शीर्षक ग्रंथ ही है। इस ग्रंथ में उन्होंने रस-प्रकरण को विशेष विस्तार प्रदान किया है, जिस पर विद्यानाथ-कृत 'प्रतापरुद्र-यशोभूषण', मम्मट-कृत 'काव्यप्रकाश ,कविराज विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' और भानुदत्त की 'रसमंजरी' के विवेचन का स्पष्ट प्रभाव होने पर भी यत्र-तत्र मौलिक प्रतिपादन का उपक्रम भी मिलता है।

चिंतामणि के काव्यास्वाद-विषयक अभिमत की समीक्षा के लिए उनके निम्नांकित छन्द विशेष उपयोगी होंगे :

१. (क) गनि विभाव अनुभाव अरु संचारीन मिलाइ।
जित थाई है भाव जो सो रस रूप गनाइ॥४८॥[2]

अर्थात्—
विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से सम्मिलित होकर स्थायी भाव रस-रूप में परिगणित होता है।

(ख) थाई सामाजिक हिय वसत वासना रूप।
व्यक्त विभावादिकनि मिलि रस ह्वै मिलत अनूप॥६६॥[3]

अर्थात्—
विभावादि के संयोग से सामाजिक (प्रमाता) के हृदय में वासनारूप से स्थित स्थायी भाव ही व्यक्त होकर रस-रूप में परिणत हो जाता है।

---

१. देखिए—अकबरसाह कृत शृंगारमंजरी, सं० एवं भूमिका-लेखक—डॉ० भगीरथ मिश्र, भूमिका, पृष्ठ ५।
२. चिंतामणि, कविकुलकल्पतरु, पंचम प्रकरण, दोहा सं० ४८।
३. वही, दोहा सं० ६६।

२. (क) गनि विभाव अनुभाव पुनि संचारी यह नाम।
विभावनादि अलौकिकै व्यापारन अभिराम॥५८॥[1]

(ख) तिन तिहु के अलौकिकै करि व्यापार गनाइ।
विभावना अनुभावना संचारीना वनाइ॥५९॥[2]

अर्थात्—

(क, ख) : विभाव, अनुभाव और संचारी भाव अपने अलौकिक विभावन, अनुभावन तथा संचारण व्यापारों के कारण अलौकिक कहलाते हैं।

३. साधारन व्यापार वल सव साधारन होइ।
नियत प्रमातहि पै यदपि तहाँ अपरिमित होइ॥६१॥[3]

अर्थात्—

साधारण व्यापार के वल से सव कुछ साधारण हो जाता है, (व्यंजना-वृत्ति के द्वारा) नियत प्रमाता से सम्बद्ध होते हुए भी (रत्यादि स्थायी भाव) अपरिमित प्रमाता से सम्बद्ध हो जाते हैं।

४. महानंद उल्लास वह सुकृती सेवत कोइ।
सज्जन सुखद जु ग्रंथ मैं रस निरूपना सोइ॥६२॥[4]

अर्थात्—

इस काव्य-निवद्ध महानन्द-रूप, उल्लासमय तथा सज्जनों के लिए सुखकारी रस का सेवन (आस्वादन) कोई सुकृती (पुण्यात्मा सहृदय) ही कर सकता है।

विवेचन

मूलतः रसवादी[5] आचार्य होने के कारण चिंतामणि की दृष्टि में रसास्वाद ही काव्यास्वाद है। अतएव उनके काव्यास्वाद-संबंधी अभिमत को समझने के लिए उनकी रस-विषयक मान्यताओं का अनुशीलन आवश्यक है। रस के प्रति उनका दृष्टिकोण नितान्त परम्परागत है।

---

१. वही, दोहा सं० ५८।
२. वही, दोहा सं० ५९।
३. चिंतामणि, 'कविकुलकल्पतरु', पंचम प्रकरण, दोहा सं० ६१।
४. वही, दोहा सं० ६२।
५. टिप्पणी—चिंतामणि ने विश्वनाथ की ही भाँति अपने काव्य-लक्षण 'बत कहाउ रस पै जु है कवित कहावै सोइ।' (वही, प्रथम प्रकरण, दोहा सं० ४) में रस को सर्वप्रमुख स्थान देते हुए काव्य को 'रसमयी उक्ति' कहा तथा अत्यंत स्पष्ट शब्दों में रस को काव्य का 'जीवित' घोषित किया : सब्द अर्थ तनु वर्णिये जीवित रस जिय जानि। (वही, दोहा सं० ९)। इसके अतिरिक्त इनके ग्रंथ में रस निरूपण ही सर्वाधिक विस्तृत है : इन्हीं तर्कों के आधार पर चिंतामणि को रसवादी कहा जाता है।

उन्होंने मम्मट के आधार पर रस का निरूपण 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि'[1] के अन्तर्गत करते हुए उसे 'व्यंग्य'[2] माना है। स्थायी भाव के विभावादि के द्वारा रस-रूप में व्यक्त होने से संबंधित चिंतामणि की रस-विषयक पारम्परिक मान्यता मम्मट के शब्दों का ही रूपान्तर है।[3] प्रथम उद्धरण के (ख) भाग में चिन्तामणि ने सामाजिक (प्रमाता) के हृदय में वासना-रूप से स्थित स्थायी भाव को रसास्वाद (काव्यास्वाद) का मूल माना है।[4] दूसरे शब्दों में, यह स्थायी भाव ही चर्वणीयता या आस्वादनीयता प्राप्त कर प्रमाता को रसास्वादन (काव्यास्वादन) की क्षमता प्रदान करता है।

द्वितीय उद्धरण में चिंतामणि ने विभावन, अनुभावन तथा संचारण आदि अलौकिक व्यापारों के द्वारा विभावादि को अलौकिक कहा है। रत्यादि स्थायी भावों को आस्वाद-योग्य रूप प्रदान करना विभावन-व्यापार, अनुभव का विषय बनाना अनुभावन—व्यापार तथा शरीर में उनके प्रभाव का संचारण 'संचारण व्यापार' कहलाता है। इन व्यापारों के द्वारा ही स्थायी भाव आस्वाद्य बनकर रस-रूप में परिणत होते हैं। इससे यह ध्वनित होता है कि वे संस्कृत काव्यशास्त्रियों की भाँति ही सम्पूर्ण रस-प्रपंच को अलौकिक मानते हैं।

चिंतामणि रसास्वादन (काव्यास्वादन) के लिए अभिनवगुप्त के अनुरूप ही प्रमाता की चित्तवृत्ति का साधारणीकरण आवश्यक मानते हैं। अभिनवगुप्त के शब्दों को ग्रहण करते

---

१. (क) असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि आनि रसादिक वित्त।
इतै आदि पदलभ्य जे तिन्है गनावत मित्त॥४५॥
—चिंतामणि, 'कविकुलकल्पतरु', दोहा सं० ४५॥

(ख) यह रस पुनि सु अलक्ष्यक्रम व्यंग्य आधु धुनि हारि।
शृंगारादि विशेष पद वाचक कहत विचारि॥
—चिंतामणि, 'कविकुलकल्पतरु', अष्टम प्रकरण, दोहा सं० १५१।

२. इन शब्दन ते कहत हू बंधन रस को होई।
यातें रस सब ठौर में व्यंग्य कहत सब कोई॥१५३॥
—चिंतामणि, 'कविकुल कल्पतरु', अष्टम प्रकरण, दोहा सं० १५३

टिप्पणी—तुलनार्थ देखिए—मम्मट : काव्यप्रकाश, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर, चतुर्थ उल्लास, पृ० ९४—
'अलक्ष्येति। न खलु विभावानुभावव्यभिचारिण एवं रसः, अपि तु रसस्तैरित्यस्ति क्रमः। स तु लाघवान्न लक्ष्यते।'

३. 'विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥२८॥
—मम्मट : काव्यप्रकाश, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर, चतुर्थ उल्लास, कारिका सं० २८, पृ० ९५

४. टिप्पणी—चिंतामणि की इस मान्यता का आधार मम्मट के काव्यप्रकाश में उल्लिखित अभिनवगुप्त की यह अवधारणा है—
सामाजिकानां वासनात्मकतया स्थितः स्थायी रत्यादिकोः,
—वही, पृ० १०८

हुए उन्होंने भी सहृदय-स्थित स्थायी भाव के साधारणीकरण के बल पर नियत प्रमाता से मूलतः सम्बद्ध होने पर भी उसके (स्थायी भाव) के अपरिमित अर्थात् देशकाल के बंधन से मुक्त प्रमाता मात्र के स्थायी भाव बन जाने की चर्चा की है।[1] दूसरे शब्दों में, साधारणीकरण के बल पर व्यंजना-व्यापार द्वारा सहृदय के हृदय में वासना-रूप से स्थित स्थायी-भाव देशकाल की सीमाओं में परिबद्ध प्रमाता विशेष का विशिष्ट भाव न होकर सभी देश और कालों के प्रमाता-मात्र का सार्वभौम साधारण स्थायी भाव बन जाता है। चिंतामणि की दृष्टि में रसास्वादन के लिए प्रमातृगत स्थायी भाव का यह साधारणीकरण नितान्त आवश्यक है; देशकाल की सीमाओं से मुक्त होने पर ही भाव आस्वादनीयता प्राप्त करता है—प्रमाता इस आस्वाद्य स्थायी भाव का ही रस-रूप में आस्वादन करता है।

चिंतामणि रीतिकाल के प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने रस-प्रकरण के अन्तर्गत 'रस-आस्वाद'[2] शब्द का कदाचित् सर्वप्रथम प्रयोग किया है। रसास्वाद को सहृदय-सापेक्ष विषयिगत आनन्द मानना संस्कृत के भट्टनायक-परवर्ती संस्कृताचार्यों की रस-विषयक मान्यता के ही अनुरूप है। रस के लिए 'महानन्द', 'उल्लास', 'सुखद' आदि विशेषणों का प्रयोग चिंतामणि की दृष्टि में रस की अनिवार्य आनन्दात्मकता की पुष्टि करते हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर चिंतामणि की रसास्वाद या काव्यास्वाद-संबंधी मान्यताओं का सारांश इस प्रकार है:

(१) रसास्वाद ही काव्यावाद है।
(२) यह अनिवार्य रूप से आनन्दमय है।
(३) काव्यानन्द सहृदय-सापेक्ष विषयिगत आनन्द है।
(४) काव्यास्वाद अलौकिक आनन्द है।
(५) प्रमाता के हृदय में वासना-रूप से स्थित स्थायी भाव ही काव्यास्वाद का मूल है।

चिंतामणि का काव्यास्वाद-विवेचन रीतिकालीन काव्यशास्त्र में अपने व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध प्रतिपादन के कारण विशिष्ट है। संस्कृत के 'काव्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण', 'प्रताप-रुद्रयशोभूषण' तथा 'दशरूपक' आदि विभिन्न ग्रंथों से रसविषयक सामग्री का संचयन कर उसे एक विशेष विवेकसम्मत क्रम से सुनियोजित करने में ही चिंतामणि के काव्यास्वाद-विवेचन की सफलता का रहस्य निहित है, मौलिक सिद्धान्त-प्रतिपादन में नहीं।

श्रीपति

आचार्य श्रीपति के 'कविकुलकल्पद्रुम', 'रससागर', 'अनुप्रास-विनोद', 'विक्रम-विलास', 'सरोजकलिका', 'अलंकार-गंगा' तथा 'काव्य-सरोज' आदि अनेक रीति-ग्रंथों में से उन्हें आचार्यत्व

---

१. ...नियतप्रमातृगत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृ-भाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा...।
—मम्मट : काव्यप्रकाश, व्या० आचार्य विश्वेश्वर; चतुर्थ उल्लास, पृष्ठ १०८ पर निरूपित अभिनवगुप्त के मत से उद्धृत।

२. सो थाई है समुद सो जब लगि रस आस्वाद।
—चिंतामणि, 'कविकुलकल्पतरु', पंचम प्रकरण, दोहा सं० ५५।

का गौरव प्रदान करने का श्रेय उनके सर्वाधिक प्रौढ़ ग्रंथ 'काव्य-सरोज' को है। यह काव्य-लक्षण, काव्य-कारण (हेतु), काव्य-भेद, काव्य-दोष, काव्य-गुण, अलंकार और रस आदि काव्यशास्त्रीय विषयों का विशद, स्पष्ट एवं क्रमबद्ध विवेचन करने वाला विविधांग-निरूपक ग्रंथ है।

श्रीपति के काव्य-लक्षण से ऐसा प्रतीत है कि वे समस्त काव्यांगों को समान महत्त्व प्रदान करते हैं; उनके अनुसार 'दोष-रहित, गुण, अलंकार और रस से युक्त शब्दार्थ ही काव्य कहलाता है'[1] किन्तु अन्यत्र उनके एक दोहे से रस के प्रति उनके आग्रह की अपेक्षाकृत प्रबलता स्पस्ट होती है:

जदपि दोष बिनु गुन सहित, अलंकार सों लीन।
कविता बनिता छवि नहीं, रस बिन तदपि प्रवीन॥[2]

अर्थात्—

दोष-रहित, गुण-युक्त तथा अलंकार-मंडित होते हुए भी कविता-कामिनी रस के विना सुशोभित नहीं होती।

लेकिन अलंकारों के प्रकरण में श्रीपति नितांत इसी रूप में अलंकारों का महत्त्व-प्रतिपादन करते हैं[3] जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्य के विविधांग-निरूपण में उनका किसी सम्प्रदाय विशेष के प्रति पक्षपात नहीं रहा।

श्रीपति की काव्यास्वाद-विषयक दृष्टि सर्वथा परम्परागत एवं शास्त्रीय ही रही है। भरत के अनुरूप भावों को वे रसास्वाद (काव्यास्वाद) का कारण-रूप तथा रसानुकूल विकार मानते हैं[4] तथा विभाव उनके मतानुसार रस को उत्पन्न कर उसे भावन (आस्वाद) के योग्य रूप प्रदान करते हैं:—

जो रस कों उपजाइ कैं, भावन करै विशेष।
तासों कहै विभाव कवि, श्रीपति नर मुनि लेप॥[5]

वस्तुतः श्रीपति के रीति-विवेचन का वैशिष्ट्य काव्यास्वाद-विवेचन में न होकर काव्य-दोषों के विशद, सूक्ष्म एवं स्पष्ट निरूपण में निहित है। यही कारण है कि इस ग्रंथ के आधार पर उनके काव्यास्वादविषयक किसी स्पष्ट अभिमत का परिचय नहीं मिलता—काव्यास्वाद के संबंध में जो संकेत-सूत्र प्राप्त होते भी हैं, वे अपनी परम्परानिबद्ध अमौलिकता में महत्त्वहीन हैं।

---

१. शब्द अर्थ विन दोष गुन, अलंकार रसवान।
ताकों काव्य बखानिये, श्रीपति परम सुजान॥
—श्रीपति : काव्य-सरोज, प्रथम दल (पं० कृष्णविहारी मिश्र के पुस्तकालय में सुरक्षित प्रति के आधार पर।)

२. वही, दल १३, छंद संख्या १।

३. जदपि दोष बिनु गुन सहित, सब तन परम अनूप।
तदपि न भूषन बिनु लसै, बनिता कविता रूप॥
—वही, दल १०, छंद सं० १।

४. वही, दल १३, छंद सं० २, ३, ४, ९।

५. वही, दल १४, छंद सं० २।

सोमनाथ

सोमनाथ अपने काव्यास्वाद-विवेचन की दृष्टि से मम्मट से प्रभावित चिंतामणि आदि विविधांग-निरूपक रीति-आचार्यों की परम्परा में आते हैं। इनके काव्यशास्त्रीय ग्रंथों—'रस-पीयूषनिधि' तथा 'शृंगार-विलास'—में से केवल 'रसपीयूषनिधि' ही उनके आचार्यत्व का आधार है, क्योंकि 'शृंगार-विलास' शृंगार-रस का विवेचन करने वाला कोई स्वतंत्र ग्रंथ न होकर 'रस-पीयूषनिधि' से ही संकलित शृंगार-रस तथा नायक-नायिका भेद-निरूपण-संबंधी सामग्री के आधार पर निर्मित एक संकलन-ग्रंथ मात्र है। सोमनाथ के रस-निरूपण का आधार 'काव्य-प्रकाश', 'साहित्य-दर्पण' और भानुदत्त की 'रसतरंगिणी' है।

सोमनाथ के रसास्वाद-(काव्यास्वाद-) विषयक दृष्टिकोण को समझने के लिए उनके रस-स्वरूप-विश्लेषण पर विचार करना आवश्यक है। मम्मट के आधार पर असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत रस का विवेचन करने से यह स्वतः स्पष्ट है कि रस उनकी दृष्टि में 'व्यंग्य' है। उनकी रस-परिभाषा 'विभावानुभाव और संचारी भावों के सहयोग से व्यंजित स्थायी भाव ही रस है'[1]—'शब्दशः मम्मट तथा विश्वनाथ के रस-लक्षणों का ही ब्रज-रूपान्तर है'[2]।

सोमनाथ ने स्थायी भाव को रसास्वाद (काव्यास्वाद) का मूल तथा वासना और चित्त वृत्ति-रूप मानते हुए 'रसानुकूल विकार' स्थिर किया है।[3]

रसास्वाद-(काव्यास्वाद-)विवेचन-क्रम में सोमनाथ ने रस की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए यह भी कहा है कि सरस काव्य के श्रवण से सहृदय प्रमाता जिस आनन्द में मग्न होकर काव्येतर समस्त लौकिक विषयों की सुध (ज्ञान) खो बैठता है, वही रस है। उनकी रस-स्वरूप, विषयक इस मान्यता का आधार, स्वयं उनके ही अनुसार, अभिनवगुप्त का मत है।[4] अतः स्पष्ट है कि सोम-नाथ की दृष्टि में अभिनवगुप्त, विश्वनाथ तथा मम्मट आदि की ही भाँति रस 'लोकोत्तर चम-

---

१. जहँ विभाव अनुभाव सहित संचारी भाउ।
   व्यंगि कियो थिर भाव इँहि रस रूप बताउ ॥४४॥
   —सोमनाथ : रसपीयूषनिधि, सप्तम तरंग, छंद सं० ४४।

२. तुलनार्थ देखिए—
   (क) मम्मट : काव्यप्रकाश, चतुर्थोल्लास, कारिका सं० २८।
   (ख) विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छद, कारिका सं० १।

३. रस कौ मूल भाव पहिचानौ।
   चित्तवृत्ति हौ लौं ठहराइ। भाव वासना रूप बताई॥
   रस अनुकूल विकार जु होत। ता सौं भाव कहत कवि गोत ॥७॥
   —सोमनाथ : रसपीयूषनिधि, छंद सं० ६, ७।
   तुलनार्थ देखिए—रसानुकूलो विकारो भावः। विकारोऽन्यथाभावः।
   —भानुदत्त मिश्र : रसतरंगिणी, षष्ठ तरंग, प्रारम्भ।

४. अथ अभिनवगुप्त पदाचार्य कौ लछन और कहत है।
   सुनि कवित्त को चित्त मधि सुधि न रहे कछु और।
   होइ मगन वहि मोद में सो रस कहि सिरमौर ॥४५॥
   —सोमनाथ : रसपीयूषनिधि, सप्तम तरंग, छंद सं० ४५।

त्कारकारी' तथा 'वेद्यान्तरस्पर्शशून्य' है। संक्षेप में, सोमनाथ के मतानुसार सहृदय—प्रमाता के हृदय में वासना-रूप से स्थित चित्तवृत्ति-रूप स्थायी भाव विभावानुभाव और संचारी भावों के सहयोग से व्यंजित होकर उसे (प्रमाता को) समस्त लौकिक विषयों के ज्ञान से विनिर्मुक्त जिस लोकोत्तर आनन्दानुभूति में मग्न कर देता है, वही काव्यास्वाद है।

सोमनाथ का काव्यास्वाद-विवेचन मूल सामग्री की दृष्टि से मम्मट के काव्य-प्रकाश में निरूपित अभिनवगुप्त की भरत-सूत्र की व्याख्या तथा मम्मट और विश्वनाथ के रस-निरूपण पर आधारित होते हुए भी प्रतिपादन-शैली की दृष्टि से मौलिक है। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा काव्यास्वाद के स्वरूप-गत एक अतिरिक्त तत्त्व पर भी प्रकाश डाला है—वह है उसकी वेद्यान्तरस्पर्शशून्यता। इसके अतिरिक्त इनके द्वारा किया गया काव्यास्वाद के मूलभूत स्थायी भाव का स्वरूप-विवेचन भी अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म, स्पष्ट एवं मनोवैज्ञानिक है। समग्रतः सम्पूर्ण हिन्दी रीति-परम्परा में सोमनाथ का काव्यास्वाद-विवेचन अपनी सूक्ष्मता, सुबुद्ध संचयन-प्रवृत्ति तथा प्रति- पादन शैली की नूतनता के कारण विशिष्ट है।

पद्माकर

पद्माकर रीतिकालीन कवि-आचार्यों में आचार्य की अपेक्षा कवि-रूप में अधिक समादृत हैं। किन्तु काव्यशास्त्र के क्षेत्र में भी इनका योगदान सर्वथा नगण्य नहीं है। अपने 'जगद्विनोद' तथा 'पद्माभरण' शीर्षक ग्रंथों के आधार पर ये आचार्य-पद के अधिकारी हुए। 'पद्माभरण' विशुद्ध अलंकार-निरूपक ग्रंथ है, अतः विविधांग-निरूपक ग्रंथ होने के कारण केवल 'जगद्विनोद' में ही रस-निरूपण के अन्तर्गत काव्यास्वाद-विवेचन को स्थान मिला है। इसमें सभी रसों का सोदाहरण स्वरूप-विश्लेषण होने पर भी शृंगार-रस को अपेक्षाकृत अधिक विस्तार दिया गया है। लेखक का प्रमुख उद्देश्य भी नायक-नायिका-भेद-निरूपण रहा है, इसीलिए इसका रसास्वाद-विवेचन अत्यंत संक्षिप्त है।

पद्माकर ने रसास्वाद-(काव्यास्वाद-) का स्वरूप-विवेचन केवल दो छंदों में ही किया है, अतएव उनके आधार पर उनकी काव्यास्वाद-विषयक केवल कुछ ही मान्यताएँ उभर कर सम्मुख आती हैं। वे इस प्रकार हैं:—

१. 'विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से परिपूर्ण स्थायी भाव ही आनन्द-रूप रस है।'[1] अर्थात् पद्माकर की दृष्टि में स्थायी भाव ही रसास्वाद का मूल है जिसकी रस-रूप में परिणति विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के संयोग से होती है। इस दोहे में 'परिपूर्ण' से उनका आशय परिपुष्ट से है। इस परिपुष्ट स्थायी भाव की आनन्दमयी परिणति ही रस अथवा काव्यास्वाद है।

२. 'जब मनोविकार-रूप स्थायी भाव उद्बुद्ध होकर क्रमशः दृढ़तर (परिपुष्ट) होते हुए

---

१. मिलि विभाव अनुभाव अरु संचारिन के वृन्द।
परिपूरन थिर भाव जो सु रस रूप आनन्द॥ ६०८॥

—आकर-ग्रंथमाला—४ : पद्माकर (ग्रंथावली), सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी), जगद्विनोद, छंद सं० ६०८, पृष्ठ २०७।

परिपूर्ण अवस्था को प्राप्त होते हैं तो कवि उन्हें रस कहते हैं।"[1] पद्माकर की यह मान्यता सोमनाथ के अनुरूप भानुदत्त से स्पष्टतः प्रभावित है।[2] इस प्रकार पद्माकर के मतानुसार स्थायी भाव परिपुष्ट होकर ही प्रमाता को रसास्वादन कराने में समर्थ होते हैं।

संक्षेप में, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों द्वारा परिपुष्ट प्रमाता के चित्त में वासना-रूप से स्थित स्थायी भाव की आनन्दमयी परिणति ही पद्माकर की दृष्टि में काव्यास्वाद है। उनकी काव्यास्वाद-विषयक इस मान्यता का महत्त्व स्पष्टतः मौलिक सिद्धान्त-निरूपण, सूक्ष्म-विवेचन अथवा अभिनव प्रतिपादन-शैली में न होकर काव्यास्वाद की सुगम-सरल परम्परानुमोदित स्पष्ट व्याख्या में है।

(ख) रस-निरूपक आचार्यों द्वारा काव्यास्वाद का विवेचन

हिन्दी-काव्यशास्त्र के विकास-काल में परिमाण की दृष्टि से सर्वाधिक संख्या उन कवि-आचार्यों की है जिन्होंने रस-सिद्धान्त के प्रति विशेष पक्षपात प्रदर्शित किया है। वैसे भी अब यह मत प्रायः स्थिर हो चुका है कि रीतिकाल में रस-सिद्धान्त ही एक सर्वमान्य काव्य-सिद्धान्त के रूप में अधिष्ठित हुआ। यद्यपि काव्य के विविध अंगों का निरूपण करने वाले आचार्यों ने—यहाँ तक कि अलंकार और ध्वनि-निरूपक आचार्यों ने भी—रस-सिद्धान्त को किसी न किसी रूप में मान्यता प्रदान की है, तथापि इस युग के आचार्यों का एक वर्ग एकान्त रूप से रस-निरूपक आचार्यों का ही है। प्रस्तुत संदर्भ में रस-निरूपक आचार्यों के वर्ग में परिगणित रसलीन, बेनीप्रवीन, रसिक गोविन्द तथा नवीन तो केवल रस-निरूपक आचार्य के रूप में ही प्रतिष्ठित हैं; मतिराम, देव और भिखारीदास ने काव्य के सर्वांग-निरूपण के आधार पर आचार्यत्व के गौरवपूर्ण पद की प्राप्ति के प्रलोभन से विविधांग-निरूपक ग्रंथों की रचना अवश्य की है, किन्तु रस के प्रति विशेष आग्रह के कारण ये मूलतः रस-निरूपक आचार्य ही हैं।

मतिराम

मतिराम के प्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रंथों—'रसराज', 'ललित-ललाम' और 'अलंकार-पंचाशिका'—में से परवर्ती दोनों ग्रंथ विशुद्ध अलंकार-निरूपक ग्रंथ हैं; इनमें अलंकाराश्रित शब्दार्थगत चमत्कार से संबंधित काव्यास्वाद-विषयक किसी रसेतर सिद्धान्त का भी प्रतिपादन नहीं किया गया है। अतः ये दोनों ग्रंथ प्रस्तुत प्रबंध के विषय-क्षेत्र की सीमा में नहीं आते। 'रस-राज' स्पष्टतः मात्र रस-निरूपक ग्रंथ होता हुआ भी केवल श्रृंगार-रस और उसके अन्तर्गत भी

---

१. जौ मन पाइ विकार कछु लखि दृढ़ होत अनूप।
तौ पूरन थिर भाव कों बरनत कवि रस रूप॥६०९॥

—आकर-ग्रंथमाला—४ : पद्माकर (ग्रंथावली),
सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (नागरी प्रचारिणी सभा,
काशी), जगद्विनोद, छंद सं० ६०९।

२. देखिए—भानुदत्त मिश्र : रसतरंगिणी, षष्ठ तरंग, प्रारम्भ।

मुख्यतः नायक-नायिका-भेद-निरूपण के उद्देश्य से लिखा गया है।[1] फिर भी, उसी के परिवृत्त में मतिराम की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं का सन्धान समीचीन होगा।

मतिराम के अनुसार 'सुबुद्ध कवियों द्वारा वर्णित स्त्री-पुरुष के जिस पारस्परिक रति भाव से काव्य-मर्मज्ञ प्रमाता ('सुकवि') आनन्दित होते हैं, वह शृंगार ही रसराज है'।[2] शृंगार को 'रसराज' की उपाधि से विभूषित करना इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि मतिराम की दृष्टि में भोज की भाँति शृंगार-रस एकमात्र रस न होकर नव रसों में सर्वप्रमुख, सर्वश्रेष्ठ तथा प्रमाताओं के लिए सर्वाधिक स्पृहणीय एवं आनन्दकारी रस है। वस्तुतः शृंगार रस के प्रति विशेष मोह के कारण मतिराम ने इसी रस के माध्यम से अपनी रसास्वाद-(काव्यास्वाद-)विषयक अवधारणा को व्यक्त किया है। उक्त उद्धरण में प्रयुक्त 'तासौं रीझत हैं सुकवि' वाक्यांश उनकी दृष्टि में काव्यास्वाद की सहृदय प्रमाता-सापेक्ष आनन्दात्मकता की सिद्धि करता है। रति अथवा शृंगार-भाव के अर्थ में 'रसभाव' शब्द का प्रयोग[3] भी इसी मन्तव्य की पुष्टि करता है कि शृंगार अपनी आनन्दमयता के कारण उनकी दृष्टि में रस-मात्र का प्रतिनिधित्व करता है। इसके अतिरिक्त शृंगार-रस-विवेचन तथा नायक-नायिका-भेद-निरूपण के संदर्भ में प्रवीण, सुकवि, कविराज आदि के ज्ञान-बोध एवं मर्मज्ञता को प्रमाण मानना मतिराम के मत में काव्यास्वाद की सहृदयसापेक्षता को प्रकाशित करता है। संक्षेप में, मतिराम के काव्यास्वाद-विषयक अभिमत का सारांश प्रस्तुत करते हुए कहा जा सकता है कि उनकी दृष्टि में काव्यास्वाद विभाव, अनुभाव और संचारी संचारी भावों से परिपुष्ट एक सहृदय-सापेक्ष आनन्दात्मक अनुभूति है।

निष्कर्षतः, मतिराम का काव्यास्वाद-विषयक उक्त दृष्टिकोण हिन्दी की काव्यशास्त्रीय परम्परा में न तो मौलिक सिद्धान्त-प्रतिपादन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है और न हिन्दी पाठकों को संस्कृत-काव्यशास्त्र में निरूपित काव्यास्वाद के स्वरूप का परिचय कराने की दृष्टि से ही इसका कोई विशेष महत्त्व है। काव्यास्वाद की केवल दो ही स्वरूपगत विशेषताओं की ओर संकेत करते हुए उन्होंने आनन्द के स्वरूप-विश्लेषण का भी प्रयत्न नहीं किया। वस्तुतः मतिराम हिन्दी-साहित्य में आचार्य की अपेक्षा एक रससिद्ध कवि के रूप में ही प्रतिष्ठित एवं समादृत हुए हैं, शास्त्रीय सिद्धान्त-निरूपण उनके सम्पूर्ण कृतित्व में गौण स्थान का ही अधिकारी है।

देव

देव रीतिकाल के उन कतिपय आचार्यों में से हैं जिनका रस के प्रति आग्रह सर्वथा स्पष्ट एवं निर्विवाद है। इनके आचार्यत्व के आधार प्रमुखतः 'भाव-विलास' और 'शब्द-रसायन'

---

१. बरनि नायका नायकनि रच्यो ग्रंथ मतिराम।
लीला राधारमन की सुंदर जस अभिराम ॥३॥
—आकर-ग्रंथमाला—६ : मतिराम-ग्रंथावली, रसराज, छंद सं० ३, पृष्ठ २०१।

२. जो बरनत तिय पुरुष को कवि कोविद रतिभाव।
तासौं रीझत हैं सुकवि सो सिंगार रसराव ॥३४२॥
—वही, छंद सं० ३४२, पृष्ठ २७९।

३. उपजत जाहि विलोकि कै चित्त-बीच रसभाव।
ताहि बखानत नायका जे प्रवीन कविराव ॥५॥
—वही, छंद सं० ५, पृष्ठ २०१।

तथा गौणतः 'सुखसागर-तरंग' और 'भवानी-विलास' हैं। 'शब्द-रसायन' नवरस, अलंकार, शब्द-शक्ति, पिंगल, काव्य-स्वरूप, दश-रीति (गुण), चार-वृत्ति, पदार्थ-निर्णय, काव्य की महिमा आदि विषयों का अत्यंत गंभीर, प्रौढ़ एवं सांगोपांग विवेचन करने वाला विविधांग-निरूपक ग्रंथ है तथा 'भाव-विलास' में रसांगों एवं रस-परिपाक के सम्यक् विवेचन के उपरान्त केवल शृंगार-रस एवं नायिका-भेद का ही विस्तृत विवेचन और अलंकारों का संक्षिप्त निरूपण प्राप्त होता है। 'भवानी विलास' नवरसों—विशेषतः शृंगार रस और नायिका-भेद का निरूपण करने वाला रस-निरूपक ग्रंथ है। देव द्वारा प्रणीत शेष रीति-ग्रंथों—'रस-विलास', 'कुशल-विलास', 'सुजान-विनोद', '*शृंगार-विलासिनी*' (संस्कृत) और 'सुखसागर तरंग'—का प्रमुख विवेच्य विषय नायिका-भेद है। इस प्रकार समग्र रूप से आकलन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि देव के रीति-विवेचन क प्रमुख विषय रस और उसके अन्तर्गत भी शृंगार रस एवं नायिका-भेद-निरूपण है।

देव ने 'काव्य' को 'शब्दार्थ' का सार तथा काव्य का सार 'रस' को मानते हुए भावों को झलकाने वाले 'रस' की काव्य में मुख्यता की घोषणा की है :—

> **काव्य-सार शब्दार्थ को, रस तिहि काव्यासार।**
> **सो रस बरसत भाव बस, अलंकार अधिकार।**
> **ताते काव्यहि मुख्य रस, जामें दरसत भाव॥**[1]

रसास्वाद उनकी दृष्टि में भी 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों द्वारा परिपूर्ण स्थायी भाव की वासना' है :

> **जो विभाव अनुभाव अरु, विभचारिनु करि होइ।**
> **थिति की पूरन वासना, सुकवि कहत रस सोइ॥**[2]

रस-परिपाक-विषयक इस दोहे में प्रयुक्त 'वासना' शब्द के अर्थ पर प्रकाश डालते हुए डॉ० नगेन्द्र ने कहा है कि 'यहाँ वासना शब्द का प्रयोग द्रष्टव्य है, वासना का अर्थ है, स्मृत-ज्ञान अथवा अनुभव। यहाँ वासना शब्द के प्रयोग में 'भाव-स्मरणं रसः' अर्थात् भाव का स्मरण या स्मृत अनुभव रस है—इस प्रसिद्ध रस-लक्षण की ओर संकेत है और दूसरे, रस-परिपाक की आधार-रूपिणी वासना की महत्त्व-स्वीकृति भी है।'[3] सहृदय के चित्त में वासना-रूप से स्थित स्थायी भाव के रस-रूप में निष्पन्न होने की सम्पूर्ण प्रक्रिया का अत्यंत सुस्पष्ट विश्लेषण देव ने एक वृक्ष के रूपक के आश्रय से किया है—

> **चित थापित थिर बीज विधि, होत अंकुरित भाव।**
> **चित बदलित, दल, फूलि फलि, बरसत सुरस सुभाव॥**

---

१. देव : शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथ सिंह 'मनोज', (हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग), प्रथम संस्करण, तृतीय प्रकाश, पृष्ठ २८।
२. देव : भाव-विलास, सं० लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी, प्रयाग, तृतीय विलास, (रस), पृष्ठ ६५।
३. डॉ० नगेन्द्र : देव और उनकी कविता, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, दूसरा संस्करण, पृष्ठ १३६।

खेत पात्र, प्रारब्ध विधि, बीज सुअंकुर जोग,
सलिल नेह, भाव सुविटप, छंद पात्र, परिभोग॥

अलंकार शब्दार्थ के, फूल, फलनि आमोद,
मधुर सुजस-रस अमर-तरु, अमर अमी रस मोद॥"[1]

अर्थात्—(सहृदय के) चित्त में स्थापित (स्थित) स्थायी भाव रूप बीज प्रारब्ध और विधाता की कृपा से स्नेह के सिंचन द्वारा अंकुरित, कुसुमित तथा फल-युक्त होता हुआ रस-रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार 'पात्र' का चित रस का क्षेत्र अर्थात् आधार-स्थान है, 'पात्र' के चित्त में वासना-रूप से स्थित स्थायी-भाव (रसास्वाद का) बीज है, जो (विभावादि के साथ) योग से अंकुरित होता है; शब्दार्थगत अलंकार उस रस रूपी अमर-तरु के फूल तथा फल आनन्द-मय अमृत-रस है। यहाँ 'पात्र' शब्द विशेष रूप से द्रष्टव्य है। जैसा कि उनकी एक उक्ति से सर्वथा स्पष्ट है—**दपंति उर कुरखेत विधि बीज भीजि रस भाव।** —पात्र से उनका अभिप्राय काव्य-निबद्ध पात्र (नायक-नायिका) का ही है? इस रूपक में रसास्वाद की प्रक्रिया के विवेचन के साथ ही उसकी आनन्दात्मकता का भी प्रत्यक्ष आख्यान है। बीज रूप स्थायी भाव की आनन्दा-स्वाद में परिणति स्नेह के सिंचन से होती है। यहाँ 'स्नेह' शब्द स्पष्टतः सहृदय की रागात्मिका वृत्ति एवं भावुकता का व्यंजक है।

'भाव-विलास' में देव ने रसास्वाद-प्रक्रिया के समस्त आंतरिक अंगों पर पृथक्-पृथक् प्रकाश डाला है। वे स्थायी भाव को रसोत्पत्ति में अंकुर-रूप[2] मानते हैं, विभावों को रसोत्पत्ति का कारण[3] घोषित कर उन्होंने आलम्बन और उद्दीपन विभाव के पृथक्-पृथक् स्वरूप को उद्-घाटित करते हुए कहा है कि 'जिसका अवलम्ब ग्रहण कर रस उत्पन्न होता है वह 'आलम्बन' विभाव तथा दीपक की भाँति रसों को उद्दीप्त करने वाला 'उद्दीपन विभाव' कहलाता है।'[4] विभाव द्वारा उत्पन्न रस का अनुभव कराने वाले उनकी दृष्टि में 'अनुभाव'[5] हैं। इन समस्त

---

१. देव : शब्द-रसायन, तृतीय प्रकाश, पृष्ठ २८।

२. जो जा रस की उपज में, पहिले अंकुर होइ।
सो ताको थिति भाव है, कहत सुकवि सब कोइ॥
—देव : भाव-विलास, प्रथम विलास, पृष्ठ ५, देव-ग्रंथावली (प्रेम-चन्द्रिका), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

३. जे विशेष करि रसनि को, उपजावत हैं भाव।
भरतादिक सतकवि सबै, तिनकों कहत विभाव॥
—वही, पृष्ठ ८।

४. रस उपजै अवलम्बि जिहि, सो आलम्बन होइ।
रसहि जगावै दीप ज्यों, उद्दीपन कहि सोइ॥
—वही,

५. जिनकों निरखत परस्पर, रस कौ अनुभव होइ।
... ...

रसावयवों के पृथक्-पृथक् स्वरूप-विवेचन के अतिरिक्त देव ने रसास्वाद की प्रक्रिया में प्रत्येक रसावयव केस्वतंत्र योग तथा कर्तव्य कर्म से सम्बद्ध निष्कर्ष इस प्रकार प्रस्तुत किये हैं :

रस अंकुर थाई, विभाव, रस के उपजावन।
रस अनुभव अनुभाव, सात्विकी, रस झलकावन॥[1]

उनकी यह मान्यता संस्कृत काव्यशास्त्रियों की रसं-दृष्टि के सर्वथा अनुरूप है।

काव्यास्वाद के स्वरूप के विषय में देव का स्पष्ट अभिमत है कि वह एकान्ततः आनन्दात्मक है। रसास्वाद की आनन्दरूपता का स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष आख्यान न होने पर भी उनके रीति-ग्रंथों में तत्संबंधी अनेक संकेत-सूत्र प्राप्त होते हैं—उदाहरणार्थ—

सुनत रसाइन 'देव' कवि, काव्य श्रुतिन सुखसार।[2]

. . . .

अरथ धर्म तें होइ अरु, काम अरथ तें जानु।
तातें सुख, सुख को सदा, रस शृंगार निदानु॥

. . . .

जिनहिं जानि जान्यो परै, सुखदायक शृंगार॥[3]

एक स्थल पर देव ने काव्य का कामधेनु से रूपक बाँधते हुए शब्दार्थ और रस को उसका दूध तथा उससे संप्राप्त सुखास्वाद को मक्खन कहा है, जिसका उपभोक्ता सुबुद्ध सामाजिक होता है :

कामधेनु सो काव्य है, शब्द, अर्थ रस-दूध।
सुख-माखन भोगति सुमति, बचन सुधानिधि सूध॥[4]

भानुदत्त की 'रसतरंगिणी' के आधार पर देव ने यद्यपि रस के अलौकिक और लौकिक

आपुहि ते उपजाय रस, पहिले होंहि विभाव।
रसहि जगावें जो बहुरि, तौ तेऊ अनुभाव॥२॥—वही, पृष्ठ १४।

१. तुलनार्थ देखिए—

(क) आस्वादांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः।
—विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, व्या० डॉ० सत्यव्रतसिंह, तृतीय परिच्छेद, कारिका सं० १७४।

(ख) कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥२७॥
—हिन्दी काव्यप्रकाश, व्या० आचार्य विश्वेश्वर, चतुर्थ उल्लास, कारिका सं० २७।

२. देव : शब्द-रसायन, प्रथम प्रकाश, पृष्ठ २।

३. देव : भाव-विलास, प्रथम विलास, पृष्ठ ४।

४. देव : शब्द-रसायन, प्रथम प्रकाश, पृष्ठ ३।

दो भेदों[1] की चर्चा करते हुए काव्य-निबद्ध नवरसों को लौकिक रस ही माना है,[2] तथापि इसमें संदेह नहीं कि उन्हें काव्यास्वाद की लोकोत्तरता ही मान्य है :

हरि-जस-रस की रसिकता, सकल रसाइन सार।
जहाँ न करतु कदर्थना, यह असार संसार॥[3]

यहाँ स्पष्ट ही है कि देव की दृष्टि में काव्यास्वाद समस्त लौकिक ऐन्द्रिय अनुभवों से इतर एक लोकोत्तर आध्यात्मिक अनुभूति है।

श्रृंगार के रस-राजत्व से आगे बढ़कर उन्होंने श्रृंगार को एकमात्र रस घोषित कर दिया है, जिससे अन्य सभी रस उत्पन्न और विलयित होते हैं :--

नवरसनि मुख्य श्रृंगार जहँ उपजत बिनसत सकल रस।
ज्यों सूक्ष्म थूल कारन प्रगट, होत महाकारन बिबस॥[4]
यहि विधि रस श्रृंगार मैं, सब रस रहे समाइ।
जैसे निर्मल ब्रह्म मैं, माया रूप रमाइ॥[5]
जगत मुख्य श्रृंगार मैं, नवरस झलकत यत्र।
ज्यों कनक-मनि-कंकन को, ताही में नवरत्न॥[6]

नवरस श्रगार में इस प्रकार अन्तर्भुक्त हो जाते हैं जिस प्रकार अनेक सूक्ष्म-स्थूल कारणों से मिलकर महाकारण बनता है अथवा ब्रह्म के शुद्ध-बुद्ध निर्मल रूप में जिस प्रकार माया के विभिन्न रूप रमण करते हैं, अथ ा रत्नमणि-जटित कंकण में नवरत्नों की स्थिति होती है। अपनी इस रस-विषयक बद्धमूल धारणा के कारण ही देव अन्त में नवरसों के अस्तित्व का निषेध कर श्रृंगार की एकछत्र सत्ता की घोषणा कर देते हैं :

भूलि कहत नवरस सुकवि सकल मूल सिंगार।[7]

---

१. ताहि विभावादिकन ते, थिति सम्पूरन जानि।
लौकिक और अलौकिक हि, द्वै विधि कहत बखानि॥
—देव : भाव-विलास, तृतीय विलास, पृष्ठ ६५।
तुलनार्थ देखिए—
स च रसो द्विविधः लौकिकोऽलौकिकश्चेति।
भानुदत्त : रस-तरंगिणी, टीकाकार पं० जीवनाथ, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, षष्ठ तरंग, पृष्ठ १२३।

२. बरनत कवि देव कहि, लौकिक नव सुप्रकार।
—देव : 'भाव-विलास', तृतीय विलास, पृष्ठ ६७।

३. देव : शब्द-रसायन, प्रथम प्रकाश, पृष्ठ १।

४. वही, षष्ठ प्रकाश, पृष्ठ ५७।

५. वही, पृष्ठ ५९।

६. वही, पृष्ठ ५८।

७. देव : भवानी-विलास, प्रथम विलास, छंद सं० १०, (भारत जीवन प्रेस, अलीगढ़)।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर सहज ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि देव की दृष्टि में रस और शृंगार पर्यायवाची हैं। इस प्रकार एक ओर तो वे रस को समस्त ऐन्द्रिय-लौकिक अनुभवों से विलक्षण, लोकोत्तर अनुभूति मानते हैं, और दूसरी ओर उनकी सम्मति में शृंगार नवरसों में से एक होने के कारण 'लौकिक' है—साथ ही शृंगार को एकमात्र रस सिद्ध करने के कारण वह रस-मात्र का प्रतिरूप बन जाता है। किन्तु फिर भी देव के इन अभिमतों में आभासित असंगतियों का परिहार करना कठिन नहीं है। वस्तुतः वे काव्यनिबद्ध शृंगारादि रसों को 'हरि-रस' (आध्यात्मिक रस) तथा इस लोक की शृंगारादि रसों की प्रत्यक्ष अनुभूति से एकरूप मानते हैं। आस्वाद की दृष्टि से प्रत्यक्ष लौकिक रस, आध्यात्मिक रस तथा काव्य-निबद्ध रस को वे सर्वथा अभिन्न मानते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर आचार्य देव की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं का सारांश इस प्रकार है :—

१. विभावानुभाव आदि के द्वारा परिपुष्ट वासना-रूप से स्थित स्थायी भाव ही काव्यास्वाद (रसास्वाद) का रूप ग्रहण करता है।
२. इस आस्वाद का रूप विषयिगत न होकर वस्तुगत है।
३. काव्यास्वाद समस्त ऐन्द्रिय-लौकिक अनुभवों से विलक्षण एक लोकोत्तर एवं आनन्दमयी अनुभूति है।
४. आस्वाद की दृष्टि से काव्य-निबद्ध रस, आध्यात्मिक रस तथा लौकिक रसों में कोई अन्तर नहीं है।

देव के काव्यास्वाद-विवेचन का प्रमुख आधार स्पष्टतः भानुदत्त की 'रस-तरंगिणी' है। इसके अतिरिक्त यत्र-तत्र 'साहित्य-दर्पण' और 'काव्य-प्रकाश' का भी आश्रय लिया गया है। हिन्दी की रीति-कालीन काव्यशास्त्रीय परम्परा में उनका विशेष महत्त्व रस-सम्प्रदाय की प्रबल प्रतिष्ठा के कारण है। यद्यपि कहीं-कहीं उन्होंने इस क्षेत्र में भी परम्परा से हटकर मौलिक सिद्धान्त-प्रतिपादन की चेष्टा की है, तथापि रीति-साहित्य में उनके अद्वितीय गौरव का श्रेय मौलिक सिद्धान्त-निरूपण के स्थान पर काव्यास्वाद के अत्यंत स्पष्ट, प्रांजल, क्रमबद्ध तथा व्यापक निरूपण को ही दिया जाना चाहिए।

रसलीन

विक्रमी संवत् १७९८ में रसलीन द्वारा रचित ग्रंथ 'रस-प्रबोध',[1] जैसा कि इसके शीर्षक और स्वयं कवि की उक्ति से स्पष्ट है,[2] एक विशुद्ध रस-निरूपक ग्रंथ है। इनके अन्य रीति-ग्रंथ—

---

१. 'सत्रह सै अट्ठानवे मधु सुदि छठ बुधवार।
बिलगराम मैं आइ कै भयो ग्रन्थ अवतार॥३॥
—रसलीन : रस-प्रबोध, भारत-जीवन प्रैस, काशी, प्रथम संस्करण (सन् १८९५ ई०), दोहा सं० ३।

२. नवहू रस कों जब भयो यामैं बोध बनाइ।
रसप्रबोध या ग्रन्थ कों नाम धर्यो तब ल्याइ॥२॥
—वही, दोहा सं० २।

'अंगदर्पण' और 'नायिका-भेद' आदि भी प्रकारान्तर से रस से ही सम्बद्ध हैं, जिससे रस के प्रति रसलीन का विशेष आग्रह स्वतः व्यक्त हो जाता है। 'रस-प्रबोध' के विषय में स्वयं कवि की गर्वोक्ति है कि इस ग्रंथ का आद्यन्त पारायण कर लेने के उपरान्त रसिक-प्रमाताओं को किसी अन्य रस-ग्रन्थ की आकांक्षा नहीं रह जाएगी। इससे भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि 'रस-प्रबोध' का मुख्य प्रतिपाद्य विषय रस-विवेचन—विशेषतः शृंगार-रस और नायक-नायिका-भेद-निरूपण ही है।

रसलीन ग्रन्थारम्भ में रस-लक्षण, भाव, स्थायी, भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी आदि समस्त रसांग-सहित काव्यास्वाद (रसास्वाद) के विशुद्ध एवं स्वच्छ स्वरूप-विवेचन के उपरान्त ही शृंगार-रस और नायक-नायिका-भेद-निरूपण में प्रवृत्त हुए हैं। उनके शब्दों में 'विभानुभाव और व्यभिचारी भावों के पारस्परिक संयोग से परिपूर्ण और व्यापक रस उत्पन्न होता है।' 'परिपूरन' और 'व्यापी' शब्दों के प्रयोग के साथ ही इस रस-लक्षण में भरत-सूत्र की भाँति रसास्वाद के मूलभूत स्थायी भाव का उल्लेख नहीं किया गया। मम्मट तथा विश्वनाथ के आधार पर अधिकांश रीति-आचार्यों ने सर्वथा स्पष्ट रूप में कहा है कि विभावादि के द्वारा व्यक्त अथवा व्यंजित होकर स्थायी भाव रस-रूप में परिणत हो जाता है, किन्तु रसलीन में रस के लिए ही 'परिपूरन' और 'व्यापी' विशेषणों का प्रयोग सम्पूर्ण लक्षण को ही उलझा दिया है। एक तो, जैसा कि इसी अध्याय में पद्माकर के काव्यास्वाद-विवेचन के संदर्भ में कहा गया है, परिपुष्ट के अर्थ में 'परिपूरन' शब्द का यह प्रयोग सर्वथा अनुपयुक्त है और दूसरे ये 'परिपूरन' और 'व्यापी' विशेषतः वस्तुतः व्यापी भाव के हैं, रस के नहीं, क्योंकि विभावादि के परिपुष्ट स्थायी भाव ही रस है।

रसलीन ने भी काव्यास्वाद की सम्पूर्ण प्रक्रिया को अत्यंत सुबोध रीति से स्पष्ट करने के लिए एक विशद रूप का आश्रय लिया है, जिसके अनुसार सहृदय-प्रमाताओं की मानस-भूमि में वासना-रूप बीज स्थायी-भाव-रूप में अंकुरित, अनुकूल परिस्थिति के जल-सिंचन से विकसित मधुप-वन आदि से उद्दीप्त, अनुरूप विभावादि (नायक-नायिका) से परिव्यक्त होकर अनुभाव-रूप वृक्ष में परिणत हो जाते हैं जिन पर लगने वाले संचारी-भाव-रूप पुष्पों के प्रतिक्षण विकसित होने से रस-रूप मकरन्द का रूप धारण कर लेता है, रसिक सहृदय और कवि-मधुप अपने चित्त

---

१. बाँचि आदि तें अन्त लौं यह समुझे जो कोइ।
   ताहि और रस ग्रंथ की फेरि चाह नहिं होइ॥४॥
   दोहा सं० ४।

२. जब विभाव अनुभाव अरु व्यभिचारी मिलि आनि।
   परिपूरन व्यापी जहाँ उपजै सो रस जानि॥८॥
   —रसलीन : रस-प्रबोध', प्रथम संस्करण, दोहा सं० ८।

३. देखिए—
   मिलि विभाव अनुभाव अरु संचारिन के वृन्द।
   परिपूरन थिर भाव जो सु रसरूप आनन्द॥
   आकर-ग्रंथमाला—४ : पद्माकर (ग्रंथावली), सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (नागरी) प्रचारिणी सभा, काशी), जगद्विनोद, छंद सं० ६०८, पृष्ठ २०७।

में जिसका आस्वादन करते हैं।"[1] यद्यपि, अर्थ की दृष्टि से इस रूपक की संगति बैठ जाती है, तथापि भाषागत स्वच्छता और अभिव्यंजना-शक्ति के अभाव में रसलीन इस रूपक का अन्त तक निर्वाह करने में असमर्थ रहे हैं। काव्यास्वादन की प्रक्रिया से संबद्ध इस रूपक का एक बड़ा दोष यह है कि रसलीन इसमें स्थायी भाव की स्पष्ट स्वरूप-व्याख्या नहीं कर सके हैं। उन्होंने चित्त की वासना को बीज और स्थायी भाव को उसका अंकुर कहकर दोनों में पार्थक्य स्थापित कर दिया है, जबकि वस्तु-स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है—स्थायी भाव ही प्रमाता के चित्त में वासना-(संस्कार-)रूप से विद्यमान रहता है; चित्त में वासना-रूप से स्थित रहने में उसके स्थायित्व की ही स्वीकृति है और प्रमाता के चित्त में संस्कार-रूप से स्थित यह स्थायी भाव ही रसास्वाद का मूल (बीज) है। इस बात को स्वयं रसलीन ने अन्यत्र स्वीकार किया है।[2] इस रूपक के अतिरिक्त उन्होंने स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव आदि का पृथक्-पृथक् स्वरूप-विवेचन भी किया है। अन्य रीति-आचार्यों की भाँति रसलीन की परम्परा-निबद्ध दृष्टि में भी

---

१. जो थायी रस बीज बिधि मानस चित छिति माँहि।
ताको अंकुर जो कछू सो थाई कहि वाहि ॥९॥
अवसर सम उपजावने सरसावत जल रूप।
अलंबन उद्दीपन हियो जन बिभाव अनुरूप ॥१०॥
अनुभावहु तरु प्रगट करि जानि लेहु यह बात।
व्यभिचारी है फूल सों छिन छिन फूलत जात ॥११॥
तिनि संजोग मकरन्द लौं रस उपजत है आनि।
रसिक मधुप कवि चित्त करि ताहि करै पहिचानि ॥१२॥
—रसलीन : रस-प्रबोध, दोहा सं० ९-१२।

टिप्पणी : रसलीन की भाँति भिखारीदास ने भी काव्यास्वाद की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए रूपक-पद्धति का ही आश्रय लिया है, यद्यपि उनके रूपक के उपकरण रसलीन के इस रूपक से भिन्न हैं :

जाए नृप मन के बयालीस विचारि देखो।
याई विभिचारी सबैं तैंतिस बखानिये ॥
थाई बढ़ि निर्जर जवानी कियो मानस में।
रस कहवायो बिभिचारी संगी जानिये ॥
रजधानी आलंबन संपत्ति उद्दीपता को
चौन्हवै को लच्छन को अनुभाव मानिये।
कोऊ रचै भूपन या सों कोऊ विना भूषन हि
कविन को तिन्ह के चितेरे पहिचानिये ॥

—आकर-ग्रंथमाला : भिखारीदास-ग्रंथावली, सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी), रस-सारांश, छंद सं० ५४०।

२. जब भावन में यह लख्यो थाई है रसमूल।
—रसलीन : रस-प्रबोध, दोहा सं० २३।

विभाव स्थायी भाव की उद्‌बुद्धि के कारण-स्वरूप हैं,[1] अनुभाव स्थायी भाव की उद्‌बुद्धि को व्यक्त करने वाले' कार्य-स्वरूप' तथा संचारी भाव स्थायी भाव के सहकारी भाव हैं।[3] अन्त में विभावादि के द्वारा परिव्यक्त स्थायी भाव के रस-रूप में परिणत होने का वर्णन करते हुए[4] रसलीन ने काव्यास्वाद के स्वरूप का विश्लेषण किया है :

'स्थायी भाव इस रूप में परिव्यक्त होकर ही रस-रूप धारण करता है जिसके (आनन्द-मय) आस्वाद में सहृदय-प्रमाता का चित्त सभी प्रकार के ज्ञान को पूर्णतः विस्मृत कर लीन हो जाता है।'[5]

काव्यास्वाद की प्रक्रिया का अत्यंत सुन्दर एवं सूक्ष्म विश्लेषण रसलीन ने एक अत्यंत सटीक उदाहरण के द्वारा किया है :

'कवियों के अन्तर्मन में स्थित तथा काव्यनिवद्ध रस ऐसे चित्र के समान है जिसको देखकर काव्य-मर्मज्ञ रसिक-प्रमाता का मन आह्लादित एवं सम्मोहित हो जाता है।'[6]

यहाँ रसलीन ने 'चित्र' शब्द का प्रयोग सृजन की स्थिति में कवि की संवेद्य अनुभूति के 'विम्व' के अर्थ में किया है। उनके अनुसार कवि का यह अनुभूति-विम्व काव्य के माध्यम से संप्रेपित होता हुआ अन्ततः काव्यानुभावक प्रमाता के चित्त में सहज ही पुनरुद्रिक्त होकर उसे आनन्दमय आस्वाद प्रदान करता है। रसलीन की कवि से प्रमाता तक की यह आनन्दमयी आस्वाद-यात्रा संस्कृत-काव्य शास्त्र के आत्मवादी आचार्य अभिनवगुप्त के इस अभिमत से प्रभा-वित जान पड़ती है कि 'कवि सामाजिक के ही समान है। . . .उस वीज-रूप कविनिष्ठ आस्वाद

---

१. (क) थाई कारन को सुकवि कहत विभाव विसेप।
—रसलीन : रस-प्रवोध, दोहा सं० २७।
(ख) रत्यादिक थिर भाव के कारन जान विभाव।
—वही, दोहा सं० ३१।

२. (क) जो थाई को आनि कै प्रगट करै अन्यास।
सोई है अनुभाव यह वरनत वुद्धिनिवास॥
—वही, दोहा सं० २९।
(ख) कारज है अनुभाव . . . .
—वही, दोहा सं० ३१।

३. . . .अरु सहकारी चरभाव।
—वही।

४. 'अथ विभाव अनुभाव व्यभिचारी ने थाई भाव को रस होइवो कवनी।'
—उपरिवत्, दोहा सं० २९ के वाद की गद्य-टीका।

५. थाई के यों प्रगट तें रस कहियत है सोय।
जिहि स्वादिन मैं भूलि सव महामगन मन होय॥
—रसलीन : रस-प्रवोध, दोहा सं० ३३।

६. सो रस चित्र कवित्त में कविजन चित्र समान।
जाहि लखत ही रीझि कैमोहत रसिक सुजान॥
—वही, दोहा सं० ३४।

से वृक्ष-रूप काव्य का सृजन होता है। उसमें नट के अभिनय आदि व्यापारों का स्थान पुष्पवत् है जिसका फल सामाजिक का रसास्वाद होता है।"[1] अन्तर केवल इतना है कि रसलीन ने अभिनवगुप्त के 'बीज-वृक्ष-फल' के रूपक के स्थान पर चित्र की संप्रेषणीयता की उद्भावना की है। अभिनवगुप्त से प्रभावित होने पर भी उनकी यह मान्यता इस दृष्टि से एक सीमा तक मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण मानी जानी चाहिए कि कवि के अनुभूति-बिम्ब से काव्य-बिम्ब तथा फिर उससे प्रमाता की चेतना में बिम्ब की उद्भूति से सम्बन्धित उद्भावना द्वारा रसलीन का काव्यास्वाद-प्रक्रिया का यह विश्लेषण अधिक सटीक और मनोवैज्ञानिक तथा आधुनिक काव्यशास्त्र के मनोविज्ञान पर आधारित काव्यास्वाद-प्रक्रिया के अन्तर्गत 'संप्रेषणीयता-सिद्धान्त' के अत्यंत निकट है।

संक्षेप में उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर रसलीन के काव्यास्वाद-विवेचन से सम्बन्धित निष्कर्ष निम्नांकित हैं :

१. विभाव, अनुभाव और संचारी भावों द्वारा परिपुष्ट सहृदय-प्रमाता के चित्त में वासना-रूप से स्थित स्थायी भाव की रसास्वाद-रूप में परिणति ही काव्यास्वाद है।
२. यह सहृदय-सापेक्ष विषयिगत आस्वाद प्रमाता के चित्त को वेद्यान्तर के स्पर्श से विरहित कर एक आनन्दमयी अनुभूति में निमग्न कर देता है।
३. कवि की मूल अनुभूति का बिम्ब ही काव्य के माध्यम से संप्रेषित होकर काव्यानुभावक प्रमाता के चित्त में पुनरुद्रिक्त होकर उसे आनन्दमय आस्वाद प्रदान करता है। इस प्रकार सृजन की स्थिति में कवि तथा काव्यास्वादन की स्थिति में सहृदय प्रमाता की चेतनाएँ पूर्ण रूप से एकीकृत हो जाती हैं।

निष्कर्षतः, रसलीन का काव्यास्वाद-विवेचन, जैसा कि उपर्युक्त विवेचन के क्रम में स्पष्ट किया जा चुका है, मुख्यतः संस्कृत-काव्यशास्त्र में निरूपित रसानुभूति-विषयक अवधारणा पर आवृत है, साथ ही वह पूर्व-स्थापित रीति-परम्परा में विवेचित काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं से भी एक सीमा तक प्रभावित है। रसलीन अन्य रीतिकालीन आचार्यों से इस अर्थ में विशिष्ट हैं कि उन्होंने अत्यंत सुव्यवस्थित एवं क्रमबद्ध शैली में काव्यास्वाद का निरूपण करते हुए अपनी विवेचन-प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया, जो सम्पूर्ण रीति-परम्परा में अनुपलब्ध है। काव्यास्वाद-प्रक्रिया के निरूपण-क्रम में 'कवि-काव्य-प्रमाता' में संक्रमणशील अनुभूति-बिम्बों की प्रकल्पना हिन्दी रीति-काव्य को निश्चय ही एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण देन मानी जाएगी।

भिखारीदास

आचार्य भिखारीदास द्वारा प्रणीत 'काव्य-निर्णय', 'रस-सारांश' तथा 'शृंगार-निर्णय' शीर्षक प्रसिद्ध ग्रंथों में से 'रस-सारांश' तथा 'शृंगार-निर्णय' विशुद्ध रस-निरूपक ग्रंथ हैं; 'काव्य-

---

१. कविर्हि सामाजिक तुल्य एव।...ततो वृक्षस्थानीयं काव्यम्। तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनटव्यापारः। तत्र फलस्थानीयं सामाजिकरसास्वादः।
—हिन्दी अभिनवभारती, षष्ठ अध्याय, पृष्ठ ५१५।

निर्णय' के भी चतुर्थ उल्लास में उन्होंने रसास्वाद का स्वरूप-विवेचन अत्यंत मनोयोगपूर्वक किया है, जिससे रस-सिद्धान्त के प्रति उनका विशेष आग्रह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। भिखारीदास के रस-विवेचन का प्रमुख आधार, जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है,[1] विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' तथा मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' में उपलब्ध रस-सामग्री है।

इस युग के अन्य रीति-आचार्यों की भाँति भिखारीदास की दृष्टि में भी रसास्वाद ही काव्यास्वाद है, तथापि शास्त्रीय परम्परा का अनुसरण करते हुए उन्होंने 'रस' को काव्यात्मा न मानकर 'रस कवित्त को अंग'[2] कहा है। अतः उनकी काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं को समझने के लिए उनके रस-स्वरूप-विवेचन पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

भिखारीदास के अनुसार काव्य का प्रयोजन विद्वज्जनों को आनन्द प्रदान करना है।[3] उन्होंने लता का रूपक बाँधते हुए काव्यास्वाद को अनुपम वाणी की लता पर फलने वाला फल कहा है, जिसका उत्पादक कवि-राजा तथा आस्वाद-वेत्ता (आस्वादयिता) रसिक व्यक्ति होता है।[4] रसिक उनकी दृष्टि में वही हो सकता है जिसके हृदय में 'रसमय उक्तियों' के प्रति मोहाकर्षण हो;[5] इसके साथ ही रसात्मक उक्ति के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए उन्होंने उसे आनन्द-प्रदायिनी उक्ति[6] कहा है। दूसरे शब्दों में, आनन्दास्वाद कराने वाली रसात्मक उक्तियों के प्रति आकृष्ट मन रसिक प्रमाता ही रसास्वाद (काव्यास्वाद) का अधिकारी है।

रस के प्रति भिखारीदास का दृष्टिकोण भी नितान्त शास्त्रीय एवं परम्परानुमोदित है। विभाव को रसोत्पत्ति का हेतु,[7] स्थायी भाव को 'बीज'[8] तथा रस को विभाव, अनुभाव और संचारी

---

१. यद्यपि भिखारीदास ने अपने रस-निरूपण पर केवल काव्यप्रकाश का ही प्रभाव स्वीकार किया है—
   बूझि सु चन्द्रालोक अरु, काव्यप्रकासहु ग्रंथ। (काव्य-निर्णय, प्रथमोल्लास, दोहा सं० ५)
   तथापि उस पर विश्वनाथ, चिंतामणि तथा केशव आदि का प्रभाव भी यत्र-तत्र सर्वथा स्पष्ट है।
२. आकर-ग्रंथमाला—२ : भिखारीदास (द्वितीय खण्ड, सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; काव्य-निर्णय, प्रथमोल्लास, छंद सं० १३, पृष्ठ ५।
३. दास कवित्तनि की चरचा बुधिवंतनि कों सुखदै सब ठाईं ॥१०॥
   वही, पृष्ठ ४।
४. बानी लता अनूप, काव्य-अमृतरस-फल फली।
   प्रगट करै कवि-भूप, स्वादवेत्ता रसिक जन ॥१॥
   —वही, प्रथम खण्ड, रस-सारांश, पृष्ठ ३।
५-६. रसिक कहावैं ते जिन्हें रस बातन तें हेत।
   रस बातें ताकों कहत जो रसिकनि सुख देत ॥८॥
   —वही, पृष्ठ ४।
७. जासों रस उत्पन्न है सो विभाव उर आनि।
   —वही, (प्रथम खण्ड), रस-सारांश, छंद सं० १०, पृष्ठ ४।
८. तातें थाई भाव कों, रस को बीज गनाउ।
   —वही, (द्वितीय खण्ड); काव्य-निर्णय, चतुर्थ उल्लास, छं० सं० ८, पृष्ठ २७।

भावों से परिपुष्ट होकर सहृदय को तन्मय कर देने वाला तत्त्व[1] घोषित करने वाली उनकी रस-विषयक मान्यताएँ विश्वनाथ तथा मम्मट की मान्यताओं से भिन्न नहीं हैं,[2] भले ही वे उसका छन्दोबद्ध भाषा में सुस्पष्ट रूपान्तरन कर पाए हों। संक्षेप में, भिखारीदास के मतानुसार काव्यास्वाद (रसास्वाद) प्रमाता द्वारा उपभुक्त विषयीगत आनन्द है और यह आनन्द विभावअनुभाव एवं संचारी भावों से परिपुष्ट प्रमाता के चेतनागत स्थायी भाव का प्रतिफल है।

भिखारीदास का काव्यास्वाद-विवेचन हिन्दी रीति-परम्परा में इस दृष्टि से विशिष्ट है कि उन्होंने सर्वथा निर्भ्रान्ति, स्पष्ट और प्रबल शब्दों में काव्यानन्द को काव्य का प्रमुख प्रयोजन घोषित करते हुए काव्यास्वादन में समर्थ सहृदय प्रमाता को ही उसका उपभोक्ता माना है। संस्कृत के मम्मट और विश्वनाथ तथा हिन्दी के केशव, चिंतामणि की विवेचन-सामग्री को आधार-रूप में ग्रहण करते हुए भी उसे नितान्त मौलिक विषयानुक्रम में संयोजित करने के कारण ही भिखारीदास रीतिकालीन आचार्यों में विशिष्ट पद के अधिकारी हैं—यह दूसरी बात है कि मौलिकता के मोह में पड़ कर कहीं-कहीं उनका विवेचन अवैज्ञानिक, भ्रान्त तथा अस्पष्ट हो गया है।

वेनी प्रवीन

वेनी प्रवीन द्वारा रचित 'नव-रस-तरंग', 'शृंगार-भूषण' और 'नानाराव प्रकाश' शीर्षक तीन काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में से उनके आचार्यत्व एवं कवि-रूप में प्रसिद्धि का प्रमुख आधार 'नव-रस-तरंग' ही है। काव्यगत नवरसों के जगत् में तरंग उत्पन्न कर नवरस-रीति का विवेचन करने वाला यह ग्रंथ[3] विशुद्ध रस-निरूपक ग्रंथ है। रस के अन्तर्गत भी रस, स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के सामान्य लक्षण प्रस्तुत करते हुए शृंगाररस एवं नायक-नायिका-भेद

---

१. लखि विभाव अनुभाव ही, चर थिर भावै नेकु।
रस-सामग्री जो रमै, रसै गनै धरि टेकु॥१५॥
—वही।

२. तुलनार्थ देखिए—
(क) विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम्॥१॥
—कविराज विश्वनाथ : साहित्य-दर्पण, तृतीय परिच्छेद, कारिका सं० १।
(ख) आस्वादांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः॥१७४॥
—वही, कारिका सं० १७४।

३. यह प्रवीन वेनी सुनत, करिकै हिये उमंग।
रस अरु नव के जगत में, कीन्हों प्रगट तरंग॥१०॥
या रस अरु नव तरंग में, नवरस रीतिहि देखि।
अति प्रसन्न ह्वै ललन जो, कीन्हीं प्रीति विसेखि॥११॥
—वेनी प्रवीन (वाजपेयी)-कृत नव-रस-तरंग, सं० कृष्णबिहारी मिश्र, (प्राचीन कविमाला कार्यालय, काशी), सन् १९२५ ई० (प्रथम संस्करण), दोहा सं० १०, ११, पृष्ठ २।

का मुख्यतः और शेष रसों का गौण रूप से अत्यंत संक्षिप्त निरूपण किया गया है। अतएव इस रस-निरूपक ग्रंथ का मुख्य विवेच्य विषय शृंगार-रस और नायक-नायिका-भेद ही है।

वेनी प्रवीन का काव्यास्वाद-(रसास्वाद-)विषयक दृष्टिकोण भी अन्य रीति-आचार्यों की भाँति संस्कृत काव्यशास्त्रियों की रस-दृष्टि से भिन्न स्वतंत्र एवं मौलिक न होकर उसी का रूपान्तर मात्र है। अन्तर केवल इतना ही है कि अन्य रीति-आचार्यों के समान उन्होंने 'व्यक्त' अथवा 'व्यंजित' शब्द के स्थान पर 'प्रकाशित' शब्द का प्रयोग करते हुए 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों द्वारा आनन्द-रूप में प्रकाशित स्थायी भाव'[1] को रस की संज्ञा प्रदान की है, किन्तु स्पष्ट ही है कि वेनी प्रवीन ने 'प्रकाशित' शब्द का प्रयोग अभिनवगुप्त के 'अभिव्यक्ति' शब्द के रूपान्तर के रूप में ही किया है और उसका अर्थ मम्मट और विश्वनाथ के 'व्यक्त' से भिन्न नहीं है।[2] उक्त संस्कृताचार्यों की भाँति यद्यपि उन्होंने अपने मन्तव्य के पूर्ण स्पष्टीकरण का कोई उपक्रम नहीं किया, तथापि उनका आशय कदाचित् यही रहा होगा कि जलके संस्पर्श से पृथ्वी की गंध और दीपक के प्रकाश से कक्ष में पूर्व विद्यमान वस्तुओं के प्रकृत स्वरूप की ही भाँति स्थायी भाव भी विभावादि के द्वारा रस-रूप में अभिव्यक्त (प्रकाशित) हो जाता है। उनके मतानुसार सांसारिक 'विषयवासनाओं की प्रतिक्रिया-स्वरूप उद्बुद्ध मनोविकार ही भाव कहलाते हैं।'[3] रसास्वादन के मूलभूत स्थायी भाव के संबंध में उनका कथन है कि 'प्रत्येक रस के पृथक्-पृथक् स्थायी भाव होते हैं और स्थायीभाव के उदय से रस अचल अर्थात् स्थायी हो जाता है।'[4] यहाँ वेनी प्रवीन अपने विचार को स्पष्ट एवं प्रांजल रूप में अभिव्यक्त नहीं कर सके हैं। 'रस के अचल'

---

१. जहं विभाव अनुभाव विभिचारी देत प्रकास।
स्थाई भावहि मोदमय, सोई रस को रास॥३०॥
—वेनी प्रवीन (वाजपेयी)-कृत 'नव-रस-तरंग' सं० कृष्णविहारी मिश्र (प्राचीन कविमाला कार्यालय, काशी), रस-लक्षण, दोहा सं० ३०, पृष्ठ ३।

२. तुलनार्थ देखिए :
(क) विभावा : अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः॥२८॥
—मम्मट : काव्यप्रकाश, व्याख्याकार—आचार्य विश्वेश्वर, चतुर्थ उल्लास, कारिका सं० २८, पृष्ठ ९५।
(ख) विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम् ॥१॥
—विश्वनाथ : साहित्य-दर्पण, तृतीय परिच्छेद, कारिका १।

३. विषै वासना ते कछू उपजै चित्त विकार।
ताही सों सब कहत हैं, भाव कवित-करतार॥२८४
—वेनी प्रवीन (वाजपेयी) : नवरस-तरंग, दोहा २८४, पृष्ठ ४२।

४. या रस को थाई जु है, ताही रस में होत।
अचल सदा ह्वै जात रस, थाई भाव उदोत॥२९३॥
—वही, दोहा सं० २९३, पृष्ठ ५५।

होने से उनका अभिप्राय संभवतः यह है कि स्थायी भाव की उद्बुद्धि के उपरान्त ही रस का परिपाक होता है।

हिन्दी के मध्यकालीन (भक्ति एवं रीतिकालीन) कवियों की परम्परा का अनुमोदन करते हुए वेनी प्रवीन ने भी व्रजराज को नवरसमय घोषित किया है।[1] दूसरे शब्दों में, नवरस का आश्रय श्रीकृष्ण हैं। इस उक्ति में रसास्वाद (काव्यास्वाद) की अलौकिकता एवं लोकोत्तरता की ध्वनि निहित है।

संक्षेप में वेनी प्रवीन की काव्यास्वाद-विषयक अवधारणा का सारांश इस प्रकार है—

१. विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों द्वारा स्थायी भाव की अभिव्यक्ति ही रस अथवा काव्यास्वाद है।
२. यह आस्वाद अनिवार्य रूप से आनन्दमय होता है।
३. काव्यास्वाद एक अलौकिक एवं लोकोत्तर अनुभूति है।

वेनी प्रवीन-विरचित 'नव-रस-तरंग' का यह काव्यास्वाद-निरूपण सर्वथा परम्परानुमोदित है। इस ग्रंथ में काव्यास्वाद की स्वरूपगत जिन परम्परागत एवं शास्त्रीय विशेषताओं का निरूपण किया गया है, उनकी प्रतिपादन-शैली में भी किसी प्रकार की मौलिकता के दर्शन नहीं होते। वेनी प्रवीन स्थायी भाव का लक्षण भी स्पष्ट रूप में प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। समग्र रूप से वेनी प्रवीन के इस शृंगार-रस-निरूपक ग्रंथ का हिन्दी-काव्यशास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन-क्रम में कोई विशेष महत्व नहीं है।

रसिक गोविन्द

रसिक गोविन्द द्वारा प्रणीत 'रसिक गोविन्दादिघन', 'लछमन-चंद्रिका', 'पिंगल' और 'रसिक गोविन्द' आदि विभिन्न रीति-ग्रंथों में काव्यास्वाद के स्वरूप-विश्लेषण की दृष्टि से 'रसिक गोविन्दादिघन' शीर्षक ग्रंथ विशेष महत्त्वपूर्ण है। रस, नायिका-भेद, अलंकार और गुण-दोष आदि विविध काव्यांगों के गद्य-लक्षण तथा शास्त्रार्थ की हेतु-निगमन शैली में गद्य-टीका के माध्यम से उनके विशद एवं स्पष्ट स्वरूप-विश्लेषण के कारण यह ग्रंथ हिन्दी के समस्त रीति-ग्रंथों में विशिष्ट स्थान का अधिकारी है।

काव्यास्वाद-विवेचन-क्रम में रसिक गोविन्द ने भरत के 'नाट्यशास्त्र', मम्मट-कृत 'काव्यप्रकाश', विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' तथा अभिनवगुप्त, के आधार पर संस्कृत-काव्यशास्त्र के इन आचार्यों के काव्यास्वाद-विषयक अभिमत प्रस्तुत करने के उपरान्त अंत में 'ग्रंथकर्त्ता को

---

१. नवरस में व्रजराज नित, कहत सुकवि प्राचीन।
—वही, दोहा सं० २८, पृष्ठ ३।

तुलनार्थ देखिए—
कहि केसव सेवहु रसिक जन, नवरसमय व्रजराज नित ॥२॥
—केशवदास : रसिक-प्रिया, टीकाकार-विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रथम संस्करण, (सं० २०१५ वि०), (कल्याणदास ऐंड ब्रदर्स, वाराणसी), प्रथम प्रभाव, छंद सं० २, पृष्ठ २।

मत' के रूप में अपना स्वतंत्र मत निरूपित किया है। रसिक गोविन्द ने काव्यास्वाद (रसास्वाद) का स्वरूप-विवेचन निम्नोक्त पंक्तियों में किया है—

अन्य ज्ञानरहित जो आनन्द सो रस।

प्रश्न—अन्य ज्ञान-रहित आनन्द तो निद्रा हू है।
उत्तर—निद्रा जड़ है, यह चेतन।
भरत आचार्य्य सूत्रकर्त्ता को मत—
विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के जोग तें रस की सिद्धि।
अथ काव्यप्रकाश को मत—
कारण कारज सहायक हैं जे लोक में इनही को नाट्य में,
काव्य में, विभाव संज्ञा है।
अथ टीकाकर्ता को मत तथा साहित्यदर्पण को मत—
सत्व, विशुद्ध, अखंड, स्वप्रकाश, आनंद, चित्, अन्यज्ञान
नहिं संग, ब्रह्मास्वाद सहोदर रस।[1]

उपर्युक्त उद्धरण में भरत, मम्मट तथा विश्वनाथ के रस-लक्षणों का रसिक गोविन्द ने शब्दशः, किन्तु सर्वथा शुद्ध गद्यानुवाद किया है। विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के जोग तें रस की सिद्धि—भरत के संस्कृत में रचित रस-सूत्र **विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः**[2] का और **कारण कारज सहायक हैं जे लोक में इनहीं को नाट्य में, काव्य में, विभाव संज्ञा है**— मम्मट की—

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः[3] ॥

संस्कृत-कारिका का गद्य-रूपान्तर है। सत्व, विशुद्ध, अखंड, स्वप्रकाश, आनन्द, चित्, अन्य ज्ञान नहिं संग (वैद्यान्तरस्पर्शशून्य), ब्रह्मास्वाद सहोदर रस में तो उन्होंने विश्वनाथ के रस-लक्षण[4] में प्रयुक्त समस्त संस्कृत शब्दों को यथावत् रख दिया है—केवल अन्य ज्ञान नहिं संग वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्य का अनुवाद है।

संक्षेप में रसिक गोविन्द के काव्यास्वाद-विषयक अभिमत का सारांश इस प्रकार है—

१. काव्यास्वाद (रसास्वाद) की सिद्धि विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से होती है।
२. काव्यास्वाद सत्त्वोद्रेक से उत्पन्न विशुद्ध, स्वप्रकाश, चेतन, वेद्यान्तस्पर्शशून्य और ब्रह्मास्वाद के समकक्ष अखण्ड आनन्द की अनुभूति है।

---

१. रसिक गोविन्द-कृत रसिक गोविन्दादिघन, नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में सुरक्षित प्रति के आधार पर।
२. भरत-कृत नाट्यशास्त्र (प्रथम भाग), गायकवाड़ ओरियेंटल सिरीज नं० ३६, द्वितीय परिशोधित संस्करण, सं० एम० रामकृष्ण कवि, षष्ठ अध्याय, पृष्ठ २७२।
३. हिन्दी-काव्यप्रकाश, व्या० आचार्य विश्वेश्वर, चतुर्थ उल्लास, कारिका सं० २७, पृष्ठ ९५।
४. विश्वनाथ-साहित्य-दर्पण, व्या० डॉ० सत्यव्रत सिंह, तृतीय परिच्छेद, कारिका सं० २, ३।

समग्रतः, रसिक गोविन्द का यह काव्यास्वाद-विवेचन प्रतिपादन-शैली की गाम्भिकता तथा स्वच्छ-प्रांजलता के कारण हिन्दी की सम्पूर्ण रीतिशास्त्रीय परम्परा में विशिष्ट है। विवेचन की स्वच्छता के लिए गद्य का इस सीमा तक प्रयोग करने वाले ये हिन्दी के प्रथम रीति-आचार्य हैं। रीति-विवेचन-सम्बन्धी इन्हीं विशिष्टताओं के आधार पर रसिक गोविन्द आचार्य-पद के पूर्ण अधिकारी हैं।

नवीन

वृन्दावनवासी कवि 'नवीन' ने संवत् १८९९ में 'रंग-तरंग' शीर्षक रस-ग्रंथ की रचना प्रमुखतः नवरस-निरूपण के उद्देश्य से की थी।[1] अपने ग्रंथ के नामकरण का औचित्य सिद्ध करते हुए उन्होंने कहा है कि 'विमल नवरसों का वर्णन अत्यंत रंगीन (सरस एवं रोचक) और अभिराम होता है—इसी दृष्टि से मैंने इस ग्रंथ का नाम 'रंगतरंग' रखा है।'[2] रस-निरूपण के अन्तर्गत नवीन कवि ने सर्वप्रथम नव रसों के मस्तक पर राजतिलक के समान सुशोभित रसराज शृंगार का ही निरूपण किया है[3] और शृंगार रस के आलम्बन-रूप में नायक-नायिका भेद का निरूपण किया है।[4] ग्रंथ के अन्त में शेष रसों का संक्षिप्त निरूपण है।

नवीन ने विश्वनाथ के आधार पर अत्यंत स्पष्ट रूप में काव्यास्वाद (रसास्वाद) के स्वरूप और उसकी प्रक्रिया का विवेचन किया है। रीतिकवियों की रसास्वाद-विषयक परम्पराबद्ध शास्त्रीय मान्यता का ही अनुसरण करते हुए उन्होंने भी 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से परिपूर्णता को प्राप्त स्थायी-भाव की रस-रूप में परिणति'[5] को ही काव्यास्वाद

---

१. फेर सरस रस ग्रंथवर दूजो सरस नवीन।
नवरस को रचना सब रच्यो नवीन प्रवीन॥
—नवीन : रंगतरंग, सं० पं० बलदेवप्रसाद मिश्र, लक्ष्मीनारायण प्रेस, मोरादाबाद प्रथम तरंग, दोहा सं० २०।

२. नवरस को वरनन विमल अति रंगीन अभिराम।
यातें रंगतरंग वर, कियो, ग्रंथ को नाम॥
—वही, दोहा सं० २५।

३. अथ रसबरनन में प्रथम शृंगार रस निरूपन दोहा—
नवरस में जेहि भा लपै राजतिलक को साज।
सब सुकविन के सुमति सौं सो शृंगार रस राज॥
—वही, दोहा सं० १।

४. आलम्बनता के प्रगट दंपति सरस अनूप।
याते अब वरनन करत प्रथम नाइका रूप॥'
—वही, दोहा सं० २।

५. अथ रस रूप वरनन दोहा—
मिल विभाव अनुभाव अरु, विभचारी के जाल।
थाई परिपूरण भयो रस को रूप रसाल॥
—वही, पंचम तरंग, दोहा सं० १।

मत' के रूप में अपना स्वतंत्र मत निरूपित किया है। रसिक गोविन्द ने काव्यास्वाद (रसास्वाद) का स्वरूप-विवेचन निम्नोक्त पंक्तियों में किया है—

अन्य ज्ञानरहित जो आनन्द सो रस।

प्रश्न—अन्य ज्ञान-रहित आनन्द तो निद्रा हू है।
उत्तर—निद्रा जड़ है, यह चेतन।
भरत आचार्य्य सूत्रकर्त्ता को मत—
विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के जोग तें रस की सिद्धि।
अथ काव्यप्रकाश को मत—
कारण कारज सहायक हैं जे लोक में इनही को नाट्य में,
काव्य में, विभाव संज्ञा है।
अथ टीकाकर्त्ता को मत तथा साहित्यदर्पण को मत—
सत्व, विशुद्ध, अखंड, स्वप्रकाश, आनंद, चित्, अन्यज्ञान
नहिं संग, ब्रह्मास्वाद सहोदर रस।[1]

उपर्युक्त उद्धरण में भरत, मम्मट तथा विश्वनाथ के रस-लक्षणों का रसिक गोविन्द ने शब्दशः, किन्तु सर्वथा शुद्ध गद्यानुवाद किया है। विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के जोग तें रस की सिद्धि—भरत के संस्कृत में रचित रस-सूत्र **विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः**[2] का और **कारण कारज सहायक हैं जे लोक में इनहीं को नाट्य में,** काव्य में, विभाव संज्ञा है— मम्मट की—

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः[3] ॥

संस्कृत-कारिका का गद्य-रूपान्तर है। सत्व, विशुद्ध, अखंड, स्वप्रकाश, आनन्द, चित्, अन्य ज्ञान नहिं संग (वैद्यान्तरस्पर्शशून्य), ब्रह्मास्वाद सहोदर रस में तो उन्होंने विश्वनाथ के रस-लक्षण[4] में प्रयुक्त समस्त संस्कृत शब्दों को यथावत् रख दिया है—केवल अन्य ज्ञान नहिं संग वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्य का अनुवाद है।

संक्षेप में रसिक गोविन्द के काव्यास्वाद-विषयक अभिमत का सारांश इस प्रकार है—

१. काव्यास्वाद (रसास्वाद) की सिद्धि विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से होती है।
२. काव्यास्वाद सत्वोद्रेक से उत्पन्न विशुद्ध, स्वप्रकाश, चेतन, वेद्यान्तस्पर्शशून्य और ब्रह्मास्वाद के समकक्ष अखण्ड आनन्द की अनुभूति है।

---

१. रसिक गोविन्द-कृत रसिक गोविन्दादिघन, नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में सुरक्षित प्रति के आधार पर।
२. भरत-कृत नाट्यशास्त्र (प्रथम भाग), गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज नं० ३६, द्वितीय परिशोधित संस्करण, सं० एम० रामकृष्ण कवि, षष्ठ अध्याय, पृष्ठ २७२।
३. हिन्दी-काव्यप्रकाश, व्या० आचार्य विश्वेश्वर, चतुर्थ उल्लास, कारिका सं० २७, पृष्ठ ९५।
४. विश्वनाथ-साहित्य-दर्पण, व्या० डॉ० सत्यव्रत सिंह, तृतीय परिच्छेद, कारिका सं० २, ३।

समग्रतः, रसिक गोविन्द का यह काव्यास्वाद-विवेचन प्रतिपादन-शैली की मौलिकता तथा स्वच्छ-प्रांजलता के कारण हिन्दी की सम्पूर्ण रीतिशास्त्रीय परम्परा में विशिष्ट है। विवेचन की स्वच्छता के लिए गद्य का इस सीमा तक प्रयोग करने वाले ये हिन्दी के प्रथम रीति-आचार्य हैं। रीति-विवेचन-सम्बन्धी इन्हीं विशिष्टताओं के आधार पर रसिक गोविन्द आचार्य-पद के पूर्ण अधिकारी हैं।

नवीन

वृन्दावनवासी कवि 'नवीन' ने संवत् १८९९ में 'रंग-तरंग' शीर्षक रस-ग्रंथ की रचना प्रमुखतः नवरस-निरूपण के उद्देश्य से की थी।[1] अपने ग्रंथ के नामकरण का औचित्य सिद्ध करते हुए उन्होंने कहा है कि 'विमल नवरसों का वर्णन अत्यंत रंगीन (सरस एवं रोचक) और अभिराम होता है—इसी दृष्टि से मैंने इस ग्रंथ का नाम 'रंगतरंग' रखा है।'[2] रस-निरूपण के अन्तर्गत नवीन कवि ने सर्वप्रथम नव रसों के मस्तक पर राजतिलक के समान सुशोभित रसराज शृंगार का ही निरूपण किया है[3] और शृंगार रस के आलम्बन-रूप में नायक-नायिका भेद का निरूपण किया है।[4] ग्रंथ के अन्त में शेष रसों का संक्षिप्त निरूपण है।

नवीन ने विश्वनाथ के आधार पर अत्यंत स्पष्ट रूप में काव्यास्वाद (रसास्वाद) के स्वरूप और उसकी प्रक्रिया का विवेचन किया है। रीतिकवियों की रसास्वाद-विषयक परम्पराबद्ध शास्त्रीय मान्यता का ही अनुसरण करते हुए उन्होंने भी 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से परिपूर्णता को प्राप्त स्थायी-भाव की रस-रूप में परिणति'[5] को ही काव्यास्वाद

---

१. फेर सरस रस ग्रंथवर दूजो सरस नवीन।
नवरस की रचना मय रच्यो नवीन प्रवीन॥
—नवीन : रंगतरंग, सं० पं० बलदेवप्रसाद मिश्र, लक्ष्मीनारायण प्रेस, मोरादाबाद प्रथम तरंग, दोहा सं० २०।

२. नवरस को बरनन विमल अति रंगीन अभिराम।
यातें रंगतरंग वर, कियो, ग्रंथ को नाम॥
—वही, दोहा सं० २५।

३. अथ रसबरनन में प्रथम शृंगार रस निरूपन दोहा—
नवरस में जेहि भा लपै राजतिलक को साज।
सब सुकविन के सुमति सौं सो शृंगार रस राज॥
—वही, दोहा सं० १।

४. आलम्बनता के प्रगट दंपति सरस अनूप।
याते अब बरनन करत प्रथम नाइका रूप॥'
—वही, दोहा सं० २।

५. अथ रस रूप वरनन दोहा—
मिल विभाव अनुभाव अरु, विभचारी के जाल।
थाई परिपूरण भयो रस को रूप रसाल॥
—वही, पंचम तरंग, दोहा सं० १।

माना है। जैसा कि प्रस्तुत प्रबंध के इसी अध्याय में पद्माकर और रसलीन के काव्यास्वाद-विवेचन के क्रम में स्पष्ट किया जा चुका है, नवीन ने भी 'परिपूरण' शब्द का प्रयोग परिपुष्ट अथवा परिपक्व के अर्थ में ही किया है।[1] स्थायी भाव को रसास्वाद का कारणस्वरूप मानते हुए नवीन ने उसे *प्रत्येक स्थिति में अविचल रहनेवाला समस्त भावों का 'सिरताज' तथा रसानुकूल मनोविकार* कहा है।[2] काव्यास्वाद की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए नवीन ने आचार्य विश्वनाथ के विवेचन के आधार पर एक उदाहरण प्रस्तुत किया है—

> तनु विकार को पाइ ज्यों, होत छीर दधि रूप।
> त्यों थिरभावहि होत रस, वरनत सुकवि अनूप॥[3]

अर्थात्—

जिस प्रकार रूप में विकार आ जाने से क्षीर दधि का रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार श्रेष्ठ कवियों के अनुसार स्थायी भाव भी रस-रूप में परिणत हो जाता है।

इस प्रकार नवीन ने यद्यपि यहाँ स्थायी भाव से रस-परिपाक की प्रक्रिया में स्थायी भाव के रूपान्तरण की चर्चा तो अवश्य की है, किन्तु उस रूपान्तर के स्वरूप की स्पष्ट व्याख्या उन्होंने नहीं की है। दूसरे शब्दों में, रस-रूप में पर्यवसित स्थायी भाव कैसा स्वरूप धारण कर लेता है, *उसकी स्वरूपगत विशिष्टताएँ कौन-कौन सी हैं—इस विषय में वे पूर्णतः मौन ही रहे हैं। स्थायी* भाव की इस रस-रूप में परिणति का कारण नवीन की दृष्टि में विभावानुभाव और संचारियों से उसका संयोग है। मनोविकार-रूप स्थायीभाव आलंबन विभाव का अवलम्ब ग्रहण

---

१. तुलनार्थ देखिए

(क) मिलि विभाव अनुभाव अरु संचारिन के वृन्द।
परिपूरन थिर भाव जो सु रस रूप आनंद॥

आकर-ग्रंथमाला—४ : पद्माकर ग्रंथावली, सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी), जगद्विनोद, छंद सं० ६०८, पृष्ठ २०७।

(ख) जब विभाव अनुभाव अरु व्यभिचारी मिलि आनि।
परिपूरन व्यापी जहाँ ऊपजै सो रस जानि॥८॥

रसलीन : रस-प्रबोध, भारत-जीवन प्रेस, काशी, प्रथम सं० (सन् १८९५ ई०), दोहा सं० ८।

२. अथ स्थाई भाव रस कारन वरनन दोहा—
उर उपजत हैं आइ जो रस अनुकूल विकार।
तिन को थाई भाव कहि वरनत कवि सिरदार॥१॥
टरै न कोटि उपाइहू, सब भावन सिरताज॥
—नवीन : रंगतरंग, चतुर्थ तरंग, दोहा सं० १ और २।

३. वही, पंचम तरंग, दोहा सं० २।
तुलनार्थ देखिए—
...व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तीकृत एव रसो ...।
कविराज विश्वनाथ : साहित्य-दर्पण, तृतीय परिच्छेद कारिका १ की वृत्ति।

कर,[1] उद्दीपन विभाव से उद्दीप्त,[2] अनुभावों द्वारा प्रकाशित[3] तथा समुद्र में लहरों के समान नवरसों में उद्वेलित-विलयित होने वाले संचारी भावों[4] से परिपुष्ट होकर रसास्वाद (काव्यास्वाद) के रूप में परिणत हो जाते हैं।[5] उनकी रसास्वाद-विषयक यह अवधारणा स्पष्टतः विश्वनाथ से प्रभावित है।[6]

संक्षेप में नवीन कवि की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं का सारांश इस प्रकार है:—

१. नवीन की दृष्टि में रसास्वाद ही काव्यास्वाद है।

२. विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से परिपुष्ट मनोविकार-रूप स्थायी भाव ही काव्यास्वाद में परिणत हो जाता है।

३. दधि-न्याय से रस-रूप में परिणत स्थायी-भाव ही काव्यास्वाद है।

नवीन का काव्यास्वाद का यह स्वरूप-विवेचन नितान्त रीतिबद्ध, फलतः अमौलिक होता हुआ भी इस दृष्टि से पर्याप्त महत्वपूर्ण है कि वे सम्पूर्ण रीतिकालीन परम्परा में कदाचित् प्रथम बार उदाहरण द्वारा काव्यास्वादन की प्रक्रिया का अत्यंत स्पष्ट विवेचन करने में सफल हुए हैं। समग्र रूप से नवीन के रीति-विवेचन का वैशिष्ट्य विषय के स्पष्ट एवं क्रमबद्ध प्रतिपादन में है।

(ग) अलंकार-निरूपक आचार्यों द्वारा काव्यास्वाद का विवेचन

संस्कृत-काव्यशास्त्र में प्रतिष्ठित काव्य-सिद्धान्तों में से रस और ध्वनि-सिद्धान्त के अतिरिक्त अलंकार-सिद्धान्त भी एक सीमा तक हिन्दी के रीतिकालीन कवि-आचार्यों के विशेष आकर्षण का विषय रहा है। वैसे तो विविधांग-निरूपक आचार्यों ने भी काव्य के विभिन्न अंगोपांगों के साथ अलंकारों का अत्यंत मनोयोगपूर्वक निरूपण किया है और किसी-किसी ने तो संस्कृत के भामह आदि अलंकारवादी आचार्यों का अनुसरण करते हुए काव्य में अलंकार का महत्व-प्रतिपादन भी कर दिया है, किन्तु इस प्रकार की उक्तियाँ निश्चय ही अलंकार-सिद्धान्त

---

१. जिनहीं सों अवलंबि कै उपजें रस के भाइ।
   आलंबन सु विभाव कहि बरनत कवि समुदाइ॥
   —वही, प्रथम तरंग, दोहा सं० १।

२. रस उद्दीपन होत है, जिनको हिये विलोकि।
   उद्दीपन सु विभाव कहि बरनत हैं कवि थोक॥ —वही, द्वितीय तरंग, दोहा सं० १।

३. जिनते अनुभव होत है चित में रति को भाव।
   ते अनुभाव बखानहीं रस के सब कबिराव॥१॥
   . . . .
   इन होते शृंगार में ह्वै रतिभाव प्रकास॥२॥ —वही, तृतीय तरंग, दोहा सं० १ और २।

४. नवरस माहीं जे चरें हैं संचारी तेस॥१॥
   थाई भावन में सदा या विधि प्रगति वाहिं।
   जैसे लहर समुद्र में, उठत उठत विनसाहिं॥
   —वही, चतुर्थ तरंग, (संचारी वर्णन), दोहा सं० १ और २।

५. टरै न टारै कोटि उपाइहू, सब भावन सिरताज।
   ह्वै परिपूरन होत रस, यों बरनत कविराज॥
   —नवीन : रंसतरंग, चतुर्थ तरंग (स्थायी वर्णन), दोहा २।

६. देखिए—विश्वनाथ : साहित्यदर्पण तृतीय परि[illegible]

में उनकी विशेष आस्था को व्यक्त नहीं करतीं—क्योंकि रस-प्रकरण में रस को ही काव्य के अनिवार्य अंग के रूप में प्रतिष्ठित करने वाली उनकी उक्तियाँ उक्त भ्रान्ति का पूर्णतः निराकरण कर देती हैं। रीतिकाल में इन विविधांग-निरूपक आचार्यों से भिन्न ऐसे अलंकार-निरूपक कवि-आचार्यों की परम्परा भी रही है जिनका अलंकार के प्रति विशेष पक्षपात सर्वथा व्यक्त है। इस युग के अलंकार-निरूपक कवि-आचार्यों में जसवंतसिंह, भूषण, रसिक सुमति, दूलह कवि, वैरीसाल, राय शिवप्रसाद और याकूब खाँ के नाम विशेष उल्लेख्य हैं।

जसवंतसिंह का 'भाषा-भूषण', भूषण का 'शिवराज-भूषण', रसिक सुमति-कृत 'अलंकार-चन्द्रोदय', दूलहकवि-कृत 'कविकुलकंठाभरण', वैरीसाल का 'भाषाभरण', राय शिवप्रसाद का 'रस-भूषण', याक़ूब खाँ का 'रस-भूषण', गोविंद-कृत 'कर्णाभरण', रसरूप-कृत 'तुलसी भूषण', गिरिधरदास-कृत 'भारती-भूषण', गंगाधर-विरचित 'महेश्वर भूषण' और रघुनाथ-कृत 'रसिक-मोहन' आदि रीतिकाल में रचित विशुद्ध अलंकार-निरूपक ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों के अध्ययन से यह तथ्य अत्यंत स्पष्ट रूप से उभरकर सम्मुख आता है कि इनके रचयिताओं के अलंकार-निरूपण की मूल प्रेरणा मताग्रह उतना नहीं है, जितना कि समाज के रसिक-वर्ग के मनोरंजन के लिए रुचिकर-सामग्री जुटाने की इच्छा। यही कारण है कि काव्यास्वाद के स्वरूप-विवेचन जैसे गंभीर विषय का स्पर्श तक अधिकांश आचार्यों ने नहीं किया है; यहाँ तक कि अलंकार की स्वरूप-व्याख्या और काव्य में उनके महत्त्व-निर्धारण का प्रयत्न भी इनमें से बहुत कम ने किया है। अधिकांश आचार्य मंगलाचरण, ग्रंथ-परिचय, आश्रयदाता के महिमा-गान आदि के बाद उपमा अलंकार के अंतर्गत उपमेय और उपमान आदि उसके प्रमुख अंगों की परिभाषा से अपना रीति-विवेचन प्रारंभ कर विभिन्न अलंकारों के निरूपण में ही संलग्न हो गए हैं। संस्कृत-काव्यशास्त्र के अलंकारवादी आचार्यों की भाँति शब्दार्थगत उक्ति-चमत्कार से काव्यास्वाद की निष्पत्ति ये आचार्य अधिकांशतः सिद्ध नहीं कर पाए हैं। इसके मूल में दो कारण और हो सकते हैं—एक तो यह कि ये आचार्य सिद्धान्त-रूप में रसास्वाद को ही काव्यास्वाद मानते थे, जिसकी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति या तो उन्होंने की नहीं, अथवा किसी अन्य अनुपलब्ध ग्रंथ में की हो; दूसरे, अलंकार में प्रबल आस्था होते हुए भी वे पूर्व-प्रतिष्ठित मान्य सिद्धान्त से मतवैभिन्य प्रदर्शित करने का दुस्साहस नहीं कर सके। इसीलिए प्रस्तुत संदर्भ में इन आचार्यों के काव्यास्वाद-विषयक अभिमतों का पृथक्-पृथक् विवेचन निष्प्रयोजन ही सिद्ध होगा।

रीतिकाल के अलंकार-निरूपक आचार्यों ने अलंकार-सिद्धान्त के आलोक में काव्यास्वाद के स्वरूप का प्रत्यक्ष रूप से विवेचन-विश्लेषण कहीं नहीं किया—केवल इनके द्वारा निरूपित अलंकार के स्वरूप के आधार पर ही किसी निष्कर्ष तक पहुँचा जा सकता है।

रसिक सुमति

रसिक सुमति ने अपने ग्रंथ 'अलंकार-चन्द्रोदय' में अलकार का लक्षण-निरूपण इस प्रकार किया है:

> सबद अरथ की चित्रता, विविध भाँति की होइ।
> अलंकार तासों कहत रसिक विवुध कवि लोइ॥[1]

---

१. रसिक सुमति : अलंकार-चन्द्रोदय, छंद सं० ३ (याज्ञिक संग्रह, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, ग्रंथ सं० ९६।१६)।

अर्थात् शब्द और अर्थ की विभिन्न प्रकार की विचित्रताएँ अलंकार कहलाती हैं। यहाँ 'विचित्रता' शब्द कुंतक की वक्र उक्ति अर्थात् असाधारण कथन-भंगिमा का व्यंजक है। दूसरे शब्दों में, शब्दार्थगत चमत्कार या उक्ति-चमत्कार ही अलंकार है। अलंकार की इस परिभाषा के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि रसिक सुमति की दृष्टि में शब्द और अर्थ की रमणीय भंगिमाओं के भावन से उत्पन्न प्रमाता का अन्तश्चमत्कार ही काव्यास्वाद है।

गंगाधर

गंगाधर ने अपने अलंकार ग्रंथ 'महेश्वर-भूषण' में 'अलंकार' को व्यंग्यार्थ और रस से भिन्न (चमत्कारपूर्ण) अर्थ प्रकाशित करने वाला शब्द कहा है:

> प्रथक पदारथ व्यंगि अरु रस सों शब्दम आइ।
> अर्थ प्रकाशै त्याहि कहत अलंकार कविराइ॥[1]

इसके आधार पर भी उनकी दृष्टि में सहृदय का अन्तश्चमत्कार ही काव्यास्वाद माना जा सकता है, जिसकी सिद्धि काव्य में व्यंग्यार्थ और सरस अर्थ से भिन्न किसी चमत्कारकारी अर्थ की प्रतीति से होती है।

राय शिवप्रसाद तथा याकूब खाँ

राय शिवप्रसाद तथा याकूब खाँ के 'रस-भूषण' शीर्षक के दो ग्रंथ केवल अलंकार-निरूपक ग्रंथों में ही नहीं, हिन्दी की सम्पूर्ण रीतिशास्त्रीय परम्परा में काव्य के विविध अंगों में से केवल 'रस' और 'अलंकार' के एकत्र सम्मिश्रित निरूपण के कारण विशिष्ट है। राय शिवप्रसाद ने संवत् १८६९ वि० में 'रस-भूषण'[2] नामक ग्रंथ की रचना अलंकारों के रस-युक्त निरूपण के उद्देश्य से की थी,[3] इसी कारण उन्होंने इस ग्रंथ को 'रस-भूषण' शीर्षक दिया।[4] रस के अन्तर्गत क्रमशः नायक-नायिका-भेद एवं नखस-निरूपण, विभावादि रसांगों का कथन, शृंगार रस के

---

१. गंगाधर : महेश्वर-भूषण (भारत जीवन प्रेस, काशी, सं० १९५४), तृतीय उल्लास, छंद सं० १।

२. संवत् एक हजार अरु आठ सौ जान।
सालि उन्नतर को जहाँ पौख मास पहिचान॥
. . .   .
सब ही के मन मोद को कीन्हों ग्रन्थ बखान,।
—राय शिवप्रसाद : रस-भूषण, दोहा सं० २६, २७।

३. शिव प्रसाद को मन में ठई कीजै कछू विचार।
अलंकार रस जुत कियो भयो ग्रंथ निरधार॥
—वही, छंद सं० २०।

४. रस भूखन या ग्रन्थ को नाउ धरो सुख पाइ।
रसिक गुनीन प्रवीन को सुनै सुरस सरसाय॥
—वही, छंद सं० २५।

अन्तर्गत हाव-भाव, हेला, विरह की दस दशाएँ तथा अलंकार आदि इस ग्रंथ के विवेच्य विषय हैं, किन्तु इन सभी का विवेचन सर्वत्र अलंकार-संयुक्त है, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शिवप्रसाद-कृत 'रस-भूषण' मूलतः अलंकार-निरूपक ग्रंथ ही है; अलकारों के निरूपण को लेखक ने नायिका-भेद, शृंगार-रस, हाव, भाव, हेला आदि सरस विषयों के मिश्रण से रसिक समाज के लिए रोचक बनाने का प्रयत्न किया है---यही कारण है कि इस ग्रंथ में विभिन्न अलंकारों का विवेचन रस-विवेचन की अपेक्षा अधिक विशद, विस्तृत, स्पष्ट-प्रांजल और व्यवस्थित है। नवरसों का निरूपण अत्यंत संक्षिप्त है और उसमें भी विभावादि का उल्लेख मात्र ही किया गया है---उनके पृथक्-पृथक् लक्षण और रसास्वाद-प्रक्रिया में योगदान जैसे विषयों का लेखक ने स्पर्श भी नहीं किया है।

याकूब खाँ ने भी स० १८३७ में 'रस-भूषण' नामक ग्रंथ की रचना इसी उद्देश्य से की। इस ग्रंथ के विवेच्य विषय भी शिवप्रसाद-कृत 'रस-भूषण' की ही भाँति नायिका-भेद, हाव-भाव, नवरस, भाव-भेद, विभावानुभाव और अलंकार ही हैं। याक़ूब खाँ के विवेचन-क्रम में सर्वप्रथमा और प्रमुख स्थान नायिका-भेद के आलंकारिक निरूपण को प्राप्त हुआ है। उन्होंने स्वयं कह भी है कि 'अलंकार के विना नायिकाएँ सुशोभित नहीं होतीं, इस दृष्टि से ही मैंने नायिकाओं का अलंकार-युक्त वर्णन किया है।'[1] यह ग्रंथ भी मुख्यतः अलंकार-निरूपक ग्रंथ ही है। ग्रंथ की समाप्ति पर स्वयं लेखक ने इस तथ्य की स्वीकृति की है:

या ग्रंथ विषै उदाहरन में लक्षन के क्रम ते पहिली तुक में तो अलंकार बरनौ है और दूसरी तुक में नाइका भेद है, दोनो ही तुक में अलंकार को निर्वाह जानिये।[2]

नवरस आदि का अत्यत संक्षिप्त निरूपण भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है।

रसालंकार-निरूपक 'रस-भूषण' शीर्षक इन दोनों ग्रंथों पर सूर की 'साहित्य-लहरी' का प्रभाव सर्वथा स्पष्ट है। सूर ने 'साहित्य-लहरी' में केवल नायिका-भेद का ही अलंकार-संयुक्त निरूपण किया है और उक्त ग्रंथों में भी सर्वाधिक विस्तार नायिका भेद-निरूपण को ही दिया गया है। विवेचन-विस्तार एवं आग्रह की प्रवलता की दृष्टि से, यद्यपि ये दोनों ग्रंथ मुख्यतः अलंकार-निरूपक ग्रंथ ही प्रमाणित होते हैं, तथापि इनके लेखकों ने कहीं भी 'अलंकार' का लक्षण प्रस्तुत कर संस्कृत के अलंकारवादी आचार्यों की भाँति शब्दार्थगत चमत्कार अथवा उक्ति-चमत्कार से काव्यास्वाद की सिद्धि नहीं मानी। काव्यास्वाद के प्रत्यक्ष विवेचन के एकान्त अभाव की स्थिति में भी रायशिवप्रसाद तथा याक़ूबखाँ के विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कठिन न होगा कि ये भी रसवादियों की ही भाँति काव्यास्वाद को एक सहृदय-सापेक्ष विषयिगत आनन्दमयी अनुभूति मानते हैं। समग्रतः प्रतिपादन-शैली की नूतनता के कारण ये दोनों रीति-ग्रथ हिन्दी रीति-शास्त्र में विशिष्ट स्थान रखते हैं।

संक्षेप में उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सामान्यतः अलंकार-

---

१. अलंकार बिनु नाइका, शोभित होय न आनि।
अलंकार जुत नाइका, याते कहो बखानि॥
—याकूब खाँ : रस-भूषण, छंद सं० ४ (दतिया राजपुस्तकालय में सुरक्षित प्रति के आधार पर)।

२. याकूब खाँ : रस-भूषण, ग्रंथ-समाप्ति।

निरूपक आचार्यों की दृष्टि में शब्दार्थगत सौंदर्य अथवा उक्ति-सौंदर्य के भावन से निष्पन्न प्रमाता का अन्तश्चमत्कार ही काव्यास्वाद है।

(घ) ध्वनि-निरूपक आचार्यों द्वारा काव्यास्वाद का विवेचन

हिन्दी की रीतिकालीन परम्परा में यद्यपि संस्कृत-काव्यशास्त्र के रस और अलंकार सिद्धान्त ही सर्वाधिक लोकप्रिय एवं मान्य सिद्धान्तों के रूप में प्रतिष्ठित हुए, तथापि इस युग में ऐसे आचार्यों का भी एकान्त अभाव नहीं रहा जिनकी 'ध्वनि-सिद्धान्त' में अचल निष्ठा थी। कुलपति मिश्र, प्रतापसाहि तथा कुमारमणि भट्ट रीतिकाल के कवि-आचार्यों के उस वर्गविशेष से सम्बद्ध हैं जो सर्वथा निर्भ्रान्त एवं स्पष्ट शब्दों में वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक रमणीय व्यंग्यार्थ से काव्यास्वाद की सिद्धि की घोषणा करते हैं। अतएव हिन्दी-काव्यशास्त्र के विकास-काल—रीतिकाल में काव्यास्वाद-विवेचन-क्रम में कुलपति मिश्र, प्रतापसाहि तथा कुमारमणिभट्ट के काव्यास्वाद-विषयक अभिमतों का पृथक्-पृथक् आकलन समीचीन होगा।

कुलपति मिश्र

कुलपति मिश्र ने अपने विविधांग-निरूपक ग्रंथ 'रस-रहस्य' में मम्मट के 'काव्यप्रकाश' का विशेष आधार ग्रहण करते हुए[1] चिंतामणि आदि रीति-आचार्यों की परम्परा में 'ध्वनि-निरूपण' प्रकरण में असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत रस-विवेचन क्रम में काव्यास्वाद का निरूपण किया है। 'व्यंग जीव ताको कहत'[2] की स्पष्ट एवं निर्भ्रान्त घोषणा करने वाले कुलपति मिश्र का ध्वनि के प्रति विशेष आग्रह तो सर्वविदित है, किन्तु वास्तव में जैसा कि उनके सम्पूर्ण विवेचन का उसकी समग्रता में आकलन करने से स्पष्ट होता है, उनकी दृष्टि में उत्तम काव्य 'सरस व्यंग्य' प्रधान काव्य ही है जिसकी सिद्धि के लिए देह आदि उपकरणों का सहयोग आवश्यक है। इसके अतिरिक्त उनकी ग्रंथ-रचना का मूल उद्देश्य भी सहृदय के चित्त में रस-संचार करना है।[3]

कुलपति ने भी हिन्दी के अन्य रीति-आचार्यों की भाँति संस्कृत की रस-शास्त्रीय परम्परा का अनुसरण करते हुए 'विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के सहयोग से व्यंजित स्थायी भाव

---

१. मंमट मत को सार सब बरनत भाषा भाखि ॥१६॥
—कुलपति मिश्र : रस-रहस्य, (सं० पं० बलदेव प्रसाद मिश्र, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, सं० १९५४), प्रथम वृत्तान्त, दोहा सं० १६, पृष्ठ २।

२. कुलपति ने 'व्यंग्य' को काव्य का जीव घोषित करने वाले काव्य-पुरुष रूपक से संबंधित दोहे के तुरन्त बाद अगले ही दोहे में काव्य-भेदों की चर्चा करते हुए कहा है कि—
जीव सरस पुनि देह सम देहै बलि जेहि ठौर ॥३५॥
जीव रस व्यंग्य प्रधान यथा ॥
—कुलपति मिश्र : रस-रहस्य, दोहा सं० ३५ तथा गद्य-वृत्ति, पृष्ठ ४।

३. (क) जिती देव बानी प्रगट है कविता की घात।
ते भाषा में होंहि तो सब समझैं रस बात ॥१४॥ —वही, दोहा सं० १४, पृष्ठ २।
(ख) मैं विचार सागर मथ्यो कीन्हों अमृत विकास।
रस रहस्य यह सबनु की हरै रसन की प्यास ॥१८॥ —वही, दोहा सं० १८।

को ही आनन्दरूप रस[1] की संज्ञा प्रदान की है। रस के इन विविध अवयवों में से स्थायी भाव ही रस-रूप में परिणत होता है।[2] 'भाव' को 'रस का मूल'[3] मान कर उन्होंने उसके सर्वसामान्य रूप पर विचार करते हुए उसे 'सब वृत्तिन को भूप' तथा 'निश्चल इच्छा वासना भाव बासना रूप'[4] कहा है। यह वस्तुतः स्थायी भाव का ही लक्षण है, सामान्य भाव का नहीं। रीतिकाल के अधिकांश आचार्यों द्वारा निरूपित रसास्वाद की आनन्दमयता से आगे बढ़कर कुलपति मिश्र ने विश्वनाथ के रस-लक्षण के आलोक में अभिनवगुप्त के मतानुसार काव्यास्वाद का स्वरूप-विश्लेषण किया है। उनके शब्दों में 'नाटक के प्रेक्षण तथा काव्य के भावन से सहृदय प्रमाता के चित्त के लौकिक आवरण भंग हो जाते हैं और तत्पश्चात् ही उस रस की प्रतीति होती है, जो आनन्द-स्वरूप, स्वप्रकाश, चैतन्य-स्वरूप, ब्रह्मानंद के समकक्ष (ब्रह्मास्वाद-सहोदर) तथा वेद्यान्तर स्पर्श-शून्य है।[5] प्रमाता को चित्त की भग्नावरण स्थिति में काव्यास्वाद की अनुभूति होती है—यह मत यद्यपि कुलपति ने अभिनवगुप्त का माना है, किन्तु वस्तुतः यह पंडितराज जगन्नाथ के रस-लक्षण .. **रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः।**[6] का रूपान्तर है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कुलपति मिश्र की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं का सारांश इस प्रकार है:—

१. रसास्वाद ही काव्यास्वाद है।
२. प्रमाता के चित्त में निश्चल वासना रूप में स्थित स्थायी भाव ही विभाव अनुभाव और संचारी भावों द्वारा व्यंजित होकर रसात्मक काव्यास्वाद का रूप धारण करता है।

---

१. मिलि विभाव, अनुभाव, अरु संचारी सु अनूप।
व्यंग कियो थिर भाव जो, सोई रस सुख भूप॥३४॥
—वही, तृतीय वृत्तान्त : ध्वनि-निरूपण, दोहा सं० ३४, पृष्ठ १९।

२. सब भावनि सरदार है, टारि सकै नहिं कोय।
सो थिर भाव वखानिये, रस स्वरूप जो होय॥३२॥
—वही, दोहा सं० ३२, पृष्ठ १८।

३. अब रस का स्वरूप कहते हैं। वहाँ रस का मूल भाव है।
—वही, दोहे ७, ८, ९ की गद्य-टीका, पृष्ठ १६।

४. हियो रहै जब लगि रहै सब वृत्तिन को भूप।
निश्चल इच्छा वासना भाव वासना रूप॥१०॥ —वही, दोहा सं० १०, पृष्ठ १६।

५. नृत्य कवित देखत सुनत, भये आवरन भंग।
आनंद रूप प्रकाश है, चेत नहीं रस अंग॥३५॥
जैसो सुख है ब्रह्म को, मिलै जगत सुधि जाति।
सोई गति रस में मगन, भये सुरस नौ भाँति॥३६॥
—वही, दोहा सं० ३५ और ३६, पृष्ठ १९।
टिप्पणी—तुलनार्थ देखिए—विश्वनाथ कृत साहित्यदर्पण तृतीय परिच्छेद, कारिका २, ३।

६. रस गंगाधर—चौखम्बा विद्या-भवन, संस्कृत ग्रंथमाला, सन् १९५५, प्रथमानन, पृष्ठ ८८।

३. काव्यास्वाद अनिवार्य रूप से एक आनन्दमयी अनुभूति है।

४. प्रमाता को चित्त की भग्नावरण स्थिति में ही काव्यास्वाद की प्रतीति होती है।

५ काव्यानन्द स्वप्रकाश चैतन्य स्वरूप ब्रह्मास्वाद-सहोदर और वेद्यान्तरस्पर्श शून्य है।

कुलपति मिश्र की काव्यास्वाद-विषयक उक्त अवधारणाएँ हिन्दी के सम्पूर्ण रीति-विवेचन में काव्यास्वाद के सर्वप्रथम विस्तृत निरूपण की दृष्टि से विशिष्ट हैं। संस्कृत-काव्य शास्त्रियों के मतों पर आधारित होते हुए भी कुलपति के काव्यास्वाद-विवेचन में हिन्दी-पाठकों को उसके स्वरूप से यथासंभव अधिकाधिक परिचित कराने का स्पष्ट उपक्रम है। गद्य-टीका के आश्रय से विवेचन को सुव्यवस्थित, सुबोध, सुगम एवं स्वच्छ बनाने में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है।

प्रतापसाहि

प्रतापसाहि अपने उपलब्ध काव्यशास्त्रीय ग्रंथों—'काव्य-विलास' और 'व्यंग्यार्थ-कौमुदी'—के आधार पर हिन्दी-रीति-परम्परा में ध्वनिवादी आचार्य के रूप में विख्यात हैं।[1] शेष अप्राप्य ग्रंथों में से 'शृंगार-मंजरी', 'शृंगार-शिरोमणि', 'रस-चन्द्रिका', 'अलंकार-चिंतामणि', 'काव्य-विनोद' और 'जुगल नखशिख' आदि ग्रंथ शीर्षक से काव्यशास्त्रीय ग्रंथ प्रतीत होते हैं; 'जयसिंह-प्रकाश' संभवतः सामान्य स्तुतिपरक काव्य है। इनकी मतिराम-विरचित 'रसराज', जसवंतसिंह के 'भाषा-भूषण', बलभद्र मिश्र के 'नखशिख' तथा 'बिहारी-सतसई' की टीकाओं का उल्लेख भी मिलता है। अतएव अपने सम्पूर्ण कृतित्व के आधार पर प्रतापसाहि मूलतः एक आचार्य के रूप में समादृत हैं।

ध्वनि-सम्प्रदाय में अचल निष्ठा रखते हुए भी प्रतापसाहि की दृष्टि में भी यद्यपि रीतिकाल के अन्य आचार्यों की भाँति रसास्वाद ही काव्यास्वाद है, तथापि रसास्वाद का स्वरूप उनसे भिन्न है। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि के एक प्रभेद के रूप में रस का निरूपण इस काल के चिंतामणि, कुलपति मिश्र तथा सोमनाथ आदि अनेक आचार्यों ने किया है, किन्तु फिर भी इनका रसास्वाद-(काव्यास्वाद-)—विवेचन इनमें से केवल कुलपति से ही प्रभावित है। प्रतापसाहि के मतानुसार 'विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से व्यंजित स्थायी भाव ही रस कहलाता है।'[2] यद्यपि चिंतामणि

---

१. व्यंग्यार्थ-कौमुदी के प्रारंभिक दोहों में ही उन्होंने स्पष्ट किया है कि उनकी ग्रंथ-रचना का मूल प्रयोजन व्यंग्यार्थ-निरूपण ही है—

(क) कवित रीति कछु कहत हौं व्यंग्य अर्थ चित लाय।

—प्रतापसाहि, व्यंग्यार्थ-कौमुदी, दोहा सं० १।

इस ग्रंथ का नाम भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है।

(ख) किय व्यंग्यारथ कौमुदी व्यंग्य जानिबे हेत॥६॥ —वही, दोहा सं० ६।

२. मिलि विभाव अनुभाव मिलि मिलि संचारी भाव।
व्यंग्य होत थाई तहा रस कहि सो कविराव॥

—प्रतापसाहि : काव्य-विलास, तृतीय प्रकाश, छंद सं० २२।

ने रस को स्पष्ट शब्दों में व्यंग्य[1] कहा है तथा सोमनाथ ने भी विभाव, अनुभाव-संचारी भावों द्वारा व्यंजित स्थायी भाव को ही रस[2] माना है, तथापि प्रतापसाहि का काव्यास्वाद-विषयक दृष्टिकोण इनकी अपेक्षा कुलपति के काव्यास्वाद-विषयक अभिमत के अधिक निकट है। प्रतापसाहि ने मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' के आधार पर भरतसूत्र के चार प्रमुख व्याख्याताओं—भट्टलोल्लट, शंकुक भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त—के रस-विषयक अभिमतों को प्रस्तुत करते हुए अन्त में रस की, उक्त परिभाषा दी है।[3] उन्होंने व्यंग्य को काव्य-पुरुष की आत्मा घोषित करते हुए व्यंग्य-प्रधान काव्य अथवा ध्वनि-काव्य को उत्तम काव्य की संज्ञा प्रदान की है।[4] ध्वनि उनके मतानुसार शब्द के वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारपूर्ण व्यंग्य अर्थ है।[5] प्रतापसाहि ने रसास्वाद को व्यंग्य-रूप मानते हुए स्थायी भाव के स्वरूप-विवेचन के क्रम में काव्यास्वाद की आनन्दमयता की ओर इंगित किया है। उनके शब्दों में 'आनन्द के उस मूलभूत भाव को स्थायी भाव कहते हैं, जो विरुद्ध-अविरुद्ध भावों द्वारा दबाया नहीं जा सकता।'[6] यद्यपि यहाँ भाषागत परिष्कार एवं प्रांजलता के

---

१. इन शब्दन ते कहत हू बंधन रस को होई।
   याते रस सब ठौर में व्यंग्य कहत सब कोई॥
   —चिंतामणि : कविकुलकल्पतरु, अष्टम प्रकरण, दोहा सं० १५३।

२. जहँ विभाव अनुभाव सहित संचारी भाउ।
   व्यंगि कियो थिर भाव इहिं रस रूप बताउ॥
   —सोमनाथ : रसपीयूषनिधि, सप्तम तरंग, छंद सं० ४४।

   जैसा कि उक्त आचार्यों के रसास्वाद-विवेचन-क्रम में स्पष्ट किया जा चुका है, इनकी ये परिभाषाएँ प्रत्यक्षतः मम्मट और विश्वनाथ से प्रभावित हैं।

३. प्रतापसाहि : काव्य-विलास, तृतीय प्रकाश, छंद सं० १५, १६, १७, २३, १८, २४, १९, २०।

४. व्यंग जीव है कवित में सब्द अर्थ गति अंग।
   सोई उत्तम काव्य है बरनैं व्यंग प्रसंग॥ —प्रतापसाहि : व्यंग्यार्थ-कौमुदी, दोहा सं० ५।

५. वाच्य अपेक्षा अरथ को व्यंग चमत्कृत होइ।
   शब्द अर्थ में प्रकट जो धुनि कहियत है सोइ॥
   —प्रतापसाहि : काव्य-विलास, तृतीय प्रकाश, छंद सं० २। तुलनार्थ देखिए—
   वाच्यातिशायिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्। वाच्यादधिकचमत्कारिणि व्यंग्यार्थे ध्वन्यतेऽस्मिन्निति . . . आदि।
   —विश्वनाथ : साहित्य-दर्पण, (व्या० डॉ० सत्यव्रतसिंह), चतुर्थ परिच्छेद, पृष्ठ २७९।

६. हृदय कन्द ते उठत जहँ आनन्द अंकुर जोय।
   गनि विरुद्ध अविरुद्ध ते थाई कहियत सोय॥
   —प्रतापसाहि : काव्य-विलास, छंद सं० २८।

   तुलनार्थ देखिए—
   अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।
   आस्वादांकुरकन्दो सौ भावः स्थायीति संमतः॥
   —विश्वनाथ : साहित्य-दर्पण, तृतीय परिच्छेद, कारिका सं० १७४।

अभाव में वे अपने मन्तव्य को पूर्णतः स्पष्ट नहीं कर सके हैं, तथापि इतना सर्वथा व्यक्त है कि काव्यास्वाद उनकी दृष्टि में एक आनन्दात्मक अनुभूति है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर प्रतापसाहि के काव्यास्वाद-विषयक मन्तव्य का सारांश इस प्रकार है :

१. विभाव, अनुभाव और संचारी भावों द्वारा व्यंजित स्थायी भाव ही काव्यास्वाद (रसास्वाद) है।

२. काव्यास्वाद अनिवार्य रूप से एक आनन्दमयी अनुभूति है।

३. काव्य के वाच्यार्थ से भिन्न, उसकी अपेक्षा चारुतर एवं सर्वथा नवीन अर्थ की प्रतीति का आनन्द ही काव्यास्वाद है।

प्रतापसाहि के काव्यास्वाद-विषयक इस अभिमत का मूल आधार कुलपति मिश्र के माध्यम से मम्मट का 'काव्यप्रकाश' तथा गौण रूप से विश्वनाथ-कृत 'साहित्य-दर्पण' है। हिन्दी की रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय परम्परा में इनका काव्यास्वाद-विवेचन भरत-सूत्र के व्याख्याताओं के अभिमतों के सर्वप्रथम निरूपण की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है, भले ही ये उनको समुचित रूप से विवेक-सम्मत, स्पष्ट और स्वच्छ प्रस्तुत न कर सके हों। प्रतापसाहि ध्वनि-सिद्धान्त के प्रकाश में काव्यास्वाद का विवेचन करनेवाले रीतिकाल के दो प्रमुख आचार्यों में से हैं।

कुमारमणि भट्ट

कुमारमणि भट्ट ने अपने सर्वांग-निरूपक ग्रंथ 'रसिक-रसाल' की रचना मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' के आधार पर की।[1] मम्मट के अनुरूप असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि के अन्तर्गत रसास्वाद का विवेचन करने वाले[2] तथा वाच्यार्थ की अपेक्षा चारुतर व्यंग्य से परिपूर्ण काव्य को उत्तम काव्य की संज्ञा प्रदान करने वाले[3] आचार्य कुमारमणि का ध्वनि-सिद्धान्त के प्रति आग्रह सर्वथा व्यक्त ही है। पंडितराज जगन्नाथ के काव्य-लक्षण का रूपान्तरण करते हुए इन्होंने भी काव्य (कवित्त) को 'शब्दार्थगत रमणीयता द्वारा उपसर्जित वैचित्र्यपूर्ण (अद्भुत) वाक्य' तथा 'कवि का कमनीय

---

१. काव्य-प्रकाश विचार कछु रचि भाषा में हाल।
पण्डित सुकवि 'कुमारमनि' कीन्हों 'रसिकरसाल'॥४॥
—कुमारमणि : रसिकरसाल, सं० पो० कण्ठमणि शास्त्री विशारद, प्रकाशक—श्री विद्याविभाग काँकरोली, प्रथम उल्लास, दोहा ४, पृष्ठ २।

२. (क) रस व्यंग सु अलच्छ-क्रम और लच्छ-क्रम नाम॥४॥
—वही, द्वितीय उल्लास, दोहा सं० ४, पृष्ठ ६।

(ख) रसबोध में विभावानुभावादिकौ क्रम नाहीं लक्षित होत, शतपत्रभेद-रीति तें तातें अलक्षितक्रम नाम है. . . ।
—वही, तृतीय उल्लास (शब्द-शक्तिभाव रस-व्यंग्य), गद्य टीका, पृष्ठ १७।

३. वाच्य अर्थ ते व्यंग जहँ सुन्दर अधिक विशेष।
पण्डित तासों ध्वनि कहत, उत्तम काव्य सुलेख॥१०॥
—वही, प्रथम उल्लास, दोहा सं० १०, पृष्ठ ३।

कर्म' कहा है।[1] यह शब्दार्थगत रमणीयता उनकी दृष्टि में स्पष्टतः वाच्य से चारुतर व्यंग्यार्थ है। काव्य-प्रयोजनों की चर्चा करते हुए उन्होंने सहृदय के काव्यास्वाद को ब्रह्मानन्द के समकक्ष उच्च कोटि का आस्वाद माना है।[2]

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कुमारमणि की दृष्टि में काव्य-निबद्ध वाच्यार्थ की अपेक्षा चारुतर व्यंग्य अर्थ की प्रतीति से प्राप्त सहृदय का हृदया-ह्लाद ही काव्यास्वाद है।

रस (काव्यास्वाद) के प्रति परम्परागत एवं शास्त्रीय दृष्टिकोण रखते हुए कुमारमणि भट्ट ने भी अन्य रीतिकालीन आचार्यों के ही स्वर में स्वर मिलाकर कहा है कि 'विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों से संयुक्त होकर रति आदि स्थायी भाव रस की रचना करते हैं।'[3] स्पष्ट ही है कि यहाँ 'रचत' शब्द का प्रयोग कुमारमणि ने भरतमुनि के 'निष्पत्ति' शब्द के अर्थ में ही किया है—निष्पत्ति के लिए रचना शब्द का यह प्रयोग सर्वथा अनुपयुक्त एवं अवैज्ञानिक है। स्थायी भाव से रस वनने की सम्पूर्ण प्रक्रिया को इन्होंने मम्मट के अनुरूप प्रपानक के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है—जिस प्रकार मिर्च, चीनी आदि मिलकर प्रपानक (पानक) का विशिष्ट आस्वाद ग्रहण कर लेते हैं, उसी प्रकार स्थायी भाव भी विभावादि के द्वारा उपचित होकर रसास्वाद का रूप धारण कर लेते हैं।[4] यहाँ कुमारमणि ने रस (काव्यास्वाद) की दो विशिष्टताओं पर प्रकाश डाला है—एक तो उसकी आस्वाद-रूपता[5] तथा दूसरे रस की अखण्डता। जिस प्रकार मिर्च, चीनी आदि के मिश्रण से निर्मित प्रपानक रस में प्रत्येक का खण्ड-रूप में पृथक् आस्वादन नहीं कया जा सकता, उसी प्रकार रसास्वाद के समय उसकी अखण्ड अनुभूति ही होती है, विभा-

---

१. उपजत अद्‌भुत वाक्य जो शब्द अर्थ रमनीय।
सोई कहियतु कवित है, सुकवि कर्म कमनीय॥८॥
—वही, दोहा सं० ८, पृष्ठ २।
तुलनार्थ देखिए—रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।
—पंडितराज जगन्नाथ : रसगंगाधर, प्रथमानन, कारिका १, पृष्ठ ९।

२. सहृदय पावत कवित में ब्रह्मानन्द सवाद॥५॥
—कुमारमणि : रसिक रसाल, प्रथम उल्लास, दोहा सं० ५, पृष्ठ २।

३. मिलि विभाव अनुभाव तहँ संचारी मिलि भाव।
रति प्रभृतिक थिरभाव पुनि रस को रचत भन्याव॥१०॥
—वही, तृतीय उल्लास, दोहा सं० १०, पृष्ठ १८।

१. ज्यों मरिचादि सितादि मिलि पानक स्वादु विशेषि।
विभावादि थाई मिलै रसै होत त्यों देखि॥४॥
—वही, दोहा सं० ४, पृष्ठ १७।
तुलनार्थ देखिए—
पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः
—मम्मटकृत काव्यप्रकाश, व्या० आचार्य विश्वेश्वर, चतुर्थ उल्लास, पृष्ठ १०८,

४. स्वादु विशेषहिं तें सबै भाव प्रभृति रस लेख॥२॥
—कुमारमणि भट्ट, रसिक रसाल, तृतीय उल्लास, दोहा सं० २, पृष्ठ १७।

वादि की पृथक्-पृथक् खण्ड-अनुभूति संभव नहीं है। स्थायी भाव ही काव्यानन्द का अंकुर है जो विभावादि से परिपक्व होकर रसास्वाद का रूप धारण कर लेता है।[1] अतएव स्थायी भाव ही काव्यास्वाद का मूल है।

भानुदत्त की 'रसतरंगिणी' के आधार पर काव्यास्वाद के लौकिक और अलौकिक दो रूपों की चर्चा[2] करते हुए कुमारमणि ने कहा है कि 'शृंगारादि लौकिक रस ही काव्य-निवद्ध होकर अलौकिक और आनंदमय हो जाते हैं।'[3] कुमारमणि द्वारा वर्णित लौकिक रस वस्तुतः भाव ही हैं (रस नहीं), जो काव्यनिवद्ध होकर कवि की दिव्य प्रतिभा के संस्पर्श से अलौकिक एवं आनन्दप्रद बन जाते हैं।

अलौकिक रस की अखण्डता सिद्ध करने के लिए कुमारमणि ने अनेक युक्ति-तर्क प्रस्तुत किये हैं। उनके अनुसार (१) लोक-निवद्ध रस अनेक होते हुए भी काव्य-निवद्ध अलौकिक एवं विलक्षण रस अपनी अनिवार्य आनन्दात्मकता के कारण मूलतः एक ही है। यही कारण है कि लोक के विभिन्न रसों में पंडित सहृदय और दक्ष एक ही मूलभूत अखण्ड रस की अनुभूति करते हैं।[4] (२) यह जगत आनन्द-रूप कृष्ण का ही प्रतिरूप है, अतएव स्त्री-पुरुषगत समस्त लौकिक रस भी श्रीकृष्ण-स्वरूप हैं।[5] समस्त स्थायी भाव, संचारीभाव, विभाव और अनुभाव रस-स्वरूप कृष्ण से स्वभावतः अभिन्न हैं।[6] इस प्रकार रस-रूप ब्रह्म (कृष्ण) से तत्वतः अभिन्न होने के कारण

---

१. आनंद अंकुर रूप तव भाव थाइ संचारि।
विभावादि कहवाइ वह बढ़ि रस होत विचारि ॥३॥ दोहा —वही, सं० ३, पृष्ठ १७।

तुलनार्थ देखिए—
आस्वादांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः॥
—विश्वनाथ : 'साहित्य-दर्पण', तृतीय परिच्छेद, कारिका सं० १७४।

२. स च रसो द्विविधः लौकिकोऽलौकिकश्चेति।
—भानुदत्त : रसतरंगिणी, टीकाकार पं० जीवनाथ, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, तरंग ६, पृष्ठ १२३।

३. लौकिक तथा अलौकिकै द्वै जांनहु रस ठौर।
... ...
शृंगारादिक लोकगत कवित नृत्य में ल्याइ।
होत अलौकिक है सबै रस आनन्द बढ़ाइ ॥६॥
—कुमारमणि : रसिक रसाल, तृतीय उल्लास, पृष्ठ १७।

४. सकल लोक रस के सिरै आनंद-लोक विलच्छ।
रसै एक अनुभवत हैं पंडित सहृदय दच्छ ॥७॥
—वही, दोहा सं० ७, पृष्ठ १७।

५. आनंद वृंद सुकान्ह रस जगत ताहि कौ रूप।
तातें तिय पुरुषादि-गत सव रस कान्ह सरूप ॥८॥
—कुमारमणि : रसिक रसाल, दोहा सं० ८, पृष्ठ १८।

६. वहै थाइ संचारि वह, वह विभाव अनुभाव।
रस स्वरूप सव कान्ह इक लख्यो अभेद सुभाव ॥९॥ —वही, दोहा सं० ९, पृष्ठ १८।

काव्य-रस भी मूलतः एक और अखण्ड है। इसी प्रसंग में कुमारमणि ने विद्वान्, सहृदय और लोक-व्यवहार एवं शास्त्रादि में निपुण प्रमाता को ही काव्यास्वाद का अधिकारी माना है।

निष्कर्ष रूप में, कुमारमणि की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं का सारांश इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

१. विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से परिपुष्ट स्थायी भाव की आनन्दमयी परिणति ही काव्यास्वाद है।
२. यह काव्यास्वाद काव्य-निबद्ध वाच्यार्थ की अपेक्षा चारुतर व्यंग्यार्थ की प्रतीति से प्राप्त सहृदय का हृदयाह्लाद है।
३. यह आनंद सहृदय-सापेक्ष विषयिगत आनन्द है।
४. यह एक अखण्ड, अलौकिक, ब्रह्मास्वाद-सहोदर तथा अनिवार्यतः आनन्दात्मक अनुभूति है।

मम्मट के 'काव्यप्रकाश' पर विशेषतः तथा विश्वनाथकृत 'साहित्य-दर्पण' पर गौणतः आधारित कुमारमणि भट्ट का यह काव्यास्वाद-विवेचन प्रतिपादन-शैली की प्रांजलता तथा विवेचन की विशदता के कारण हिन्दी के रीतिशास्त्रीय काव्यास्वाद-विवेचन में विशेष महत्त्वपूर्ण है। यत्र-तत्र कुछ शब्दों का भ्रांत प्रयोग होते हुए भी समग्रतः कुमारमणि द्वारा काव्यास्वाद-स्वरूप के विशद एवं स्वच्छ निरूपण का यह प्रयत्न निश्चय ही स्तुत्य है।

(च) समाहार एवं निष्कर्ष

हिन्दी-साहित्यशास्त्र के विकासकाल के अन्तर्गत विविधांग-निरूपक, रस-निरूपक, अलंकार-निरूपक तथा ध्वनि-निरूपक आचार्यों द्वारा विवेचित काव्यास्वाद का स्वरूप एवं उसकी प्रक्रिया संस्कृत-काव्यशास्त्र में तत्संबंधी काव्य-सम्प्रदायों के अन्तर्गत निरूपित काव्यास्वाद के स्वरूप से तत्त्वतः भिन्न नहीं है। उन पर समग्र रूप से विचार करने पर यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि विविधांग-निरूपक तथा रस-निरूपक दोनों ही वर्गों के आचार्यों की दृष्टि में रसास्वाद ही काव्यास्वाद है। अतः उन्होंने 'रस' के अन्तर्गत ही काव्यास्वाद का विवेचन किया है। उनकी शास्त्र-निष्ठ, परम्परा-निबद्ध दृष्टि ने काव्यास्वाद की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से अभिव्यक्त स्थायी भाव की चरम परिणति द्वारा ही काव्यास्वाद की सिद्धि स्वीकार की है। संस्कृत के रसशास्त्रियों की ही भाँति रीतिकाल के विविधांग एवं रस-निरूपक आचार्यों के मत में भी काव्यास्वाद एक अखण्ड, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, स्वप्रकाश, ब्रह्मास्वाद-सहोदर तथा अनिवार्य-रूप से आनन्दमयी अनुभूति है। रीतिकाल के अलंकार-निरूपक आचार्यों की दृष्टि में काव्यास्वाद सामान्यतः शब्दार्थगत रमणीयता अथवा उक्ति-सौंदर्य के भावन से उत्पन्न सहृदय का अन्तश्चमत्कार है। इसके विपरीत ध्वनि-निरूपक आचार्य काव्यास्वाद की सिद्धि शब्द के वाच्यार्थ की अपेक्षा चारुतर अर्थ—व्यंग्यार्थ (ध्वन्यर्थ)—से मानते हैं।

हिन्दी-रीतिशास्त्र में काव्यास्वाद के स्वरूप एवं प्रक्रिया का यह विवेचन स्पष्टतः संस्कृत काव्यशास्त्र में निरूपित काव्यास्वाद के स्वरूप पर ही आधारित है। उनके काव्यास्वाद-विवेचन के प्रमुख प्रभाव-स्रोत मम्मट-विरचित 'काव्यप्रकाश', विश्वनाथ-कृत 'साहित्यदर्पण' और मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' में निरूपित अभिनवगुप्त का अभिमत विशेषतः तथा भरतमुनि का 'नाट्य-शास्त्र', भानुदत्त की 'रसतरंगिणी' एवं 'रसमंजरी' और पंडितराज जगन्नाथ-विरचित 'रसगंगाधर'

आदि काव्यशास्त्रीय ग्रंथ गौण रूप से रहे हैं। रीतिकाल के आचार्यों ने अधिकांशतः इन्हीं के काव्यास्वाद-विषयक अभिमतों को यथावत् अथवा कहीं-कहीं किंचित् रूपान्तर के साथ प्रस्तुत कर दिया है।

यद्यपि यह सत्य ही है कि रीतिकाल के उक्त आचार्यो द्वारा किये गए इस काव्यास्वाद-विवेचन से हिन्दी-साहित्यशास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन को कोई नवीन विकास-दिशा प्राप्त नहीं हुई—इसी कारण उसके विकास एवं समृद्धि में इन रीति आचार्यों का कोई विशेष योग-दान नहीं माना जा सकता, तथापि उनके कृतित्व का नितान्त अवमूल्यन कर देना उनके प्रति अन्याय होगा। जन-भाषा में संस्कृत-काव्यशास्त्र की परम्परागत अवधारणाओं के अपेक्षाकृत अधिक सरल-सुबोध एवं स्पष्ट तथा कहीं-कहीं मौलिक उपस्थापन एवं प्रतिपादन का श्रेय तो इन्हें देना ही चाहिए। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं ये आचार्य उर्वर प्रतिभा के अद्‌भुत उन्मेष से काव्यास्वाद-विषयक ऐसी महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ भी कर गए हैं जो अपने अपूर्व आधुनिक बोध से आश्चर्यचकित कर देती हैं। रसलीन ने अपने ढंग से कवि के अनुभूति-बिम्ब से काव्य-बिम्ब तथा फिर उससे प्रमाता की चेतना में बिम्ब की उद्‌भूति-विषयक उद्‌भावना द्वारा काव्यास्वाद की प्रक्रिया का अत्यंत सटीक एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है, जो मनोविज्ञान पर आधारित आधुनिक काव्यशास्त्र के 'संप्रेषणीयता-सिद्धान्त' के अत्यंत निकट है। इसी प्रकार चिंतामणि, कुलपतिमिश्र, प्रतापसाहि, सोमनाथ, कुमारमणि भट्ट तथा बेनी प्रवीन का काव्यास्वाद-विवेचन अपनी विशदता, क्रमबद्धता तथा प्रतिपादन-शैली की स्वच्छ-प्रांजलता के कारण महत्त्वपूर्ण है। रसिक गोविन्द ने गद्य-टीका के आश्रय से काव्यास्वाद के सर्वथा स्पष्ट एवं निर्भ्रान्ति विवेचन का हिन्दी-साहित्यशास्त्र में कदाचित् सर्वप्रथम प्रयास किया (रीतिकाल के अन्य ग्रंथों में प्राप्त टीकाओं का गद्य अत्यंत अस्पष्ट और उलझा हुआ है जो अनेक स्थलों पर मूल सिद्धान्त को विकृत कर देता है)।

समग्रतः, हिन्दी-रीतिशास्त्र में किया गया यह काव्यास्वाद-विवेचन मौलिक सिद्धान्त-प्रतिपादन की दृष्टि से भले ही उतना महत्त्वपूर्ण न हो, किन्तु फिर भी उसे संस्कृत की काव्यास्वाद-विवेचन की परम्परा के साथ हिन्दी के आधुनिक साहित्यशास्त्र का संबंध स्थापित करने तथा संस्कृत-काव्यशास्त्र की परम्परा को हिन्दी में अत्यंत सरस एवं सुबोध रूप में अवतरित करने का श्रेय निस्संदेह प्राप्त है।

अध्याय ६

उत्कर्ष काल : आधुनिक काल के साहित्य-शास्त्र में काव्यास्वाद का विवेचन—(१)

(क) शुक्ल-पूर्व साहित्यशास्त्र में काव्यास्वाद का विवेचन

(ख) आचार्य शुक्ल द्वारा काव्यास्वाद का निरूपण

(ग) शुक्लयुगीन अन्य समालोचकों का काव्यास्वाद-विवेचन

(घ) समाहार और निष्कर्ष

अध्याय ६

उत्कर्ष काल : आधुनिक काल के साहित्यशास्त्र में काव्यास्वाद का विवेचन

प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में हिन्दी-साहित्यशास्त्र के आधुनिक काल को 'उत्कर्ष काल' का अभिधान दिया गया है। इस शती में, विशेषतः प्रथम महायुद्ध के उपरान्त, पाश्चात्य साहित्य और संस्कृति के सान्निध्य, औद्योगीकरण, नवीन वैज्ञानिक दृष्टि के उदय तथा भारतीय जनता के सांस्कृतिक, राजनैतिक एवं सामाजिक पुनर्जागरण के फलस्वरूप अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य के साथ ही हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं और धाराओं में एक अभिनव प्रबोध का जन्म हुआ। आलोचना और साहित्यशास्त्र में यह नवप्रबोध अनेकशः व्यक्त हुआ: (१) आधुनिक हिन्दी साहित्य के परिप्रेक्ष्य में प्राचीन संस्कृत-काव्यशास्त्र एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के संश्लेषण द्वारा हिन्दी की निजी आवश्यकताओं और प्रकृति के अनुरूप हिन्दी के स्वतन्त्र काव्यशास्त्र के निर्माण का उपक्रम, (२) साहित्यिक धाराओं, प्रवृत्तियों एवं आन्दोलनों के मूल कारणों, कवि की सृजन-प्रक्रिया, कवि-व्यक्तित्व तथा मनोवैज्ञानिक और मनोविश्लेषणशास्त्रीय दृष्टि से काव्यास्वाद के विश्लेषण की प्रवृत्ति, (३) अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, प्राणिशास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्र आदि साहित्येतर विद्याओं के संयोग से साहित्यके अनुशीलन और मूल्यांकन की पद्धति का विकास।

अध्ययन की सुविधा के लिए आधुनिक काल में निरूपित काव्यास्वाद के स्वरूप का विवेचन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत दो अध्यायों में किया जाएगा:

(१)

(क) शुक्ल-पूर्व साहित्यशास्त्र में काव्यास्वाद का विवेचन।
(ख) आचार्य शुक्ल द्वारा काव्यास्वाद का निरूपण।
(ग) अन्य शुक्लयुगीन समालोचकों का काव्यास्वाद-विवेचन।
(घ) समाहार और निष्कर्ष।

(२)

(क) शुक्ल-परवर्ती हिन्दी-साहित्यशास्त्र में काव्यास्वाद का विवेचन।
(ख) समसामयिक साहित्यशास्त्रीय धाराओं में काव्यास्वाद का विवेचन:
  (अ) प्रगतिवादी आलोचना।
  (आ) नवसमीक्षा।

(क) शुक्ल-पूर्व आधुनिक हिन्दी-साहित्यशास्त्र में काव्यास्वाद का विवेचन

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

हिन्दी-साहित्यशास्त्र के इतिहास में आधुनिक युग का सूत्रपात भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'नाटक' शीर्षक निबन्ध से माना जाता है। इस निबन्ध का प्रणयन भारतेन्दु ने अपनी मृत्यु से

अध्याय ६

उत्कर्ष काल : आधुनिक काल के साहित्यशास्त्र में काव्यास्वाद का विवेचन

प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में हिन्दी-साहित्यशास्त्र के आधुनिक काल को 'उत्कर्ष काल' का अभिधान दिया गया है। इस शती में, विशेषतः प्रथम महायुद्ध के उपरान्त, पाश्चात्य साहित्य और संस्कृति के सान्निध्य, औद्योगीकरण, नवीन वैज्ञानिक दृष्टि के उदय तथा भारतीय जनता के सांस्कृतिक, राजनैतिक एवं सामाजिक पुनर्जागरण के फलस्वरूप अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य के साथ ही हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं और धाराओं में एक अभिनव प्रबोध का जन्म हुआ। आलोचना और साहित्यशास्त्र में यह नवप्रबोध अनेकशः व्यक्त हुआ : (१) आधुनिक हिन्दी साहित्य के परिप्रेक्ष्य में प्राचीन संस्कृत-काव्यशास्त्र एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के संश्लेषण द्वारा हिन्दी की निजी आवश्यकताओं और प्रकृति के अनुरूप हिन्दी के स्वतन्त्र काव्यशास्त्र के निर्माण का उपक्रम, (२) साहित्यिक धाराओं, प्रवृत्तियों एवं आन्दोलनों के मूल कारणों, कवि की सृजन-प्रक्रिया, कवि-व्यक्तित्व तथा मनोवैज्ञानिक और मनोविश्लेषणशास्त्रीय दृष्टि से काव्यास्वाद के विश्लेषण की प्रवृत्ति, (३) अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, प्राणिशास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्र आदि साहित्येतर विद्याओं के संयोग से साहित्यके अनुशीलन और मूल्यांकन की पद्धति का विकास।

अध्ययन की सुविधा के लिए आधुनिक काल में निरूपित काव्यास्वाद के स्वरूप का विवेचन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत दो अध्यायों में किया जाएगा :

(१)

(क) शुक्ल-पूर्व साहित्यशास्त्र में काव्यास्वाद का विवेचन।
(ख) आचार्य शुक्ल द्वारा काव्यास्वाद का निरूपण।
(ग) अन्य शुक्लयुगीन समालोचकों का काव्यास्वाद-विवेचन।
(घ) समाहार और निष्कर्ष।

(२)

(क) शुक्ल-परवर्ती हिन्दी-साहित्यशास्त्र में काव्यास्वाद का विवेचन।
(ख) समसामयिक साहित्यशास्त्रीय धाराओं में काव्यास्वाद का विवेचन :
  (अ) प्रगतिवादी आलोचना।
  (आ) नवसमीक्षा।

(क) शुक्ल-पूर्व आधुनिक हिन्दी-साहित्यशास्त्र में काव्यास्वाद का विवेचन

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

हिन्दी-साहित्यशास्त्र के इतिहास में आधुनिक युग का सूत्रपात भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'नाटक' शीर्षक निबन्ध से माना जाता है। इस निबन्ध का प्रणयन भारतेन्दु ने अपनी मृत्यु से

दो वर्ष पूर्व सन् १८८३ ई० में किया था। इसमें नाटक के स्वरूप, भेदोपभेद, रचना-पद्धतियों एव रंगमंच आदि का विवेचन किया गया है। स्वयं लेखक के अनुसार 'इसके लिखित विषय दशरूप, भारतीय नाट्यशास्त्र, साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश, विल्सन्स हिन्दू थिएटर्स, लाइफ़ ऑव दि एमिनेंट परसन्स, ड्रामेटिस्ट ऐंड नावेलिस्ट्स, हिस्टरी डि इटालिक थिएटर्स और आर्य दर्शन से लिए गए हैं।'[1] निवन्ध के अन्त में 'योरप में नाटकों का प्रचार' शीर्षक प्रकरण में भारतेन्दु की आधुनिक संश्लेषणात्मक दृष्टि का परिचय मिलता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने काव्यास्वाद का कोई सूक्ष्म अथवा विस्तृत विवेचन नही किया है, किन्तु उनके उपर्युक्त निवन्ध में नाट्य-विवेचन के सन्दर्भ में कुछ ऐसी उक्तियाँ अवश्य उपलब्ध हैं, जिनके आधार पर उनके काव्यास्वाद-विषयक दृष्टिकोण को समझा जा सकता है:

१. यदि श्रव्य-काव्य द्वारा ऐसी चितवन का वर्णन किसी से सुनिये या ग्रन्थ में पढ़िये तो काव्य-जनित आनन्द होगा, . . .[2]
२. जिन लोगों ने केवल उत्तम-उत्तम वस्तु चुनकर एकत्र किया है उनकी गुंफित वस्तु की अपेक्षा जो उत्कृष्ट, मध्यम और अधम तीनों का यथास्थान निर्वाचन करके प्रकृति की भावभंगी उत्तम रूप से चित्रित करने में समर्थ है वही काव्यामोदी रसज्ञ-मंडली को अपूर्व आनन्द वितरण कर सकते हैं।[3]

विवेचन

भारतेन्दु के उपर्युक्त दोनों मन्तव्य मूलतः नाटक से सम्वद्ध हैं। प्रथम उद्धरण में दृश्य-काव्य के साथ ही श्रव्य-काव्य की प्रभावोत्पादकता तथा द्वितीय उद्धरण से नाटक के दृश्यों और चरित्रों की कुशल संयोजना से प्रेरित प्रमाता के मनःप्रसादन का उल्लेख किया गया है। प्रथम उद्धरण में 'वर्णन' द्वारा 'काव्य जनित आनन्द' की निष्पत्ति का प्रतिपादन तथा द्वितीय में 'प्रकृति की भावभंगी उत्तम रूप से चित्रित करने में समर्थ' 'काव्यामोदी' की 'रसज्ञ-मंडली को अपूर्व आनन्द वितरण' करने की योग्यता का उल्लेख किया गया है। स्पष्ट है कि भारतेन्दु की दृष्टि में —

१. काव्यास्वाद एक आनन्दमयी अनुभूति है।
२. प्रमाता के चित्त में इसकी निष्पत्ति विषय-वस्तु की कुशल संयोजना तथा कवि की रमणीय वर्णन-शक्ति की प्रेरणा से अन्तश्चमत्कार के रूप में होती है।

जगन्नाथ प्रसाद 'भानु कवि'

जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ने सन् १८९४ में 'छंदःप्रभाकर' शीर्षक पिंगल-शास्त्रीय तथा सन् १९०९ में 'काव्य प्रभाकर' शीर्षक काव्यशास्त्रीय ग्रंथ की रचना की। 'छंदःप्रभाकर' पूर्णतया छंदशास्त्रीय ग्रंथ है, किन्तु इसकी भूमिका में भानु का काव्यास्वाद-विषयक मत प्रासंगिक रूप से उपलब्ध है : 'सचमुच में काव्य के पठन-पाठन में जो अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है, उसका वर्णन

---

१. भारतेन्दु नाटकावली (द्वितीय भाग), सं० ब्रजरत्नदास, द्वि० सं० में संकलित 'नाटक', निवन्ध, पृष्ठ ३६१।
२. वही, पृष्ठ ३६५।
३. वही, पृष्ठ ३९५।

करना इस लेखनी की शक्ति से बाहर है। इस आनन्द का यथार्थ अनुभव तो केवल काव्या-नुरागी सज्जन ही कर सकते हैं।"[1] इस उक्ति से तीन निष्कर्ष प्राप्त होते हैं :

१. काव्यास्वाद आनन्दमयी अनुभूति है।

२. यह आनन्दानुभूति अनिर्वचनीय एवं अलौकिक है।

३. इसकी प्रतीति केवल विशिष्ट गुण-सम्पन्न सहृदय ही कर सकता है।

भानु की दृष्टि में रसानुभूति ही काव्यास्वाद है। अपने द्वितीय ग्रंथ 'काव्यप्रभाकर' में उन्होंने रस-विवेचन के अन्तर्गत ही काव्यास्वाद का निरूपण किया है। ग्रंथ के चतुर्थ, पंचम, षष्ठ एवं सप्तम 'मयूखों' में क्रमशः उद्दीपन, अनुभाव, संचारीभाव एवं स्थायीभाव के विवेचन के उपरान्त अष्टम 'मयूख' में रस का विस्तृत विवेचन किया गया है। भानु के अनुसार 'लोकोत्तर अर्थात् अलौकिक आनन्द का नाम रस है।'[2] रस-स्वरूप की व्याख्या उन्होंने निम्न शब्दों में की है :

मिलि विभाव अनुभाव पुनि, संचारिन के वृन्द।
परिपूरण थिर भाव यों, सुर स्वरूप आनन्द॥
ज्यों पय पाय बिकार कछु, ह्वै दधि होत अनूप।
तैसो ही थिर भावको, बरणत कवि रस रूप॥[3]

उपर्युक्त दोहों की व्याख्या स्वयं भानु ने इन शब्दों में की है : 'विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के मिलने से स्थायी परिपूर्ण होकर रससंज्ञा को प्राप्त होता है। जिस प्रकार दूध किसी प्रकार का विकार तक्रादि पाने से अनुपम दधिरूप को प्राप्त होता है, उसी प्रकार विभावादि सम्मिलित स्थायी भाव रस रूप हो जाता है, . . .'[4] इस प्रकार भानु के मत में विशिष्ट गुण-सम्पन्न सहृदय प्रमाता में स्थित स्थायी भाव विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव के संयोगों से परिपूर्ण होकर जिस अनिवर्चनीय एवं अलौकिक आनन्द से युक्त रसानुभूति का रूप प्राप्त करते हैं, वही काव्यास्वाद है।

विहारीलाल भट्ट

विहारीलाल भट्ट विरचित 'साहित्यसागर' का प्रकाशन सन् १९३७ ई० में हुआ। पन्द्रह तरंगों में विभक्त इस सर्वांगनिरूपक काव्यशास्त्रीय ग्रंथ की छठी, सातवीं, आठवीं तथा तेरहवीं तरंगों में रस की असम्बद्ध एवं शृंखलाविहीन चर्चा की गई है। भट्ट जी मूलतः कवि हैं,

---

१. जगन्नाथ प्रसाद 'भानु कवि' : छन्दःप्रभाकर (तृतीय संस्करण), भूमिका, पृष्ठ २।
२. जगन्नाथ प्रसाद 'भानु कवि' : काव्यप्रभाकर (प्रथमावृत्ति), अष्टम मयूख, पृष्ठ ४२१।
३. वही, पृष्ठ ४२३।
४. वही।
तुलनार्थ देखिए—
. . .व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तीकृत एव रसो।
—हिन्दी साहित्यदर्पण, व्या० डॉ० सत्यव्रत सिंह, तृतीय परिच्छेद, कारिका १ की वृत्ति, पृष्ठ १००।

अंतः रीतिकालीन आचार्यों का प्रायशः अनुकरण तथा उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का शतशः अनुसरण करने पर भी उनके विवेचन में कहीं भी क्रमबद्धता तथा सुस्पष्टता के दर्शन नहीं होते।

बिहारी लाल भट्ट भी भारतेन्दु और भानु की भाँति रसास्वाद को ही काव्यास्वाद मानते हैं। मम्मट और आनन्दवर्द्धन से प्रभावित होने के कारण इन्होंने असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत ही रस के महत्त्व को स्वीकार किया है और रस को भाव की व्यंजना माना है।[1] विश्वनाथ की प्रसिद्ध रस-परिभाषा[2] के अनुकरण पर इन्होंने भी काव्यास्वाद को ब्रह्मास्वाद-सहोदर[3] की संज्ञा दी है। काव्यास्वाद (रसास्वादन) की प्रक्रिया के विषय में भी उनका मत संस्कृत काव्य-शास्त्रीय परम्परा तथा उस पर ही मुख्यतया आधृत रीतिकालीन परम्परा से भिन्न नहीं है। वे भी विभाव, अनुभाव तथा संचारी आदि के द्वारा 'परिपूर्णता' को प्राप्त होने वाले स्थायी भाव को ही काव्यास्वाद (रस) मानते हैं।[4]

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार

सन् १९२६ ई० में प्रकाशित सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्यकल्पद्रुम —'रस मंजरी' तथा 'अलंकार-मंजरी' नामक दो भागों में विभक्त है। 'रस-मंजरी' में मुख्यतया रस और ध्वनि तथा 'अलंकार-मंजरी' में अलंकार का विवेचन है। कन्हैयालाल पोद्दार के पूर्व-वर्ती आधुनिक काल के काव्यशास्त्रियों पर रीतिकालीन परम्परा का स्पष्टतया गहन प्रभाव था, किन्तु रीतिकालीन परम्परा से पूर्णतया अप्रभावित पोद्दारजी रीतिकालीन काव्यशास्त्र को कोई महत्त्व नहीं देते।[5] इस प्रकार पोद्दारजी का महत्त्व हिन्दी में पहली बार रीतिकालीन परम्परा से विच्छिन्न सुस्पष्ट, क्रमवद्ध एवं सांगोपांग काव्यशास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करने में है।

पोद्दारजी ने भी काव्यास्वाद का स्वरूप-विश्लेषण एवं काव्यास्वादन की प्रक्रिया का विवेचन रस-विवेचन के अन्तर्गत ही किया है। उनके अनुसार 'चर्वणा (आस्वाद) से रस अभिन्न है।'[6] अतएव उनकी काव्यास्वाद-विषयक अवधारणा की पूर्ण अवगति के लिए उनकी रस-

---

१. बिहारीलाल भट्ट : 'साहित्य सागर' (प्रथम भाग), सं० पं० लोकनाथ द्विवेदी, सं० १९९४, गंगा-ग्रंथागार, लखनऊ, पंचम तरंग (अथ रसगत व्यंग्य असंलक्ष्यक्रम ध्वनि), पृष्ठ १५२-५३।

२. वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः—साहित्य दर्पण, ३।२।

३. तैसें नवरस देखें सुनै चित पावै चैन।
ब्रह्मानंद तुल्य ता नें रुचि रखियतु हैं।'
—साहित्यसागर, पंचम तरंग, पृष्ठ १५३।

४. अनुभाव और विभाव अरु द्वै भाँति संचारी जहाँ।
मिल थाई को पूरन करें सो सुकवि रस जानो तहाँ।।'
—वही, पंचम तरंग, पृष्ठ १६१।

५. 'सत्य तो यह है कि हिन्दी (रीतिकाल) के आचार्यों का कोई स्वतन्त्र मत है ही नहीं—उनके ग्रंथों के मूल स्रोत संस्कृत के साहित्य-ग्रंथ ही हैं।'—कन्हैयालाल पोद्दार, काव्यकल्प-द्रुम, प्रथम भाग—रस-मंजरी, सप्तम संस्करण, पृष्ठ १९।

६. वही, पृष्ठ १७७।

विषयक मान्यता का ज्ञान आवश्यक है। उनकी तद्विषयक समस्त चिन्ताधारा, विवेचन-सामग्री तथा उसकी पद्धति पूर्णतया मम्मट से प्रभावित है। मम्मट की भाँति इन्होंने भी असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत ही रस का विवेचन किया है तथा रस को असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के आठ प्रकारों में सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख स्थान दिया है।[1] ध्वनिवाद के प्रबल पक्षपाती होने के कारण काव्य में इन्होंने रस की अपेक्षा ध्वनि को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हुए रस को स्वतंत्रतः आस्वाद-रूप न मानकर उसकी 'व्यंजना' को ही आस्वादनीय माना है।[2]

पोद्दारजी रस को 'सर्वोपरि चमत्कार आस्वादनीय पदार्थ' मानते हैं तथा भरतमुनि की भाँति विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से उसकी निष्पत्ति मानते हैं।[3] निष्पत्ति का अर्थ इनकी दृष्टि में मम्मट[4] की भाँति 'व्यक्तीकरण' है : 'उन विभावादिकों के द्वारा स्थायी भाव इत्यादि व्यक्त होकर 'रस' कहा जाता है।'[5] विभाव को स्थायी भाव का विभावक-तत्त्व बतलाते हुए पोद्दारजी उन्हें काव्यास्वाद का मूल कारण स्वीकार करते हैं : 'भावों का ये (विभाव) विभावन करते हैं—आस्वाद के योग्य बनाते हैं, अतः रस के उत्पादक होने से इनको विभाव भी कहते हैं।'[6] इस प्रकार पोद्दारजी की दृष्टि में विभावादि की सहायता से प्रमाता के चित्त में संस्कार-रूप से विद्यमान स्थायीभावों की व्यंजित आस्वादनीय परिणति ही काव्यास्वाद है।

संस्कृत-काव्यशास्त्र में निरूपित काव्यास्वाद (रस) की विशेषताओं के आधार पर ही पोद्दारजी ने काव्यास्वाद की विभिन्न विशेषताओं की विस्तृत चर्चा की है[7] और वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं : 'कार्य, ज्ञाप्य, नित्य, अनित्य, भूत, भविष्यत, वर्तमान, निर्विकल्प ज्ञान का विषय, सविकल्प ज्ञान का विषय और परोक्ष-अपरोक्ष आदि जो लौकिक वस्तुओं के गुणागुण और धर्म हैं, उन सभी का रस में अभाव है। ...वस्तुतः रस अनिवर्चनीय, स्वप्रकाश, अखण्ड और दुर्ज्ञेय है। इसीलिए रसास्वाद और ब्रह्मानन्द को सहोदर कहा गया है।'[8] उनके अनुसार 'रस का चमत्कार वास्तव में ही है।'[9]

अधिकांश संस्कृत-काव्यशास्त्रियों की भाँति पोद्दारजी भी काव्यास्वाद को अनिवार्यतः

---

१. कन्हैयालालपोद्दार : 'काव्यकल्पद्रुम', प्रथम भाग—'रस-मंजरी', सप्तम संस्करण, पृष्ठ ११८
२. वही, पृष्ठ १२।
३. 'काव्य में रस ही दुर्ज्ञेय और सर्वोपरि चमत्कार आस्वादनीय पदार्थ है। रस के स्वरूप का ज्ञान और इसका आस्वादन ही काव्य के अध्ययन का सर्वोपरि फल है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।'
—वही, पृष्ठ ११८।
४. कारणान्यथ कार्याणि . . . व्यक्तः स . . . रसः स्मृतः।
—काव्यप्रकाश, ४।२७।६८।
५. रसमंजरी, पृष्ठ ११९।
६. वही, पृष्ठ १२०।
७. देखिए—वही, पृष्ठ १७३ से १७८।
८. वही, पृष्ठ १७६-७।
९. वही, पृष्ठ १७३।

आनन्दमयी अनुभूति मानते हैं। उनके अनुसार 'शोकादि कारणों से दुःख का उत्पन्न होना लोक-व्यवहार में है—श्रीराम-वन-गमनादि लोक में ही दुःख के कारण होते हैं। जब वे काव्य-रचना में निबद्ध हो जाते हैं, या नाटकाभिनय में दिखाए जाते हैं, तब उनमें पूर्वोक्त विभावन नामक अलौकिक व्यापार उत्पन्न हो जाता है। अतः विभावादि द्वारा उनसे आनन्द ही होता है, लोक में चाहे वे दुःख के ही कारण क्यों न हों।'[1]

काव्यास्वाद की प्रक्रिया के विवेचन-में पोद्दारजी भरत-सूत्र की प्रसिद्ध व्याख्याओं भट्ट-लोल्लट के 'आरोपवाद',[2] शंकुक के 'अनुमानवाद'[3], भट्टनायक के 'साधारणीकरण सिद्धान्त' एवं 'भोगवाद'[4], तथा अभिनवगुप्त के 'व्यक्तिवाद'[5] (अभिव्यक्तिवाद) की विस्तृत मीमांसा करने के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं : 'रस के व्यक्त करने वाले जो विभावादि है उनमें जो रस प्रकट करने की शक्ति है वही व्यक्तिगत विशेष सम्बन्ध को हटाकर रसास्वाद कराने वाला साधारणीकरण है।'[6]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर सेठ कन्हैयालाल पोद्दार की काव्यास्वाद-सम्बन्धी मान्यताओं का सारांश इस प्रकार है :

१. विभावादि के कारण प्रमाता की चेतना में संस्कार-रूप से विद्यमान स्थायी भावों की आस्वादनीय आनन्दमयी परिणति ही काव्यास्वाद है।
२. काव्यास्वाद अनिवार्यतः सुखानुभूति है। काव्य-निबद्ध शोकादि दुःखमूलक लौकिक भाव भी आनन्द ही प्रदान करते हैं—दुःख नहीं।
३. यह आनन्दमयी अनुभूति अनिवर्चनीय, स्वप्रकाश, अखण्ड और ब्रह्मानन्द-सहोदर अनुभूति है। यह कार्य-ज्ञाप्य; नित्य-अनित्य; भूत-भविष्यत्; एवं निर्विकल्प-सविकल्प ज्ञान से भिन्न अलौकिक अनुभूति है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

सन् १९३१ ई० में प्रकाशित हरिऔध के 'रस कलस' शीर्षक ग्रंथ में आधुनिक हिन्दी-काव्यशास्त्र में कदाचित् पहली बार इतने व्यापक परिवेश में रस-सिद्धान्त का गम्भीर विवेचन किया गया है। काव्यास्वाद के स्वरूप-विश्लेषण एवं उसकी प्रक्रिया के निरूपण से सम्बन्धित हरिऔधजी की मान्यता कन्हैयालाल पोद्दार की ही भाँति मौलिक नहीं है। उनपर 'काव्य-प्रकाश', 'साहित्य-दर्पण' तथा 'रसगंगाधर' जैसे विख्यात संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का केवल अप्रत्यक्ष प्रभाव ही नहीं है, प्रत्युत वे अपने विवेचन-क्रम में प्रायः मम्मट, विश्वनाथ एवं जगन्नाथ के अभिमतों की व्याख्या के आधार पर ही निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। हरिऔध जी के निजी मतों का प्रकाशन सम्पूर्ण 'रसकलस' में कहीं भी परिलक्षित नहीं होता।

---

१. रस-मंजरी, पृष्ठ १७७।
२. वही, पृष्ठ १६४।
३. वही, पृष्ठ १६५।
४. वही, पृष्ठ १६७।
५. वही, पृष्ठ १७०।
६. वही, पृष्ठ १७२।

हरिऔध के मतानुसार प्रमाता के चित्त पर काव्य के 'सरस' प्रभाव का मूल कारण कवि-हृदय की सरसता है: 'एक सरस हृदय से निकले हुए प्रभावजनक भाव अन्य हृदय को सरस बनाये बिना नहीं छोड़ते।'[1] यहाँ हरिऔध ने काव्यास्वाद को अनायास ही कवि की संवेद्य अनुभूति से संयुक्त कर दिया है।

रीतिकाव्यकारों तथा अपने पूर्ववर्ती आधुनिक काल के काव्यशास्त्रियों की भाँति हरिऔध भी रस को ही काव्यास्वाद मानते हैं। रसास्वादन (काव्यास्वाद) की प्रक्रिया के विषय में वे मम्मट के मत[2] को उद्धृत करते हुए उसके प्रकाश में परम्परागत विचार व्यक्त करते हैं: 'लोक में रति आदिक स्थायी भावों के जो कारण, कार्य और सहकारी होते हैं नाटक और काव्य में वे ही विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी-क्रम से कहलाते हैं। इन विभावादि की सहायता से व्यक्त स्थायी भाव की रस संज्ञा होती है।'[3] रस (काव्यास्वाद) के स्वरूप के सम्बन्ध में भी मम्मट के मत[4] के उद्धरण की व्याख्या को ही उन्होंने पर्याप्त समझा है: 'पानक रस के समान जिनका आस्वाद होता है, जो स्पष्ट झलक जाते, हृदय में प्रवेश करते, व्याप्त होकर सर्वांग को सुधारस-सिंचित बनाते, अन्य वेद्य विषयों को ढक लेते और ब्रह्मानन्द के समान अनुभूत होते हैं, वे ही अलौकिक चमत्कार सम्पन्न शृंगारादि रस कहलाते हैं।'[5] इस प्रकार हरिऔध के मतानुसार (१) प्रमाता के चित्त में स्थित स्थायिभाव, विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव की सहायता से व्यक्त होकर काव्यास्वाद का रूप धारण करता है, तथा (२) यह आस्वाद वेद्यान्तरस्पर्श से रहित, ब्रह्मानन्द के समान अलौकिक एक आनन्दमयी अनुभूति है। काव्यास्वाद की उपर्युक्त प्रकृतिगत विशेषताओं का हरिऔध जी ने अन्य स्थलों पर भी उल्लेख किया है:

१. '......साहित्य के उस रस की यथार्थ उत्पत्ति भी प्रायः तभी होती है, जो सहृदय-संवेद्य माना जाता है और जिसका सुख ब्रह्मानन्द समान कहा जाता है।'[6]
२. 'रस का आस्वाद ब्रह्मानन्द के समान होता है।'[7]
३. 'इसलिए काव्य और नाटक आनन्द के ही साधन हैं, और उनसे आनन्द की ही प्राप्ति होती है। लौकिक विभावादि से उनके विभावादि में अन्तर होता है, अतएव वे अलौकिक कहलाते हैं।'[8]

---

१. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', रसकलस, द्वितीय संस्करण, भूमिका, पृष्ठ ९।
२. 'कारणान्यथ कार्याणि...व्यक्तः स...रसः स्मृतः।
—काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, का० २७, २८।
३. रसकलस, द्वितीय सं०, पृष्ठ ९।
४. पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन् सर्वांगीणमिवालिङ्गन् अन्यत् सर्वमिव तिरोदधत् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिक चमत्कारकारी शृंगारादिको रसः।
—काव्यप्रकाश', का० २७-२८, सू० ४३।
५. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' : 'रसकलस', द्वितीय सं०, पृष्ठ २५।
६. वही, पृष्ठ ८।
७. वही, पृष्ठ ३३।
८. वही।

हरिऔध समस्त रीति-विवेचकों और आधुनिक काल के अपने पूर्ववर्ती काव्य-शास्त्रियों से इस दृष्टि से विशिष्ट हैं कि उन्होंने आनन्द के भिन्न स्तरों के अनुरूप काव्यास्वाद की कोटियाँ निर्धारित की हैं। उनके अनुसार काव्यास्वाद की दो कोटियाँ होती हैं—(१) काव्य की आन्तरिक रमणीयता से प्राप्त रसज्ञ भावक का विशिष्ट आनन्द, तथा (२) साधारण सहृदयों द्वारा अनुभूत सामान्य काव्यास्वाद : 'रस . . . की भी कोटि है, उसका सबसे उच्चकोटि का स्वरूप ब्रह्मास्वाद है, उसके अधिकारी सर्वत्र थोड़े हैं। रस का साधारण रूप जो प्रायः उससे भिन्न कोटि का होता है, वही सर्वसाधारण का उपभोग्य कहा जा सकता है चाहे उसकी मात्रा में कुछ तारतम्य भले ही हो।"[1]

संस्कृत-काव्यशास्त्रीय परम्परा में स्वीकृत तथा हिन्दी के रीति-विवेचकों द्वारा अनुमोदित रस को अनिवार्यतः आनन्दात्मक अनुभूति स्वीकार करने वाले मत को 'हरिऔध' जी भी यथावत् स्वीकार करते हैं। विश्वनाथ के मत[2] को उद्धृत कर उसकी व्याख्या द्वारा वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'करुण आदि रसों में भी जो परमानन्द होता है, उसके लिए सहृदयों का अनुभव ही प्रमाण है। . . . . .करुण रस के काव्यों में सभी लोग आग्रहपूर्वक प्रवृत्त होते हैं, अतः वे रस भी सुखमय ही हैं।"[3] 'हरिऔध' जी ने दुःखप्रद शोकादि लौकिक भावों के काव्य-निबद्ध रूप से प्राप्त काव्यास्वाद की इस सुखात्मकता के तीन कारण बताए हैं—'प्रत्येक दशा में वह (जनता) विचित्र सुख और आनन्द का अनुभव करती है। क्यों? इसलिए कि जिस संस्कृति से उसका हृदय संस्कृत है, उसके चरितार्थ करने की उसमें बड़ी ही मुग्धकारी सामग्री उसको मिलती है। दूसरी बात यह है कि मानसिक भावों को जिस समय जिस रूप में परिणत होना चाहिए, उस समय उसके उस रूप में परिणत होने से ही आनन्द और सुख की प्राप्ति होती है, अन्यथा चित्त बहुत तंग करता है और यह ज्ञात होने लगता है कि हृदय न जाने किस बोझ से दबा जा रहा है। तीसरी बात यह कि अभिनय करने के समय अभिनेता अपने पार्ट को जब इस मार्मिकता से करता है कि असली और नकली का भेद प्रायः जाता रहता है, तो उस समय दर्शकों को जो आनन्द होता है, वह भी अपूर्व ही होता है। चाहे यह अभिनय करुण रस का हो, चाहे बीभत्स या भयानक रस का।"[4] इस प्रकार हरिऔध की दृष्टि में काव्य-निबद्ध दुःखद स्थितियों से भी आस्वादयिता को आनन्द ही प्राप्त होता है। इसके मूल में तीन कारण हो सकते हैं—(१) काव्य-वस्तु और प्रमाता का समान सांस्कृतिक परिवेश, (२) अवसरानुकूल प्रमाता के चित्त की आनन्दमयी प्रतिक्रिया तथा (३) अभिनय-कौशल।

काव्यास्वाद के विवेचन-क्रम में हरिऔधजी ने काव्यास्वाद के अधिकारी की चर्चा भी की है। उनके अनुसार भावुक, रसज्ञ, ज्ञानवान्, सहृदय तथा 'भाव-ग्रहण'-शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति ही काव्यास्वाद का अधिकारी हो सकता है। अपने इस मन्तव्य को हरिऔध जी ने अनेक रूपों में व्यक्त किया है—

---

१. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध : 'रसकलस, द्वितीय सं०, पृष्ठ ३५।
२. 'करुणादावपि रसे. . .स्यात्सुखमुखः।
—'रसकलस, पृष्ठ २५ पर उद्धृत विश्वनाथ का मत।
३. वही।
४. वही, पृष्ठ २८-९।

'रस का अधिकारी सब का हृदय नहीं होता। जिसमें भावुकता नहीं—जिसकी वासना रस-ग्रहणाधिकारिणी नही—और जिसकी संस्कृति में रसानुकूल साधनाएँ नहीं, उनके हृदय में रस की उत्पत्ति नही होती।'

... ...

वास्तविक बात यह है कि परमानंद-प्राप्ति का अधिकारी पूर्ण ज्ञान-प्राप्त, उदात्त और भावुक हृदय ही होता है और उसी के रति-भाव को रसता प्राप्त होती है।[२]

... .

जिसकी जैसी वासना होगी, भाव-ग्रहण की जैसी शक्ति होगी, जिसमें जैसी सहृदयता होगी, रस आस्वाद का वह वैसा ही अधिकारी होगा।[३]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हरिऔधजी की काव्यास्वाद-विषयक अवधारणा संस्कृत काव्यशास्त्र की सामान्यतः तथा मम्मट एवं विश्वनाथ की विशेषतः, तद्विषयक मान्यताओं से भिन्न नहीं है। विभावादि की सहायता से व्यक्त स्थायी भाव ही काव्यास्वाद है—काव्यास्वाद के स्वरूप-विश्लेषण की यह पद्धति भरत से लेकर विश्वनाथ तथा प्रायः सभी रीतिकालीन शास्त्रियों के रस-विवेचन का सार-रूप ही है। इसी प्रकार काव्यास्वाद को लोकोत्तर ब्रह्मास्वाद-सदृश, वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्य तथा अनिवार्यतः आनन्दमयी अलौकिक अनुभूति मानकर हरिऔधजी ने प्राचीन परम्परा का ही परिपालन किया है। काव्यास्वाद में कोटिक्रम निर्धारित कर उन्होंने किंचित् मौलिकता का आभास अवश्य दिया है, किन्तु उनकी इस मान्यता की अकाट्यता संदिग्ध है।[४]

मिश्रबन्धु (पं० शुकदेवविहारी मिश्र तथा प्रतापनारायण मिश्र)

सन् १९४० ई० में प्रकाशित पं० शुकदेवविहारी मिश्र तथा पं० प्रतापनारायण मिश्र की सम्मिलित कृति 'साहित्य-पारिजात' के प्रथम खण्ड में मुख्यतः काव्य-लक्षण, शब्द-शक्ति, ध्वनि-काव्य तथा अलंकार का विवेचन किया गया है। साहित्यशास्त्र के अन्य महत्वपूर्ण विषयों का विवेचन संभवतः ग्रंथ के द्वितीय खण्ड में किया गया हो, जो उपलब्ध नहीं है। कदाचित् द्वितीय खण्ड का प्रकाशन ही नहीं हुआ।[५]

काव्यास्वाद का निरूपण मिश्रबन्धुओं ने भी रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत ही किया है। अपने ग्रंथ में उन्होंने रस को कोई स्वतन्त्र स्थान तो नहीं दिया है, किन्तु अलंकार-विवेचन के क्रम में 'रसवदादि अलंकार' के निरूपण से पूर्व पृष्ठभूमि के रूप में 'रस तथा भाव का सूक्ष्मतः वर्णन'

---

१. वही, पृष्ठ १४।
२. वही, पृष्ठ १७।
३. वही, पृष्ठ ३५।
४. —इस विषय का विस्तृत विवेचन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के काव्यास्वाद-विवेचन के अन्तर्गत किया जाएगा।
५. डॉ० भगीरथ मिश्र : 'हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास', द्वितीय सं०, पृष्ठ २३४।

शीर्षक से रस का परिचयात्मक उल्लेख उन्होंने अवश्य किया है। मिश्रबन्धुओं की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप परम्परानुमोदित रस-स्वरूप ही है। रस की परिभाषा उन्होंने इन शब्दों में प्रस्तुत की है: 'जब विभाव, अनुभाव और संचारी द्वारा व्यक्त होकर स्थायी भाव काव्य या नाट्य द्वारा सहृदयों के चित्त में अलौकिक आनन्द देता है, तब वह रस कहलाता है।'[1] रस को स्थायी भावों को अभिव्यक्त रूप मानने वाली मिश्रबन्धुओं की यह मान्यता मम्मट के प्रसिद्ध रस लक्षण[2] से स्पष्टतया प्रभावित है। एक अन्य स्थल पर उन्होंने रस को स्थायी भावों की परिपुष्टि बतलाया है: ....'नव स्थायी भावों में प्रत्येक अपने अपने विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों से पोषित होकर काव्य या नाटक के पाठक या श्रोता को आनन्द देता है, तब ....रस कहलाता है।'[3] विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी आदि के विषय में उनकी मान्यता है कि 'रति आदि के कारण, कार्य और सहकारी जो संसार में होते हैं, वे काव्य और नाटक में क्रमश: विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी या संचारी कहलाते हैं।'[4]

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में पं० शुकदेवबिहारी मिश्र तथा पं० प्रतापनारायण मिश्र की काव्यास्वाद-विषयक मान्यता का सारांश इस प्रकार है:

१. काव्य के अनुभावन से प्रमाता के चित्त में स्थित स्थायी भाव विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों द्वारा व्यक्त एवं परिपुष्ट होकर उसे (प्रमाता को) जो आनन्द प्रदान करता है, वही काव्यास्वाद है।

२. काव्यास्वाद एक अलौकिक आनन्दानुभूति है।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की साहित्य-विषयक सैद्धान्तिक मान्यताएँ मुख्यतः 'रसज्ञ-रंजन', 'आलोचनांजलि', 'साहित्यालाप', 'साहित्यसंदर्भ', 'साहित्य-सीकर' तथा 'विचार-विमर्श' में व्यक्त हुई हैं। इनमें भी 'रसज्ञ-रंजन' इसलिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण है कि उसमें द्विवेदीजी की प्रायः सभी साहित्यिक मान्यताएँ प्रतिनिधि-रूप में आकलित हो गई हैं। मौलिक, अशास्त्रीय एवं सुबोध विचार-पद्धति तथा सहज एवं प्रांजल विवेचन-शैली के कारण द्विवेदीजी शुक्ल-पूर्व आधुनिक काल के प्रायः सभी साहित्य-विवेचकों से विशिष्ट हैं।

द्विवेदीजी भी मूलतः रसानुभूति को ही काव्यास्वाद मानते हैं, यद्यपि उक्ति-वैचित्र्य-जन्य चमत्कार से उद्भूत आनन्द को भी उन्होंने काव्य का आस्वाद्य तत्त्व स्वीकार किया है। वे रस को ही काव्य का प्राण-तत्त्व तथा काव्यानन्द का मूलाधार मानते हैं:

१. अन्तःकरण में रस को उत्पन्न करके, और थोड़ी देर के लिए और बातों को

---

१. पं० शुकदेवबिहारी मिश्र तथा पं० प्रतापनारायण मिश्र : साहित्य-पारिजात, प्रथमावृत्ति पृष्ठ ३४३।

२. कारणान्यथ कार्याणि...व्यक्तः स...रसः स्मृतः।
—काव्यप्रकाश : चतुर्थ उल्लास, का० २७, २८।

३. साहित्य-पारिजात, पृष्ठ ३४५

४. वही, पृष्ठ ३४३।

भुलाकर, उदार विचारों में मन को लीन कर देना ही कविता का सच्चा पर्यवसान है।[1]

२. रस ही कविता का प्राण है,....नीरस कविता कविता ही नहीं।[2]

३. ....रस ही कविता का सबसे बड़ा गुण है।[3]

४. कविता पढ़ते समय तद्गत रस में यदि पढ़नेवाला डूब न गया तो वह कविता, कविता नहीं।[4]

उपर्युक्त उद्धरणों में अन्तःकरण में प्रमाता के चित्त में रस को उत्पन्न करने तथा रस की इस आस्वादमयी स्थिति में 'थोड़ी देर के लिए और बातों को भुलाकर, उदार विचारों (उच्च भूमि) में मन को लीन' कर देने की चर्चा है। एक अन्य उद्धरण में 'कविता पढ़ते समय' (काव्यास्वादन की स्थिति में) 'पढ़ने वाला' (प्रमाता) के 'तद्गत रस' (काव्यानुभूति की आनन्दमयी स्थिति) में डूबने का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार द्विवेदीजी की दृष्टि में काव्य के अनुभावन से प्रमाता के चित्त में उत्पन्न मनोमुग्धकारी एवं एकान्ततः आनन्दमयी अनुभूति ही काव्यास्वाद है।

शब्दार्थगत एवं उक्ति-वैचित्र्य-जन्य चमत्कार से उद्भूत आनन्दपूर्ण काव्यास्वाद के विषय में द्विवेदीजी का मन्तव्य निम्न प्रकार है:

१. जिस पद्य में अर्थ का चमत्कार नहीं, वह कविता नहीं।[5]

२. यदि कविता में चमत्कार नहीं—कोई विलक्षणता नहीं—तो उससे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती।[6]

प्रस्तुत उद्धरणों में 'पद्य में अर्थ का चमत्कार' से द्विवेदीजी का आशय वस्तुतः काव्य में शब्दार्थ-चमत्कार से तथा 'विलक्षणता' के चमत्कार से उनका आशय उक्ति-वैचित्र्य द्वारा उपपन्न प्रमाता का अन्तश्चमत्कार ही है।. उनकी मान्यता है कि काव्यानन्द (काव्यास्वाद) की उद्भूति काव्य में शब्दार्थगत एवं उक्ति-वैचित्र्य-जन्य चमत्कार से ही होती है। दूसरे शब्दों में, उनके अनुसार काव्य के शब्दार्थगत चमत्कार एवं उक्ति-वैचित्र्य से उद्भूत प्रमाता का आनन्दपूर्ण अन्तश्चमत्कार ही काव्यास्वाद है।

अपने निबन्धों में अन्यत्र भी द्विवेदीजी ने चित्त की मुग्धावस्था एवं तल्लीनता,[7] आनन्द-

---

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : रसज्ञ-रंजन, नवम संस्करण, पृष्ठ ६७।

२. महावीरप्रसाद द्विवेदी : प्राचीन पंडित और कवि, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३५।

३. रसज्ञ-रंजन, पृष्ठ २२।

४. सरस्वती (पत्रिका), जनवरी १९०७, पृष्ठ ३२।

५. रसज्ञ-रंजन, पृष्ठ २०।

६. महावीरप्रसाद द्विवेदी : संचयन, सं० एवं संकलनकर्ता श्री प्रभात शास्त्री साहित्याचार्य, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ६६।

७. स्वभावानुयायिनी और मनोहारिणी हो कविता यथार्थ कविता है, इसी से आत्मा तल्लीन और मन मोहित होता है।

—महावीरप्रसाद द्विवेदी : नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सन् १९०० ई०, भाग ४, पृष्ठ ४०।

मयता,[1] विश्रान्तिमयता[2] तथा अभिभूति[3] आदि काव्यास्वाद की अन्य स्वरूपगत विशेषताओं का उल्लेख किया है।

काव्यास्वाद की प्रक्रिया के विवेचन के सन्दर्भ में द्विवेदीजी ने आधुनिक हिन्दी-काव्यशास्त्र के इतिहास में कदाचित् पहली बार इतने स्पष्ट रूप से काव्यास्वाद की स्थिति में प्रमाता की मनःस्थिति एवं काव्य-सृजन की स्थिति में कवि की अनुभूति के परस्पर तादात्म्य के सिद्धान्त का आख्यान किया है। अपने तद्विषयक मन्तव्य का प्रकाशन उन्होंने अनेक रूपों में किया है:

१. कवियों का यह काम है कि वे जिस पात्र अथवा जिस वस्तु का वर्णन करते हैं, उसका रस अपने अन्तःकरण में लेकर उसे ऐसा शब्द-स्वरूप दे देते हैं कि उन शब्दों को सुनने से वह रस सुनने वालों के हृदय में जागृत हो उठता है।[4]
२. + + रस को कवि ने अपने हृदय में लेकर शब्दों के द्वारा बाहर बहाया है। वह रस प्रभाव सुनने वालों के अन्तःकरण में प्रवेश करके उपरति उत्पन्न करता है, जिसके कारण हृदय गद्गद् हो उठता है......।[5]
३. वही (प्रमाता) कवि के हृदय के सबसे अधिक पास पहुंच जाता है अथवा यह कहना कि उसका और कवि का हृदय एक हो जाता है।[6]

संस्कृत-काव्यशास्त्र में स्वीकृत तथा हिन्दी के रीति-काव्य में अनुमोदित विशिष्ट संस्कार एवं गुण-सम्पन्न सहृदय अथवा काव्य के अधिकारी प्रमाता की चर्चा द्विवेदीजी ने भी की है:

१. सच तो यह है कि कवि के हृदय का भाव प्राकृत कवि या सच्चे सहृदय ही जान सकते हैं।[7]
२. इनके (कवियों के) कार्यों से आनन्द का यथेष्ट अनुभव वही कर सकते हैं जिनका हृदय इन्हीं के सदृश, किम्बहुना इनसे भी अधिक सुसंस्कृत, कोमल और भावग्राही होता है।[8]

इस प्रकार द्विवेदीजी के अनुसार काव्यास्वादन की सामर्थ्य सुसंस्कृत, कोमल मन वाले तथा भावग्राही सहृदय में ही होती है।

---

१. '...वर्णन के अनुकूल वृत्त-प्रयोग करने से कविता का आस्वादन करने वालों को अधिक आनन्द मिलता है।'—'रसज्ञ-रंजन, पृष्ठ १४।
२. 'कविता से विश्रान्ति मिलती है।'
—उपरिवत्, पृष्ठ ६८।
३. 'उस अनुभव का वह (कवि) इस तरह वर्णन करता है कि सुनने वाला तन्मनस्क होकर... अभिभूत हो जाता है।'
—रसज्ञ-रंजन, पृष्ठ ५३।
४. वही, पृष्ठ ६३।
५. वही, पृष्ठ ६६।
६. साहित्य-सन्दर्भ, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ १२५।
७. माधुरी, जनवरी, १९२३ ई०, पृष्ठ ३।
८. समालोचना-समुच्चय, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २६।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की काव्यास्वाद-विषयक मान्यता का सारांश इस प्रकार है:

१. काव्य के अनुभावन से प्रमाता के चित्त में उत्पन्न मनोमुग्धकारी एवं एकान्ततः आनन्दमयी अनुभूति तथा काव्य के शब्दार्थगत चमत्कार एवं उक्ति-वैचित्र्य से उद्भूत प्रमाता का आनन्दपूर्ण अन्तश्चमत्कार ही काव्यास्वाद है।
२. काव्यास्वादन की स्थिति में प्रमाता की चित्तवृत्ति विस्मय-विमुग्ध, तल्लीन, विश्रान्ति-मय तथा भावाभिभूत होती है।
३. काव्यास्वादन की स्थिति में प्रमाता की अनुभूति काव्य-सृजन की स्थिति में कवि की अनुभूति से तदाकार हो जाती है।
४. सुसंस्कृत एवं भावग्राही सहृदय ही काव्यास्वादन में समर्थ होता है।

शुक्ल-पूर्व आधुनिक हिन्दी-सात्यिशास्त्र में काव्यास्वाद का विवेचन : मूल्यांकन

शुक्ल-पूर्व आधुनिक हिन्दी-साहित्यशास्त्रियों में स्पष्टतः दो वर्ग परिलक्षित होते हैं: (१) संस्कृत-काव्यशास्त्र से गृहीत सामग्री के आधार पर रीतिकालीन शास्त्रीय विवेचन-पद्धति का अनुसरण करनेवाले विवेचक तथा (२) सुबोध एवं सरल-सहज शैली में तथा संस्कृत से प्रभावित, किन्तु परम्परा-विहीन एवं किंचित् आधुनिक दृष्टि से विचार करने वाले समीक्षक। प्रथम वर्ग में जगन्नाथ प्रसाद 'भानु कवि', विहारीलालभट्ट एवं मिश्रबन्धुओं के नाम आते हैं तथा द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, कन्हैयालाल पोद्दार, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' तथा आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के नाम उल्लेखनीय हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का काव्यास्वाद-विषयक दृष्टिकोण शास्त्रीय परम्परा से सर्वथा विच्छिन्न है। वे विषय-वस्तु की कुशल संयोजना तथा कवि की रमणीय वर्णन-शक्ति से प्रेरित प्रमाता के अन्तश्चमत्कार को काव्यास्वाद मानते हैं। उनकी इस मान्यता में भावना, अनुभूति अथवा संवेगों को समुचित स्थान नहीं दिया गया है। काव्यास्वाद को कला-कौशल की उद्भूति मानकर उन्होंने एक प्रकार से भारतीय काव्यशास्त्र के देहवादी सम्प्रदायों का समर्थन किया है। भारतेन्दु के काव्यास्वाद-निरूपण में कोई मौलिकता नहीं है; किन्तु उनके विवेचन की नितान्त सरल और अशास्त्रीय पद्धति निश्चय ही श्लाघ्य है।

जगन्नाथ प्रसाद 'भानुकवि' की दृष्टि पूर्णतया पारम्परिक है। उनके अनुसार विशिष्ट गुण-सम्पन्न सहृदय-प्रमाता में स्थित स्थायी-भाव विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के संयोग से 'परिपूर्ण' होकर जिस अनिवर्चनीय एवं अलौकिक रसानुभूति का रूप प्राप्त करते हैं वही काव्यास्वाद है। भानु की यह काव्यास्वाद-प्रकल्पना संस्कृत-रसशास्त्र पर आधारित है। 'विभावानुभावसंचारी' के सहयोग से स्थायी भाव के परिपुष्ट होने के अर्थ में भानुकवि द्वारा 'परिपूर्ण' शब्द का प्रयोग स्पष्टतः पद्माकर के रस-लक्षण से प्रभावित है।[1] इस सन्दर्भ में 'परिपूर्ण'

---

१. मिलि विभाव अनुभाव अरु संचारिन के वृन्द।
परिपूरन थिर भाव जो सु रसरूप आनन्द॥
—देखिए आकर-ग्रंथमाला ४ : पद्माकर (ग्रंथावली), सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी), जगद्विनोद, छंद सं० ६०८, पृष्ठ २०७।

शब्द का प्रयोग सर्वथा अनुपयुक्त, अस्पष्ट और भ्रान्त है। काव्यास्वाद के विवेचन में भानुकवि ने वस्तुतः उत्तर-मध्यकालीन रीति-परम्परा का ही पुनरावर्त्तन किया है। मौलिकता एवं स्वतन्त्र चिन्तन का कोई चिह्न जगन्नाथप्रसाद 'भानु' के काव्यास्वाद-विवेचन में परिलक्षित नहीं होता। उनका थोड़ा बहुत महत्त्व इस दृष्टि से अवश्य माना जाएगा कि इन्होंने इस शती में पहली बार एक स्वतंत्र काव्यशास्त्रीय ग्रंथ की रचना की तथा रसास्वाद का विस्तृत और सांगोपांग विवेचन किया।

बिहारीलाल भट्ट के काव्यास्वाद-निरूपण की सीमाएँ और उपलब्धियाँ भी वही हैं जो जगन्नाथप्रसाद 'भानु' की हैं। वे भी विभावादि की सहायता से स्थायी भाव की 'परिपूर्णता' को ही काव्यास्वाद मानते हैं। इनका रस-लक्षण विश्वनाथ के तद्विषयक मत का अनुसरण मात्र है। काव्यास्वाद की प्रक्रिया का भट्टजी ने जो विवेचन किया है, उसमें संस्कृत-काव्यशास्त्र और रीति-परम्परा का शततः प्रभाव है।

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार हिन्दी की रीति-परम्परा से पूर्णतया अप्रभावित हैं। किन्तु, संस्कृत-काव्यशास्त्र का अवलम्ब इन्होंने इतनी उदारता से ग्रहण किया है कि कोई भी समीक्षक बड़ी सरलता से इन पर संस्कृत-काव्यशास्त्र के ही पूर्ण अनुकरण का दोपारोपण कर सकता है। पोद्दारजी विभावादि की सहायता से प्रमाता के चित्त में संस्कार-रूप से विद्यमान स्थायी भावों की आस्वादनीय परिणति को काव्यास्वाद मानते हैं। उनकी इस मान्यता पर एकसाथ ही भरत और मम्मट का दोहरा प्रभाव है। काव्यास्वाद को अनिवर्चनीय, स्वप्रकाश, अखण्ड, ब्रह्मानंद-सहोदर अलौकिक अनुभूति मानना नितान्त रूप से विश्वनाथ के रस-लक्षण का रूपान्तर मात्र है। कन्हैयालाल पोद्दार को संस्कृत-काव्यशास्त्र की रस-विषयक अवधारणा को उसकी समग्रता में हिन्दी पाठकों के समक्ष विस्तार से प्रस्तुत करने का श्रेय अवश्य ही दिया जा सकता है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' पर भी संस्कृत-काव्यशास्त्र—विशेषतः मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ का—स्पष्ट प्रभाव है। उनके अनुसार भी प्रमाता के चित्त में स्थित स्थायी भाव विभावादि की सहायता से व्यक्त हो कर काव्यास्वाद (रस) का रूप धारण करता है। वे भी संस्कृत रस-शास्त्रियों की भाँति ही काव्यास्वाद को वेद्यान्तरस्पर्श-शून्य, ब्रह्मानन्द-सहोदर एवं अलौकिक अनुभूति स्वीकार करते हैं। हरिऔधजी अपने पूर्ववर्ती आधुनिक काल के काव्य-शास्त्रियों से दो दृष्टियों से भिन्न हैं—एक तो यह कि वे काव्यास्वाद के आनन्द में सृजन की स्थिति में अनुभूत कवि के आनन्द का योगदान स्वीकार करते हैं तथा दूसरे, उन्होंने काव्यास्वाद में कोटि-क्रम निर्धारित करने की चेष्टा की है। कुल मिलाकर हरिऔध के काव्यास्वाद-विवेचन में उनके निजी मत का कोई स्पर्श नहीं है। इसी प्रकार मिश्रबन्धुओं का काव्यास्वाद-निरूपण भी मम्मट और विश्वनाथ की मान्यताओं से प्रभावित है। मौलिक चिन्तन का अभाव तो उसमें है ही, विचारों की प्रस्तुति में भी कोई नवीनता नहीं है।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी मौलिक, अशास्त्रीय, परम्परा-विच्छिन्न एवं सहज-सुबोध विचार-पद्धति और सरल-प्रांजल विवेचन-शैली के कारण शुक्लपूर्ववर्ती आधुनिक काल के प्रायः अन्य सभी काव्यास्वाद-विवेचकों से भिन्न हैं। उनके अनुसार काव्य के अनुभावन से प्रमाता के चित्त में उत्पन्न मनोमुग्धकारी एवं एकांततः आनन्दमयी अनुभूति काव्यास्वाद है। वे शब्दार्थगत चमत्कार एवं उक्ति-वैचित्र्य से उद्भूत प्रमाता के अन्तश्चमत्कार को भी काव्यास्वाद मानते हैं।

काव्यास्वाद की स्थिति में कवि की अनुभूति के पारस्परिक तादात्म्य का इतना स्पष्ट प्रतिपादन आचार्य द्विवेदी ने आधुनिक हिन्दी-काव्यशास्त्र में कदाचित् पहली बार किया।

समग्रतः, आधुनिक हिन्दी-काव्यशास्त्र के शुक्लपूर्वयुगीन काव्यशास्त्रियों का काव्यास्वाद-विवेचन संस्कृत रस-शास्त्र से मुख्यतः एवं रीति-परम्परा से गौणतः प्रभावित है। भारतेन्दु और महावीरप्रसाद द्विवेदी को छोड़कर प्रायः सभी विवेचक मम्मट, विश्वनाथ एवं जगन्नाथ से इतने अधिक आक्रान्त हैं कि वे परम्परा को छोड़ कर मौलिक विवेचन तो क्या, भिन्न एवं निजी प्रतिपादन-शैली के प्रयोग तक का साहस नहीं कर पाए। काव्यास्वाद-विवेचन में इनका योगदान केवल इसी दृष्टि से माना जाना चाहिए कि इन्होंने परवर्ती काव्यशास्त्रियों को आधुनिक दृष्टि के उन्मेष के लिए आवश्यक आधार-भूमि प्रदान की।

(ख) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का काव्यास्वाद-निरूपण

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के काव्यास्वाद-विवेचन में परम्परा-विच्छिन्न मौलिकता के दर्शन होते हैं। संस्कृत-काव्यशास्त्रीय परम्परा में नीति और दर्शन के आलोक में ही काव्यास्वाद के विवेचन की प्रवृत्ति रही है, शुक्लजी ने मनोविज्ञान की छाया में उसका विवेचन किया। उनके पास संस्कृत-काव्यशास्त्र की सुदृढ़ आधारभूमि थी तथा पश्चिम के क्रोचे एवं आई० ए० रिचर्ड्स आदि अर्वाचीन आलोचकों का अध्ययन भी उन्होंने किया था। इन दोनों समीक्षा-परम्पराओं के औचित्य-सिद्ध एवं युक्तियुक्त पक्षों से प्रभावित होने पर भी उनकी चिन्तन-पद्धति उनसे आक्रान्त नहीं हुई। शुक्लजी की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताएँ मुख्यतया 'रस-मीमांसा' तथा 'चिन्तामणि' (भाग १ तथा २) में व्यक्त हुई हैं।

काव्यास्वाद का स्वरूप

शुक्लजी ने भी मुख्यतः रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत ही काव्यास्वाद का स्वरूप-निरूपण किया है। उनके अनुसार प्रमाता की रसमयी काव्यानुभूति ही काव्यास्वाद है। इसके अतिरिक्त शुक्लजी काव्यास्वाद की उद्भूति में अभिव्यंजनागत उक्ति-चमत्कार[1] की प्रेरणा को भी इस शर्त के साथ स्वीकार कर लेते हैं कि वैचित्र्यपूर्ण उक्ति भाव-प्रेरित हो : 'उक्ति की वहीं तक वचनभंगी या वक्रता के सम्बन्ध में हमसे कुंतलजी का 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' मानते बनता है, जहाँ तक कि वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से सम्बद्ध हो; उसके आगे नहीं।'[2] 'भाव की प्रेरणा' में उक्ति-वक्रता का मूल[3] स्वीकार कर चमत्कार-जन्य काव्यास्वाद को अन्ततः शुक्लजी रसानभति के अन्तर्गत ही समाविष्ट कर लेते हैं।

---

१. . . .हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है, उसके मर्म का जो स्पर्श होता है, वह उक्ति ही के द्वारा।
—रस मीमांसा (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल), सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३७।

२. रस मीमांसा (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल), सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४०।

३. . . .उमड़ते हुए भाव की प्रेरणा से अक्सर कथन के ढंग में कुछ वक्रता आ जाती है।
—रस मीमांसा (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल), सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३९।

शब्द का प्रयोग सर्वथा अनुपयुक्त, अस्पष्ट और भ्रान्त है। काव्यास्वाद के विवेचन में भानुकवि ने वस्तुतः उत्तर-मध्यकालीन रीति-परम्परा का ही पुनरावर्त्तन किया है। मौलिकता एवं स्वतन्त्र चिन्तन का कोई चिह्न जगन्नाथप्रसाद 'भानु' के काव्यास्वाद-विवेचन में परिलक्षित नहीं होता। उनका थोड़ा बहुत महत्त्व इस दृष्टि से अवश्य माना जाएगा कि इन्होंने इस शती में पहली बार एक स्वतंत्र काव्यशास्त्रीय ग्रंथ की रचना की तथा रसास्वाद का विस्तृत और सांगोपांग विवेचन किया।

बिहारीलाल भट्ट के काव्यास्वाद-निरूपण की सीमाएँ और उपलब्धियाँ भी वही हैं जो जगन्नाथप्रसाद 'भानु' की हैं। वे भी विभावादि की सहायता से स्थायी भाव की 'परिपूर्णता' को ही काव्यास्वाद मानते हैं। इनका रस-लक्षण विश्वनाथ के तद्विषयक मत का अनुसरण मात्र है। काव्यास्वाद की प्रक्रिया का भट्टजी ने जो विवेचन किया है, उसमें संस्कृत-काव्यशास्त्र और रीति-परम्परा का शततः प्रभाव है।

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार हिन्दी की रीति-परम्परा से पूर्णतया अप्रभावित हैं। किन्तु, संस्कृत-काव्यशास्त्र का अवलम्ब इन्होंने इतनी उदारता से ग्रहण किया है कि कोई भी समीक्षक बड़ी सरलता से इन पर संस्कृत-काव्यशास्त्र के ही पूर्ण अनुकरण का दोषारोपण कर सकता है। पोद्दारजी विभावादि की सहायता से प्रमाता के चित्त में संस्कार-रूप से विद्यमान स्थायी भावों की आस्वादनीय परिणति को काव्यास्वाद मानते हैं। उनकी इस मान्यता पर एकसाथ ही भरत और मम्मट का दोहरा प्रभाव है। काव्यास्वाद को अनिवर्चनीय, स्वप्रकाश, अखण्ड, ब्रह्मानंद-सहोदर अलौकिक अनुभूति मानना नितान्त रूप से विश्वनाथ के रस-लक्षण का रूपान्तर मात्र है। कन्हैयालाल पोद्दार को संस्कृत-काव्यशास्त्र की रस-विषयक अवधारणा को उसकी समग्रता में हिन्दी पाठकों के समक्ष विस्तार से प्रस्तुत करने का श्रेय अवश्य ही दिया जा सकता है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' पर भी संस्कृत-काव्यशास्त्र—विशेपतः मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ का—स्पष्ट प्रभाव है। उनके अनुसार भी प्रमाता के चित्त में स्थित स्थायी भाव विभावादि की सहायता से व्यक्त हो कर काव्यास्वाद (रस) का रूप धारण करता है। वे भी संस्कृत रस-शास्त्रियों की भाँति ही काव्यास्वाद को वेद्यान्तरस्पर्श-शून्य, ब्रह्मानन्द-सहोदर एवं अलौकिक अनुभूति स्वीकार करते हैं। हरिऔधजी अपने पूर्ववर्ती आधुनिक काल के काव्य-शास्त्रियों से दो दृष्टियों से भिन्न हैं—एक तो यह कि वे काव्यास्वाद के आनन्द में सृजन की स्थिति में अनुभूत कवि के आनन्द का योगदान स्वीकार करते हैं तथा दूसरे, उन्होंने काव्यास्वाद में कोटि-क्रम निर्धारित करने की चेष्टा की है। कुल मिलाकर हरिऔध के काव्यास्वाद-विवेचन में उनके निजी मत का कोई स्पर्श नहीं है। इसी प्रकार मिश्रबन्धुओं का काव्यास्वाद-निरूपण भी मम्मट और विश्वनाथ की मान्यताओं से प्रभावित है। मौलिक चिन्तन का अभाव तो उसमें है ही, विचारों की प्रस्तुति में भी कोई नवीनता नहीं है।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी मौलिक, अशास्त्रीय, परम्परा-विच्छिन्न एवं सहज-सुबोध विचार-पद्धति और सरल-प्रांजल विवेचन-शैली के कारण शुक्लपूर्ववर्ती आधुनिक काल के प्रायः अन्य सभी काव्यास्वाद-विवेचकों से भिन्न हैं। उनके अनुसार काव्य के अनुभावन से प्रमाता के चित्त में उत्पन्न मनोमुग्धकारी एवं एकांततः आनन्दमयी अनुभूति काव्यास्वाद है। वे शब्दार्थगत चमत्कार एवं उक्ति-वैचित्र्य से उद्भूत प्रमाता के *अन्तश्चमत्कार* को भी *काव्यास्वाद* मानते हैं।

काव्यास्वाद की स्थिति में कवि की अनुभूति के पारस्परिक तादात्म्य का इतना स्पष्ट प्रतिपादन आचार्य द्विवेदी ने आधुनिक हिन्दी-काव्यशास्त्र में कदाचित् पहली बार किया।

समग्रतः, आधुनिक हिन्दी-काव्यशास्त्र के शुक्लपूर्वयुगीन काव्यशास्त्रियों का काव्यास्वाद-विवेचन संस्कृत रस-शास्त्र से मुख्यतः एवं रीति-परम्परा से गौणतः प्रभावित है। भारतेन्दु और महावीरप्रसाद द्विवेदी को छोड़कर प्रायः सभी विवेचक मम्मट, विश्वनाथ एवं जगन्नाथ से इतने अधिक आक्रान्त हैं कि वे परम्परा को छोड़ कर मौलिक विवेचन तो क्या, भिन्न एवं निजी प्रतिपादन-शैली के प्रयोग तक का साहस नहीं कर पाए। काव्यास्वाद-विवेचन में इनका योगदान केवल इसी दृष्टि से माना जाना चाहिए कि इन्होंने परवर्ती काव्यशास्त्रियों को आधुनिक दृष्टि के उन्मेष के लिए आवश्यक आधार-भूमि प्रदान की।

(ख) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का काव्यास्वाद-निरूपण

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के काव्यास्वाद-विवेचन में परम्परा-विच्छिन्न मौलिकता के दर्शन होते हैं। संस्कृत-काव्यशास्त्रीय परम्परा में नीति और दर्शन के आलोक में ही काव्यास्वाद के विवेचन की प्रवृत्ति रही है, शुक्लजी ने मनोविज्ञान की छाया में उसका विवेचन किया। उनके पास संस्कृत-काव्यशास्त्र की सुदृढ़ आधारभूमि थी तथा पश्चिम के क्रोचे एवं आई० ए० रिचर्ड्स आदि अर्वाचीन आलोचकों का अध्ययन भी उन्होंने किया था। इन दोनों समीक्षा-परम्पराओं के औचित्य-सिद्ध एवं युक्तियुक्त पक्षों से प्रभावित होने पर भी उनकी चिन्तन-पद्धति उनसे आक्रान्त नहीं हुई। शुक्लजी की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताएँ मुख्यतया 'रस-मीमांसा' तथा 'चिन्तामणि' (भाग १ तथा २) में व्यक्त हुई हैं।

काव्यास्वाद का स्वरूप

शुक्लजी ने भी मुख्यतः रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत ही काव्यास्वाद का स्वरूप-निरूपण किया है। उनके अनुसार प्रमाता की रसमयी काव्यानुभूति ही काव्यास्वाद है। इसके अतिरिक्त शुक्लजी काव्यास्वाद की उद्भूति में अभिव्यंजनागत उक्ति-चमत्कार[१] की प्रेरणा को भी इस शर्त के साथ स्वीकार कर लेते हैं कि वैचित्र्यपूर्ण उक्ति भाव-प्रेरित हो : 'उक्ति की वहीं तक वचनभंगी या वक्रता के सम्बन्ध में हमसे कुंतलजी का 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' मानते बनता है, जहाँ तक कि वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से सम्बद्ध हो; उसके आगे नहीं।'[२] 'भाव की प्रेरणा' में उक्ति-वक्रता का मूल[३] स्वीकार कर चमत्कार-जन्य काव्यास्वाद को अन्ततः शुक्लजी रसानभति के अन्तर्गत ही समाविष्ट कर लेते हैं।

---

१. ...हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है, उसके मर्म का जो स्पर्श होता है, वह उक्ति ही के द्वारा।
—रस मीमांसा (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल), सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३७।

२. रस मीमांसा (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल), सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४०।

३. ...उमड़ते हुए भाव की प्रेरणा से अक्सर कथन के ढंग में कुछ वक्रता आ जाती है।
—रस मीमांसा (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल), सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३९।

शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित काव्यास्वाद के स्वरूप के अनुशीलन के लिए उनकी रस-दृष्टि का पर्यालोचन आवश्यक है। शुक्लजी ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है,[1] किन्तु संस्कृत आचार्यों द्वारा निरूपित रस का शास्त्रीय रूप उन्हें मान्य नहीं है। उन्होंने प्रमाता के स्थायीभाव से व्युत्पन्न चित्त की आनन्दमयी स्थिति के स्थान पर 'हृदय की मुक्तावस्था' की उद्भावना कर उसे रस-दशा माना है।[2] मानव-हृदय की इस मुक्त स्थिति की व्याख्या उन्होंने इन शब्दों में की है : '. . . (संसार के) रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह (प्रमाता) अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूटकर—अपने आपको बिलकुल भूलकर—विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है तब वह मुक्त हृदय हो जाता है।'[3] इस प्रकार शुक्लजी के अनुसार भावक की आत्मविश्रान्तिमयी अथवा आत्मविस्मृत[4] मनःस्थिति काव्यास्वाद है तथा काव्यानुभावन द्वारा प्रमाता के हृदय के प्रभावित होने की स्थिति भी शुक्लजी के अनुसार काव्यास्वाद है : 'हृदय के प्रभावित होने का नाम ही रसानुभति है।'[5]

शुक्लजी काव्यास्वाद को भाव से भिन्न नहीं मानते : 'काव्य का आभ्यन्तर स्वरूप या आत्मा भाव या रस है।'[6] उनके अनुसार मन की भावोद्रिक्त स्थिति ही काव्यास्वादन की स्थिति है तथा भावोद्रेक की सामर्थ्य केवल रसात्मक काव्य में ही होती है।[7] उनका भाव-स्वरूप-विश्लेषण संस्कृत-काव्यशास्त्र में निरूपित भाव-स्वरूप से सर्वथा स्वतन्त्र एवं मौलिक है : 'प्रत्यय-बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ़ संश्लेष का नाम भाव है।'[8] प्रत्यय-बोध, अनुभूति एवं वेगयुक्त प्रवृत्ति का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने कहा है कि, '. . . भाव उस विशेष रूप के चित्तविकार को कहते हैं जिसके अन्तर्गत विषय के स्वरूप की धारणा, सुखात्मक या दुःखात्मक अनुभूति का बोध और प्रवृत्ति के उत्तेजन से विशेष कर्मों की प्रेरणा पूर्वापर-सम्बद्ध संघटित हों।'[9] भावावेग की स्वरूपगत विशिष्टता का उद्घाटन करते हुए वे मन के केवल उन्हीं आवेगों ('वेग') को भाव का अभिधान देने के पक्ष में हैं, जिनमें प्रमाता की चेतना में आलम्बन के स्वरूप की संज्ञा बनी रहे।[10] इस प्रकार शुक्लजी की दृष्टि में 'प्रत्यय-बोध' का अर्थ विषय-वस्तु के वास्तविक

---

१. काव्य का आभ्यंतर स्वरूप या आत्मा भाव रस है। —वही, पृष्ठ १०५।
२. . . . हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। —वही, पृष्ठ ५।
३. रस-मीमांसा, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ५।
४. इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता।
—वही, पृष्ठ ६।
५. चिन्तामणि, (दूसरा भाग), द्वितीय आवृत्ति 'काव्य में रहस्यवाद' 'शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ ८८।
६. रस मीमांसा, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १५०।
७. . . . भावों का उद्रेक करने वाली रस-सूक्ति को अवश्य कविता कह सकते हैं। . . .
वही पृष्ठ १०४।
८. रस मीमांसा, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १६८।
९. वही।
१०. मन के प्रत्येक वेग भाव को नहीं कह सकते। मन का वही वेग 'भाव' कहला सकता है जिसमें चेतना के भीतर आलम्बन आदि प्रत्यय-रूप से प्रतिष्ठित होंगे।'

स्वरूप का यथार्थ ग्रहण, 'अनुभूति' से आशय मनुष्य की सुख-दुःखात्मक अनुभूति तथा 'वेग' से तात्पर्य आलम्बन की प्रेरणा से प्रमाता के भावों की आवेगमयी उद्दीप्ति है। शुक्लजी के इस भाव-विवेचन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि वे काव्य के पूर्ण आस्वाद की स्थिति तक पहुँचने में प्रमाता की चेतना की क्रमिक उद्‌बुद्धि के तीन सोपान मानते हैं :

१. प्रत्यय-बोध। प्रमाता की चेतना काव्यानुभावन से सर्वप्रथम विषय-वस्तु के वास्तविक स्वरूप की अवधारणा ग्रहण करती है।
२. अनुभूति। विषय-वस्तु के स्वरूप की प्रारम्भिक अवधारणा प्रमाता की चेतना में जो अनुभूत्यात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है, वह विषय के अनुरूप सुखात्मक अथवा दुःखात्मक होती है।
३. वेगयुक्त प्रवृत्ति। अन्त में यही अनुभूति आलम्बन की प्रेरणा से प्रबल आवेगों का रूप धारण कर लेती है। प्रमाता की चेतना की यह आवेगयुक्त स्थिति ही प्रत्यय-बोध एवं सुख-दुःखात्मक अनुभूति से संश्लिष्ट होकर काव्यास्वाद में परिणत हो जाती है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल काव्यास्वाद (रसानुभूति) तथा प्रत्यक्ष (वास्तविक) अनुभूति में कोई अन्तर स्वीकार नहीं करते : '...रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अन्तर्वृत्ति नहीं है, बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात स्वरूप है।'[1] इस उक्ति से दो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—(१) लोकानुभूति और काव्यानुभूति (काव्यास्वाद) अभिन्न हैं। (२) लोकानुभूति ही काव्य-निबद्ध होकर कवि-प्रतिभा के संस्पर्श से काव्यानुभूति का उदात्त रूप धारण कर लेती है। काव्यानुभूति और प्रत्यक्ष लोकानुभूति को मूलतः एक मानने के कारण शुक्लजी काव्यास्वाद को एकान्ततः आनन्दमयी अनुभूति स्वीकार नहीं करते। 'आनन्द' शब्द से उन्हें प्रकृत्या अरुचि है।[2] काव्यास्वाद की ऐकान्तिक सुखात्मकता का प्रबल खण्डन करते हुए शुक्लजी ने स्पष्ट घोषणा की है कि 'मेरी समझ में रसास्वादन का प्रकृत स्वरूप आनन्द शब्द से व्यक्त नहीं होता...क्या क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि आनन्द का रूप धारण करके ही श्रोता के हृदय में प्रकट होते हैं, अपने प्रकृत रूप का सर्वथा विसर्जन कर देते हैं, उसे कुछ भी लगा नहीं रहने देते? क्या 'विभावत्व' उनका स्वरूप हर कर उन्हें एक ही स्वरूप—सुख का—दे देता है? क्या दुःख के भेद सुख के भेद से प्रतीत होने लगते हैं? ...क्या कोई दुःखान्त कथा पढ़कर बहुत देर तक उसकी खिन्नता नहीं बनी रहती? 'चित्त का यह द्रुत होना' क्या आनन्दगत है?'[3] उनके इस वक्तव्य से तीन निष्कर्ष निकलते हैं :

(क) काव्यास्वाद अनिवार्यतः आनन्दमयी अनुभूति नहीं है।

---

१. रस मीमांसा, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २७५।
२. (क) इस आनन्द शब्द ने काव्य के महत्त्व को बहुत कुछ कम कर दिया है—उसे नाच तमाशे की तरह बना दिया है।
(ख) आनन्द शब्द ने...काव्य की नीयत को बदनाम किया है।
—वही पृष्ठ १०१।
३. वही।

(ख) काव्य-निवद्ध क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि कटु दुःखद भाव आनन्दमयी रसानुभूति (काव्यास्वाद) में परिणत न होकर अपने मूल रूप में वने रहते हैं। काव्य का विभावत्व-व्यापार उनके स्वरूप में कोई अन्तर उपस्थित नहीं करता।

(ग) काव्यास्वादन की स्थिति में प्रमाता के चित्त की द्रुति सदैव आनन्दात्मक नहीं होती।

इस प्रकार शुक्लजी ने भारतीय रस-सिद्धान्त की मूल मान्यत का खण्डन करते हुए रस (काव्यास्वाद) की सुख-दुःखात्मकता का प्रतिपादन किया है। उन्हीं के शब्दों में 'क्रोध, भय, जुगुप्सा और करुणा के सम्वन्ध में साहित्य-प्रेमियों को शायद कुछ अड़चन दिखाई पड़े, क्योंकि इनकी वास्तविक अनभूति दुःखात्मक होती है। रसास्वाद आनन्द-स्वरूप कहा गया है, अतः दुःखरूप अनुभूति रस के अन्तर्गत कैसे ली जा सकती है, यह प्रश्न कुछ गड़वड़ डालता दिखाई पड़ेगा।...करुणा-रस-प्रधान नाटक के दर्शकों के आँसुओं के सम्वन्ध में यह कहना कि 'आनन्द में भी तो आँसू आते हैं' केवल वात टालना है। दर्शक वास्तव में दुःख ही का अनुभव करते हैं।... वह दुःख भी रसात्मक होता है।"[1]

काव्यास्वाद की एकान्त-आनन्दमयता को अमान्य सिद्ध करने के अतिरिक्त शुक्लजी संस्कृत-काव्यशास्त्र में प्रकल्पित लोकोत्तरता,[2] चमत्कारप्राणत्व[3] तथा अनिवर्चनीयता[4] आदि काव्यास्वाद के स्वरूप की अन्य प्रकृतिगत विशिष्टताओं को भी ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं करते : 'लोकोत्तर' 'अनिवर्चनीय' आदि विशेषण से न तो उसके अवाचकत्व का परिहार होता है न प्रयोग का प्रायश्चित।...'चमत्कार' शब्द ने उसके रूप को वहुत कुछ विगाड़ा है।"[5] इस प्रकार शुक्लजी काव्यास्वाद-सम्वन्धी पारम्परिक अवधारणाओं को आधुनिक सन्दर्भ में तथा नवीन शब्दावली के माध्यम से समझने के पक्ष में हैं, इसीलिए वे काव्यास्वादन की स्थिति में प्रमाता की पृथक् वैयक्तिक चेतना के 'स्वार्थ-सम्वन्धों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक सामान्य भावमूमि'[6] तक विस्तार पा लेने की वात कहते हैं। पृथक् चेतना के परिहार अथवा वैयक्तिक चेतना के लोक सामान्य भावभूमि में विलयीकरण की प्रक्रिया को वे 'हृदय की मुक्तावस्था'[7] अथवा 'हृदय की मुक्ति'[8] अभिधान देते हैं। यों काव्यास्वाद के क्षणों में प्रमाता की मनःस्थिति

---

१. रस मीमांसा, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २७३।

२. लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
—साहित्यदर्पण, ३।३।

३. वही।

४. अनिवर्चनीयः साक्षिभास्य...रत्यादिरेव रसः।
—'रसगंगाधर', चौखम्वा, विद्याभवन, प्रथमानन, पृष्ठ १०१।

५. रस मीमांसा, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १०१।

६. वही पृष्ठ ६।

७-८. ...हृदय की यह मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं।
—वही पृष्ठ ६।

की पाश्चात्य काव्यशास्त्र में प्रतिपादित निःसंगता ('इम्पर्सनेलिटी तथा तटस्थता') अथवा भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिपादित काव्यास्वाद की लोकोत्तरता, ब्रह्मानन्द-सहोदरता तथा अलौकिकता से काव्यास्वाद के क्षणों में प्रमाता की मनःस्थिति की समता किए जाने पर शुक्लजी को आपत्ति नहीं है,[1] किन्तु मूलतः उनकी दृष्टि में काव्यास्वाद प्रमाता के निजी 'व्यक्तित्व से सम्बद्ध'[2] एवं 'योगक्षेम-वासना की उपाधि से ग्रस्त हृदय'[3] के स्थान पर 'निर्विशेष, शुद्ध और मुक्त हृदय'[4] की अनुभूति है।

काव्यास्वाद की प्रक्रिया

काव्यास्वाद की स्थिति में प्रमाता की वैयक्तिक चेतना के परिहार और उसके संकुचित स्वार्थवृत्त से मुक्त होकर 'लोक सामान्य भाव भूमि' तक विस्तार पा लेने तथा 'निर्विशेष', 'शुद्ध' एवं 'मुक्त' मनःस्थिति की अवधारणा के कारण ही शुक्लजी ने काव्यास्वाद की प्रक्रिया का विश्लेषण साधारणीकरण-सिद्धान्त के अन्तर्गत किया है। 'विशेष' के 'सामान्यीकरण' अथवा साधारणीकरण को शुक्लजी भारतीय काव्य-दृष्टि की प्रमुख प्रवृत्ति मानते हैं।[5] विशेष की 'सामान्यीकृत' स्थिति को 'लोक-हृदय की सामान्य अन्तर्भूमि' की संज्ञा प्रदान करते हुए उसे साधारणीकरण-सिद्धान्त का मूलाधार घोषित करते हैं : '. . .सबकी रुचि और प्रकृति में भिन्नता होने पर भी कुछ ऐसी अन्तर्भूमियाँ हैं जहाँ पहुँचने पर अभिन्नता मिलती है। ये अन्तर्भूमियाँ नर समष्टि की रागात्मकता प्रकृति के भीतर हैं। लोक-हृदय की यही सामान्य अन्तर्भूमि परख कर हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की गई है।'[6] शुक्लजी के अनुसार साधारणीकरण की प्रक्रिया ही रसानुभूति-रूप काव्यास्वाद को 'प्रत्यक्ष विषयों की वास्तविक अनुभूति' से पृथक् करती है।[7] उनके शब्दों में साधारणीकरण की सामान्य परिभाषा इस प्रकार है : 'किसी काव्य

---

१. . . .इसी को पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति में अहम् का विसर्जन और निःसंगता (Impersonality and Detachment) कहते हैं। इसी को चाहे रस का लोकोत्तर या ब्रह्मानन्द-सहोदरत्व कहिए, चाहे विभावन व्यापार का अलौकिकत्व।

—वही, पृष्ठ २६९।

२. ३. ४. . . .रस दशा में अपनी, पृथक् सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है अर्थात् काव्य में प्रस्तुत विषय को हम अपने व्यक्तित्व से सम्बद्ध रूप में नहीं देखते, अपनी योगक्षेम-वासना की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा ग्रहण नहीं करते; बल्कि निर्विशेष, शुद्ध और मुक्त हृदय द्वारा ग्रहण करते हैं।"

—वही पृष्ठ २६९।

५. भारतीय काव्य-दृष्टि भिन्न-भिन्न विशेषों के भीतर से 'सामान्य' के उद्घाटन की ओर बराबर रही है। किसी न किसी 'सामान्य' के प्रतिनिधि हो कर ही 'विशेष' हमारे यहाँ काव्यों में आते रहे हैं।

—वही, पृष्ठ ३२२।

६. —वही, पृष्ठ ३२१।

७. यहाँ पर रसानुभूति की उस विशेषता का विचार करना चाहिए जो उसे प्रत्यक्ष विषयों

का श्रोता या पाठक जिन विषयों को मन में लाकर रति, करुणा, क्रोध, उत्साह इत्यादि भावों तथा सौन्दर्य, रहस्य, गांभीर्य आदि भावनाओं का अनुभव करता है, वे अकेले उसी के हृदय से सम्बन्ध रखनेवाले नहीं होते; मनुष्य मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालने वाले होते हैं। इसी से उक्त काव्य को एक साथ पढ़ने या सुनने वाले सहस्रों मनुष्य उन्हीं भावों या भावनाओं का थोड़ा या बहुत अनुभव कर सकते हैं। जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः उसके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है।"[1] इस प्रकार शुक्लजी के अनुसार साधारणीकरण विशेष के सामान्यीकरण की उस प्रक्रिया का नाम है जिसके द्वारा प्रमाता का हृदय कवि-निबद्ध 'विशेष' भावों के *सामान्यीकृत* रूप का आस्वाद करता हुआ 'लोक-हृदय'[2] में लीन हो जाता है।

शुक्लजी की दृष्टि में साधारणीकरण का स्वरूप समझ लेने के उपरान्त यह जानना सरल होगा कि उनके अनुसार काव्यास्वाद की प्रक्रिया में साधारणीकरण किसका होता है? उनके मत में यद्यपि आलम्बन, आश्रय, कवि और भाव—सभी का साधारणीकरण सम्भव है, किन्तु इनमें वे आलम्बन के साधारणीकरण की महत्ता का अनेकविध प्रतिपादन करते हैं:

(क) 'साधारणीकरण' का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।[3]

(ख) ...रसात्मक अनुभूति के दो लक्षण ठहराए गए हैं—
  (१) अनुभूति-काल में अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध की भावना का परिहार, और
  (२) किसी भाव के आलम्बन का सहृदय मात्र के साथ साधारणीकरण अर्थात् उस आलम्बन के प्रति सारे सहृदयों के हृदय में उसी भाव का उदय।[4]

(ग) ...काव्य में 'आलम्बन' ही मुख्य है। यदि कवि ने ऐसी वस्तुओं और व्यापारों को अपने शब्द-चित्र द्वारा सामने उपस्थित कर दिया जिनसे श्रोता

की वास्तविक अनुभूति से पृथक् करती प्रतीत हुई है। इस विशेषता का निरूपण हमारे यहाँ साधारणीकरण के अन्तर्गत किया गया है।"

—रस-मीमांसा, पृष्ठ २६५।

१. वही, पृष्ठ २६६।

२. ...सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच से मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को अलग कर के देख सके। इसी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।

—रस-मीमांसा, पृष्ठ २६६।

३. चिन्तामणि (प्रथम भाग), सन् १९५९, 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ २२९-३०।

४. रस-मीमांसा, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २७०।

या पाठक के भाव जाग्रत होते हैं, तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका।'[1]

(घ) जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक रस में पूर्णतया लीन करने की शक्ति उसमें नहीं रहती।[2]

उपर्युक्त उद्धरणों का सारांश यही है कि काव्य के साधारणीकरण-व्यापार के द्वारा सहृदय अपने व्यक्तित्व की 'विशेष' भावना से मुक्त होकर आलम्बन की भावभूमि में अवस्थित हो उसकी 'सामान्यीकृत' अनुभूति का भागी बनता है। किन्तु यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि शुक्लजी के अनुसार '...साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है'[3] '...साधारणीकरण स्वरूप का ही होता है, व्यक्ति या वस्तु का नहीं'[4] तथा 'साधारणीकरण प्रभाव का होता है, सत्ता या व्यक्ति का नहीं।'[5] स्पष्ट है कि शुक्लजी के अनुसार आलम्बन के विशिष्ट व्यक्तित्व के सामान्यीकृत प्रभाव के प्रमाता द्वारा ग्रहण किये जाने की प्रक्रिया ही साधारणीकरण है।

आलम्बन से प्रमाता तक की संचरणशील अनुभूति-यात्रा के बीच आश्रय[6] को शुक्ल जी एक कड़ी के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं : '''साधारणीकरण' के प्रतिपादन में पुराने आचार्यों ने श्रोता (या पाठक) और आश्रय (भाव-व्यंजना करने वाला पात्र) के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है जिसमें आश्रय किसी काव्य या नाटक के पात्र के रूप में आलम्बन रूप किसी दूसरे पात्र के प्रति किसी भाव की व्यंजना करता है और श्रोता (या पाठक) उसी भाव का रस रूप में अनुभव करता है।'[7] इस प्रकार शुक्लजी आलम्बन एवं आश्रय के साधारणीकरण की त्रिविध स्थिति को स्वीकार करते हैं : (१) आलम्बन का साधारणीकरण (आलम्बन-सहृदय), (२) सर्वप्रथम आश्रय का साधारणीकरण तथा तदुपरान्त उसके माध्यम से आलम्बन के साथ प्रमाता का तादात्म्य (आलम्बन=आश्रय=प्रमाता) तथा (३) आश्रय के साथ प्रमाता का तादात्म्य (आश्रय=प्रमाता)।

काव्यास्वाद की प्रक्रिया के विश्लेषण के अन्तर्गत शुक्लजी ने कवि के साधारणीकरण अथवा कवि की अनुभूति अथवा संवेदना की प्रमाता द्वारा प्रतीति का उल्लेख भी किया है। उनका स्पष्ट कथन है : 'जहाँ पाठक या दर्शक किसी काव्य या नाटक में सन्निविष्ट पात्र या आश्रय के शील-द्रष्टा के रूप में स्थित होता है, वहाँ भी पाठक या दर्शक के मन में कोई न कोई भाव थोड़ा

---

१. वही, पृष्ठ १५५।
२. वही, पृष्ठ २७०।
३. वही, पृष्ठ ३१२।
४. वही, पृष्ठ २६८।
५. वही, पृष्ठ २६६।
६. '...पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।'

—वही, पृष्ठ ३११-१२।

७. चिन्तामणि (पहला भाग), १९५९, पृष्ठ २३०-३१।

वहुत अवश्य जगा रहता है; अन्तर उतना ही पड़ता है कि उस पात्र का आलम्वन पाठक या दर्शक का आलम्वन नहीं होता, वल्कि वह पात्र ही पाठक या दर्शक के किसी भाव का आलम्वन रहता है। इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है, जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है।...पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलम्वन रहता है, पाठक या दर्शक के भी उसी भाव का आलम्वन प्रायः हो जाता है।"[1] उपर्युक्त उद्धरण का आशय यही है कि काव्यास्वाद की स्थिति में प्रमाता की चेतना कवि की सृजन-व्यस्त मनःस्थिति के उस अंगरूप भाव, अनुभूति अथवा दृष्टिभंगी के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती है, जिसके अनुरूप वह (कवि) अपने पात्र (आश्रय) की रूप-रचना करता है। दूसरे शब्दों में प्रमाता की चेतना कवि के काव्य-निवद्ध मूल भाव से तदाकार हो जाती है।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि शुक्लजी के अनुसार काव्यास्वादन के क्षण में प्रमाता की चेतना विभिन्न सन्दर्भों, परिवेशों एवं परिस्थितियों में आलम्वनत्व-धर्म (आलम्वन-भाव) अथवा आलम्वन का स्वरूप), आश्रय, आश्रय के माध्यम से आलम्वन अथवा कवि के मूल भाव से तादात्म्य स्थापित कर लेती है। शुक्लजी काव्यास्वाद की प्रक्रिया में आलम्वनत्व-धर्म—'रस शास्त्र' की शास्त्रीय शव्दावली में 'विभाव'—को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। आलम्वनत्व-धर्म, शुक्लजी के अनुसार, वस्तुतः आलम्वन के स्वरूप अथवा भाव का ही दूसरा अभिधान है, जो स्वयं प्रकारान्तर से आश्रय के भाव का ही प्रतीक है।"[2] इस प्रकार शुक्लजी काव्यास्वाद के दो ध्रुवों कविगत मूलभाव एवं प्रमाता की चित्तवृत्ति के वीच आश्रय की स्थिति को महत्त्वपूर्ण मानते हैं।[3]

काव्यास्वाद की गुण-कोटियाँ

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण-विषयक अपनी उपर्युक्त निष्पत्तियों के आधार पर काव्यास्वाद (रसानुभूति) में कोटि-क्रम निर्धारित किया है। इस सम्वन्ध में उनके निम्नांकित उद्धरण उल्लेखनीय हैं :

(क) रसात्मक प्रतीति एक ही प्रकार की नहीं होती। दो प्रकार की अनुभूति तो लक्षण-ग्रन्थों की रस-पद्धति के भीतर ही, सूक्ष्मता से विचार करने में, मिलती है। भारतीय भावुकता काव्य के दो प्रकार के प्रभाव स्वीकार करती है—

(१) जिस भाव की व्यंजना हो उसी भाव में लीन हो जाना।

(२) जिस भाव की व्यंजना हो, उसमें लीन न होना; पर उसकी व्यंजना की स्वाभाविकता और उत्कर्ष का हृदय से अनुमोदन करना।

---

१. चिन्तामणि (पहला भाग), १९५९, पृष्ठ २३१-३२।

२, ३. टिप्पणी—शुक्लजी ने भी इस वात को एक अन्य स्थल पर अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है :

आलम्वन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम तो कवि में चाहिए, फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो 'साधारणीकरण' कहा गया है, वह तभी चरितार्थ हो सकता है।—रस-मीमांसा, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ९९।

दूसरे प्रकार के प्रभाव को मध्यम स्थान प्राप्त है। पूर्ण रस की अनुभूति प्रथम प्रकार का प्रभाव है।"[१]

(ख) पूर्ण रस की अनुभूति—अर्थात् जिस भाव की व्यंजना हो उसी भाव में लीन हो जाना—क्यों उत्तम या श्रेष्ठ है, इसका भी कुछ विवेचन कर लेना चाहिए। काव्य-दृष्टि में जब हम जगत् को देखते हैं तभी जीवन का प्रकृत रूप प्रत्यक्ष होता है। जहाँ व्यक्ति के भावों के पृथक् विषय नहीं रह जाते, मनुष्य मात्र के भावों के आलम्बनों में हृदय लीन हो जाता है, जहाँ हमारी भावसत्ता का सामान्य भावसत्ता में लय हो जाता है,[२] वही पुनीत रस-भूमि है।"[३]

(ग) आश्रय के साथ वह तादात्म्य, आलम्बन का वह साधारणीकरण, जो स्थायी-भावों में होता है, दूसरे भावों में—चाहे वे स्वतंत्र रूप में भी आएँ–नहीं होता। दूसरे भावों की व्यंजना का हम अनुमोदन मात्र करते हैं। इस अनुमोदन में भी रसात्मकता रहती है, पर उस कोटि की नहीं।"[४]

२ (क) ...पर रस की एक नीची अवस्था और है जिसका हमारे यहाँ के साहित्य-ग्रन्थों में विवेचन नहीं हुआ। उसका विचार भी करना चाहिए। किसी भाव की व्यंजना करने वाला, कोई क्रिया या व्यापार करने वाला पात्र भी शील की दृष्टि से श्रोता (या दर्शक) किसी भाव का—श्रद्धा, भक्ति, घृणा, रोष, आश्चर्य, कौतूहल या अनुराग का—आलम्बन होता है। इस दशा में श्रोता या दर्शक का हृदय उस पात्र के हृदय से अलग रहता है—अर्थात् श्रोता या दर्शक उसी भाव का अनुभव नहीं करता जिसकी व्यंजना पात्र अपने आलम्बन के प्रति करता है, बल्कि व्यंजना करने वाले उस पात्र के प्रति किसी और ही भाव का अनुभव करता है। यह दशा भी एक प्रकार की रस-दशा ही है—यद्यपि इसमें आश्रय के साथ तादात्म्य और उसके आलम्बन का साधारणीकरण नहीं रहता। ...ऐसी दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शील-द्रष्टा या प्रकृति-द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा। पर इस रसात्मकता को हम मध्यम कोटि की ही मानेंगे।"[५]

---

१. चिन्तामणि (दूसरा भाग), द्वितीय आवृत्ति : सं० २००६, 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ ८९।

२. टिप्पणी—'सामान्य भावसत्ता में लय हो जाने' का अर्थ शुक्लजी के शब्दों में इस प्रकार है : 'किसी भाव के आलम्बन का सहृदय मात्र के साथ साधारणीकरण अर्थात् उस आलम्बन के प्रति सारे सहृदयों के हृदय में उसी भाव का उदय।'—चिन्तामणि, 'पहला भाग', सन् १९५९, पृष्ठ २४९।

३. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृष्ठ ९०।

४. वही।

५. वही पृष्ठ २३१।

बहुत अवश्य जगा रहता है; अन्तर उतना ही पड़ता है कि उस पात्र का आलम्बन पाठक या दर्शक का आलम्बन नहीं होता, बल्कि वह पात्र ही पाठक या दर्शक के किसी भाव का आलम्बन रहता है। इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है, जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है।...पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलम्बन रहता है, पाठक या दर्शक के भी उसी भाव का आलम्बन प्रायः हो जाता है।'[1] उपर्युक्त उद्धरण का आशय यही है कि काव्यास्वाद की स्थिति में प्रमाता की चेतना कवि की सृजन-व्यस्त मनःस्थिति के उस अंगरूप भाव, अनुभूति अथवा दृष्टिभंगी के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती है, जिसके अनुरूप वह (कवि) अपने पात्र (आश्रय) की रूप-रचना करता है। दूसरे शब्दों में प्रमाता की चेतना कवि के काव्य-निबद्ध मूल भाव से तदाकार हो जाती है।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि शुक्लजी के अनुसार काव्यास्वादन के क्षण में प्रमाता की चेतना विभिन्न सन्दर्भों, परिवेशों एवं परिस्थितियों में आलम्बनत्व-धर्म (आलम्बन-भाव) अथवा आलम्बन का स्वरूप), आश्रय, आश्रय के माध्यम से आलम्बन अथवा कवि के मूल भाव से तादात्म्य स्थापित कर लेती है। शुक्लजी काव्यास्वाद की प्रक्रिया में आलम्बनत्व-धर्म—'रस शास्त्र' की शास्त्रीय शब्दावली में 'विभाव'—को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। आलम्बनत्व-धर्म, शुक्लजी के अनुसार, वस्तुतः आलम्बन के स्वरूप अथवा भाव का ही दूसरा अभिधान है, जो स्वयं प्रकारान्तर से आश्रय के भाव का ही प्रतीक है।'[2] इस प्रकार शुक्लजी काव्यास्वाद के दो ध्रुवों कविगत मूलभाव एवं प्रमाता की चित्तवृत्ति के बीच आश्रय की स्थिति को महत्वपूर्ण मानते हैं।[3]

काव्यास्वाद की गुण-कोटियाँ

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण-विषयक अपनी उपर्युक्त निष्पत्तियों के आधार पर काव्यास्वाद (रसानुभूति) में कोटि-क्रम निर्धारित किया है। इस सम्बन्ध में उनके निम्नांकित उद्धरण उल्लेखनीय हैं :

(क) रसात्मक प्रतीति एक ही प्रकार की नहीं होती। दो प्रकार की अनुभूति तो लक्षण-ग्रन्थों की रस-पद्धति के भीतर ही, सूक्ष्मता से विचार करने में, मिलती है। भारतीय भावुकता काव्य के दो प्रकार के प्रभाव स्वीकार करती है—

(१) जिस भाव की व्यंजना हो उसी भाव में लीन हो जाना।

(२) जिस भाव की व्यंजना हो, उसमें लीन न होना; पर उसकी व्यंजना की स्वाभाविकता और उत्कर्ष का हृदय से अनुमोदन करना।

---

१. चिन्तामणि (पहला भाग), १९५९, पृष्ठ २३१-३२।

२, ३. टिप्पणी—शुक्लजी ने भी इस बात को एक अन्य स्थल पर अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है :
आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम तो कवि में चाहिए, फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो 'साधारणीकरण' कहा गया है, वह तभी चरितार्थ हो सकता है।—रस-मीमांसा, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ९९।

दूसरे प्रकार के प्रभाव को मध्यम स्थान प्राप्त है। पूर्ण रस की अनुभूति प्रथम प्रकार का प्रभाव है।"[1]

(ख) पूर्ण रस की अनुभूति—अर्थात् जिस भाव की व्यंजना हो उसी भाव में लीन हो जाना—क्यों उत्तम या श्रेष्ठ है, इसका भी कुछ विवेचन कर लेना चाहिए। काव्य-दृष्टि में जब हम जगत् को देखते हैं तभी जीवन का प्रकृत रूप प्रत्यक्ष होता है। जहाँ व्यक्ति के भावों के पृथक् विषय नहीं रह जाते, मनुष्य मात्र के भावों के आलम्बनों में हृदय लीन हो जाता है, जहाँ हमारी भावसत्ता का सामान्य भावसत्ता में लय हो जाता है,[2] वही पुनीत रस-भूमि है।"[3]

(ग) आश्रय के साथ वह तादात्म्य, आलम्बन का वह साधारणीकरण, जो स्थायी-भावों में होता है, दूसरे भावों में—चाहे वे स्वतंत्र रूप में भी आएँ—नहीं होता। दूसरे भावों की व्यंजना का हम अनुमोदन मात्र करते हैं। इस अनुमोदन में भी रसात्मकता रहती है, पर उस कोटि की नहीं।"[4]

२ (क) ...पर रस की एक नीची अवस्था और है जिसका हमारे यहाँ के साहित्य-ग्रन्थों में विवेचन नहीं हुआ। उसका विचार भी करना चाहिए। किसी भाव की व्यंजना करने वाला, कोई क्रिया या व्यापार करने वाला पात्र भी शील की दृष्टि से श्रोता (या दर्शक) किसी भाव का—श्रद्धा, भक्ति, घृणा, रोष, आश्चर्य, कौतूहल या अनुराग का—आलम्बन होता है। इस दशा में श्रोता या दर्शक का हृदय उस पात्र के हृदय से अलग रहता है—अर्थात् श्रोता या दर्शक उसी भाव का अनुभव नहीं करता जिसकी व्यंजना पात्र अपने आलम्बन के प्रति करता है, बल्कि व्यंजना करने वाले उस पात्र के प्रति किसी और ही भाव का अनुभव करता है। यह दशा भी एक प्रकार की रस-दशा ही है—यद्यपि इसमें आश्रय के साथ तादात्म्य और उसके आलम्बन का साधारणीकरण नहीं रहता। ...ऐसी दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शील-द्रष्टा या प्रकृति-द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा। पर इस रसात्मकता को हम मध्यम कोटि की ही मानेंगे।"[5]

---

१. चिन्तामणि (दूसरा भाग), द्वितीय आवृत्ति : सं० २००६, 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ ८९।

२. टिप्पणी—'सामान्य भावसत्ता में लय हो जाने' का अर्थ शुक्लजी के शब्दों में इस प्रकार है : 'किसी भाव के आलम्बन का सहृदय मात्र के साथ साधारणीकरण अर्थात् उस आलम्बन के प्रति सारे सहृदयों के हृदय में उसी भाव का उदय।'—चिन्तामणि, 'पहला भाग', सन् १९५९, पृष्ठ २४९।

३. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृष्ठ ९०।

४. वही।

५. वही पृष्ठ २३१।

(ख) इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के...अव्यक्त भाव के साथ होता है...।[1]

३. आश्रय की जिस भाव-व्यंजना को श्रोता या पाठक का हृदय कुछ भी अपना न सकेगा, उसका ग्रहण केवल शील-वैचित्र्य के रूप में होगा और उसके द्वारा घृणा, विरक्ति, अश्रद्धा, क्रोध, आश्चर्य, कुतुहल इत्यादि में से ही कोई भाव उत्पन्न होकर होकर अपरितुष्ट दशा में रह जाएगा।[2]

४. ...शील विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न भाव की अनुभूति और आश्रय के साथ तादात्म्य-दशा की अनुभूति (जिसे आचार्यों ने रस कहा है) दो भिन्न कोटि की रसानुभूतियाँ हैं।[3]

उपर्युक्त उद्धरणों से यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि शुक्लजी को काव्यास्वाद की तीन कोटियाँ स्वीकार्य हैं :

१. काव्यास्वाद की श्रेष्ठ कोटि : 'पूर्ण रस की अनुभूति' इसमें, प्रमाता की चित्तवृत्ति काव्य में व्यंजित भाव की सामान्य सत्ता में लीन होकर आलम्बन के साधारणीकरण की प्रक्रिया के द्वारा आश्रय के साथ पूर्ण तादात्म्य प्राप्त कर लेती है।

२. काव्यास्वाद की मध्यम कोटि : इसमें आलम्बन के साधारणीकरण अथवा आश्रय के साथ प्रमाता की चेतना के पूर्ण तादात्म्य की स्थिति नहीं होती। प्रमाता की चित्तवृत्ति व्यंजित भाव में लीन न होकर या तो केवल उसके उत्कर्ष के अनुमोदन तक सीमित रह जाती है अथवा अधिक से अधिक उसका तादात्म्य कवि के अव्यक्त भाव के साथ हो जाता है।

३. काव्यास्वाद की निकृष्ट कोटि : इसमें किसी भी प्रकार की वस्तु के साथ प्रमाता की चित्तवृत्ति का तादात्म्य नहीं हो पाता। इस कोटि के काव्यास्वाद की उद्भूति प्रमाता के मन में काव्य-निबद्ध पात्रों के केवल शील-वैचित्र्य की प्रतीति से ही हो जाती है।

समीक्षा

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का काव्यास्वाद-विवेचन सम्पूर्ण हिन्दी-काव्यशास्त्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है। काव्यास्वाद के स्वरूप में दृढ़ नैतिक अनिवार्यता के समावेश, काव्यास्वाद की प्रक्रिया के विश्लेषण के अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक आधार पर साधारणीकरण-सिद्धान्त के विशद व्याख्यान एवं पुनःपरीक्षण तथा भावों के मौलिक विश्लेषण एवं वर्गीकरण के द्वारा शुक्लजी ने हिन्दी-साहित्यशास्त्र में अभूतपूर्व योगदान किया है। किन्तु इसके साथ ही उनकी अनेक निष्पत्तियाँ—विशेषतः काव्यास्वाद की सुखदुःखात्मकता, लौकिक-प्रत्यक्ष अनुभूति एवं काव्यास्वाद की समानता तथा काव्यास्वाद की श्रेष्ठ-अवर कोटि-सम्बन्धी उनकी उद्भावनाएँ—अत्यन्त विवादास्पद बन गई हैं।

---

१. वही, पृष्ठ २३२।

२. वही।

३. वही, पृष्ठ २३३।

अत्यन्त मौलिक होने पर भी शुक्लजी की काव्यास्वाद-विषयक मान्यता के अनेक समान-संकेतों का सन्धान पाश्चात्य एवं संस्कृत-काव्यशास्त्र में किया जा सकता है। 'हृदय की मुक्तावस्था' 'अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूटकर' प्रमाता के 'विशुद्ध अनुभूति मात्र' रह जाने की प्रकल्पना तथा 'स्वार्थ सम्बन्धों के संकुचित मंडल से ऊपर उठकर' 'लोक-हृदय में लीन होने की दशा'—सम्बन्धी उनकी मान्यता पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र एवं काव्यशास्त्र में लौबनित्ज़ द्वारा निरूपित 'सार्वभौमिक सामरस्य', शैले द्वारा प्रकल्पित प्रमाता की चेतना के 'सार्वभौमिक विस्तार', काण्ट की 'सामंजस्य की सार्वभौमिक अनुभूति' तथा हीगेल की 'सार्वभौमिक विस्तार'-विषयक अवधारणा से भिन्न नहीं है।[1] इसी प्रकार कवि एवं प्रमाता के भावात्मक तादात्म्य-विषयक उनकी मान्यता होरेस, क्रोचे और इलियट की मूल धारणाओं के समानान्तर है।[2]

शुक्लजी के अनुसार काव्यास्वाद, जैसा कि पूर्व-पृष्ठों में विवेचित किया जा चुका है, प्रमाता के निजी 'व्यक्तित्व से सम्बद्ध' एवं 'योग-क्षेम-वासना की उपाधि से ग्रस्त हृदय' के स्थान पर 'निर्विशेष, शुद्ध और मुक्त हृदय' की अनुभूति है। उनकी यह मान्यता अभिनवगुप्त द्वारा उद्धृत भट्टनायक की 'निबिडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा'[3] एवं 'निजसंविद्विश्रान्ति'[4]-विषयक अवधारणा तथा मम्मट द्वारा निरूपित प्रमाता की चेतना के 'नियतप्रमातृभाव' के नाश द्वारा 'अपरिमितप्रमातृभाव' में परिणत हो जाने[5] के सिद्धान्त से प्रभावित है। इसी प्रकार शुक्लजी द्वारा कही गई काव्यास्वाद की स्थिति में 'कुछ काल के लिए अपना पता' न रहने वाली बात पंडितराज जगन्नाथ के 'तन्मयीभाव'[6] से भिन्न नहीं है। उनकी आलम्बनत्व-धर्म के अतिरिक्त 'कवि के अव्यक्त भाव' के साथ तादात्म्य-सम्बन्धी मान्यता पर अभिनवगुप्त की 'कविर्हि सामाजिक-तुल्य एव'[7] तथा उनके गुरु भट्टतौत की 'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः'[8] आदि उक्तियों की छाया सर्वथा स्पष्ट है।

शुक्लजी के सम्पूर्ण कृतित्व में शास्त्र एवं परम्परा से विच्छिन्न होने तथा आयास-अर्जित मौलिकता का स्पष्ट उपक्रम मिलता है। काव्यास्वाद-निरूपण में तो उनका मौलिकता का आग्रह अतिवाद की इस सीमा तक पहुँच गया है कि उनकी लगभग सभी तत्संबंधी मान्यताएँ आज प्रायः खण्डित हो चुकी हैं। शुक्लजी की प्रमुख भूल प्रत्यक्ष अनुभूति और रसानुभूति को एक मान लेना है। इससे दो भ्रान्तियाँ और उत्पन्न हो गई हैं—एक तो, काव्यास्वाद को मूल लौकिक भावों

---

१. देखिए—प्रस्तुत प्रबंध के तृतीय अध्याय के अन्तर्गत लीबनित्ज़, शैले, काण्ट एवं हीगेल की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं का विवेचन।
२. वही, होरेस, क्रोचे और इलियट का तद्विषयक विवेचन।
३. हिन्दी अभिनव भारती, सं० डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ ४६४-६५।
४. वही, पृष्ठ ४६५।
५. हिन्दी-काव्यप्रकाश, व्या० आचार्य विश्वेश्वर, चतुर्थ उल्लास, पृष्ठ १०८।
६. रसगंगाधर, चौखम्बा विद्याभवन संस्कृत ग्रंथमाला, प्रथमानन, पृष्ठ ८८।
७. 'हिन्दी अभिनवभारती', व्या० आचार्य विश्वेश्वर, चतुर्थ उल्लास, पृष्ठ ५१५।
८. अभिनवगुप्त-कृत ध्वन्यालोकालोचन में उद्धृत भट्टतौत का मत। (तारावती टीका, व्या० डॉ० रामसागर त्रिपाठी, प्रथम उद्योत, पृष्ठ १७।

की ही भाँति सुख-दुःखात्मक मानना तथा दूसरे, रसानुभूति (काव्यास्वाद) को अखण्ड अनुभूति न मानते हुए उसमें कोटि-क्रम निर्धारित करना।

जैसा कि पूर्व-पृष्ठों में स्पष्ट किया जा चुका है, शुक्लजी ने काव्यास्वाद की एकान्त आनन्दमयता का प्रवल विरोध किया है। संस्कृत-काव्य-शास्त्र में रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भी रस को सुख-दुःखात्मक माना है।[1] शुक्लजी ने आनंद का विरोध कदाचित् उसे मनोरंजन[2] का पर्याय समझकर ही किया है : 'क्या मृत पुत्र के लिए विलाप करती हुई शैव्या से राजा हरिश्चन्द्र का क़फ़न माँगना देख सुन कर आँसू नहीं आ जाते, दाँत निकल पड़ते हैं?'[3] स्पष्ट है कि यहाँ शुक्लजी भारतीय काव्यशास्त्र तथा दर्शन के अत्यंत विस्तृत एवं गंभीर शब्द 'आनन्द' को हँसी-विनोद से अभिन्न मानने के भ्रम का शिकार हो गए हैं, इसीलिए 'दाँत निकल पड़ने' से भी आगे वढ़कर वे आनन्द को 'नाच-तमाशे'[4] के समतुल्य मान वैठे हैं। यद्यपि उन्होंने एक स्थान पर आनन्द की व्यापक एवं युक्ति-संगत व्याख्या करने का प्रयत्न भी किया है[5], किन्तु वह उनकी मूल मान्यता नहीं है।

साधारणीकरण-सिद्धान्त के अन्तर्गत आलम्वनत्व धर्म के साधारणीकरण पर शुक्लजी द्वारा वल दिये जाने का भी व्यापक विरोध हुआ है। पं० रामदहिन मिश्र शुक्लजी की इस मान्यता का खंडन इन शब्दों में करते हैं, 'क्या रसोद्वोध में आलम्वन ही आलम्वन है? यदि अनुभाव विपरीत हो तव? शोकातुर व्यक्ति को ताल, लय से मंच पर गाना गाते देख सभी शोक-ग्रस्त हो सकते हैं? यहाँ तो शोक का आलंवन सभी का आलम्वन है और उससे साधारणीकरण भी होता है। पर उसके अनुभाव से सभी का साधरणीकरण नहीं हो सकता।'[6] पं० केशवप्रसाद मिश्र भी शुक्लजी के इस सिद्धान्त से असन्तुष्ट हैं : 'साधारणीकरण से यहाँ (शुक्लजी के सिद्धान्त में) यह अर्थ लिया गया है कि विभाव, अनुभाव आदि को साधारण रूप देकर सामने लाया जाय। ...स्वरूपतः सामान्य होने का आग्रह करना ठीक न होगा, क्योंकि उस अवस्था में विभाव, अनुभाव आदि सीमित और शृंखलावद्ध हो जाएँगे और काव्य की व्यापकता नष्ट हो जाएगी।'[7]

---

१. ...सुख-दुःखात्मको रसः ॥१०९॥

—हिन्दी नाट्य-दर्पण, व्या० आचार्य विश्वेश्वर, तृतीय विवेक, पृष्ठ २९०।

२. साहित्य के आचार्यों ने काव्य से प्राप्त अनुभव को क्यों आनन्द-स्वरूप कहा, इसका, कारण उक्त उदाहरण से प्रत्यक्ष हो जाता है। इस विवेचन के अनुसार 'मनोरंजन' के अतिरिक्त काव्य का और कोई उच्च उद्देश्य नहीं ठहरता।

—रस मीमांसा, पृष्ठ ९।

३. वही, पृष्ठ १०१।

४. वही।

५. '...'आनन्द' शब्द को व्यक्तिगत सुख-भोग के स्थूल अर्थ में ग्रहण करना मुझे ठीक नहीं जँचता। उसका अर्थ मैं हृदय का व्यक्ति-वद्ध दशा से मुक्त और हलका होकर अपनी क्रिया में तत्पर होना भी उपयुक्त समझता हूँ।'

—वही, पृष्ठ २७३।

६. रामदहिन मिश्र, काव्य-दर्पण, पृष्ठ १७१।

७. साहित्यालोचन, १५ वीं आवृत्ति, पृष्ठ २१९ पर डॉ० श्यामसुन्दरदास द्वारा उद्धृत पं० केशवप्रसाद मिश्र का मत।

डॉ० नगेन्द्र शुक्लजी के मत का खंडन इन शब्दों में करते हैं : 'साधारणीकरण का विवेचन करते समय भट्टनायक और अभिनवगुप्त के अभिमत शुक्लजी के सामने नहीं थे—केवल विश्वनाथ का मत ही उनके सामने था। उसका भी उन्होंने शास्त्रीय विवेचन न कर केवल स्वतंत्र चिन्तन या अपने सिद्धान्त के अनुकूल प्रयोग मात्र किया है। पहला तथ्य शुक्लजी की सामयिक परिसीमा का द्योतक है और दूसरा उनकी मौलिक प्रतिभा का।'[1] डॉ नगेन्द्र ने शुक्लजी के मत को अपनी व्याख्या द्वारा तनिक उदार और व्यापक रूप प्रदान कर दिया है : 'वे (शुक्लजी) मूलत: आलम्बन का साधारणीकरण मानते हैं। आलम्बन का अर्थ है भाव का विषय। उसका साधारणीकरण इस प्रकार होता है कि पहले वह कवि के भाव का विषय बनता है और फिर समस्त सहृदय-समाज के भाव का विषय बन जाता है।'[2] डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित ने भी शुक्लजी के मत का विरोध किया है : '. . .शुक्लजी के मत में वास्तविक त्रुटि आई है आश्रय के साथ तादात्म्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के कारण। उस स्थल पर शुक्लजी इस बात का समाधान नहीं कर सकते कि किसी काव्य में चित्रित सीता के प्रति राम के रति-भाव के समय यदि हम राम से तादात्म्य कर बैठेंगे तो सीता को पत्नी-रूप ग्रहण करने से कैसे बच रहेंगे?'[3] इस प्रकार शुक्लजी यद्यपि भाव और विभाव दोनों पक्षों के सामंजस्य के बिना पूरी और सच्ची रसानुभूति'[4] की संभावना नहीं मानते, तथापि आलम्बनत्व धर्म को प्रमुखता प्रदान कर उसे संकीर्ण अवश्य बना देते हैं। वे 'कवि के अव्यक्त भाव' के साधारणीकरण की भी चर्चा करते हैं, किन्तु एक तो उनके अनुसार इस स्थिति में काव्यास्वाद अवर कोटि का हो जाता है तथा दूसरे, 'कवि के अव्यक्त भाव' की पदावली अपने आप में अस्पष्ट है।

काव्यास्वाद में कोटि-क्रम स्थापित करने की शुक्लजी की चेष्टा भी निष्प्रयोजन ही प्रमाणित हुई है। भारतीय काव्यशास्त्र की सम्पूर्ण परम्परा में काव्यास्वाद को एक अखण्ड चेतना के रूप में स्वीकृति प्राप्त है। उसे श्रेष्ठ अथवा निकृष्ट किसी प्रकार की उपाधि प्रदान करने का उपक्रम किसी भी आचार्य ने नहीं किया। आधुनिक काल के शुक्ल-पूर्ववर्ती युग के कवि-आलोचक अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने अवश्य ही काव्यास्वाद में कोटि-क्रम स्थापित करने का प्रयत्न किया है, किन्तु वह एक अपवाद ही है। शुक्लजी की साधारणीकरण-सिद्धान्त-विषयक निष्पत्तियाँ ही काव्यास्वाद की कोटि-क्रम-संबंधी उनकी भ्रांति का मूल कारण हैं। वे आलंबन के साधारणीकरण की प्रक्रिया के द्वारा आश्रय के साथ प्रमाता की चेतना के तादात्म्य की स्थिति को 'पूर्ण रस की अनुभूति' मानते हुए उसे काव्यास्वाद की श्रेष्ठ कोटि स्वीकार करते हैं। 'कवि के अव्यक्त भाव' के साथ तादात्म्य अथवा प्रमाता की चित्तवृत्ति के 'व्यंजित भाव' में लीन न होने तथा उसके द्वारा केवल उसके (व्यंजित भाव के) उत्कर्ष का अनुमोदन किये जाने की स्थिति को वे काव्यास्वाद की मध्यम कोटि मानते हैं। काव्यास्वाद की निकृष्ट कोटि में उनके अनुसार, प्रमाता की चित्तवृत्ति का तादात्म्य किसी भी प्रकार की वस्तु के साथ नहीं होता; काव्यास्वाद की चर्वणा वह काव्य-निबद्ध पात्रों के केवल शील-वैचित्र्य की प्रतीति से ही कर लेता है। शुक्लजी द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त सभी तर्क निराधार हैं। काव्यास्वाद की पूर्ण स्थिति में प्रमाता की चेतना में आलम्बन, आश्रय अथवा

---

१. डॉ० नगेन्द्र : रस-सिद्धान्त, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २०२।
२. वही।
३. डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित : रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण, प्रथम सं०, पृष्ठ १३५-३६।
४. रस-मीमांसा, द्वितीय सं०, पृष्ठ २६७।

की ही भाँति सुख-दुःखात्मक मानना तथा दूसरे, रसानुभूति (काव्यास्वाद) को अखण्ड अनुभूति न मानते हुए उसमें कोटि-क्रम निर्धारित करना।

जैसा कि पूर्व-पृष्ठों में स्पष्ट किया जा चुका है, शुक्लजी ने काव्यास्वाद की एकान्त आनन्दमयता का प्रबल विरोध किया है। संस्कृत-काव्य-शास्त्र में रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भी रस को सुख-दुःखात्मक माना है।[1] शुक्लजी ने आनंद का विरोध कदाचित् उसे मनोरंजन[2] का पर्याय समझकर ही किया है : 'क्या मृत पुत्र के लिए विलाप करती हुई शैव्या से राजा हरिश्चन्द्र का क़फ़न माँगना देख सुन कर आँसू नहीं आ जाते, दाँत निकल पड़ते हैं?'[3] स्पष्ट है कि यहाँ शुक्लजी भारतीय काव्यशास्त्र तथा दर्शन के अत्यंत विस्तृत एवं गंभीर शब्द 'आनन्द' को हँसी-विनोद से अभिन्न मानने के भ्रम का शिकार हो गए हैं, इसीलिए 'दाँत निकल पड़ने' से भी आगे बढ़कर वे आनन्द को 'नाच-तमाशे'[4] के समतुल्य मान बैठे हैं। यद्यपि उन्होंने एक स्थान पर आनन्द की व्यापक एवं युक्ति-संगत व्याख्या करने का प्रयत्न भी किया है[5], किन्तु वह उनकी मूल मान्यता नहीं है।

साधारणीकरण-सिद्धान्त के अन्तर्गत आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण पर शुक्लजी द्वारा बल दिये जाने का भी व्यापक विरोध हुआ है। पं० रामदहिन मिश्र शुक्लजी की इस मान्यता का खंडन इन शब्दों में करते हैं, 'क्या रसोद्बोध में आलम्बन ही आलम्बन है? यदि अनुभाव विपरीत हो तब? शोकातुर व्यक्ति को ताल, लय से मंच पर गाना गाते देख सभी शोक-ग्रस्त हो सकते हैं? यहाँ तो शोक का आलंबन सभी का आलम्बन है और उससे साधारणीकरण भी होता है। पर उसके अनुभाव से सभी का साधरणीकरण नहीं हो सकता।'[6] पं० केशवप्रसाद मिश्र भी शुक्लजी के इस सिद्धान्त से असन्तुष्ट हैं : 'साधारणीकरण से यहाँ (शुक्लजी के सिद्धान्त में) यह अर्थ लिया गया है कि विभाव, अनुभाव आदि को साधारण रूप देकर सामने लाया जाय। ...स्वरूपतः सामान्य होने का आग्रह करना ठीक न होगा, क्योंकि उस अवस्था में विभाव, अनुभाव आदि सीमित और शृंखलाबद्ध हो जाएँगे और काव्य की व्यापकता नष्ट हो जाएगी।'[7]

---

१. ...सुख-दुःखात्मको रसः ॥१०९॥
—हिन्दी नाट्य-दर्पण, व्या० आचार्य विश्वेश्वर, तृतीय विवेक, पृष्ठ २९०।

२. साहित्य के आचार्यों ने काव्य से प्राप्त अनुभव को क्यों आनन्द-स्वरूप कहा, इसका, कारण उक्त उदाहरण से प्रत्यक्ष हो जाता है। इस विवेचन के अनुसार 'मनोरंजन' के अतिरिक्त काव्य का और कोई उच्च उद्देश्य नहीं ठहरता।
—रस मीमांसा, पृष्ठ ९।

३. वही, पृष्ठ १०१।

४. वही।

५. '...'आनन्द' शब्द को व्यक्तिगत सुख-भोग के स्थूल अर्थ में ग्रहण करना मुझे ठीक नहीं जँचता। उसका अर्थ मैं हृदय का व्यक्ति-बद्ध दशा से मुक्त और हलका होकर अपनी क्रिया में तत्पर होना भी उपयुक्त समझता हूँ।'
—वही, पृष्ठ २७३।

६. रामदहिन मिश्र, काव्य-दर्पण, पृष्ठ १७१।

७. साहित्यालोचन, १५ वीं आवृत्ति, पृष्ठ २१९ पर डॉ० श्यामसुन्दरदास द्वारा उद्धृत पं० केशवप्रसाद मिश्र का मत।

डॉ० नगेन्द्र शुक्लजी के मत का खंडन इन शब्दों में करते हैं : 'साधारणीकरण का विवेचन करते समय भट्टनायक और अभिनवगुप्त के अभिमत शुक्लजी के सामने नहीं थे—केवल विश्वनाथ का मत ही उनके सामने था। उसका भी उन्होंने शास्त्रीय विवेचन न कर केवल स्वतंत्र चिन्तन या अपने सिद्धान्त के अनुकूल प्रयोग मात्र किया है। पहला तथ्य शुक्लजी की सामयिक परिसीमा का द्योतक है और दूसरा उनकी मौलिक प्रतिभा का।'[1] डॉ नगेन्द्र ने शुक्लजी के मत को अपनी व्याख्या द्वारा तनिक उदार और व्यापक रूप प्रदान कर दिया है : 'वे (शुक्लजी) मूलतः आलम्बन का साधारणीकरण मानते हैं। आलम्बन का अर्थ है भाव का विषय। उसका साधारणीकरण इस प्रकार होता है कि पहले वह कवि के भाव का विषय बनता है और फिर समस्त सहृदय-समाज के भाव का विषय बन जाता है।'[2] डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित ने भी शुक्लजी के मत का विरोध किया है : '. . .शुक्लजी के मत में वास्तविक त्रुटि आई है आश्रय के साथ तादात्म्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के कारण। उस स्थल पर शुक्लजी इस बात का समाधान नहीं कर सकते कि किसी काव्य में चित्रित सीता के प्रति राम के रति-भाव के समय यदि हम राम से तादात्म्य कर बैठेंगे तो सीता को पत्नी-रूप ग्रहण करने से कैसे बच रहेंगे?'[3] इस प्रकार शुक्लजी यद्यपि भाव और विभाव दोनों पक्षों के सामंजस्य के बिना पूरी और सच्ची रसानुभूति[4] की संभावना नहीं मानते, तथापि आलम्बनत्व धर्म को प्रमुखता प्रदान कर उसे संकीर्ण अवश्य बना देते हैं। वे 'कवि के अव्यक्त भाव' के साधारणीकरण की भी चर्चा करते हैं, किन्तु एक तो उनके अनुसार इस स्थिति में काव्यास्वाद अवर कोटि का हो जाता है तथा दूसरे, 'कवि के अव्यक्त भाव' की पदावली अपने आप में अस्पष्ट है।

काव्यास्वाद में कोटि-क्रम स्थापित करने की शुक्लजी की चेष्टा भी निष्प्रयोजन ही प्रमाणित हुई है। भारतीय काव्यशास्त्र की सम्पूर्ण परम्परा में काव्यास्वाद को एक अखण्ड चेतना के रूप में स्वीकृति प्राप्त है। उसे श्रेष्ठ अथवा निकृष्ट किसी प्रकार की उपाधि प्रदान करने का उपक्रम किसी भी आचार्य ने नहीं किया। आधुनिक काल के शुक्ल-पूर्ववर्ती युग के कवि-आलोचक अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने अवश्य ही काव्यास्वाद में कोटि-क्रम स्थापित करने का प्रयत्न किया है, किन्तु वह एक अपवाद ही है। शुक्लजी की साधारणीकरण-सिद्धान्त-विषयक निष्पत्तियाँ ही काव्यास्वाद की कोटि-क्रम-संबंधी उनकी भ्रांति का मूल कारण हैं। वे आलंबन के साधारणीकरण की प्रक्रिया के द्वारा आश्रय के साथ प्रमाता की चेतना के तादात्म्य की स्थिति को 'पूर्ण रस की अनुभूति' मानते हुए उसे काव्यास्वाद की श्रेष्ठ कोटि स्वीकार करते हैं। 'कवि के अव्यक्त भाव' के साथ तादात्म्य अथवा प्रमाता की चित्तवृत्ति के 'व्यंजित भाव' में लीन न होने तथा उसके द्वारा केवल उसके (व्यंजित भाव के) उत्कर्ष का अनुमोदन किये जाने की स्थिति को वे काव्यास्वाद की मध्यम कोटि मानते हैं। काव्यास्वाद की निकृष्ट कोटि में उनके अनुसार, प्रमाता की चित्तवृत्ति का तादात्म्य किसी भी प्रकार की वस्तु के साथ नहीं होता; काव्यास्वाद की चर्वणा वह काव्य-निबद्ध पात्रों के केवल शील-वैचित्र्य की प्रतीति से ही कर लेता है। शुक्लजी द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त सभी तर्क निराधार हैं। काव्यास्वाद की पूर्ण स्थिति में प्रमाता की चेतना में आलम्बन, आश्रय अथवा

---

१. डॉ० नगेन्द्र : रस-सिद्धान्त, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २०२।
२. वही।
३. डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित : रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण, प्रथम सं०, पृष्ठ १३५-३६।
४. रस-मीमांसा, द्वितीय सं०, पृष्ठ २६७।

कविगत भा। के पृथक्-पृथक् साधारणीकरण की कोई भेदक-संज्ञा संभव नहीं है। काव्यास्वाद की बस वही एक अखण्ड स्थिति संभव है जिसे शुक्लजी 'पूर्ण रस की अनुभूति' का अभिधान प्रदान करते हैं। प्रमाता की चित्तवृत्ति द्वारा व्यंजित भाव के उत्कर्ष का अनुमोदन तो काव्यास्वादन-प्रक्रिया का अन्तर्वर्ती बिन्दु मात्र है, वह काव्यास्वाद की पूर्ण स्थिति की उद्भूति में सहायक तो हो सकता है, किन्तु स्वयं वह काव्यास्वाद नहीं हो सकता। निकृष्ट कोटि के काव्यास्वाद की प्रकल्पना भी दो कारणों से असंगत प्रमाणित हो जाती है—एक तो, काव्यास्वादन के समय प्रमाता की चेतना के किसी भी वस्तु से तादात्म्य न कर पाने की स्थिति असंभव है, और दूसरे, 'काव्य-निबद्ध पात्रों के शील-वैचित्र्य की प्रतीति' भी काव्यास्वाद-प्रक्रिया का ही अंग है—स्वयं काव्यास्वाद नहीं।

समग्रतः, जैसा कि प्रारंभ में ही निवेदन किया जा चुका है, शुक्लजी का काव्यास्वाद-विवेचन हिन्दी-काव्यशास्त्र के इतिहास में अनेक दृष्टियों से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि उनकी लगभग सभी एतद्विषयक निष्पत्तियाँ असंगत और अमान्य सिद्ध हो चुकी हैं, तथापि मौलिक प्रतिभा, प्रबल एवं आग्रही प्रतिपादन-शैली तथा विवेचन की गंभीर तार्किक प्रणाली द्वारा परवर्ती आलोचकों के विचारोत्तेजन का श्रेय वर्तमान युग में शुक्लजी को ही दिया जाता है।

(ग) शुक्लयुगीन अन्य समीक्षकों द्वारा काव्यास्वाद-विवेचन

शुक्ल-युग के अन्य समीक्षकों में पं० केशवप्रसाद मिश्र, आचार्य श्यामसुन्दर दास, पं० रामदहिन मिश्र एवं पं० बलदेव उपाध्याय के अतिरिक्त छायावादी कवि-चतुष्टय—श्री जयशंकर-प्रसाद, पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', पं० सुमित्रानन्दन पंत एवं श्रीमती महादेवी वर्मा के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

पंडित केशवप्रसाद मिश्र

पंडित केशवप्रसाद मिश्र ने पातंजल सूत्रों से संकेत ग्रहण कर 'मधुमती-भूमिका' की प्रकल्पना द्वारा काव्यास्वाद के स्वरूप-विश्लेषण का प्रयास किया है। उनके एतद्विषयक विचार उनके अनूदित ग्रंथ 'मेघदूत' की भूमिका में व्यक्त हुए थे, अब यह ग्रंथ अनुपलब्ध है। अतः डॉ० श्यामसुन्दरदास ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'साहित्यालोचन' के बाद के संस्करणों में पं० केशवप्रसाद मिश्र के जिन उद्धरणों का समावेश किया है, विवेचन के लिए हमें भी उन्हीं का आधार ग्रहण करना होगा।

पंडित केशवप्रसाद मिश्र के अनुसार काव्यास्वाद की स्थिति में प्रमाता की मनःस्थिति 'मधुमती-भूमिका' में अवस्थित हो जाती है। 'मधुमती-भूमिका' उन्हीं के शब्दों में '. . .चित्त की वह विशेष अवस्था है जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती।'[1] वितर्क की परिभाषा मिश्र जी ने इस प्रकार दी है: 'शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों की पृथक् प्रतीति वितर्क है।'[2] वितर्क-रहित चित्त की स्थिति को 'परप्रत्यक्ष' तथा 'निर्वितर्क समापत्ति' का भी अभिधान देते हुए उन्होंने

---

१. साहित्यालोचन (डॉ० श्यामसुन्दरदास), पन्द्रहवीं आवृत्ति, पृष्ठ २१२ पर उद्धृत पं० केशवप्रसाद मिश्र का मत।

२. वही।

उसकी व्याख्या इस प्रकार की है : '...'यह मेरा पुत्र है' इस वाक्य से पुत्र, पुत्र के साथ पिता का जन्य-जनक-सम्बन्ध और जनक होने के नाते संबंधी पिता इन तीनों की पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है। इस पार्थक्यानुभव को अपर प्रत्यक्ष भी कहते हैं। जिस अवस्था में संबंध और संबंधी विलीन हो जाते हैं; केवल वस्तु मात्र का आभास मिलता रहता है उसे परप्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं।'[1] चित्त की इस स्थिति में मिश्रजी सात्त्विक वृत्ति के प्राधान्य को कारण-स्वरूप मानते हैं: 'चित्त की यह समापत्ति सात्त्विक वृत्ति की प्रधानता का परिणाम है।'[2] इस प्रकार पं० केशवप्रसाद मिश्र के अनुसार काव्यास्वाद की स्थिति में प्रमाता की चेतना सत्त्व के उद्रेक के फलस्वरूप 'संबंध-सम्बन्धी' की सांसारिक प्रतीति के 'वितर्क' से रहित एक ऐसी मधुमती भूमिका में अवस्थित हो जाती है जिसमें वैयक्तिक संबंधों के 'पार्थक्यानुभव' के स्थान पर 'वस्तु मात्र' की ही प्रतीति शेष रह जाती है।

काव्यास्वाद-स्वरूप के निर्वचन के उपरान्त मिश्रजी उसकी प्रकृति का प्रतिपादन करते हैं : 'रजोगुण की प्रबलता भेद-बुद्धि और तत्फल दुःख का तथा तमोगुण की प्रबलता अबुद्धि और तत्फल मूढ़ता का कारण है। जिसके दुःख और मोह दोनों दबे रहते हैं, सहायकों से शह पाकर उभरने नहीं पाते उसे भेद में भी अभेद और दुःख में भी सुख की अनुभूति हुआ करती है।'[3] इस उद्धरण से दो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं : (क) काव्यास्वाद एक अखंड चेतना है, तथा (ख) काव्यास्वाद अनिवार्यतः आनन्दमयी अनुभूति है, इसमें लौकिक दुःखानुभव भी सुख में परिणत हो जाते हैं।

काव्यास्वाद के स्वरूप और उसकी प्रकृति के विश्लेषण के उपरान्त पं० केशवप्रसाद मिश्र ने उसकी प्रक्रिया का निर्देश भी किया है। उनके अनुसार सृजन की स्थिति में कवि के आनन्द को काव्यानुभावन की प्रक्रिया द्वारा प्रमाता काव्यास्वाद के रूप में अनुभूत करता है : 'मधुमती भूमिका में पहुँचा कवि का मन जब उल्लसित होकर नवीन सृष्टि का आरंभ करता है और अपनी ही सृष्टि की सुन्दरता पर मुग्ध होकर रीझता है उस समय उसकी समस्त वृत्तियाँ एकतान एकलय हो जाती हैं। इसीलिए उसकी रचना भावों का संगीत है।...कवि के समान हृदयालु सहृदय (आजकल का समीक्षक, समालोचक या क्रिटिक)[4] भी जब उसी भूमिका का स्पर्श करता है, तब उसकी भी वृत्तियाँ उसी प्रकार एकतान, एकलय हो जाती हैं, (जिसके लिये पारिभाषिक शब्द साधारणीकरण है)[5] और उसे भी वही संगीत सुनाई पड़ने लगता है—उसी आनन्द की झलक मिलती है।'[6] मिश्रजी अत्यन्त स्पष्ट रूप से कवि को इस आनन्दमय काव्यास्वाद का निर्माता तथा सहृदय को उपभोक्ता मानते हैं : 'कवि और सहृदय दोनों साधारण होते हुए भी भिन्न हैं। एक की प्रतिभा उत्पादक और दूसरे की ग्राहक होती है।'[7] इस प्रकार काव्यास्वाद की प्रक्रिया, मिश्रजी के अनुसार, काव्य-निबद्ध वस्तु का साधारणीकरण है, जिसमें '...पुत्र प्रत्येक सहृदय के

---

१. वही, पृष्ठ २१२ पर उद्धृत पं० केशवप्रसाद मिश्र का मत।
२. वही।
३. वही।
४-५. कोष्ठक-निबद्ध शब्द भी पं० केशवप्रसाद मिश्र के ही हैं।
६. साहित्यालोचन, १५ वीं आवृत्ति, पृष्ठ २१७-१८।
७. वही।

वात्सल्य का आलंबन हो सकता है।'[1] काव्यास्वाद-प्रक्रिया के विश्लेषण में मिश्रजी ने अभिनवगुप्त की साधारणीकरण-विषयक मान्यताओं का अपने ढंग से उल्लेख और समर्थन किया है : 'जब तक सांसारिक वस्तुओं का हमें अपर प्रत्यक्ष होता रहता है, तब तक शोचनीय वस्तु के प्रति हमारे मन में दुःखात्मक शोक अथवा अभिनन्दनीय वस्तु के प्रति सुखात्मक हर्ष उत्पन्न होता है। परन्तु जिस समय हमको वस्तुओं का परप्रत्यक्ष होता है उस समय शोचनीय अथवा अभिनन्दनीय सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे केवल सुखात्मक भावों का आलम्बन बनकर उपस्थित होती हैं। उस समय दुःखात्मक क्रोध, शोक आदि भाव भी अपनी लौकिक दुःखात्मकता छोड़कर अलौकिक सुखात्मकता धारण कर लेते हैं। अभिनवगुप्तपादाचार्य का साधारणीकरण भी यही वस्तु है, और कुछ नहीं।'[2] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साधारणीकरण-मत का खंडन करते हुए मिश्रजी कहते हैं '...उक्त विद्वान्[3] पहले प्रकार के[4] समर्थक हैं, किन्तु हम आचार्य अभिनवगुप्त का मत मानते हैं। साधारणीकरण तो कवि अथवा भावक की चित्तवृत्ति से सम्बन्ध रखता है। चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।'[5] इसी विचार को मिश्रजी ने एक अन्य स्थल पर इस प्रकार व्यक्त किया है : 'कवि' के समान हृदयालु वही सहृदय इसका[6] स्वाद भी पा सकता है जिसका हृदय एक एक कण के साथ बंधुत्व के बंधन से बँधा है।'[7]

काव्यास्वाद की प्रक्रिया के विवेचन-क्रम में पं० केशवप्रसाद मिश्र एक अन्य स्थापना भी करते हैं। उनके अनसार प्रमाता के मन में काव्यास्वाद की उद्भूति चित् के आवरण-भंग द्वारा ही होती है : '...इस एकविषयावगाहिनी निरोधावस्था से चित् (=ज्ञान)[8] का आवरण-भंग होता है; अर्थात् मन जब विक्षिप्त होकर इधर-उधर अनेक विषयों पर दौड़ता है उस समय अपनी इस विक्षेप-क्रिया से वह नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव चित्त पर एक प्रकार का पर्दा-सा डालता रहता है, पर जहाँ उसकी यह विक्षेपावस्था निरोधावस्था में बदली कि उसका आवरण डालना बन्द हो जाता है और चित् निरावरण होकर चमकने लगता है।...आत्मा के इसी स्वरूप को रस कहते हैं।'[9] इस प्रकार मिश्रजी की दृष्टि में काव्यास्वाद एक प्रकार का आत्मास्वाद है जिसकी प्रतीति प्रमाता को विषयाकृष्ट चित् के आवरण-भंग से होती है।

समीक्षा

काव्यास्वाद के प्रसंग में पं० केशवप्रसाद मिश्र की 'मधुमती भूमिका'-विषयक उद्भावना

---

१. वही, पृष्ठ २१२।
२. साहित्यालोचन, पन्द्रहवीं आवृत्ति, पृष्ठ २१३।
३. 'उक्त विद्वान्'=पं० रामचन्द्र शुक्ल।
४. भट्टनायक का 'भुक्तिवाद'।
५. साहित्यालोचन, पन्द्रहवीं आवृत्ति, पृष्ठ २१९।
६. 'इसका' काव्य का, अर्थात् काव्यास्वाद।
७. साहित्यालोचन, पन्द्रहवीं आवृत्ति, पृष्ठ २१५।
८. कोष्ठकबद्ध शब्द भी पं० केशवप्रसाद मिश्र के ही हैं।
९. साहित्यालोचन, पन्द्रहवीं आवृत्ति, पृष्ठ २१७-१८।

तथा उसके साधारणीकरण-विवेचन को हिन्दी आलोचकों द्वारा पर्याप्त समादर मिला। प्रसिद्ध रसवादी समीक्षक डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में 'पं० केशवप्रसाद मिश्र का विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म एवं तात्त्विक है।'[1]

मिश्रजी ने पातंजल योग में उल्लिखित 'मधुभूमिक' से संकेत ग्रहण कर 'मधुमती भूमिका' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। इसमें संदेह नहीं कि व्याख्यान-विवेचन एवं विश्लेपण की उनकी शैली अत्यन्त सूक्ष्म एवं विचार प्रस्तुति नितान्त मौलिक है, किन्तु उनकी लगभग सभी मान्यताएँ संस्कृत-काव्यशास्त्र के रसवादियों द्वारा निरूपित काव्यास्वाद के स्वरूप[2] के पारिवेशिक वृत्त की सीमा-परिधि का अतिक्रमण नहीं कर पाई हैं। 'पर प्रत्यक्ष', 'निर्वितर्क समापत्ति' अथवा 'मधुमती भूमिका' की उनकी प्रकल्पना मम्मट द्वारा प्रतिपादित 'अपरिमित प्रमातृभाव',[3] भट्ट-नायक की 'निविडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा'[4] एवं 'निजसंविद्विश्रान्ति'[5] विषयक प्रकल्पना तथा अभिनवगुप्त की 'निर्विघ्न संवित्-विश्रान्ति'[6]-विषयक अवधारणा से तत्त्वतः भिन्न नहीं है। जिस 'निर्वितर्क समापत्ति' की स्थिति में मिश्रजी ने प्रमाता के मन में स्थित 'संबंध एवं संबंधी-भाव' के तिरोभाव का उल्लेख किया है, वह अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित रसानुभूति के सात विघ्नों में से द्वितीय 'स्वगत परगतत्त्वनियमेन देशकालविशेषावेशः'[7] से भिन्न नहीं है। इसी प्रकार काव्यास्वाद की इस 'निर्वितर्क समापत्ति' की स्थिति में 'सात्त्विक वृत्ति की प्रधानता' स्वीकार करने से सम्बद्ध मिश्रजी की मान्यता भी संस्कृत के रसशास्त्र में निरूपित 'सत्त्वोद्रेक'[8] से स्पष्टतः प्रभावित है। 'मधुमती भूमिका' में 'भेद में अभेद और दुःख में भी सुख की अनुभूति'-सम्बन्धी अवधारणा रसशास्त्र में निरूपित क्रमशः 'अखण्ड'[9] काव्यानुभूति एवं 'आनन्दवाद'[10] का ही रूपान्तर है। मिश्रजी का साधारणीकरण-विवेचन तो स्वयं उन्हीं के अनुसार अभिनवगुप्त पर आधारित है।[11] काव्यास्वाद की प्रक्रिया के अन्तर्गत उनके द्वारा निरूपित प्रमाता के 'शुद्ध-बुद्ध-मुक्त' 'चित् के आवरण भंग होने' का सिद्धान्त पंडितराज जगन्नाथ की प्रसिद्ध उक्ति 'चर्वणा चास्य

---

१. डॉ० नगेन्द्र : रस-सिद्धान्त, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २०४।
२. देखिए, प्रस्तुत प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय का 'रसवादियों की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप' शीर्षक (क) प्रकरण।
३. हिन्दी काव्यप्रकाश, व्या० आचार्य विश्वेश्वर, चतुर्थ उल्लास, पृष्ठ १०८।
४. हिन्दी अभिनवभारती, (सं० डॉ० नगेन्द्र), पृष्ठ ४६४-६५ पर अभिनवगुप्त द्वारा उद्धृत भट्टनायक का मत।
५. वही, पृष्ठ ४६५।
६. देखिए प्रस्तुत प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय के (क) प्रकरण में अभिनवगुप्त के मत का विवेचन।
७. हि० अभिनव भारती, (सं० डॉ० नगेन्द्र), षष्ट अध्याय, पृष्ठ ४७४।
८-९. सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
—विश्वनाथ : साहित्यदर्पण; ३।२।
१०. देखिए, प्रस्तुत प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय का (क) प्रकरण।
११. साहित्यालोचन, १५ वीं आवृत्ति, पृष्ठ २१९।

चिद्गतावरणभंग एव प्रागुक्ता . . .'[१] का हिन्दी अनुवाद मात्र है। इसी प्रकार मिश्रजी का यह कथन कि '. . .वही सहृदय इसका स्वाद भी पा सकता है जिसका हृदय एक एक कण के साथ बंधुत्व के बन्धन से बँधा है'[२] शुक्लजी द्वारा निरूपित 'लोकहृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस है' की ही भाँति शैले, काण्ट तथा हीगेल[३] से अप्रत्यक्षतः प्रभावित है।

मिश्रजी द्वारा 'मधुमती भूमिका' में कवि की 'उल्लसित अनुभूति' तथा प्रमाता के काव्यास्वाद के बीच सम्बन्धसूत्र की स्थापना यद्यपि अभिनवगुप्त की प्रसिद्ध उक्ति 'कविर्हि सामाजिकतुल्य एव' तथा भट्टतोत के अमर वाक्य 'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः' से स्पष्टतः प्रेरित है, तथापि काव्यास्वाद के आनन्द को कवि द्वारा अनुभूयमान सृजन-स्थिति के आनन्द का प्रतिफल घोषित कर उन्होंने आधुनिक हिन्दी-काव्यशास्त्र में काव्यास्वाद-विषयक विवेचन को एक महत्त्वपूर्ण दिशा में विकसित करने का योगदान अवश्य ही किया है। 'मधुमती-भूमिका'-विषयक उद्भावना तथा काव्यास्वाद के स्वरूप एवं उसकी प्रक्रिया के विवेचन-व्याख्यान की मौलिकता के कारण प० केवशप्रसाद का कृतित्व प्रशंसनीय है।

आचार्य श्यामसुन्दरदास

आचार्य श्यामसुन्दरदास की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताएँ पूर्णतः संस्कृत-काव्यशास्त्र पर ही आधृत हैं, उनकी विवेचन-पद्धति संस्कृत से अत्यधिक प्रभावित है, कहीं-कहीं तो विवेचन की शब्दावली भी संस्कृत का रूपान्तर मात्र ही प्रतीत होती है। डॉ० श्यामसुन्दरदास का काव्यास्वाद-निरूपण उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्यालोचन' में उपलब्ध है। उक्त ग्रंथ के बाद के संस्करणों में लेखक ने पर्याप्त परिवर्तन-संशोधन कर दिया था। अतएव उनके काव्यास्वाद-विवेचन के अनुशीलन के लिए हम उक्त ग्रंथ के दो भिन्न संस्करणों का सम्मिलित आधार ग्रहण कर रहे हैं : (१) दूसरी आवृत्ति : सं० १९८४ वि०, (२) अन्तिम, १५वीं आवृत्ति : सन् १९६५ ई०।

काव्यास्वाद का स्वरूप

आचार्य श्यामसुन्दरदास ने संस्कृत-काव्यशास्त्र के रस-सिद्धान्त के परिवेश में ही काव्यास्वाद के स्वरूप का विश्लेषण किया है। रस को काव्य की आत्मा घोषित करते हुए उन्होंने विश्वनाथ की भाँति रसात्मक वाक्य को ही काव्य माना है : 'रस ही काव्य की आत्मा है. . .। काव्य और कुछ नहीं, रसात्मक वाक्य ही है।'[४] काव्यास्वाद के स्वरूप के सम्बंध में आचार्य दास के निम्नांकित

---

१. रसगंगाधर, चौखम्बा विद्याभवन, सन् १९५५ ई०, प्रथम आनन, पृष्ठ ८८।
२. साहित्यालोचन, १५ वीं आवृत्ति, पृष्ठ २१५।
३. देखिए—(क) इस प्रबन्ध का तृतीय अध्याय : 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्र में काव्यास्वाद का स्वरूप।'
(ख) इस प्रबन्ध के इसी अध्याय (षष्ठ) का (ख) प्रकरण।
४. श्यामसुन्दरदास : साहित्यालोचन', १५वीं आवृत्ति, पृष्ठ ७०,

द्धरण महत्त्वपूर्ण हैं :

(१) (क) '...मोटे तौर पर हम यह कह सकते हैं कि जिस वाक्य, पद्य या उक्ति को सुनकर चित्त चमत्कृत हो उठे—जिसमें कुछ अनोखापन हो—वही काव्य है।'[1]

(ख) 'काव्य वह वाक्य य वाक्य-समुदाय है, जिससे चित्त किसी रस या प्रबल मनोवेग से चमत्कृत हो जाता है।'[2]

(२) (क) 'संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि रस ...लोकोत्तर आनन्द का नाम है...।'[3]

(ख) '...साहित्य के रस का आनन्द अलौकिक है और वह ब्रह्मानन्द-सहोदर है। ...साहित्य का रस लौकिक नहीं है। हमारी लौकिक इच्छाएँ साहित्य में भावना के रूप धारण करके परिष्कृत हो जाती हैं। जब किसी ग्रंथ में हम लौकिक घटनाओं का वर्णन पढ़ते हैं तब वे हमारे स्मृति-पटल पर अपना भावना-चिह्न अंकित करती हैं। उनका आस्वाद हमारे लौकिक आस्वाद से भिन्न होता है।'[4]

(ग) '...लौकिक और भौतिक भावों के अलौकिक और काव्यमय स्वरूप को रस कहते हैं।'[5]

(३) (क) 'वह आनन्द (काव्यास्वाद का आनन्द)[6] ब्रह्मानन्दसहोदर कहलाता है। ब्रह्मानन्द और काव्यानन्द (रस)[7] में इतना ही भेद है कि ब्रह्मानन्द तो सांसारिक विषयों से विरत होने पर होता है और नित्य है, परन्तु विषयों से उद्भूत होता है और थोड़े ही समय तक रहता है।'[8]

(ख) '...आत्मानन्द के प्रकाश में स्थायी भाव की जो रस-रूप आनन्दानुभूति होती है...उसे ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा जाता है। यद्यपि रस का आनन्द विषय-जन्य है तथापि विषयानन्द से उसका कोई सम्बन्ध नहीं, इसीलिए उसे ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा जाता है।'[9]

(४) (क) 'भाव के अनुभव और रसास्वादन में भेद है। अनुभव में भाव की सुख-दुःख-पूर्ण प्रकृति के अनुसार अनुभवकर्ता को भी सुख-दुःख होता है, परन्तु उसका आस्वादन इनसे रहित है।'[10]

(ख) '...काव्य तथा अभिनय-व्यापार में यही विशेषता है कि उससे आह्लाद तो होता है, परन्तु दुःख नहीं होता।'[11]

१-२. डॉ० श्यामसुन्दरदास, साहित्यालोचन, दूसरी आवृत्ति, सं० १९८४ वि०, पृष्ठ १९।
३. वही, पृष्ठ २७०।
४. वही, १५ वीं आवृत्ति, पृष्ठ २७।
५. वही, पृष्ठ २०१।
६. कोष्ठकबद्ध शब्द हमारे हैं।
७. कोष्ठकबद्ध शब्द भी लेखक (डॉ० श्यामसुन्दर दास) के ही हैं।
८. साहित्यालोचन, १५ वीं आवृत्ति, पृष्ठ २१०।
९. वही, पृष्ठ २११।
१०. वही, पृष्ठ २१२।
११. साहित्यालोचन, द्वितीय आवृत्ति, पृष्ठ २७१।

(५) 'रस तो सदा भेद-रहित और एक-रस है।'[१]

उपर्युक्त उद्धरणों के विश्लेषण द्वारा निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं :

आचार्य श्यामसुन्दरदास के अनुसार—

१. काव्यास्वाद (रसानुभूति) काव्यानुभावन से निष्पन्न प्रमाता के चित्त का चमत्कार है।
२. काव्यास्वाद एक अलौकिक आनन्द है। काव्य-निबद्ध लौकिक विषय परिष्कृत रूप धारण कर प्रमाता की चेतना में जिस आनन्दपूर्ण काव्यास्वाद की निष्पत्ति करते हैं, वह अलौकिक ही होता है।
३. काव्यास्वाद का आनन्द ब्रह्मानन्द-सहोदर है। सांसारिक विषयों से उद्भूत एवं अस्थायी होने के कारण यह आनन्द सांसारिक विषयों से विरत स्वयं ब्रह्मानन्द तो नहीं है, किन्तु ब्रह्मानन्द के समान सूक्ष्म-परिष्कृत अवश्य है।
४. काव्यास्वाद अनिवार्यतः आनन्दमयी अनुभूति है।

काव्यास्वाद की प्रक्रिया

काव्यास्वाद की प्रक्रिया के व्याख्यान-विश्लेषण के लिए भी आचार्य श्यामसुन्दरदास ने संस्कृत-रसशास्त्र एवं पं० केवशप्रसाद मिश्र द्वारा उद्भावित 'मधुमती भूमिका' का आश्रय लिया है। विषय से सम्बद्ध उनके आवश्यक उद्धरण इस प्रकार हैं :

(१) '...कवि और काव्यलोलुप के हृदयगत भावों का तादात्म्य होने से ही कविता से यथेष्ठ आनन्द की प्राप्ति हो सकती है।'[२]

(२) (क) '...रस उस लोकोत्तर आनन्द का नाम है जो काव्य या अभिनय-व्यापार द्वारा उद्बुद्ध और अन्य सहायक भावों द्वारा अभिव्यक्त होता है।'[३]

(ख) ...रस की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव, संचारी भावों के संयोग से होती है।'[४]

(ग) ...विशेष भावों के उद्दीप्त और उद्बुद्ध होने पर रसों की निष्पत्ति होती है। अर्थात् इन लौकिक और भौतिक भावों के अलौकिक और काव्यमय स्वरूप को रस कहते हैं।'[५]

(घ) 'स्थायी भाव जब विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के योग से आस्वादन करने योग्य हो जाता है तब सहृदय प्रेक्षक के हृदय में रस-रूप से उसका आस्वादन होता है।'[६]

(३) (क) 'भोग के द्वारा रजस् और तमस् गुण निवृत्त होकर सत्त्व गुण की वृद्धि होती है। जिससे आनन्द का प्रकाश होता है।'[७]

---

१. वही, १५ वीं आवृत्ति, पृष्ठ २७१।
२. वही, द्वितीय आवृत्ति, पृष्ठ २७।
३. वही, द्वितीय आवृत्ति, पृष्ठ २७०।
४. वही, १४ वीं आवृत्ति, पृष्ठ ७०।
५. वही, पृष्ठ २०१।
६. वही, पृष्ठ २१२।
७. वही, पृष्ठ २१०।

(ख) 'यही आनन्द रस है, जिसका भोग करते हुए मनुष्य थोड़ी देर के लिए सांसारिक बन्धनों से निर्मुक्त होकर सार्वभौम चैतन्य जगत् में प्रवेश पा जाता है।'[1]

(ग) 'रस का आस्वादन करते हुए मनुष्य अपने आप को भूल जाता है। वह अपने आपको अलग व्यक्ति-विशेष नहीं समझता वरन् मनुष्य मात्र होकर उसका अनुभव करता है।'[2]

(घ) '...जो रस-रूप आनन्दानुभूति होती है...सब वैयक्तिक सम्बन्धों से मुक्त होकर निर्विशेष रूप से प्रेक्षक को उसकी अनुभूति मिलती है।'[3]

(४) '...सहृदयों की चित्तवृत्ति काव्य या अभिनय-व्यापार से अज्ञान-रूपी आवरण के नष्ट होने पर आनन्दमय आत्म-चैतन्य से प्रकाशित होकर आनन्दित हो जाती है।'[4]

आचार्य श्यामसुन्दरदास के उपर्युक्त उद्धरणों के विश्लेषण द्वारा ये निष्कर्ष उपलब्ध होते हैं :

१. कवि एवं प्रमाता के हृदयगत भावों के तादात्म्य से ही काव्यास्वाद की उद्भूति होती है।
२. काव्यास्वाद प्रमाता की चेतना में अभिनय-व्यापार द्वारा उद्‌बुद्ध तथा भावों द्वारा अभिव्यक्त होता है।
३. काव्यानन्द की अनुभूति सहृदय के चित्त में विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से होती है।
४. काव्यास्वाद के क्षणों में प्रमाता के हृदय में रजस् एवं तमस् का नाश तथा सत्त्व का उद्रेक होता है।
५. प्रमाता आत्मविस्मृत एवं वैयक्तिक संबंधों की भावना से मुक्त होकर निर्विशेष (साधारणीकृत) रूप में ही काव्यास्वाद की अनुभूति कर सकता है। ऐसी स्थिति में उसकी चेतना सार्वभौमिक 'चैतन्य' जगत् में प्रवेश कर जाती है।
६. काव्यानुभावन द्वारा अज्ञानावरण के भंग होने से प्रमाता की चित्तवृत्ति 'आत्मचैतन्य' से प्रकाशित होकर आनन्दरूप काव्यास्वाद का अनुभव करने लगती है।

समीक्षा

काव्यास्वाद के स्वरूप और उसकी प्रक्रिया से सम्बद्ध आचार्य श्यामसुन्दरदास की उपर्युक्त प्रायः सभी मान्यताएँ नितान्त अमौलिक हैं। मौलिक अथवा स्वतंत्र काव्यशास्त्रीय विवेचन कदाचित् उनका ध्येय भी नहीं था। उनके अपने शब्दों में '...इस ग्रंथ की समस्त सामग्री मैंने दूसरों से प्राप्त की है ...ग्रंथ की भाषा और विषय के प्रतिपादन करने का ढंग मेरा है, परन्तु विचारों के संग्रह में मैंने बिना किसी संकोच के अनेक ग्रंथों से अमूल्य सहायता ली है।'[5]

---

१. वही, पृष्ठ २१०।
२. वही, पृष्ठ २११।
३. वही, १५ वीं आवृत्ति, पृष्ठ २११।
४. वही, द्वितीय आवृत्ति, पृष्ठ २७०।
५. वही, भूमिका, पृष्ठ ७।

पहले श्यामसुन्दरदास जी की काव्यास्वाद-स्वरूप-विषयक मान्यताओं पर विचार करना उचित होगा। काव्यास्वाद को प्रमाता के चित्त का चमत्कार एवं अलौकिक आनन्द घोषित करने में डॉ० दास ने वस्तुतः संस्कृत के प्रसिद्ध संग्रहकर्त्ता आचार्य विश्वनाथ द्वारा निरूपित रस-स्वरूप 'लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः'[1] का रूपान्तर मात्र कर दिया है। काव्यानन्द को ब्रह्मास्वादसहोदर कहने में भी विश्वनाथ के रस-सूत्र का आधार ही उन्होंने ग्रहण किया है।[2] इसी प्रकार काव्यास्वाद की एकान्त आनन्दात्मकता-विषयक श्यामसुन्दरदास जी की मान्यता तो संस्कृत-रसशास्त्र की मूल अवधारणा ही है।[3]

काव्यास्वाद की प्रक्रिया के विश्लेषण में डॉ० दास ने भरत, भट्टनायक, भट्टतोत, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ, रामचन्द्र शुक्ल तथा पं० केशवप्रसाद मिश्र से सामग्री का चयन किया है। श्यामसुन्दरदास जी ने काव्यास्वाद की स्थिति में कवि एवं प्रमाता के जिस हृदयगत भाव-तादात्म्य की चर्चा की है, शुक्लजी ने 'कवि के अव्यक्त भाव के तादात्म्य' के निरूपण द्वारा वस्तुतः उसी का उल्लेख किया था। संस्कृत की प्रसिद्ध उक्तियों 'कविर्हि सामाजिक तुल्य एव' (अभिनवगुप्त) तथा 'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः' (भट्टतोत) में प्रकारान्तर से इसी तथ्य का निर्वचन किया गया है। श्यामसुन्दरदासजी का कथन कि 'विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों के संयोग से ही प्रमाता के चित्त में काव्यास्वाद की निष्पत्ति होती है', तो स्पष्टतः ही भरत के प्रसिद्ध रस-सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' का अनुवाद मात्र ही है। काव्यास्वाद की स्थिति में 'सत्त्व की वृद्धि' सम्बन्धी उल्लेख विश्वनाथ की रस-परिभाषा[4] से यथावत् ग्रहण किया गया है। डॉ० दास द्वारा उल्लिखित काव्यास्वाद के क्षणों में प्रमाता के आत्मविस्मरण तथा वैयक्तिक सम्बन्धों की भावना से मुक्त होकर 'निर्विशेष' रूप में उसके द्वारा काव्यास्वाद के अनुभूत करने के सिद्धान्त को शुक्लजी 'रसात्मक अनुभूति के दो लक्षणों'[5] तथा पं० केशवप्रसाद मिश्र 'मधुमती भूमिका'[6] द्वारा पहले ही स्थापित कर चुके थे। मम्मट के 'अपरिमितप्रमातृभाव'[7] अभिनवगुप्त की साधारणीकरण-प्रकल्पना, पंडितराज जगन्नाथ की उक्ति

---

१. साहित्यदर्पण, ३।३।

२. 'वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः', वही ३।२।

३. देखिए—प्रस्तुत प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय का 'रसवादियों की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप' शीर्षक (क) प्रकरण।

४. 'सत्त्वोद्रेकादखण्ड...', साहित्यदर्पण; ३।२।

५. '...रसात्मक अनुभूति के दो लक्षण ठहराए गए हैं :
(१) अनुभूति-काल में अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध की भावना का परिहार और
(२) किसी भाव के आलम्बन का सहृदय मात्र के साथ साधारणीकरण अर्थात् उस आलम्बन के प्रति सारे सहृदयों के हृदय में उसी भाव का उदय।'
—रस मीमांसा, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २७०।

६. देखिए—प्रस्तुत प्रबन्ध के इसी (षष्ठ) अध्याय में पं० केशवप्रसाद मिश्र के अभिमत का विवेचन।

[illegible] १०८।

'सकलसहृदयप्रत्यक्ष'[1] तथा उन्हीं के द्वारा प्रतिपादित 'तन्मयीभाव'[2] में भी काव्यास्वाद-प्रक्रिया के इसी पक्ष पर प्रकाश डाला गया है। 'प्रमाता की चेतना के सार्वभौमिक जगत्‌ में 'प्रवेश करने' की डॉ० दास की मान्यता पर शैले,[3] काण्ट[4] तथा हीगेल[5] आदि पाश्चात्य चिन्तकों का अप्रत्यक्ष प्रभाव है। इसके अतिरिक्त डॉ० दास की यह मान्यता कि 'सहृदयों की चित्तवृत्ति काव्य . . . से अज्ञानरूपी आवरण के नष्ट होने पर आनन्दमय आत्म-चैतन्य से प्रकाशित होकर आनन्दित हो जाती है' जगन्नाथ की प्रसिद्ध उक्ति 'चर्वणा चास्य चिद्‌गतावरणभंग एव प्रागुक्ता'[6] से स्पष्टतः प्रभावित है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य श्यामसुन्दरदास का काव्यास्वाद-निरूपण पूर्णतः संस्कृत-काव्यशास्त्र पर आधारित होने के कारण सर्वथा अमौलिक है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अपने प्रसिद्ध संग्रह-ग्रंथ 'साहित्यालोचन' द्वारा परवर्ती विवेचकों के लिए संस्कृत-काव्यशास्त्र में उपलब्ध काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं को सुलभ करने का महत्त्वपूर्ण कार्य उन्होंने अवश्य ही किया है।

पं० रामदहिन मिश्र

पं० रामदहिन मिश्र की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताएँ 'काव्यालोक' एवं 'काव्य-दर्पण' में व्यक्त हुई हैं। मिश्रजी ने पं० रामचन्द्र शुक्ल की प्रत्यक्ष लौकिकानुभूति एवं रसानुभूति को अभिन्न मानने वाली अवधारणा तथा काव्यास्वाद के कोटिक्रम-विषयक उनके मत को खंडित करते हुए मुख्यतया मम्मट, विश्वनाथ एवं जगन्नाथ के आधार पर काव्यास्वाद का शुद्ध शास्त्रीय एवं परम्पराभुक्त रूप प्रस्तुत किया। आचार्य श्यामसुन्दरदास ने भी शुक्लजी के साधारणीकरण-विषयक मत का खंडन कर संस्कृत-रसशास्त्रीय परम्परा की पुनःप्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया था, किन्तु उनके विवेचन में न तो शास्त्रीय परम्परा के प्रति आस्था के दर्शन होते हैं और न किसी मौलिक पुनराख्यान के। पं० रामदहिन मिश्र में शास्त्रीय निष्ठा के साथ ही प्रबल तार्किक बुद्धि के दर्शन भी होते हैं।

काव्यास्वाद का स्वरूप

पं० रामदहिन मिश्र ने भी रामचन्द्र शुक्ल, केशवप्रसाद मिश्र एवं श्यामसुन्दरदास की भाँति ही रस के अन्तर्गत ही काव्यास्वाद के स्वरूप और उसकी प्रक्रिया का विश्लेषण किया है : '. . .हमें जो काव्यानंद उपलब्ध होता है वही तो रस है।'[7] मिश्रजी रस को ही काव्य की आत्मा का उच्च पद प्रदान करते हैं, अलंकार अथवा रीति उनकी दृष्टि में गौण ही है : 'यह आनन्द बाह्याडम्बर से प्राप्त नहीं हो सकता। अलंकार वा विशिष्ट पद-रचना काव्य की आत्मा नहीं हो सकती। काव्यात्मा तो बस अर्थ का उत्कर्ष ही है जो रस के समावेश से ही सिद्ध हो सकता है।'[8]

---

१. रसगंगाधर, (चौखम्बा विद्याभवन), प्रथम आनन, पृष्ठ ८०।
२. वही, पृष्ठ ८८।
३, ४, ५. देखिए, प्रस्तुत प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में शैले, काण्ट तथा हीगेल का काव्यास्वाद-विवेचन
६. रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृष्ठ ८८।
७. पं० रामदहिन मिश्र : काव्यालोक (द्वितीय उद्योत), द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २३५।
८. वही, पृष्ठ ३८।

एक अन्य स्थान पर उन्होंने इसी विचार को एक दूसरे रूप में प्रस्तुत किया है : 'केवल शब्दाडम्बर से किसी की कोई रचना कविता नहीं कही जा सकती। इसके लिए उसमें हृदयस्पर्शी चमत्कार होना चाहिए। वह चमत्कार रस है, शब्द अर्थ कविता के शरीर हैं और रस प्राण।'[1] इसी प्रकार रस की महत्ता को एक अन्य स्थल पर उन्होंने इस रूप में स्वीकार किया है: 'रसास्वादन ही काव्याध्ययन का परम ध्येय है। वाग्वैदग्ध्य की—वाक्चातुरी की—अभिव्यंजना-कौशल की—प्रधानता रहने पर भी रस ही काव्य का जीवन है।'[2] अतः मिश्रजी के काव्यास्वाद-संबंधी मत का सन्धान उनके रस-विवेचन के परिवेश में ही करना होगा।

मिश्र जी का रस-लक्षण संस्कृत-काव्यशास्त्रीय परम्परा के अनुरूप ही है: '..रसों की प्रतीति में तत्तद्रसानुकूल विभाव, अनुभाव, तथा संचारी कारण होते हैं। इनसे जब स्थायी भाव परिपुष्ट होते हैं तब रसों की अनुभूति होती है। समझना चाहिए कि इन सबों की संश्लिष्टात्मक अखंडता ही रस है।'[3] रस को मिश्रजी व्यंग्य मानते हैं: 'रस जब प्रतीत होता है तब व्यंग्य के रूप में ही।'[4] मिश्र जी की उक्त मान्यताओं पर मम्मट का स्पष्ट प्रभाव है।[5]

मिश्रजी ने काव्यास्वाद की उन्हीं स्वरूपगत विशेषताओं का निरूपण किया है जो संस्कृत-रसशास्त्र में—विशेषतः मम्मट, विश्वनाथ एवं जगन्नाथ द्वारा—प्रतिपादित की गई है। उनके अनुसार काव्यास्वाद चित्त का चमत्कार है: 'चमत्कार ही रस का प्राण है। चमत्कार का अर्थ है चित्त का विस्तार वा विस्फार।'[6] चमत्कार-रूप यह काव्यास्वाद एक अलौकिक अनुभूति है: 'यह आनन्द साधारण आनन्द नहीं; लौकिक आनन्द नहीं; अलौकिक आनन्द है।... हम....इस लोकोत्तर आनन्द का उपभोग करते हैं।'[7] उक्त उद्धरणों पर विश्वनाथ के रस-लक्षण का स्पष्ट प्रभाव है।[8] इसी संदर्भ में मिश्र जी ने शुक्ल जी के प्रत्यक्ष लौकिक अनुभूति एवं रसानुभूति की अभिन्नता प्रतिपादित करने वाले प्रसिद्ध सिद्धान्त का खंडन करते हुए उसे आई० ए० रिचर्ड्स के प्रभाव का परिणाम बताया है :'आज अलौकिक रस को लौकिक सिद्ध करने का आन्दोलन सा उठ खड़ा हुआ है। कोई कहता है कि 'प्रत्यक्षानुभूति से काव्यानुभूति कोई पृथक् वस्तु नहीं है। यह अवश्य है कि रसानुभूति प्रत्यक्षानुभूति का परिष्कृत रूप है। यह नहीं कि रसानुभूति प्रत्यक्षानुभूति की अपेक्षा मूलतः कोई भिन्न प्रकार की अनुभूति है।' यह रिचर्ड्स के प्रभाव का ही परिणाम

---

१. काव्यदर्पण, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ४४।
२. वही, पृष्ठ ४३।
३. काव्यालोक, द्वितीय उद्योत, द्वितीय संस्करण, भूमिका, पृष्ठ ४०।
४. वही, पृष्ठ २३५।
५. 'कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
   रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥
   विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
   व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायिभावो रसः स्मृतः॥'
   —काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, कारिका सं० २७-२८।
६. काव्यदर्पण : चतुर्थ सं०, पृष्ठ ४३।
७. वही, भूमिका, पृष्ठ २१।
८. 'लोकोत्तरचमत्कारप्राणः...'—साहित्यदर्पण, ३।३।

है, ... ,[1] इस प्रकार रामदहिन मिश्र के अनुसार: (१) प्रमाता के चित्त का चमत्कार ही काव्यास्वाद है। (२)काव्यास्वाद की स्थिति में प्रमाता की चेतना का विशदीकरण होता है, तथा (३)काव्यास्वाद अलौकिक आनन्दानुभूति है। मिश्रजी काव्यास्वाद को अनिवार्यतः आनन्दमयी अनुभूति मानते हैं। इस दृष्टि से भी इनका मत शुक्ल जी के मत से भिन्न है: '. . .सुख-दुःखात्मक संसार के सभी दुःख भी काव्यलोक में कवि-प्रतिभा से सुखदायक ही हो जाते हैं। उनसे आनन्द ही आनन्द उपलब्ध होता है।'[2] चित्त की एकरूपता की अवस्था में '(काव्यास्वाद की स्थिति में)'[3] करुणात्मक वर्णन भी हमें सुखदायक प्रतीत होता है।'[4]

काव्यास्वाद को रामदहिन मिश्र सत्त्वोद्रेक की अवस्था एवं आत्म-चैतन्य का प्रकाश मानते हैं: 'आत्म-चैतन्य का प्रकाश ही रस है, अर्थात् सत्त्वगुण-प्रधान चित्त की भाव-तन्मयता की अवस्था में जब रति आदि स्थायी भावों से युक्त चित्त का. . .आवरण हट जाता है तब चित्त वा चैतन्य ही रस-रूप में प्रकाशित होता है,'[5] मिश्र जी का यह कथन पंडितराज जगन्नाथ से स्पष्टतः प्रभावित है।[6] काव्यास्वाद की सत्त्वोद्रिक्त स्थिति का उल्लेख मिश्रजी ने विश्वनाथ[7] के आधार पर अन्यत्र भी किया है। 'रस-प्रतीति में—रस-साक्षात्कार में—. . . .सत्त्व का उद्रेक ही कारण है। हमारे अन्तःकरण में कभी रजोगुण, कभी तमोगुण और कभी सतोगुण प्रबल होता है। एक के सबल होने से अन्य दो निर्बल हो जाते हैं। सत्त्व के उद्रेक से अर्थात् रजस् और तमस् को पंगु बनाकर—कार्य-करण असमर्थ कर प्रकाशित होने से, रस का साक्षात्कार होता है।'[8]

विश्वनाथ के आधार पर ही मिश्र जी काव्यास्वाद को 'अखंड',[9] 'वेद्यान्तरस्पर्शशून्य'[10] एवं 'ब्रह्मास्वाद-सदृश'[11] अनुभूति मानते हैं। विषय से सम्बद्ध उनके उद्धरण निम्नोक्त हैं:

१. 'संश्लिष्टात्मक अखंडता ही रस है।'[12]

---

१. वही, पृष्ठ १३९।
२. काव्यदर्पण, भूमिका, पृष्ठ २१।
३. कोष्ठकबद्ध शब्द हमारे हैं।
४. काव्य-दर्पण, पृष्ठ १२८।
५. वही, भूमिका, पृष्ठ २२।
६. (क) 'रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः।'
—रसगंगाधर, चौखम्बा, विद्याभवन, (सन् १९५५), प्रथमानन, पृष्ठ ८८।
(ख) 'चर्वणा चास्य चिद्गतावरणभंग एव प्रागुक्ता. . .'
—वही, पृष्ठ ८९।
७. 'सत्त्वोद्रेकादखंड. . .'
—साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, कारिका सं० २।
८. 'काव्यदर्पण', पृष्ठ ४४।
९, १०, ११. 'सत्त्वोद्रेकादखंड. . . ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद-सहोदरः।'
—साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, कारिका सं० २।
१२. काव्यालोक, द्वितीय उद्योत, भूमिका, पृष्ठ ४०।

२. '. . जब रस का आस्वाद मिलने लगता है तब विषयान्तर का अनुभव पास तक नहीं फटकने पाता।'[1]

३. (क) 'इसे ब्रह्मानंद-सहोदर कहा गया है।'[2]

(ख) 'मानो उस समय एक प्रकार से मुक्ति स्वरूप ब्रह्मानन्द की उपलब्धि होती है। ब्रह्मास्वाद—ब्रह्मानंद के समान रसास्वाद होता है।'[3]

इस प्रकार पं० रामदहिन मिश्र का काव्यास्वाद-स्वरूप-विश्लेषण पूर्णतया संस्कृत-रस-शास्त्र पर आधारित है। उनके द्वारा निरूपित एकांत आनन्दमयता, आत्मचैतन्य की प्रकाशमयता, अखंडता, लोकोत्तरचमत्कारप्राणता, वेद्यान्तरस्पर्शशून्यता, ब्रह्मास्वाद-सदृशता एवं सत्त्वोद्रेकमयी स्थिति आदि काव्यास्वाद की सभी स्वरूपगत विशेषताएँ मम्मट, विश्वनाथ एवं जगन्नाथ की रस-विषयक मान्यताओं से स्पष्टतः प्रभावित हैं।

काव्यास्वाद की प्रक्रिया

पं० रामदहिन मिश्र का कदाचित् सबसे बड़ा योगदान यह है कि वे अत्यन्त स्पष्ट एवं दृढ़ शब्दों में काव्यास्वाद की स्थिति प्रमाता में ही स्वीकार करते हैं: 'काव्यानन्द रसिकगत होता है; क्योंकि वह उसका भोक्ता है।'[4] अपने इस मत की व्याख्या में उनका कथन है कि 'फलितार्थ यह कि लोक में जिसका जो रूप रहता है, वह काव्य में नहीं रहने पाता और काव्य का रूप पाठकों के हृदय में, पाठकों के अनुसार अपने रूप बना लेता है, जो उन्हीं का स्वनिर्मित होता है। इसी से उन्हें आनन्द प्राप्त होता है।'[5] इस प्रकार संस्कृत-काव्यशास्त्र में भरत द्वारा प्रतिपादित काव्यगत रस को जिस प्रकार अभिनवगुप्त ने नितांत विषयिगत सिद्ध कर दिया था उसी प्रकार आधुनिक हिन्दी काव्य-शास्त्र में पं० रामदहिन मिश्र ने कदाचित् इतने अधिक स्पष्ट रूप में पहली बार काव्यास्वाद को प्रमातृगत आनन्द घोषित किया। अलौकिक काव्य-व्यापार को काव्यगत आस्वाद की प्रमातृगत आस्वाद में परिणति की प्रक्रिया का मूल कारण मानते हुए उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है। 'काव्यगत रस लौकिक है और रसिकगत अलौकिक।'[6]

मिश्रजी ने काव्यास्वाद की प्रक्रिया में काव्य के उपर्युक्त अलौकिक विभावन-व्यापार के अतिरिक्त साधारणीकरण और काव्य-निबद्ध चरित्रों के साथ प्रमाता के तादात्म्य की चर्चा भी की है: '.......काव्य पढ़ने सुनने वा नाटक-सिनेमा देखने से रसिकों को जो आनन्द होता है वह साधारणीकरण से. . . . .काव्यगत पात्रों के साथ रसिकों का तादात्म्य होने से आनन्द होता है।'[7] तादात्म्य की व्याख्या करते हुए मिश्रजी ने तादात्म्य और साधारणीकरण को अभिन्न घोषित किया है: 'तादात्म्य का अर्थ है काव्य तथा नाटक के पात्रों के मनोविकारों के साथ समरस वा

---

१. काव्यदर्पण, पृष्ठ ४३।
२. वही, भूमिका, पृष्ठ २१।
३. वही, पृष्ठ ४३।
४. काव्य-दर्पण, पृष्ठ १४०।
५. वही, पृष्ठ १४३।
६. वही, पृष्ठ १४३।
७. काव्यदर्पण, पृष्ठ १२३।

सहधर्मी होना। हमें तो सर्वत्र तादात्म्य के स्थान पर 'साधारणीकरण' शब्द का ही प्रयोग अभीष्ट है।"[1] शुक्लजी की आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण-संबंधी मान्यता से भिन्न-मिश्र जी काव्य-निबद्ध सभी पात्रों के साथ तादात्म्य स्वीकार करते हैं: 'किसी प्रकार का पात्र क्यों न हो उसके मानसिक विकारों में तन्मय होना ही तादात्म्य का यथार्थ अर्थ है।'[2] एक अन्य स्थल पर साधारणीकरण की विस्तृत व्याख्या करते हुए पं० रामदहिन मिश्र ने कहा है: 'साधारणीकरण का सार तत्त्व यह है कि कवि अपनी सामग्री से जो भाव उपस्थित करता है उसका अनुभव निरवच्छिन्न रूप से सामाजिक को होना। रसिकों को जो काव्यानन्द प्राप्त होता है वह आस्वादनरूप होता है, इन्द्रिय-तृप्तिकारक नहीं; सार्वजनिक होता है, वैयक्तिक नहीं; स्वानुभवजन्य होता है, भ्रमजन्य नहीं। क्रीड़ा रूप आत्म-विकार का आनन्द प्राप्त करने के लिए कवि सरस काव्य लिखता है और रसिक उसी प्रकार का आनन्द प्राप्त करने के लिए सरस काव्य पढ़ता है।"[3] मिश्र जी की इस उक्ति से निम्नोक्त निष्कर्ष प्राप्त होते हैं:

१. प्रमाता द्वारा कवि-निबद्ध भाव का 'निरवच्छिन्न अनुभव' ही साधारणीकरण है।
२. प्रमाता द्वारा प्राप्त काव्यानंद 'आस्वादन रूप' होता है।
३. काव्य-सृजन-प्रक्रिया में कवि के समक्ष अपनी अनुभूतियों से ही आनन्द प्राप्त करने की प्रेरणा रहती है।
४. प्रमाता का काव्यास्वाद-जन्य आनन्द कवि द्वारा सृजन के क्षणों में अनुभूत आनन्द के ही समकक्ष है।

साधारणीकरण के विषय में मिश्रजी की एक सर्वथा विचित्र एवं भ्रामक स्थापना यह है कि साधारणीकरण की अत्यंत प्रगाढ़ स्थिति में 'अतिरेक' के कारण प्रमाता अपनी काव्यास्वादन-सामर्थ्य को खो बैठता है: '....साधारणीकरण का अतिरेक होने पर रसानुभव नहीं होता। यदि किसी को रोते देख उसके साथ हम भी रोने लगें तो यहाँ हम अपने को खो बैठते हैं। हम में रसानुभव की शक्ति रह ही नहीं जाती।'[4] मिश्रजी की उपर्युक्त मान्यता नूतन होते हुए भी सर्वथा असंगत है। सर्वप्रथम तो साधारणीकरण के अतिरेक जैसी कोई स्थिति मनोविज्ञान की दृष्टि से संभव नहीं है, दूसरे, किसी को रोते देख प्रमाता का रुदन तो काव्यास्वाद की स्थिति में उसके आत्म-विगलन, तन्मयीभाव तथा अनुभूति की निविड़ता का ही सूचक है—यह उसकी काव्यास्वादन-क्षमता का ही प्रमाण-पत्र है, उसे खो बैठने का नहीं।

मिश्रजी ने काव्यास्वाद की प्रक्रिया के अन्तर्गत प्रमाता के 'स्व-पर' की भावना से मुक्त होने, सभी प्रकार के अन्य संबंधों से रहित होने तथा 'अपरिमित भाव के उन्मेष' का प्रतिपादन भी किया है: 'साहित्य के रस-क्षेत्र में अपने पराये का भेद-भाव नहीं रहता। वहाँ जो भाव होता है, वह सर्वसाधारण तथा समस्त संबंधातीत होता है। ऐसे अपरिमित भाव के उन्मेष से सभी सहृदयों को एक ही भाव द्वारा रस-वस्तु की उपलब्धि होती है।'[5] स्पष्ट है कि मिश्रजी की उपर्युक्त

---

१. काव्यदर्पण, पृष्ठ १२३।
२. वही, पृष्ठ १२३।
३. वही, पृष्ठ १२९।
४. वही, पृष्ठ १३३।
५. वही, पृष्ठ ४३।

तीनों स्थापनाओं पर मम्मट एवं उनके माध्यम से अभिनवगुप्त का प्रभाव है।[1] इसके अतिरिक्त शुक्ल जी एवं पं० केशवप्रसाद मिश्र के प्रभाव का सन्धान भी इनमें किया जा सकता है।[2]

उपर्युक्त विवेचन से अत्यन्त स्पष्ट है कि पं० रामदहिन मिश्र ने संस्कृत-काव्यशास्त्र में निरूपित काव्यास्वाद के स्वरूप एव प्रक्रिया से सम्बद्ध प्रायः सभी मूल अवधारणाओं के अविकल पुनरुपस्थापन एवं कहीं-कहीं पुनः प्रतिष्ठापन का निश्चय ही मह वपूर्ण एवं श्रेयस्कर कार्य किया है, किन्तु उनमें सूक्ष्म अन्तर्विश्लेषण एवं पुनर्व्याख्या का नितान्त अभाव है। जहाँ कहीं, जैसे साधारणीकरण आदि के सन्दर्भ में, उन्होंने मौलिक सिद्धान्त-प्रतिपादन की चेष्टा की भी है, वहाँ उनकी स्थापनाएँ सर्वथा अमनोवैज्ञानिक, असंगत अतएव अमा य हो गई हैं।

पं० बलदेव उपाध्याय

पं० बलदेव उपाध्याय संस्कृत-काव्यशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों को अत्यन्त प्रामाणिक, सुव्यवस्थित एवं क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत करने के कारण हिन्दी के आधुनिक साहित्यशास्त्र में विशेष रूप से उल्लेखनीय माने जाते हैं। इनका काव्यास्वाद-विषयक अभिमत 'भारतीय साहित्यशास्त्र' (प्रथम खण्ड) तथा 'संस्कृत आलोचना' शीर्षक ग्रंथों में उपलब्ध है।

अपने पूर्ववर्ती अन्य आधुनिक समालोचकों की भाँति ही उपाध्याय जी ने भी भारतीय रस-प्रकल्पना के परिवृत्त में ही काव्यास्वाद का विवेचन किया है। वे रस को ही काव्य का सर्वस्व तथा प्रमाता के चित्त में रसानुभूति का उन्मेष करने को कवि का मुख्य कर्त्तव्य-कर्म मानते हैं: 'काव्य तथा नाट्य का सर्वस्व रसोन्मेष ही है। वर्णन तथा अभिनय के द्वारा सामाजिक के हृदय में रस का उन्मीलन करना, सहृदय के चित्त में रागात्मिका वृत्ति का उदय करना, कवि का प्रधान कर्त्तव्य होता है।'[3] उनके इस कथन से यह भी सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि उनके अनुसार रसानुभूति के उन्मेष का अर्थ प्रमाता के चित्त में 'रागात्मिका वृत्ति का उदय' करना है। दूसरे शब्दों में, काव्यानुभावन द्वारा प्रमाता के चित्त में रागात्मक अनुभूति की सृष्टि ही, पं० बलदेव उपाध्याय की दष्टि में, काव्यास्वाद है। काव्य-सृजन से लेकर प्रमाता के काव्यास्वादन तक की सम्पूर्ण प्रक्रिया के तीन प्रमुख विन्दुओं—कवि, काव्य एवं प्रमाता—में कवि को केवल माध्यम ही मानते हुए वे आस्वादकर्त्ता प्रमाता को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हैं: 'कवि, विषय तथा सामाजिक—रस-शास्त्र की यही त्रिपुटी है। आन्तर अथवा वाह्य विषय की स्वयं अनुभूति कर कवि अपनी रसमयी कविता के द्वारा सामाजिकों के हृदय में उसे उतारता है। विषय को सामाजिक तक पहुँचने के कार्य में कवि रुचिर माध्यम होता है।....हमारे भारतीय आलोचना-शास्त्र में कला का सहृदय-पक्ष विशेषतः पुष्ट है तथा गौरव की दृष्टि से देखा जाता है। सहृदय की दृष्टि से ही काव्य की परीक्षा की जाती है....अतः हमारा आलोचना-शास्त्र काव्य को 'सामाजिक-

---

१. '...संबंधविशेष स्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः ...साधारणोपायवलात् तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा सकलसहृदयसंवादभाजा...', —काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, व्या० आचार्य विश्वेश्वर, पृष्ठ १०८।

२. देखिए इसी अध्याय में पं० रामचन्द्र शुक्ल एवं ० केशवप्रसाद मिश्र के मतों का विवेचन

३. पं० बलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्यशास्त्र (प्रथम खण्ड) प्रथम संस्करण, पृष्ठ ६१७।

चर्वणा-व्यापार' के रूप में ही अंकित करता है।"[1] इसी तथ्य को एक अन्य स्थल पर उन्होंने और भी अधिक प्रवल शब्दों में व्यक्त किया है: . . . सहृदय ही काव्य-रचना का अन्तिम उपास्य है। कवि उसका माध्यम है। वस्तु की अनुभूति सामाजिक को कराना कवि का लक्ष्य है।"[2]

काव्यास्वाद की प्रक्रिया के विवेचन-क्रम में उपाध्यायजी ने संस्कृत-काव्यशास्त्र की 'अलौकिक विभावना-व्यापार', 'स्व-पर की भावना से मुक्ति' एवं 'अपरिमितप्रमातृभाव'[3]—विपयक अवधारणाओं को तटस्थता-सिद्धान्त के द्वारा सर्वथा मौलिक एवं अभिनव रूप में उपस्थित किया है। इस सन्दर्भ में उनके निम्नोक्त दो उद्धरण द्रष्टव्य हैं:

१. 'द्रष्टा होने पर ही रस का अनुभव होता है। प्रकृति में लीन हो जाने पर रस का अनुभव नहीं होता। 'द्रष्टा' का अर्थ है तटस्थ रूप से दर्शन करने वाला व्यक्ति। प्रकृति के पदार्थों में लीन न होकर पृथक्-रूप से वस्तु के रूप का द्रष्टा ही प्रकृत पक्ष में रस की अनुभूति कर सकता है। जो व्यक्ति प्रकृति की वस्तुओं में आसक्त भाव से लीन हो जाता है वह केवल राग-द्वेष का ही अनुभव करता है, रस का नहीं। रसानुभूति के निमित्त ताटस्थ्य, तटस्थता, अनासक्तिभाव की नितान्त आवश्यकता होती है। . . . सौन्दर्य की अनुभूति सर्वत्र ताटस्थ्य पर आश्रित रहती है।"[4]

२. 'रस की उपलब्धि के हेतु सकाम भाव को निष्काम भाव में परिणत होना ही होगा।'[5]

उपर्युक्त उद्धरणों का सारांश यही है कि काव्य-विषय के प्रति नितान्त वस्तुनिष्ठ एवं निर्वैयक्तिक—उपाध्यायजी के शब्दों में 'तटस्थ एवं अनासक्त' दृष्टिकोण—अपनाकर ही प्रमाता काव्यास्वाद की उपलब्धि करता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सहृदय के इसी ताटस्थ्य को सहृदय-चेतना का 'स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से' ऊपर उठकर 'लोक सामान्य भावभूमि पर'[6] पहुँचना तथा 'निर्विशेष शुद्ध और मुक्त हृदय'[7] की अनुभूति कहा है। पंडित केशवप्रसाद मिश्र ने प्रमाता की इसी मनःस्थिति को 'निर्वितर्क समापत्ति'[8] का अभिधान दिया है। पं० बलदेव उपाध्याय की उक्त मान्यता मूलतः संस्कृत-काव्यशास्त्र के प्रख्यात आचार्य मम्मट के रस-विवेचन से प्रभावित है। उनकी 'तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितभावेन'[9] तथा 'लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञान'[10] आदि उक्तियों में इसी तथ्य का आख्यान है। पंडित बलदेव उपाध्याय काव्यास्वाद की स्थिति में प्रमाता के इस ताटस्थ्य को साधारणीकरण

---

१. पं० बलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्यशास्त्र (प्रथम खण्ड), प्रथम संस्करण, पृष्ठ ६४१।
२. वही, पृष्ठ ६४३।
३. देखिए प्रस्तुत ग्रंथ के द्वितीय अध्याय के (क) प्रकरण में मम्मट का काव्यास्वाद-विषयक मत।
४. पं० बलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्यशास्त्र, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ ६२५।
५. वही, पृष्ठ ६३३।
६. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, रसमीमांसा, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ६।
७. वही, पृष्ठ २६९।
८. देखिए, प्रस्तुत अध्याय के इसी प्रकरण में पं० केशवप्रसाद मिश्र का अभिमत।
९. काव्यप्रकाश, व्या० आचार्य विश्वेश्वर, चतुर्थ उल्लास, पृष्ठ ११२।
१०. वही, पृष्ठ ११०।

सिद्धान्त से अभिन्न मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में, 'मनुष्य लोक में अपनी वस्तु से प्रेम होता है, शत्रु की वस्तु से द्वेष उत्पन्न होता है और तटस्थ व्यक्ति की वस्तु से उदासीनता उपजती है, परन्तु शब्द के माध्यम द्वारा वर्णित होते ही . . . वे व्यक्तिगत सम्बन्ध से दूर हटकर सर्वसाधारण के भाव बन जाते हैं। इस दशा में उनसे आनन्द ही उत्पन्न होता है। . इस साधारणीकरण व्यापार के द्वारा प्रत्येक काव्य-वस्तु किसी व्यक्ति का संबद्ध पदार्थ न होकर रसिक मात्र से संबद्ध बन जाती है।'[1]

पं० बलदेव उपाध्याय ने काव्यास्वाद को संस्कृत-काव्यशास्त्र की परम्परा के अनुरूप अनिवार्यतः आनन्दात्मक[2] तथा लौकिक आस्वाद से विलक्षण एवं उदात्त माना है: 'विषयानन्द की अपेक्षा रसानन्द नितान्त विलक्षण तथा उदात्त है।'[3] उपाध्यायजी काव्यास्वाद को बौद्धिक ज्ञान की अपेक्षा कहीं अधिक उच्चतर मानते हैं तथा उसे ब्रह्मानंद-रूप की अपेक्षा ब्रह्मानन्द-सहोदर कहने के मूल में इसी तथ्य को कारण-रूप में स्वीकार करते हैं: 'रागात्मिका अनुभूति का स्थान शुष्क ज्ञानात्मिका अनुभूति की अपेक्षा कहीं उच्चतर होता है। इसीलिए रस 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' माना जाता है, ब्रह्मानन्द-रूप नहीं।'[4] उपाध्यायजी परम्परा से अलग हटकर अत्यन्त साहसपूर्वक प्रबल शब्दों में काव्यानंद को ब्रह्मानंद की अपेक्षा कहीं अधिक ऊँचा स्थान प्रदान करते हैं: 'ब्रह्मानन्द रसानन्द की तुलना में एक नगण्य वस्तु है।'[5]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर पं० बलदेव उपाध्याय की काव्यास्वाद-विषयक अवधारणा के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं:

१. काव्यास्वाद की अनुभूति में काव्य-वस्तु के प्रति प्रमाता की तटस्थता एवं अनासक्ति का अनिवार्य योग रहता है।

२. काव्यास्वाद के समय प्रमाता की अनुभूति प्रत्येक स्थिति में आनन्दात्मक ही होती है।

३. प्रमाता का काव्यास्वाद यद्यपि काव्यवस्तु के तटस्थ ग्रहण द्वारा ही उद्भूत होता है, तथापि, परिपक्व अवस्था में वह विषयिगत रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार काव्यास्वाद एक विषयिगत अनुभूति है।

४. काव्यानन्द लौकिक आस्वाद की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म उदात्त तथा ब्रह्मानन्द एवं बौद्धिक आनन्द की अपेक्षा उच्चतर आनन्द है।

पं० बलदेव उपाध्यायजी की उपर्युक्त मान्यताएँ यद्यपि संस्कृत रसशास्त्र में निरूपित काव्यास्वाद के स्वरूप एवं उसकी प्रक्रिया से संबंधित अवधारणाओं से तत्त्वतः अभिन्न हैं, तथापि इसमें संदेह नहीं कि काव्यास्वाद को प्रमाता के ताटस्थ्य द्वारा उद्भूत मानकर एवं काव्यानन्द को

---

१. पं० बलदेव उपाध्याय, संस्कृत आलोचना, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २२०।

२. 'संसार का प्रत्येक पदार्थ, चाहे वह कितना ही अशोभन या बीभत्स क्यों न हो, सुखात्मक अनुभूति का उपकरण अवश्य बन सकता है।'
—पं० बलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्यशास्त्र, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ६२४।

३. वही, पृष्ठ ६३३

४. पं० बलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्यशास्त्र, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ६३५।

५. वही।

ब्रह्मानन्द से भी उच्चतर भूमि प्रदान कर उन्होंने आधुनिक हिन्दी-साहित्यशास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

जयशंकर प्रसाद

कविवर जयशंकर प्रसाद का आलोचनात्मक कृतित्व 'काव्य और कला तथा अन्य निवन्ध' शीर्षक पुस्तक में संकलित है। उन्होंने काव्यास्वाद का विवेचन-विश्लेषण यद्यपि स्वतंत्र रूप में नहीं किया है तथापि विषय से सम्बद्ध उनका मन्तव्य उक्त निवन्ध-संग्रह के 'रस' एवं 'नाटकों में रस का प्रयोग' शीर्षक निबन्धों में मुख्यतः तथा 'काव्य और कला' नामक निवन्ध में गौणतः व्यक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त 'इन्दु' पत्रिका के कतिपय अंकों में भी प्रसाद जी के काव्यास्वाद-विषयक विचार प्रकीर्ण रूप में उपलब्ध हैं।

काव्यास्वाद का स्वरूप

जयशंकर प्रसाद ने रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत ही काव्यास्वाद का स्वरूप-विश्लेषण किया है। उनके अनुसार 'भाव ही आत्मचैतन्य में विश्रान्ति पा जाने पर रस होते हैं।....इस रस में आस्वाद का रहस्य है।'[1] स्पष्ट है कि प्रसाद जी चित्त की उद्वेगावस्था को रस न मानकर चिदानन्द-रूप आत्मा में अवस्थित प्रमाता के भावों की विश्रान्तिमयी अनुभूति को ही रस मानते हैं। इस दृष्टि से उनकी काव्यास्वाद-विषयक अवधारणा पाश्चात्य काव्यशास्त्र में प्लेटो द्वारा निरूपित 'मनोवेगों का उत्तेजन',[2] बोइलो द्वारा प्रतिपादित 'भावोद्वेलन का आनन्द'[3] तथा ड्राइडन द्वारा निरूपित 'संवेगोद्दीप्ति से प्राप्त आह्लाद'[4] आदि काव्यास्वाद-विषयक अवधारणाओं से तत्त्वतः भिन्न है। उन्होंने शैवाद्वैत के आनन्द-सम्प्रदाय से प्रभाव ग्रहण कर 'चैतन्य की भिन्नता को अभेदमय'[5] कर उसके 'विश्रान्ति पा'[6] जाने को ही काव्यास्वाद स्वीकार किया है। काव्यास्वाद की 'अभेदमयता' को एक अन्य स्थान पर उन्होंने इस रूप में स्पष्ट किया है: 'भारतीय रसवाद में मिलन, अभेद सुख की सृष्टि मुख्य है।'[7] प्रसाद जी की उपर्युक्त सभी मान्यताएँ यद्यपि मूलतः शैवाद्वैत के आनन्द-वाद तथा अंशतः पंडितराज जगन्नाथ[8] के रस-विवेचन से प्रभावित हैं, तथापि आधुनिक हिन्दी-

---

१. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, (पंचम संस्करण), 'नाटकों में रस का प्रयोग' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ ८०।

२, ३, ४. देखिए प्रस्तुत निवन्ध के द्वितीय अध्याय में विवेचित प्लेटो, बोइलो और ड्राइडन के काव्यास्वाद-विषयक अभिमतों का विवेचन।

५. '...रस के मूल में चैतन्य की भिन्नता को अभेदमय करने का तत्त्व है।'
—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, 'रस' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ ७६।

६. '...चेतना जब आत्मा में ही विश्रान्ति पा जाय वही पूर्ण अहंभाव है।'—वही।

७. वही, 'नाटकों में रस का प्रयोग' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ ८५।

८. (क) '...रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः।'
—रसगंगाधर, चौखम्बा विद्याभवन, प्रथमानन, पृष्ठ ८८।
(ख) 'चर्वणा चास्य चिद्गतावरणभङ्ग एव प्रागुक्ता, तदाकाराऽन्तकरणवृत्तिर्वा।' वही, पृष्ठ ८९।

साहित्य-शास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन में उन्होंने पहली बार काव्यास्वाद को आत्मानुभूति की उच्च-भूमि पर प्रतिष्ठित कर काव्यास्वाद के क्षणों में प्रमाता की मनःस्थिति की अभेदमयता की प्रबल प्रस्थापना की है।

प्रसाद जी ने भारतीय रस-शास्त्र की परम्परा के अनुरूप ही काव्यास्वाद को 'आह्लाद-पूर्ण एवं 'स्वप्रकाशानन्द'—रूप' मानते हुए भी उसे ब्रह्मानन्द-सदृश आनन्द मानकर ब्रह्मानन्द-रूप ही माना है। इस सम्बन्ध में उनका स्पष्ट अभिकथन है: 'इस रस में आस्वाद का रहस्य है।....आत्म-प्रसाद का आनन्द-पथ है। इसका आस्वाद ब्रह्मानन्द ही है।'[२] प्रसाद जी की दृष्टि में काव्यास्वाद का आनन्द लोक-मंगल की भावना से निरपेक्ष नहीं है: 'रस में लोकमंगल की कल्पना प्रच्छन्न रूप से अन्तर्निहित है।'[३]

काव्यास्वाद के स्वरूप-विश्लेषण के क्रम में प्रसाद जी ने शुक्ल जी आदि द्वारा रसानुभूति के कोटि-क्रम-निर्धारण के प्रयास का स्पष्ट विरोध किया है: 'इधर एक निम्नकोटि की रसानुभूति की भी कल्पना हुई है।...रस में फलयोग अर्थात् अन्तिम सन्धि मुख्य है, इन बीच के व्यापारों में जो संचारी भावों के प्रतीक हैं; रस को खोजकर उसे छिन्न-भिन्न कर देना है। ये सब मुख्य रस वस्तु के सहायक-मात्र हैं।...इसलिए मुख्य रस का आनन्द बढ़ाने में ये सहायक मात्र ही हैं, वह रसानुभूति निम्न कोटि की नहीं होती।'[४] इस प्रकार प्रसादजी ने शुक्ल जी आदि के उक्त रसाभिमत के खण्डन में यह तर्क प्रस्तुत किया कि है रसास्वादन से पूर्ववर्ती रस-प्रक्रिया की अन्तवर्ती भावोद्रेक की स्थिति को ही भ्रमवश रस मानकर उन्होंने रसानुभूति में कोटि-क्रम निर्धारित किया है, किन्तु वास्तव में, रसास्वादन से पूर्व की यह स्थिति उसमें सहायक ही होती है, अपने आप में रसानुभूति नहीं होती।

संक्षेप में, प्रसाद जी की दृष्टि में काव्यास्वाद (१) चिदानन्दरूप आत्मा में अवस्थित प्रमाता के भावों की अभेदमयी विश्रान्तिपूर्ण अनुभूति है। (२) यह अनुभूति अखण्ड आनन्दमयी अनुभूति है। (३) काव्यानन्द लोकमंगल की भावना से पुष्ट ब्रह्मानन्द है। (४) काव्यास्वाद में कोटि-क्रम नहीं होता।

काव्यास्वाद की प्रक्रिया

प्रसाद जी ने काव्यास्वाद की प्रक्रिया का अत्यन्त विशद विश्लेषण किया है। इस सन्दर्भ में उनके निम्नांकित उद्धरण उल्लेखनीय हैं:—

१. 'काव्य आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति है.....वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है।.....सत्य अथवा श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं, वह

---

१. 'कविता के आस्वाद करने वाले के हृदय में एक अपूर्व आह्लाद होता है।...कविता-मात्र आस्वादन के समय केवल स्वप्रकाशानन्द ही रहता है।'
—इन्दु, कार्त्तिक, संवत् १९६७, पृष्ठ १२३-२४।
२. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, 'नाटकों में रस का प्रयोग', पृष्ठ ८०-८१।
३. वही, पृष्ठ ८५।
४. वही, पृष्ठ ८२-८३।

एक शाश्वत चेतनता है, या चिन्मयी ज्ञान-धारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है।"[1]

२. 'रस-विवेचना में संवित् का साधारणीकरण त्रिवृत है। कवि, नट और सामाजिक में वह अभेद भाव से एकरस हो जाता है।"[2]

३. (क) 'रस की अभेद और आनन्दमयी व्याख्या हुई। भट्टनायक ने साधारणीकरण का सिद्धान्त प्रचारित किया, जिसके द्वारा नट, सामाजिक तथा नायक की विशेषता नष्ट होकर, लोक-सामान्य-प्रकाश-आनन्दमय, आत्मचैतन्य की प्रतिष्ठा रस में हुई।"[3]

(ख) 'रसवाद में वासनात्मकतया स्थित मनोवृत्तियाँ. . . साधारणीकरण के द्वारा आनन्दमय बना दी जाती हैं; इसलिए वह वासना का संशोधन करके उनका साधारणीकरण करता है। इस समीकरण के द्वारा जिस अभिन्नता की रस-सृष्टि वह करता है, उसमें व्यक्ति की विभिन्नता, विशिष्टता हट जाती है; और साथ ही सब तरह की भावनाओं को एक धरातल पर हम एक मानवीय वस्तु कह सकते हैं।. . . .रसवाद की यह पूर्णता है।"[4]

उपर्युक्त उद्धरणों में प्रसाद जी ने कवि, काव्य एवं प्रमाता के तादात्म्य की कल्पना की है। संस्कृत-काव्यशास्त्र के आत्मवादी आचार्य अभिनवगुप्त ने इसी तथ्य को 'कविर्हि सामाजिक तुल्य एव"[5] तथा भट्टतौत ने 'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः'[6] उक्तियों में व्यक्त किया है। प्रसाद जी के अनुसार काव्य 'आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति' अथवा 'चिन्मयी ज्ञानधारा' है, जो 'व्यक्ति स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर निर्विशेष रूप' धारण कर लेती है। काव्य-भावन की प्रक्रिया में प्रमाता के 'व्यक्ति की विभिन्नता', 'विशिष्टता हट जाती है' और वह 'एक धरातल पर' 'एक मानवीय वस्तु' का अनुभव करता है। काव्यास्वाद की स्थिति में प्रमाता को अनुभूतिके निर्वैयक्तीकरण को मम्मट ने 'तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाव'[7] तथा 'मानवीय वस्तु' की अनुभूति को 'सकलसहृदयसंवादभाजा'[8] के रूप में निरूपित किया था। प्रसाद जी के पूर्ववर्ती समालोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी तथ्य को इन शब्दों में प्रस्तुत किया है: (१) 'वह (प्रमाता) अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूटकर—अपने आपको बिलकुल भूलकर—विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है।'[9] तथा (२) 'कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भावभूमि पर ले जाती है. . . .इस भूमि पर

---

१. जयशंकर प्रसाद, काव्य कला तथा अन्य निबन्ध, काव्य और कला शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ ३७-३८
२. वही, 'नाटकों में रस का प्रयोग' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ ८२।
३. वही, 'रस' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ ७३।
४. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, 'नाटकों में रस का प्रयोग' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ ८५।
५. हिन्दी अभिनवभारती, व्या० आचार्य विश्वेश्वर, पृष्ठ ५१५।
६. ध्वन्यालोकलोचन में उद्धृत भट्टतौत का मत।
७-८. काव्य-प्रकाश, व्या० आचार्य विश्वेश्वर, चतुर्थ उल्लास, पृष्ठ ११२।
९. पं० रामचन्द्र शुक्ल, रस-मीमांसा, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ५।

साहित्य-शास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन में उन्होंने पहली बार काव्यास्वाद को आत्मानुभूति की उच्च-भूमि पर प्रतिष्ठित कर काव्यास्वाद के क्षणों में प्रमाता की मनःस्थिति की अभेदमयता की प्रबल प्रस्थापना की है।

प्रसाद जी ने भारतीय रस-शास्त्र की परम्परा के अनुरूप ही काव्यास्वाद को 'आह्लाद-पूर्ण एवं 'स्वप्रकाशानन्द'—रूप' मानते हुए भी उसे ब्रह्मानन्द-सदृश आनन्द मानकर ब्रह्मानन्द-रूप ही माना है। इस सम्बन्ध में उनका स्पष्ट अभिकथन है: 'इस रस में आस्वाद का रहस्य है।....आत्म-प्रसाद का आनन्द-पथ है। इसका आस्वाद ब्रह्मानन्द ही है।'[2] प्रसाद जी की दृष्टि में काव्यास्वाद का आनन्द लोक-मंगल की भावना से निरपेक्ष नहीं है: 'रस में लोकमंगल की कल्पना प्रच्छन्न रूप से अन्तर्निहित है।'[3]

काव्यास्वाद के स्वरूप-विश्लेषण के क्रम में प्रसाद जी ने शुक्ल जी आदि द्वारा रसानुभूति के कोटि-क्रम-निर्धारण के प्रयास का स्पष्ट विरोध किया है: 'इधर एक निम्नकोटि की रसानुभूति की भी कल्पना हुई है।...रस में फलयोग अर्थात् अन्तिम सन्धि मुख्य है, इन बीच के व्यापारों में जो संचारी भावों के प्रतीक हैं; रस को खोजकर उसे छिन्न-भिन्न कर देना है। ये सब मुख्य रस वस्तु के सहायक-मात्र हैं।...इसलिए मुख्य रस का आनन्द बढ़ाने में ये सहायक मात्र ही हैं, वह रसानुभूति निम्न कोटि की नहीं होती।'[4] इस प्रकार प्रसादजी ने शुक्ल जी आदि के उक्त रसाभिमत के खण्डन में यह तर्क प्रस्तुत किया कि है रसास्वादन से पूर्ववर्ती रस-प्रक्रिया की अन्तवर्ती भावोद्रेक की स्थिति को ही भ्रमवश रस मानकर उन्होंने रसानुभूति में कोटि-क्रम निर्धारित किया है, किन्तु वास्तव में, रसास्वादन से पूर्व की यह स्थिति उसमें सहायक ही होती है, अपने आप में रसानुभूति नहीं होती।

संक्षेप में, प्रसाद जी की दृष्टि में काव्यास्वाद (१) चिदानन्दरूप आत्मा में अवस्थित प्रमाता के भावों की अभेदमयी विश्रान्तिपूर्ण अनुभूति है। (२) यह अनुभूति अखण्ड आनन्दमयी अनुभूति है। (३) काव्यानन्द लोकमंगल की भावना से पुष्ट ब्रह्मानन्द है। (४) काव्यास्वाद में कोटि-क्रम नहीं होता।

काव्यास्वाद की प्रक्रिया

प्रसाद जी ने काव्यास्वाद की प्रक्रिया का अत्यन्त विशद विश्लेषण किया है। इस सन्दर्भ में उनके निम्नांकित उद्धरण उल्लेखनीय हैं:—

१. 'काव्य आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति है.....वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है।.....सत्य अथवा श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं, वह

---

१. 'कविता के आस्वाद करने वाले के हृदय में एक अपूर्व आह्लाद होता है।...कविता-मात्र आस्वादन के समय केवल स्वप्रकाशानन्द ही रहता है।'
—इन्दु, कार्त्तिक, संवत् १९६७, पृष्ठ १२३-२४।
२. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, 'नाटकों में रस का प्रयोग', पृष्ठ ८०-८१।
३. वही, पृष्ठ ८५।
४. वही, ८२-८३।

एक शाश्वत चेतनता है, या चिन्मयी ज्ञान-धारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है।"[1]

२. 'रस-विवेचना में संवित् का साधारणीकरण त्रिवृत है। कवि, नट और सामाजिक में वह अभेद भाव से एकरस हो जाता है।'[2]

३. (क) 'रस की अभेद और आनन्दमयी व्याख्या हुई। भट्टनायक ने साधारणीकरण का सिद्धान्त प्रचारित किया, जिसके द्वारा नट, सामाजिक तथा नायक की विशेषता नष्ट होकर, लोक-सामान्य-प्रकाश-आनन्दमय, आत्मचैतन्य की प्रतिष्ठा रस में हुई।'[3]

(ख) 'रसवाद में वासनात्मकतया स्थित मनोवृत्तियाँ. . . साधारणीकरण के द्वारा आनन्दमय बना दी जाती हैं; इसलिए वह वासना का संशोधन करके उनका साधारणीकरण करता है। इस समीकरण के द्वारा जिस अभिन्नता की रस-सृष्टि वह करता है, उसमें व्यक्ति की विभिन्नता, विशिष्टता हट जाती है; और साथ ही सब तरह की भावनाओं को एक धरातल पर हम एक मानवीय वस्तु कह सकते हैं।. . . .रसवाद की यह पूर्णता है।'[4]

उपर्युक्त उद्धरणों में प्रसाद जी ने कवि, काव्य एवं प्रमाता के तादात्म्य की कल्पना की है। संस्कृत-काव्यशास्त्र के आत्मवादी आचार्य अभिनवगुप्त ने इसी तथ्य को 'कविर्हि सामाजिक तुल्य एव'[5] तथा भट्टतौत ने 'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः'[6] उक्तियों में व्यक्त किया है। प्रसाद जी के अनुसार काव्य 'आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति' अथवा 'चिन्मयी ज्ञानधारा' है, जो 'व्यक्ति स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर निर्विशेष रूप' धारण कर लेती है। काव्य-भावन की प्रक्रिया में प्रमाता के 'व्यक्ति की विभिन्नता', 'विशिष्टता हट जाती है' और वह 'एक धरातल पर' 'एक मानवीय वस्तु' का अनुभव करता है। काव्यास्वाद की स्थिति में प्रमाता की अनुभूतिके निर्वैयक्तीकरण को मम्मट ने 'तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाव'[7] तथा 'मानवीय वस्तु' की अनुभूति को 'सकलसहृदयसंवादभाजा'[8] के रूप में निरूपित किया था। प्रसाद जी के पूर्ववर्ती समालोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी तथ्य को इन शब्दों में प्रस्तुत किया है: (१) 'वह (प्रमाता) अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूटकर—अपने आपको बिल्कुल भूलकर—विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है।'[9] तथा (२) 'कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भावभूमि पर ले जाती है. . . .इस भूमि पर

---

१. जयशंकर प्रसाद, काव्य कला तथा अन्य निबन्ध, काव्य और कला शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ ३७-३८
२. वही, 'नाटकों में रस का प्रयोग' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ ८२।
३. वही, 'रस' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ ७३।
४. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, 'नाटकों में रस का प्रयोग' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ ८५।
५. हिन्दी अभिनवभारती, व्या० आचार्य विश्वेश्वर, पृष्ठ ५१५।
६. ध्वन्यालोकलोचन में उद्धृत भट्टतौत का मत।
७-८. काव्य-प्रकाश, व्या० आचार्य विश्वेश्वर, चतुर्थ उल्लास, पृष्ठ ११२।
९. पं० रामचन्द्र शुक्ल, रस-मीमांसा, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ५।

साहित्य-शास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन में उन्होंने पहली बार काव्यास्वाद को आत्मानुभूति की उच्च-भूमि पर प्रतिष्ठित कर काव्यास्वाद के क्षणों में प्रमाता की मनःस्थिति की अभेदमयता की प्रवल प्रस्थापना की है।

प्रसाद जी ने भारतीय रस-शास्त्र की परम्परा के अनुरूप ही काव्यास्वाद को 'आह्लाद-पूर्ण एवं 'स्वप्रकाशानन्द'—रूप' मानते हुए भी उसे ब्रह्मानन्द-सदृश आनन्द मानकर ब्रह्मानन्द-रूप ही माना है। इस सम्वन्ध में उनका स्पष्ट अभिकथन है: 'इस रस में आस्वाद का रहस्य है।. . . .आत्म-प्रसाद का आनन्द-पथ है। इसका आस्वाद ब्रह्मानन्द ही है।'[२] प्रसाद जी की दृष्टि में काव्यास्वाद का आनन्द लोक-मंगल की भावना से निरपेक्ष नहीं है: 'रस में लोकमंगल की कल्पना प्रच्छन्न रूप से अन्तर्निहित है।'[३]

काव्यास्वाद के स्वरूप-विश्लेषण के क्रम में प्रसाद जी ने शुक्ल जी आदि द्वारा रसानुभूति के कोटि-क्रम-निर्धारण के प्रयास का स्पष्ट विरोध किया है: 'इधर एक निम्नकोटि की रसानुभूति की भी कल्पना हुई है।. . .रस में फलयोग अर्थात् अन्तिम सन्धि मुख्य है, इन वीच के व्यापारों में जो संचारी भावों के प्रतीक हैं; रस को खोजकर उसे छिन्न-भिन्न कर देना है। ये सव मुख्य रस वस्तु के सहायक-मात्र हैं।. . .इसलिए मुख्य रस का आनन्द वढ़ाने में ये सहायक मात्र ही हैं, वह रसानुभूति निम्न कोटि की नहीं होती।'[४] इस प्रकार प्रसादजी ने शुक्ल जी आदि के उक्त रसाभिमत के खण्डन में यह तर्क प्रस्तुत किया कि है रसास्वादन से पूर्ववर्ती रस-प्रक्रिया की अन्तवर्ती भावोद्रेक की स्थिति को ही भ्रमवश रस मानकर उन्होंने रसानुभूति में कोटि-क्रम निर्धारित किया है, किन्तु वास्तव में, रसास्वादन से पूर्व की यह स्थिति उसमें सहायक ही होती है, अपने आप में रसानुभूति नहीं होती।

संक्षेप में, प्रसाद जी की दृष्टि में काव्यास्वाद (१) चिदानन्दरूप आत्मा में अवस्थित प्रमाता के भावों की अभेदमयी विश्रान्तिपूर्ण अनुभूति है। (२) यह अनुभूति अखण्ड आनन्दमयी अनुभूति है। (३) काव्यानन्द लोकमंगल की भावना से पुष्ट ब्रह्मानन्द है। (४) काव्यास्वाद में कोटि-क्रम नहीं होता।

काव्यास्वाद की प्रक्रिया

प्रसाद जी ने काव्यास्वाद की प्रक्रिया का अत्यन्त विशद विश्लेषण किया है। इस सन्दर्भ में उनके निम्नांकित उद्धरण उल्लेखनीय हैं:—

१. 'काव्य आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति है. . . . .वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है।. . . . .सत्य अथवा श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं, वह

---

१. 'कविता के आस्वाद करने वाले के हृदय में एक अपूर्व आह्लाद होता है।. . .कविता-मात्र आस्वादन के समय केवल स्वप्रकाशानन्द ही रहता है।'

—इन्दु, कार्त्तिक, संवत् १९६७, पृष्ठ १२३-२४।

२. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, 'नाटकों में रस का प्रयोग', पृष्ठ ८०-८१।

३. वही, पृष्ठ ८५।

४. वही, पृष्ठ ८२-८३।

एक शाश्वत चेतनता है, या चिन्मयी ज्ञान-धारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है।"[1]

२. 'रस-विवेचना में संवित् का साधारणीकरण विवृत है। कवि, नट और सामाजिक में वह अभेद भाव से एकरस हो जाता है।'[2]

३. (क) 'रस की अभेद और आनन्दमयी व्याख्या हुई। भट्टनायक ने साधारणीकरण का सिद्धान्त प्रचारित किया, जिसके द्वारा नट, सामाजिक तथा नायक की विशेषता नष्ट होकर, लोक-सामान्य-प्रकाश-आनन्दमय, आत्मचैतन्य की प्रतिष्ठा रस में हुई।'[3]

(ख) 'रसवाद में वासनात्मकतया स्थित मनोवृत्तियाँ... साधारणीकरण के द्वारा आनन्दमय बना दी जाती हैं; इसलिए वह वासना का संशोधन करके उनका साधारणीकरण करता है। इस समीकरण के द्वारा जिस अभिन्नता की रस-सृष्टि वह करता है, उसमें व्यक्ति की विभिन्नता, विशिष्टता हट जाती है; और साथ ही सब तरह की भावनाओं को एक धरातल पर हम एक मानवीय वस्तु कह सकते हैं।....रसवाद की यह पूर्णता है।'[4]

उपर्युक्त उद्धरणों में प्रसाद जी ने कवि, काव्य एवं प्रमाता के तादात्म्य की कल्पना की है। संस्कृत-काव्यशास्त्र के आत्मवादी आचार्य अभिनवगुप्त ने इसी तथ्य को 'कविर्हि सामाजिक तुल्य एव'[5] तथा भट्टतौत ने 'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः'[6] उक्तियों में व्यक्त किया है। प्रसाद जी के अनुसार काव्य 'आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति' अथवा 'चिन्मयी ज्ञानधारा' है, जो 'व्यक्ति स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर निर्विशेष रूप' धारण कर लेती है। काव्य-भावन की प्रक्रिया में प्रमाता के 'व्यक्ति की विभिन्नता', 'विशिष्टता हट जाती है' और वह 'एक धरातल पर' 'एक मानवीय वस्तु' का अनुभव करता है। काव्यास्वाद की स्थिति में प्रमाता की अनुभूतिके निर्वैयक्तीकरण को मम्मट ने 'तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाव'[7] तथा 'मानवीय वस्तु' की अनुभूति को 'सकलसहृदयसंवादभाजा'[8] के रूप में निरूपित किया था। प्रसाद जी के पूर्ववर्ती समालोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी तथ्य को इन शब्दों में प्रस्तुत किया है: (१) 'वह (प्रमाता) अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूटकर—अपने आपको बिल्कुल भूलकर—विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है।'[9] तथा (२) 'कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भावभूमि पर ले जाती है....इस भूमि पर

१. जयशंकर प्रसाद, काव्य कला तथा अन्य निबन्ध, काव्य और कला शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ ३७-३८
२. वही, 'नाटकों में रस का प्रयोग' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ ८२।
३. वही, 'रस' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ ७३।
४. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, 'नाटकों में रस क[illegible] निबन्ध, पृष्ठ ८५।
५. हिन्दी अभिनवभारती, व्या० आचार्य विश्वेश्वर, पृष्ठ ५१५।
६. ध्वन्यालोकलोचन में उद्धृत भट्टतौत का मत।
७-८. काव्य-प्रकाश, व्या० आचार्य विश्वेश्वर, चतुर्थ उल्लास, पृष्ठ ११२।
९. पं० रामचन्द्र शुक्ल, रस-मीमांसा, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ५।

पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक-सत्ता-लीन किये रहता है।"[1] पं० केशवप्रसाद मिश्र ने प्रमाता की इस मनःस्थिति को 'निर्वितर्क समापत्ति'[2] कहा है। इस प्रकार प्रसाद जी का काव्यास्वाद-विषयक उक्त अभिमत परम्परानुमोदित है।

जयशंकर प्रसाद हिन्दी के एकमात्र आधुनिक कवि हैं जिन्होंने काव्यास्वाद के स्वरूप एवं उसकी प्रक्रिया का अत्यंत गंभीर एवं तलस्पर्शी विवेचन किया है। भट्टनायक, अभिनवगुप्त, मम्मट एवं पंडितराज जगन्नाथ के रस-विवेचन से स्पष्टतः प्रभावित होने पर भी वे अपनी मौलिक एवं गंभीर विवेचन-प्रणाली के कारण विशेष गौरव के अधिकारी हैं। काव्यास्वाद को अभेदमयी विश्रान्तिपूर्ण आत्मानुभूति मानते हुए उसे ब्रह्मानन्द की उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति के रूप में प्रतिष्ठित कर प्रसाद जी ने हिन्दी के आधुनिक साहित्यशास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन में महत्वपूर्ण योगदान किया है।

अन्य छायावादी कवि-विचारक : (निराला, पंत और महादेवी)

निराला, पंत एवं महादेवी वर्मा ने जयशंकर प्रसाद की भाँति काव्यास्वाद का सूक्ष्म एवं गहन विवेचन-विश्लेषण नहीं किया। किसी स्पष्ट विवेचन के अभाव में इन कवियों के काव्य-संकलनों की भूमिकाओं एवं निबन्धों में प्रकीर्ण रूप से उपलब्ध मन्तव्यों के आधार पर ही उनकी दृष्टि में काव्यास्वाद के स्वरूप का अनुशीलन किया जा सकता है।

निराला

पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की काव्यास्वाद-विषयक अवधारणों के अध्ययन के लिए उनके काव्यग्रंथ 'अर्चना' की भूमिका, 'प्रबन्ध-प्रतिमा' एवं 'चयन' शीर्षक निबंध-संकलनों तथा 'रवीन्द्र-कविता-कानन' शीर्षक आलोचनात्मक कृति के अतिरिक्त 'माधुरी' पत्रिका में उपलब्ध सामग्री का आधार ग्रहण करना होगा।

निराला ने भारतवर्ष के परम्परागत काव्य-मूल्य के प्रति आस्था प्रकट की है तथा काव्यास्वादन कराने में समर्थ रस-सिद्ध कवि को महान् घोषित किया है : '. . .रसों को समझने और उन्हें उनके यथार्थ रूप में दर्शाने की शक्ति जिसमें जितनी ज्यादा है, वह उतना ही बड़ा कवि है।"[3] जिन शब्दों में निराला ने काव्य की सम्मोहन-शक्ति की महत्त्व-प्रतिष्ठा की है, उनमें काव्यास्वाद के स्वरूप के विषय में उनकी अवधारणा का अनुसंधान कठिन नहीं है : 'कवियों के हृदय-निर्गत कविता-रूपी उद्गार में इतनी शक्ति होती है कि उसका प्रवाह जनता को अपनी गति की ओर खींच लेता है। कवि की सुझाई हुई बात जनता के चित्त में पैठ या बैठ जाती है, . . .।"[4] इस उद्धरण से दो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं : (क) काव्य में अभिव्यक्त कवि की भावानुभूति सहज आकर्षण-सम्पन्न एवं सहृदय-सापेक्ष होती है, (ख) काव्यानुभाव द्वारा प्रमाता के चित्त में कवि की अनुभूति से जो तादात्म्य स्थापित हो जाता है, वही काव्यास्वाद है। निराला के अनुसार

---

१. वही, पृष्ठ ६।
२. देखिए इसी अध्याय के प्रस्तुत प्रकरण में पं० केशवप्रसाद मिश्र का मत।
३. निराला : रवीन्द्र-कविता-कानन, सन् १९५४, पृष्ठ ५२।
४. माधुरी, 'तुलसीकृत रामायण का आदर्श', शीर्षक लेख, अगस्त १९२३, पृष्ठ ४९।

काव्यास्वाद की स्थिति में प्रमाता की चेतना मानवीय सम्बन्धों से मुक्त हो जाती है : 'कली की सुगन्ध की तरह महाकवि की प्रतिमा...हर एक मानवीय दुर्बलता को परास्त करना चाहती है। यह उसका स्वाभाविक धर्म भी है। क्योंकि दैवी-शक्ति वही है जो मानवीय बन्धनों का उच्छेद कर देती है।'[1]

काव्यास्वाद को निराला परम्परानुगत रूप से लोकोत्तर-आनन्दमयी अनुभूति मानते हैं : 'साहित्य लोक से—सीमा से—प्रान्त से—देश से—विश्व से ऊँचा उठा हुआ है। इसी-लिए वह लोकोत्तरानन्द दे सकता है।'[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि निराला के अनुसार :

१. काव्यानुभावन से प्रमाता के चित्त में कवि एवं प्रमाता के भाव-तादात्म्य से उद्भूत आनन्दानुभूति ही काव्यास्वाद है।
२. काव्यानन्द लोकोत्तर होता है।
३. काव्यास्वाद की इस आनन्दमयी स्थिति में प्रमाता की चेतना मानवीय सम्बन्धों से मुक्त हो जाती है।

सुमित्रानन्दन पंत

कविवर पंत की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताएँ 'गद्य-पद्य' में संकलित उनके काव्य-ग्रंथों की भूमिकाओं एवं निबंधों तथा 'छायावाद : पुनर्मूल्यांकन' शीर्षक आलोचना-ग्रंथ में उपलब्ध हैं।

प्राचीन काव्यशास्त्र में निरूपित काव्यास्वाद-स्वरूप-सम्बन्धी सिद्धान्त पंतजी को स्वीकार्य नहीं हैं। 'अंग्रेजी समालोचना' से चमत्कृत एवं छायावादी काव्य के नवीन भाव-बोध से आक्रान्त 'पल्लव' के युवा कवि पंत का भावुक मन दण्डी, विश्वनाथ, एवं जगन्नाथ प्रभृति उद्भट आचार्यों के प्रति विद्रोह कर उठा : 'रसगंगाधर, काव्यादर्श आदि की वीणा के तार पुराने हो गये; वे स्थायी, संचारी, व्यभिचारी आदि भावों का जो कुछ संचार अथवा व्यभिचार करवाना चाहते थे, करवा चुके।...आशा है, विश्वविद्यालय के उत्साही हिन्दी-प्रेमी छात्र...हिन्दी में अंग्रेजी ढंग की समालोचना का प्रचार कर, उसके पथ में प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। हम लोग अब 'काव्यं रसात्मकं वाक्यम्', 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' को अच्छी तरह समझ गए हैं।'[3] इस दृष्टि से पंत जयशंकरप्रसाद की शास्त्रनिष्ठा के सर्वथा विपरीत प्राचीन काव्य-मूल्यों के प्रति अनास्था के आत्यन्तिक ध्रुव पर अवस्थित दिखाई पड़ते हैं। रस के प्रति वितृष्णा व्यक्त करने पर भी पंतजी ने बाद में चलकर अपने अभिनव आलोचना-ग्रंथ 'छायावाद : पुनर्मूल्यांकन' में आस्वाद के अर्थ में 'रस' शब्द का प्रयोग किया, किन्तु रस से उनका आशय संस्कृत-काव्यशास्त्र की परम्परागत रस-धारणा से भिन्न है : 'रस, प्राचीन काव्यशास्त्रीय नीरस परिभाषाओं या व्याख्याओं की कूपदृष्टि से मुक्त होकर, नवीन मूल्य-साधना का विषय बन गया।'[4]

---

१. रवीन्द्र-कविता-कानन, पृष्ठ ४२।
२. प्रबन्ध-प्रतिभा, सम्वत् १९९७, पृष्ठ २५८।
३. सुमित्रानन्दन पंत : गद्य-पद्य, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४१।
४. सुमित्रानन्दन पंत : छायावाद : पुनर्मूल्यांकन, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १०१।

काव्यास्वाद के संदर्भ में पंतजी की इस 'नवीन मूल्य-साधना' का अर्थ, वस्तुतः, शब्दार्थ एवं शिल्पगत सौंदर्य ही है। 'नये रस' को काव्यास्वाद के रूप में व्याख्यायित करते हुए उनका अभिकथन है कि 'शब्दों से नये अर्थ, अर्थों से नयी चेतना, चेतना से नया कला-बोध और कला-बोध से नयी सौंदर्य-भंगिमा हृदय को स्पर्श कर नये रस का संचार करने लगी।'[1] काव्यास्वाद के विषय में पंतजी की यही मूल अवधारणा है। इसमें काव्यास्वाद के स्वरूप और उसकी प्रक्रिया दोनों का ही विश्लेषण है। 'शब्दों से नये अर्थ' से लेकर 'नये रस के संचार' तक जितने भी शब्द इस उक्ति में आये हैं वे नवीन शब्दार्थ—चमत्कार की आस्वादमयी परिणति की प्रक्रिया के अन्तवर्ती बिन्दु हैं। शब्दों का नया अर्थ, वस्तुतः, प्रमाता द्वारा गृहीत काव्य का नवीन अर्थ ही है जिसे संस्कृत-काव्यशास्त्र के ध्वनि-सम्प्रदाय में 'प्रतीयमान अर्थ'[2] कहा गया है। पंतजी के अनुसार इस नये अर्थ से 'नयी चेतना' का उद्‌भव होता है—इसका अर्थ प्रमाता की चित्त-वृत्ति में काव्य-वस्तु-विषयक नवीन अवबोध का आविर्भाव ही है। इस मनःस्थिति में प्रमाता एक आस्वादमयी सौंदर्यानुभूति का अनुभव करने लगता है, पंतजी ने इसे 'नया कलाबोध' तथा 'नयी सौंदर्य-भंगिमा' कहा है। 'नये रस का संचार' वस्तुतः, इसी आस्वादमयी सौंदर्यानुभूति का निष्पन्न एवं परिपक्व रूप है। इस प्रकार पंतजी के अनुसार शब्द के नवीन अर्थ की रमणीयता से निष्पन्न प्रमाता का अन्तश्चमत्कार ही काव्यास्वाद है। पंतजी ने इस आस्वाद को एक अन्य स्थल पर 'लोकोत्तरानंददायी रस' की संज्ञा प्रदान की है: 'किसी कलाकृति में मुख्यतः तीन गुणों का समावेश रहना चाहिए। (१) सौंदर्य-बोध, (२) व्यापक गंभीर अनुभूति, (३) उपयोगी सत्य। इनका रहस्य मिश्रण ही कलावस्तु में लोकोत्तरानन्ददायी रस की परिपुष्टि करता है।'[3] इस प्रकार काव्यानन्द को लोकोत्तर कहकर पंतजी ने परम्परा का अनुमोदन ही किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पंतजी का काव्यास्वाद-विवेचन संस्कृत-काव्यशास्त्र के परिवृत्त से बाहर नहीं है। उन्होंने अभिनव शब्दावली में शब्द के नवीन अर्थ की रमणीयता से निष्पन्न प्रमाता के आनन्दपूर्ण अन्तश्चमत्कार का जो पुनराख्यान किया है, वह अस्पष्ट एवं अरूप होने के कारण हिन्दी के आधुनिक साहित्यशास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन में विशेष योगदान नहीं करता।

महादेवी वर्मा :

महादेवी का काव्यास्वाद-विवेचन निराला एवं पंत की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म एवं गहन है। गंगाप्रसाद पाण्डेय द्वारा संकलित 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' के 'काव्य-कला' एवं 'गीतिकाव्य' शीर्षक निबंधों तथा उनकी काव्य-कृतियों की भूमिकाओं में उनका काव्यास्वाद-विषयक मन्तव्य स्फुट रूप में उपलब्ध है।

---

१. सुमित्रानन्दन पंत : छायावाद : पुनर्मूल्यांकन, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १०१।

२. 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥'
—हिन्दी ध्वन्यालोक, सं० डॉ० नगेन्द्र (प्रथम संस्करण), प्रथम उद्योत, कारिका १३, पृष्ठ ५३।

३. सुमित्रानन्दन पंत : गद्य-पद्य, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २०१।

महादेवीजी ने सौंदर्यानुभूति के अन्तर्गत काव्यास्वाद का विवेचन किया है। अपने प्रसिद्ध निबंध 'काव्य-कला' में उन्होंने यद्यपि मुख्य रूप से ज्ञानमयी बौद्धिक अनुभूति और रागमयी भावात्मक अनुभूति का तुलनात्मक अन्तर्विश्लेषण तथा कलाकार के जीवन-दर्शन एवं उसकी सौंदर्य-चेतना का विवेचन ही किया है, तथापि इन विषयों के संदर्भ में उन्होंने प्रसंगवश काव्यास्वाद अथवा प्रमाता की कलाजन्य सौंदर्यानुभूति पर भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनके अनुसार प्रमाता द्वारा शुद्ध भावात्मक धरातल पर कलाकार की तीव्र-मधुर अनुभूति का ग्रहण ही काव्यास्वाद है। कलाकार की भाव-संवेदना के व्यापक एवं सार्वजनीन परिवेश की चर्चा करते हुए उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है: '. . .कलाकार. . .अपनी आत्म-कहानी में, हृदय हृदय की कथा कहता है और स्वयं चलकर पग-पग के लिए पथ प्रशस्त करता है। वह . . .अपनी अनुभूति दूसरे तक पहुँचाता है और वह भी एक विशेषता के साथ। काँटा चुभाकर काँटे का ज्ञान तो संसार दे ही देगा, परन्तु कलाकार बिना काँटा चुभने की पीड़ा दिये हुए ही उसकी कसक की तीव्रमधुर अनुभूति दूसरे तक पहुँचाने में समर्थ है।'[1] प्रस्तुत उद्धरण से तीन निष्कर्ष प्राप्त होते हैं: (१) कवि का संवेद्य अभिव्यक्त होकर प्रमाता मात्र की अनुभूति का विषय बन जाता है। (२) इस प्रक्रिया में कवि की अनुभूति अपनी वयक्तिक तीक्ष्णता खोकर मधुर रूप प्राप्त कर लेती है। (३) प्रमाता द्वारा कवि की इस 'तीव्र-मधुर' अनुभूति का भावन ही काव्यास्वाद है। महादेवी जी ने प्रमाता तक कवि की इस 'तीव्र-मधुर' अनुभूति की संप्रेषणीयता को 'सरल संवेदनीयता' का अभिधान देते हुए उपर्युक्त तथ्य को ही एक अन्य स्थल पर इस प्रकार व्यक्त किया है: 'उसकी[2] सरल संवेदनीयता की सब सीमाओं तक. . . .पहुँच रहती है।'[3]

महादेवी के अनुसार कवि की अनुभूति के प्रमाता द्वारा भावन से उद्भूत काव्यास्वाद की स्थिति में कवि एवं प्रमाता का सहज तादात्म्य स्थापित हो जाता है जो प्रकृत्या आनन्दमय होता है: '. . .हम. . .कलाकार के सत्य में अपने आपको पाते हैं। दूसरे के बौद्धिक निष्कर्ष तो हमें अपने भीतर उनका प्रतिबिम्ब खोजने पर बाध्य करते हैं, परन्तु अनुभूति हमारे हृदय से तादात्म्य करके प्राप्ति का सुख देती है।'[4] एक अन्य स्थल पर महादेवी ने कवि एवं प्रमाता के इस भावात्मक तादात्म्य की प्रक्रिया का मूल कवि की संवेद्य अनुभूति का प्रमाता के चित्त में उद्रेक माना है: '. .कवि को आर्त्त क्रन्दन के पीछे छिपे हुए भावातिरेक को दीर्घ निःश्वास में छिपे हुए संयम से बाँधना होगा तभी उसका गीत दूसरे के हृदय में उसी भाव का उद्रेक करने में सफल हो सकेगा।'[5] कवि एवं प्रमाता के अनुभूतिगत तादात्म्य का सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र में नया नहीं है। अनेक काव्य-चिन्तकों ने अनेक रूपों में इसी तथ्य का निर्वचन किया है। अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत की प्रसिद्ध उक्ति 'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः'[6]

---

१. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, (संकलनकर्त्ता—गंगाप्रसाद पाण्डेय), स्टूडेंट्स फ्रेंड्स, इलाहाबाद, पृष्ठ १९।
२. 'उसकी'=गीत की।
३. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ १४७।
४. वही, पृष्ठ १९।
५. वही, पृष्ठ १४२।
६. ध्वन्यालोकलोचन में अभिनवगुप्त द्वारा उद्धृत भट्टतौत का मत।

विवेचकों के चिन्तन को उत्तेजित कर नवीन दिशाओं और क्षेत्रों के अनुसंधान में प्रवृत्त करने के श्रेय की अधिकारिणी हैं।

शुक्लजी के समसामयिक अन्य साहित्यालोचकों पं० केशवप्रसाद मिश्र, आचार्य श्यामसुन्दरदास, पं० रामदहिन मिश्र एवं पं० बलदेव उपाध्याय के अतिरिक्त छायावादी कवि-चतुष्टय में से प्रसाद ने अत्यंत व्यवस्थित रूप में काव्यास्वाद का विवेचन किया है। पं० केशवप्रसाद मिश्र ने जिस 'मधुमती भूमिका' एवं काव्यास्वाद की स्थिति में प्रमाता की 'निर्वितर्क समापत्ति' की उद्भावना की, उसने आचार्य श्यामसुंदरदास, पं० रामदहिन मिश्र और पं० बलदेव उपाध्याय के काव्यास्वाद-विवेचन को प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया। इसके अतिरिक्त काव्यास्वाद के आनंद को सृजन-स्थिति में कवि द्वारा अनुभूत आनन्द का प्रतिफल घोषित कर उन्होंने आधुनिक हिन्दी-काव्यशास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन को नवीन दृष्टि प्रदान की। आचार्य श्यामसुंदरदास एवं पं० रामदहिन मिश्र ने भरत, भट्टनायक, भट्टतौत, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ आदि संस्कृत-काव्यशास्त्रियों तथा हिन्दी के आचार्यों—रामचन्द्र शुक्ल एवं पं० केशवप्रसाद मिश्र—से सामग्री संकलित कर उसकी व्यवस्थित एवं सुबोध रूप में पुनर्व्याख्या की है। इस दृष्टि से उनका कोई विशेष योगदान नहीं माना जा सकता। पं० बलदेव उपाध्याय का काव्यास्वाद-विवेचन उक्त दोनों आचार्यों से भिन्न है। उन्होंने एक तो प्रमाता द्वारा काव्य-वस्तु के तटस्थ एव अनासक्त ग्रहण से ही काव्यास्वाद की उद्भूति मानकर और दूसरे, काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द एवं बौद्धिक आनन्द से भी उच्चतर भूमि प्रदान कर आधुनिक हिन्दी-साहित्यशास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। छायावादी कवि-समीक्षकों में जयशंकर-प्रसाद और महादेवी वर्मा का काव्यास्वाद-विवेचन निराला एवं पंत की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म एवं गंभीर है। प्रसाद जी ने काव्यास्वाद की आत्मवादी पुनर्व्याख्या कर उसे अभेदमयी विश्रान्तिपूर्ण आत्मानुभूति सिद्ध करते हुए ब्रह्मानन्द की उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति के रूप में प्रतिष्ठित किया। महादेवी जी ने काव्यास्वाद को कवि की मूल अनुभूति के भावन से उद्भूत प्रमाता की तीव्र आनन्दमयी सौंदर्यानुभूति मानकर आधुनिक हिन्दी-साहित्यशास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन में सौंदर्यशास्त्रीय चिन्तन-पद्धति की अवतारणा की।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल, उनके समसामयिक साहित्याचार्यों एवं कवि-समीक्षकों का काव्यास्वाद-निरूपण आधुनिक हिन्दी-साहित्यशास्त्र में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में, शुक्ल-परवर्ती युग के आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र एवं 'सुधांशु' के काव्यास्वाद-विवेचन में जिस सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि, नवोन्मेष, गंभीर एवं मौलिक प्रबोध के दर्शन होते हैं, उसके मूल में शुक्ल-युग के विवेचकों की काव्यास्वाद-विषयक निष्पत्तियों का असंदिग्ध योग है। इस युग के साहित्य-समीक्षकों द्वारा एक ओर भारतीय रसशास्त्र, दर्शन एवं पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र तथा दूसरी ओर मानवतावाद के आलोक में किया गया काव्यास्वाद-विवेचन समग्र हिन्दी-साहित्यशास्त्र में एक अभूतपूर्व घटना है।

अध्याय : ७

उत्कर्ष काल : आधुनिक काल में काव्यास्वाद का विवेचन—(२)

(क) शुक्लोत्तर हिन्दी-साहित्यशास्त्र में काव्यास्वाद का विवेचन

(ख) समसामयिक साहित्यशास्त्रीय धाराओं में काव्यास्वाद का विवेचन :

(अ) प्रगतिवादी आलोचना

(आ) नव समीक्षा

(ग) समाहार एवं निष्कर्ष

अध्याय : ७

उत्कर्ष काल : आधुनिक काल में काव्यास्वाद का विवेचन—(२)

(क) शुक्लोत्तर हिन्दी-साहित्यशास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन

शुक्लोत्तर हिन्दी-साहित्यशास्त्र का काव्यास्वाद-विवेचन सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्यशास्त्र में कदाचित् सर्वाधिक प्रबुद्ध, सूक्ष्म एवं गहन है। इस युग के समीक्षकों ने संस्कृत-काव्याशास्त्र तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्र की व्यापक एवं प्रमाणित भूमि पर आधुनिक मनोविज्ञान तथा अधुनातन मनोविश्लेषणशास्त्र के प्रकाश में काव्यास्वाद के स्वरूप और उसकी प्रक्रिया का अत्यन्त सूक्ष्म और तलस्पर्शी विवेचन-विश्लेषण किया है। इस युग के जिन समीक्षकों ने काव्यास्वाद-विवेचन के क्षेत्र में अनेक दृष्टियों से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान किया है, उनमें डॉ० गुलाबराय, डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा डॉ० नगेन्द्र के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

गुलाबराय

शुक्ल-परवर्ती आधुनिक हिन्दी-साहित्यशास्त्र में गुलाबराय का नाम ऐतिहासिक क्रम की दृष्टि से सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। यों गुलाबराय का प्रथम साहित्यशास्त्रीय ग्रंथ 'नव रस' शुक्ल-पूर्व-युग के प्रसिद्ध कवि-समीक्षक 'हरिऔध' के ग्रंथ 'रस-कलस' तथा कन्हैयालाल पोद्दार के काव्यशास्त्रीय ग्रंथ 'रस-मंजरी' के प्रकाशन के आसपास सन् १९२९ ई० में ही प्रकाशित हो चुका था, इस दृष्टि से उनका नाम शुक्ल-पूर्ववर्ती आचार्यों में ही समाविष्ट किया जाना चाहिये था, किन्तु जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, उक्त पुस्तक का उनके कृतित्व में कोई विशेष योगदान नहीं है। बाद में 'नवरस' की 'उन्हीं भूलों के संशोधन के उद्देश्य से'[1] उन्होंने अपने काव्यशास्त्रीय चिन्तन की अभिव्यक्ति के लिए सन् १९४७ में 'काव्य के रूप' तथा सन् १९५१ में 'सिद्धान्त और अध्ययन' शीर्षक दो पुस्तकों का प्रणयन किया। इसके अतिरिक्त सन् १९५७ में 'अध्ययन और आस्वाद' शीर्षक से उनके आलोचनात्मक निबन्धों का एक संकलन भी प्रकाशित हुआ। गुलाबरायजी का आलोचनात्मक कृतित्व मूलतः उक्त तीनों ग्रंथों में ही निहित है, अतएव इन कृतियों के रचना-काल के आधार पर गुलाबराय जी को शुक्ल-परवर्ती आलोचकों में ही स्थान देना समीचीन होगा।

काव्यास्वाद का स्वरूप

गुलाबराय का काव्यास्वाद-विवेचन भी मूलतः परम्परानुमोदित ही है। उनकी दृष्टि

---

१. गुलाबराय, सिद्धान्त और अध्ययन, द्वितीय सं०, पृष्ठ २५।

में भी रसानुभूति ही काव्यास्वाद है। उन्होंने अत्यंत प्रबल शब्दों में रस को ही काव्य के आत्म-पद का अधिकारी घोषित किया है : 'काव्य की आत्मा रस ही रहेगा।'[1] उन्होंने अपनी रस-परिभाषा में रसानुभूति के आस्वाद-पक्ष पर पर्याप्त बल दिया है : 'किसी वस्तु का आस्वादन करने पर जो आनन्द मिलता है उसे रस कहते हैं'[2], 'रस आस्वादन-जन्य आनन्द को कहते हैं किन्तु पारिभाषिक शब्दावली में हम उसके रूप को इस प्रकार कहेंगे—विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से मिलकर वासना-रूप (संस्कार-रूप) स्थायी-भाव जब अपनी व्यक्त और पूर्ण परिपक्वावस्था को पहुँचता है तब वह आत्मा की सहज सात्त्विकता के कारण रस का आनन्दमय रूप धारण कर लेता है।'[3] एक अन्य स्थान पर रस की परिभाषा उन्होंने इस प्रकार दी है : 'वह तो काव्यगत विभावादि द्वारा उद्‌बोधित एवं रजोगुण-तमोगुण-विमुक्त, सतोगुण-प्रधान आत्म-प्रकाश से जगमगाते हुए हृदय के वासनागत स्थायी भाव का आस्वादनजन्य आनन्द है।'[4] इन उद्धरणों से तीन निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—(१) विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के संयोग से प्रमाता के चित्त में वासना-रूप से स्थित स्थायीभाव की आनन्दमयी परिणति ही काव्यास्वाद है। (२) यह आनन्द आस्वादजन्य है। (३) काव्यास्वाद की प्रतीति प्रमाता की सत्त्वोद्रिक्त मनःस्थिति में ही सम्भव है।

गुलाबराय जी ने एक स्थल पर सौन्दर्यानुभूति के रूप में भी काव्यास्वाद का विवेचन किया है। उनके अनुसार भाव की सामंजस्यपूर्ण-अनुभूति ही सौन्दर्यानुभूति है : 'सौन्दर्य भाव-क्षेत्र का सामंजस्य है।'[5] यह सामंजस्यपूर्ण सौन्दर्यानुभूति ही, उनके अनुसार, आनन्दपूर्ण काव्यास्वाद है : 'कवि जहाँ सामंजस्य का अभाव देखता है वहाँ वह थोड़ी काट-छाँट के साथ सामंजस्य उत्पन्न कर देता है। वही सामंजस्य पाठक या श्रोता के मन में समान प्रभाव उत्पन्न कर उसके आनन्द का विधायक बन जाता है।'[6]

इस प्रकार गुलाबरायजी एक ओर सत्त्वोद्रेकमयी स्थिति में प्रमाता के चित्त में वासना-रूप से स्थित स्थायी-भाव की आनन्दमयी परिणति को तथा दूसरी ओर भावों के सामंजस्य से उत्पन्न सौन्दर्यानुभूति को काव्यास्वाद मानते हैं। इनमें से प्रथम मान्यता तो स्पष्ट ही भारतीय रस-प्रकल्पना का रूपान्तर मात्र है तथा दूसरी मान्यता पर पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र का सामान्य और अंग्रेज़ी के अर्वाचीन समीक्षक आई० ए० रिचर्ड्स के 'अन्तर्वृत्तियों के समीकरण'[7] के सिद्धान्त का विशेष प्रभाव है। काव्यास्वाद के विवेचन-क्रम में गुलाबरायजी ने सौन्दर्यानुभूति की चर्चा एक-आध स्थान पर ही की है। अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में काव्यास्वाद के रूप में उन्होंने रस का विवेचन ही विशेष मनोयोगपूर्वक किया है।

---

१. गुलाबराय, अध्ययन और आस्वाद, सन् १९५७ ई०, पृष्ठ १०।
२. गुलाबराय, सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ १७७।
३. वही, पृष्ठ ११५।
४. गुलाबराय, सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ --२०-२।
५. वही, पृष्ठ १०४।
६. वही,।
७. देखिए तृतीय अध्याय के अन्तिम प्रकरण के अन्तर्गत आई० ए० रिचर्ड्स का काव्यास्वाद-विवेचन।

काव्यास्वाद की प्रकृतिगत विशेषताओं के अन्तर्गत गुलाबरायजी ने रमणीय, स्वप्रकाश, चिन्मय, अखण्ड एवं ब्रह्मानंद-सहोदर आदि परम्परागत विशेषणों का उल्लेख भी किया है : 'रस अर्थात् आनन्द उसका निजी रूप है। वह रमणीयता का चरम लक्ष्य है. . .इसलिए वह परमार्थ है, स्वयंप्रकाश्य, चिन्मय, अखण्ड, ब्रह्मानन्द-सहोदर है. . . ।'[1] एक अन्य स्थल पर उन्होंने इसी बात को इन शब्दों में व्यक्त किया है : '. . .चित्त की एकाग्रता द्वारा आत्मा का स्वाभाविक आनन्द प्रस्फुटित हो उठता है। यही ब्रह्मानन्द-सहोदर काव्यानन्द है।'[2] इस उद्धरण में 'चित्त की एकाग्रता' भारतीय रस-शास्त्र में निरूपित 'वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्यता' से भिन्न नहीं है। इसी सन्दर्भ में उन्होंने काव्यास्वाद की स्थिति में प्रमाता की वैयक्तिक संबंधों से मुक्ति की भी चर्चा की है : 'जहाँ हम ममत्व से परे हुए वहाँ रस-दशा को प्राप्त होते हैं।'[3] मम्मट ने इसी तथ्य को 'तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाव'[4], हिन्दी के प्रसिद्ध आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'हृदय की मुक्तावस्था'[5] तथा पं० केशवप्रसाद मिश्र ने 'निर्वितर्क समापत्ति'[6] कहा है।

गुलाबरायजी ने काव्यास्वाद को भारतीय दर्शन एवं रसशास्त्र के अनुरूप ही आत्मानुभूति का आनन्द अथवा आत्मानन्द स्वीकार किया है : 'कला में हम अपने भावों को मूर्तिमान् देखकर एक प्रकार से अपनी आत्मा के दर्शन ही करते हैं। उसमें हमको आत्मानुभव का आनन्द आता है। वह 'सद्यःपरनिर्वृतये' के निकट आ जाता है। यह आनन्द मन को व्याप्त कर लेता है।'[7] मम्मट के प्रत्यक्ष प्रभाव के अतिरिक्त आत्मानन्द-विषयक अपनी अवधारणा पर गुलाबरायजी ने भारतीय दर्शन का प्रभाव भी स्वयं ही स्वीकार किया है : 'रस-सिद्धान्त हमारे देश की उपज है और वह हमारे यहाँ के दार्शनिक विचारों से प्रभावित है। रस उस आत्म-तत्त्व पर अवलम्बित है जिसका सहज गुण आनन्द है।'[8] आत्मानन्द-सम्बन्धी गुलाबरायजी के इस सिद्धान्त पर सम्पूर्ण भारतीय रस-शास्त्र का, विशेषतः जगन्नाथ का स्पष्ट प्रभाव है। उन्होंने काव्यास्वाद को 'निज-स्वरूपानन्द'[9] कहा है। हिन्दी के काव्यास्वाद-विवेचकों में कविवर जयशंकर प्रसाद ने आत्मानुभूति के इस आनन्द पर सर्वाधिक बल दिया है।[10]

गुलाबराजी की काव्यास्वाद-विषयक दृष्टि मूलतः भारतीय ही है, इसीलिए वे काव्यास्वाद

---

१. गुलाबराय, सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ ४५।
२. गुलाबराय, काव्य के रूप, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ४८।
३. गुलाबराय, सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ १७७।
४. हिन्दी काव्यप्रकाश, व्या० आचार्य विश्वेश्वर, चतुर्थ उल्लास, पृष्ठ ११२।
५. पं० रामचन्द्र शुक्ल, चिंतामणि (पहला भाग), सन् १९५२, पृष्ठ १४१।
६. साहित्यालोचन, पन्द्रहवां सं०, श्यामसुन्दरदास द्वारा उद्धृत पं० केशव प्रसाद मिश्र का मत, पृष्ठ २१२।
७. गुलाबराय, सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ ८४।
८. वही, पृष्ठ १९०।
९. '. . .स्वप्रकाशतया वास्तवेन, निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः. . . वासनारूपो रत्यादिरेवरसः।'—रसगंगाधर, चौखम्बा विद्याभवन, प्रथमानन, पृष्ठ ८०।
१०. देखिए, प्रस्तुत प्रबंध के षष्ठ-अध्याय के (ग) प्रकरण में जयशंकर प्रसाद का काव्यास्वाद-विवेचन।

को मनोवेग न मानकर एक साधारणीकृत 'सामूहिक आस्वाद' मानते हैं : '...रस मनोवेग नहीं है वरन् साधारणीकरण के झपके में खिची हुई उनकी भावना का सामूहिक आस्वाद मात्र है।'[1] इस प्रकार गुलाबरायजी ने प्रकारान्तर से पाश्चात्य काव्यशास्त्र में प्लेटो द्वारा निरूपित 'मनोवेगों का उत्तेजन', बोइलो द्वारा प्रतिपादित 'भावोद्वेलन का आनन्द' तथा ड्राइडन द्वारा निरूपित 'संवेगोद्दीप्ति से प्राप्त आह्लाद आदि'[2] सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

काव्यास्वाद की प्रक्रिया

काव्यास्वाद की प्रक्रिया में गुलाबरायजी कवि, काव्य एवं प्रमाता का समान योगदान मानते हैं : 'रस में कर्त्ता (कवि), कृति (काव्य) और भोक्ता (पाठक) तीनों को ही समान महत्त्व मिलता है।'[3] कवि एवं प्रमाता के भावगत तादात्म्य से ही, उसके अनुसार, प्रमाता को काव्यास्वाद की प्रतीति होती है : 'जहाँ पाठक या श्रोता का काव्य के आश्रय के साथ तादात्म्य हो वहाँ बहुधा आपस में भी भाव-साम्य हो जाता है, अर्थात् वे समान रूप से प्रभावित होते हैं और उनका कवि की भावना से भी तादात्म्य हो जाता है।'[4] गुलाबरायजी का उक्त मन्तव्य भट्टतौत के प्रसिद्ध मत 'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः'—का रूपान्तर मात्र है। भारतीय रस-शास्त्र के प्रसिद्ध सिद्धान्त 'साधारणीकरण' के अन्तर्गत गुलाबरायजी ने काव्यास्वाद की प्रक्रिया का विवेचन किया है। उनके मतानुसार साधारणीकरण की प्रक्रिया से विभावादि अपने विशेष सम्बन्धों से मुक्त होकर सहृदय मात्र की भावना का समान विषय बन जाते हैं, तथा काव्य के माध्यम से कवि एवं प्रमाता के बीच भाव-तादात्म्य अथवा संबंध-सूत्र स्थापित हो जाता है और प्रमाता काव्यानंद का अनुभव करने लगता है : 'विभावादि जब विशेष संबंधों से मुक्त हो जाते हैं तभी वे सब सहृदयों की भावना के समान रूप से विषय बनते हैं...साधारणीकरण द्वारा कवि, कविता के आश्रय और पाठक भावना के एक सूत्र में बँध जाते हैं।'[5] साधारणीकरण की व्याख्या करते हुए गुलाबरायजी ने देशकाल एवं 'स्व'-'पर' की संकुचित भावना से मुक्ति पर बल दिया है : 'साधारणीकरण का अभिप्राय है—आलम्बन का व्यक्तित्व बनाए रखते हुए भी उसको ऐसे रूप में उपस्थित करना कि वह मेरे-पराये के बंधनों से मुक्त हो जाय और सब सहृदयों की भावना का समान रूप से विषय बन सके। पाठकों की वे भावनाएँ देश-काल के बंधनों से मुक्त होती हैं तभी वे दुःखात्मक होने से बची रहती हैं...।'[6] गुलाबरायजी का प्रस्तुत मत भी परम्परा से भिन्न नहीं है। उनका यह मत स्पष्टतः संस्कृत-रस-शास्त्र के प्रायः सभी आचार्यों तथा आधुनिक हिन्दी-साहित्यशास्त्र के आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं पं० केशवप्रसाद मिश्र से प्रभावित है।

---

१. गुलाबराय, सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ १७८।
२. देखिए प्रस्तुत प्रबंध के तृतीय अध्याय में, बोइलो तथा ड्राइडन के काव्यास्वाद-विषयक मतों का विवेचन।
३. गुलाबराय, सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ ४५।
४. वही पृष्ठ २१५।
५. वही।
६. वही।

गुलाबरायजी का काव्यास्वाद-विवेचन मूलतः भारतीय काव्यशास्त्र के रस-सिद्धान्त पर आधारित है। मौलिक न होने पर भी उनका यह विवेचन अपनी सुबोध व्याख्या-शैली एवं प्रतिपादन की स्वच्छता के कारण आधुनिक हिन्दी-साहित्यशास्त्र में अपना निजी स्थान रखता है।

डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'

हिन्दी के समीक्षा-क्षेत्र में जिस समय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र-विषयक अपनी प्रतिक्रियाओं को अत्यन्त स्पष्ट एवं प्रवल रूप में व्यक्त करते हुए भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों में समन्वय द्वारा स्वतन्त्र एवं संतुलित दृष्टि से हिन्दी के आधुनिक साहित्यशास्त्र के निर्माण का प्रयत्न कर रहे थे, लगभग उसी समय सन् १९३८ ई० में लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' ने 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' शीर्षक रचना द्वारा हिन्दी-साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में प्रवेश किया। शुक्लजी ने अपने प्रसिद्ध निबंध 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' में प्रख्यात इतालवी सौन्दर्यशास्त्री क्रोचे के जिस कला-दर्शन का स्पर्श मात्र ही किया था, सुधांशु ने उक्त ग्रंथ में अत्यंत सूक्ष्म रूप में भारतीय दृष्टिकोण से उसकी विस्तृत विवेचना की। इसके लगभग ४ वर्ष बाद ही सन् १९४२ ई० में सुधांशु का दूसरा सैद्धान्तिक आलोचनात्मक ग्रंथ 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' प्रकाशित हुआ। इन दोनों पुस्तकों एवं उनके लेखक के विषय में कविवर दिनकर की सम्मति इस प्रकार है—'उनकी पहली पुस्तक 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' विद्वानों के बीच काफ़ी आदर पा चुकी है। 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' पुस्तक काव्य के सम्बन्ध में उनके वैज्ञानिक चिन्तन का परिणाम है तथा उनके अन्य लेखों और अभिभाषणों से हिन्दी की आलोचना-पद्धति को यथेष्ट शक्ति प्राप्त हुई है।'[1]

सुधांशु मूलतः रसवादी आचार्य हैं और रसानुभूति को ही काव्यास्वाद मानते हैं, किन्तु रसानुभूति के स्वरूप का व्याख्यान-विश्लेषण सुधांशु ने संस्कृत के रसशास्त्रीय दृष्टिकोण से न कर युगीन परिप्रेक्ष्य में उसका विवेचन किया है। वे काव्यास्वाद के मूल में सौन्दर्य-तत्त्व की सत्ता स्वीकार करते हैं। यह सौन्दर्य-तत्त्व, सुधांशु जी के अनुसार, काव्य-सृजन की आवश्यक भूमि 'काव्यानुभूति' को जन्म देता है, जिसे वे 'सौन्दर्य-भावना' का अभिधान देते हैं : 'सौन्दर्य-भावना और काव्यानुभूति में मूलतः कुछ भेद नहीं है। शुद्ध सौन्दर्य-भावना ही काव्यानुभूति की जननी है।'[2] सौन्दर्य-भावना से प्रेरित कवि की काव्यानुभूति को सुधांशु प्रमाता की रसानुभूति से भिन्न मानते हैं : 'काव्यानुभूति और रसानुभूति में तात्त्विक दृष्टि से थोड़ा भेद बताया जा सकता है। काव्यानुभूति की स्थिति विशेष रूप से कलाकार में मानी जाती है और रसानुभूति की स्थिति पाठक या श्रोता में।'[3] सुधांशुजी के मतानुसार कवि की सौन्दर्य-भावना से प्रेरित 'काव्यानुभूति' प्रमाता तक संप्रेषित होकर उसकी चेतना को 'रसानुभूति' में मग्न नहीं कर देती, प्रत्युत रसानुभूति या काव्यास्वाद तो प्रमाता की अपनी रागात्मक वृत्तियों का ही प्रतिफल है जो काव्य में आश्रय प्राप्त कर आस्वाद्य बन जाती है : 'उसी काव्य से हमारा मनोरंजन हो सकता है जिसमें हमारी रागा-

---

१. हिन्दी के आलोचक, सन् १९५५, सं० शचीरानी गुर्टू, 'लक्ष्मीनारायण सुधांशु', शीर्षक दिनकर जी का निवन्ध, पृष्ठ २०२।

२. लक्ष्मीनारायण सुधांशु : काव्य में अभिव्यंजनावाद, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ८२।

३. वही, पृष्ठ ८३।

त्मिका वृत्तियाँ अपना आश्रय पा सकती हैं।[1] इस प्रकार सुधांशुजी के अनुसार काव्यानन्द की स्थिति काव्य में नहीं होती; वह वस्तुगत आनन्द न होकर विषयिगत आनन्द है : 'यदि काव्य में ही आनन्द माना जाय, तो एक ही प्रसंग को पचासों बार पढ़ने पर भी मनुष्य को प्रत्येक बार एक-सा ही आनन्द मिलना चाहिए। पर ऐसा होता नहीं है।'[2] काव्यास्वादन में कवि का योगदान, सुधांशुजी के अनुसार, मात्र इतना ही है कि वह प्रमाता के भावों को उत्तेजित कर देता है : 'कवि किसी के हृदय में नया भाव नहीं भरता, बल्कि वह केवल अनुभूत भावों को ही जाग्रत तथा उत्तेजित करता है।'[3] अपने इस मन्तव्य को एक अन्य स्थल पर उन्होंने और अधिक स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है : 'कवि अपना भाव पाठक को नहीं देता, बल्कि वह संकेत से पाठक या श्रोता के ही हृदय के भाव को संचारित कर देता है।'[4] इस प्रकार सुधांशु जी के अनुसार काव्यास्वाद काव्य के माध्यम से उत्तेजित प्रमाता के अपने भावों का आस्वाद है। काव्यास्वाद-विषयक अपने इसी अभिमत की पुष्टि के लिए उन्होंने दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं : 'सूखी हड्डियाँ चबाने वाला कुत्ता अपने ही मसूड़ों की जड़ों का रक्त चखकर इस बात से प्रसन्न होता है कि हड्डियों से ही यह रस प्राप्त हो रहा है। कस्तूरी मृग अपनी ही नाभि की सुगन्ध से उद्भ्रान्त-चकित होकर इधर-उधर दौड़ता और सोचता है कि यह सुगन्ध उसे अन्यत्र मिल रही है।'[5]

काव्यास्वाद की प्रक्रिया के विश्लेषण के अन्तर्गत सुधांशुजी ने काव्यास्वाद को प्रमाता के चित्त के 'अतिरिक्त ओज' का आस्वाद कहते हुए अपने उक्त अभिमत का ही पुनराख्यान किया है : 'रसास्वादन के सम्बन्ध में यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि मनुष्य अपने अतिरिक्त ओज का ही रस ग्रहण करता है। ...काव्य का रसास्वादन मन के अतिरिक्त ओज के आधार पर ही होता है। बाह्य जगत् की कोई अन्य शक्ति या प्रभाव मौलिक रूप से हमें रस-ग्रहण में सहायता नहीं दे सकता। ...पाठक या श्रोता अपने मन के बचे हुए ओज से ही काव्य का आनन्द पाता है, किन्तु समझता है कि उसने यह आनन्द काव्य से उपलब्ध किया है। काव्य की क्षमता, ओज की संवेदना को उभारना भर होनी चाहिए।'[6] प्रमाता के मन के इस 'ओज' के लिए सुधांशुजी ने अपनी पूर्ववर्ती पुस्तक 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' में 'तेज' शब्द का प्रयोग किया है : 'रस की अनुभूति से मनुष्य अपने मन के अतिरिक्त तेज को बाहर निकालता है।'[7] दिनकरजी ने सुधांशुजी की इस ओज-विषयक प्रकल्पना पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव दिखाते हुए 'ओज' शब्द को अंग्रेजी के 'एनर्जी' का पर्याय माना है : '...जो अनावश्यक है, जिसका कोई उद्देश्य नहीं है, वही भूमि कला की जन्मभूमि है और इसी भूमि में जन्म लेकर कला फूलती-फलती है। रवि बाबू का यही दृष्टिकोण श्री लक्ष्मीनारायणसिंह 'सुधांशु' की कला-विषयक व्याख्या में एक अन्य प्रकार की शब्दावली में प्रकट हुआ है। सुधांशु जी मानते हैं कि संसार की अन्य सभी वस्तुओं के समान कला और साहित्य भी मनुष्य के ओज से जन्म लेते हैं और ओज के द्वारा ही

---

१. लक्ष्मीनारायण सुधांशु : काव्य में अभिव्यंजनावाद, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ८५।
२. लक्ष्मीनारायण सुधांशु : 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त', तृतीय संस्करण, पृष्ठ ४९-५०
३. वही, पृष्ठ ५३।
४. वही, पृष्ठ ५८।
५./६. लक्ष्मीनारायण सुधांशु : 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त', तृ० सं०, पृष्ठ ४८।
७. 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', पृष्ठ १०६।

श्रोता और दर्शक उनका रसास्वादन भी करते हैं। यह ओज, शायद अंग्रेज़ी के 'एनर्जी' शब्द का पर्याय है।'[1] वस्तुतः, सुधांशुजी की ओज-विषयक अवधारणा न तो रवीन्द्रनाथ के उक्त अभिमत से प्रभावित है और न ही 'ओज' 'एनर्जी' का पर्याय है। रवीन्द्रनाथ ने कला की जिस 'अनावश्यक भूमि' की चर्चा की है, उसे सुधांशु द्वारा प्रकल्पित 'मन के अतिरिक्त ओज' के समकक्ष नहीं माना जा सकता। रवीन्द्र बाबू का 'अनावश्यक भूमि' से आशय तो वस्तुतः दैनन्दिन जीवन की स्थूल भूमि से भिन्न कला की सूक्ष्म भूमि से है, जिसका निरूपण पश्चिम में 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के अन्तर्गत कला को निरुद्देश्य मानते हुए किया गया। दिनकरजी द्वारा उद्धृत उक्ति में रवीन्द्र-नाथ ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'जिसका कोई उद्देश्य नहीं, वही भूमि कला की जन्म-भूमि है।' सुधांशुजी की ओज-विषयक उद्भावना प्रमाता की उस चित्त-वृत्ति या हार्दिक-वृत्ति से संबंधित है जो काव्य में अपने अनुकूल भाव को पाकर आनन्दमय आस्वाद का रूप धारण कर लेती है। सुधांशुजी ने इस तथ्य को अनेक स्थानों पर स्पष्ट किया है—

(क) 'रसों के मनोवैज्ञानिक विवेचन से यह बात प्रकट हो जाती है कि वैसे ही भावों के साथ पाठकों का हृदय सहयोग कर सकता है जो उनकी हार्दिक वृत्तियों के अनुकूल पड़ते हों।'[2]

(ख) 'रसानुभूति के लिए भाव की अनुकूलता होनी चाहिए।'[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सुधांशुजी की दृष्टि में प्रमाता की हार्दिक वृत्ति या मन का ओज काव्य में अपने अनुकूल विषय पाकर तथा कवि की अनुभूति से उत्तेजित होकर जिस आनन्द-पूर्ण आस्वाद में परिणत हो जाता है, वही काव्यास्वाद है। दूसरे शब्दों में, प्रमाता के निजी भावों का आस्वाद ही काव्यास्वाद है। सुधांशुजी के मतानुसार काव्यास्वाद की सिद्धि के लिए प्रमाता का कवि के साथ भावगत तादात्म्य आवश्यक है : 'काव्य में वर्णित चरित्र के सुख-दुःख के साथ हम अपने हृदय की वृत्तियों का सामंजस्य रखते हैं। . . . यह तादात्म्य विशेषतः उसी पात्र में होता है जिसके प्रति काव्यकार भी अंशतः पक्षपात करता है।'[4] यहाँ कवि के 'पक्षपात' के भाजन पात्र के साथ प्रमाता के भावगत तादात्म्य से सुधांशुजी का आशय कवि की अनुभूति के साथ तादात्म्य से ही है, क्योंकि कवि के 'पक्षपात' का अर्जन करने वाला पात्र वस्तुतः, कवि की अनुभूति का ही प्रतीक है। यह तादात्म्य उनकी दृष्टि में साधारणीकरण से भिन्न नहीं है : 'शील-सद्गुण के रखते हुए जो कष्ट सहता है उसके प्रति हमारे हृदय में बड़ी ऊँची-भावनाएँ उठा करती हैं। हम उसे शीघ्र ही कष्टमुक्त देखने की अभिलाषा रखते हैं। इस प्रकार की भावनाएँ साधारणी-करण से ही उठती हैं।'[5]

सुधांशुजी ने काव्यास्वाद की प्रकृतिगत कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण विशिष्टताओं का उल्लेख भी किया है—

---

१. हिन्दी के आलोचक, (सं० शचीरानी गुर्टू), 'लक्ष्मीनारायण सुधांशु' शीर्षक दिनकरजी द्वारा लिखित निबन्ध, पृष्ठ १९८।
२. काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृष्ठ ८७।
३. वही, पृष्ठ ८९।
४. वही, पृष्ठ ८९।
५. काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृष्ठ ८९।

(क) 'सौन्दर्य की भावना के समय हम अपने सामान्य स्तर से कुछ ऊपर चले जाते हैं। हमारा मनोवेग शान्त हो जाता है।'[1]

(ख) 'रसानुभूति के लिए हृदय की संशय-पूर्ण स्थिति उपयुक्त नहीं होती। उसके लिए हृदय की विकाररहित स्थिति आवश्यक है।'[2]

(ग) 'काव्य-कला में हमारे हृदय की वृत्तियाँ इतनी निमग्न हो जाती हैं कि हम कला के स्वरूप को ही वस्तुस्थिति समझ लेते हैं। ऐसे वर्णनों से ही रस-दशा लायी जाती है। यही हृदय की मुक्त अवस्था है।'[3]

उपर्युक्त उद्धरणों के विश्लेषण से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—(१) काव्यास्वाद की स्थिति लोक-सामान्य भूमि से उच्चतर भूमि पर अवस्थित प्रमाता की चेतना की उद्वेगरहित शान्त स्थिति है। संस्कृत-काव्यशास्त्र में इसी को 'आत्मविश्रान्ति'-जन्य आनन्द कहा गया है (२) काव्यास्वाद सहृदय के चित्त की संशय एवं विकारों से मुक्त निर्द्वन्द्व स्थिति है। सुधांशुजी की यह निष्पत्ति भी भारतीय रस-प्रकल्पना से भिन्न नहीं है। (३) काव्यास्वाद अन्य सभी प्रकार के ज्ञान से विनिर्मुक्त आत्मविस्मृति एवं पूर्ण तल्लीनता की प्रगाढ़ अनुभूति है। इसी को सुधांशुजी ने शुक्लजी[4] की ही शब्दावली का प्रयोग करते हुए 'रस-दशा' और 'हृदय की मुक्त अवस्था' कहा है जिसे संस्कृत-काव्यशास्त्र में 'निजसंविद् विश्रान्ति'[5] तथा 'वेद्यान्तरस्पर्शशून्य'[6] कहा गया है।

डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' का काव्यास्वाद-विवेचन शुक्ल-परवर्ती हिन्दी-साहित्य-शास्त्र में अनेक दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने आधुनिक हिन्दी-साहित्यशास्त्र में काव्यास्वाद की विषयिगत आनन्द के रूप में कदाचित् पहली बार इतने स्पष्ट, प्रबल एव निर्भ्रान्त शब्दों में प्रतिष्ठा की। कालान्तर में सुधांशुजी का यह अभिमत आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी तथा डॉ० नगेन्द्र के काव्यास्वाद-विवेचन में और भी अधिक विकसित हुआ। सुधांशुजी यद्यपि काव्यास्वाद को कवि की संवेद्य अनुभूति का संप्रेषित रूप नहीं मानते हैं, तथापि उन्होंने कवि के 'पक्षपात' के भाजन काव्य-निबद्ध पात्रों को कवि की अनुभूति का वाहक मानकर हिन्दी-काव्यशास्त्र में काव्यास्वाद-विवेचन के उस महत्त्वपूर्ण पक्ष का शिलान्यास किया जिसका चरम विकास डॉ० नगेन्द्र के साधारणीकरण-विषयक-अभिमत में हुआ। काव्यास्वाद के विवेचन-क्रम में सुधांशुजी द्वारा की गई ओज-विषयक मौलिक उद्भावना भी अपने आप में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

प्रसिद्ध सौष्ठववादी आलोचक पं० नन्ददुलारे वाजपेयी की काव्यास्वाद-विषयक अव-धारणाएँ उनकी 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी', 'आधुनिक साहित्य' तथा 'नया साहित्य:

---

१. काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृष्ठ ८१।

२. वही, पृष्ठ ८६।

३. वही, पृष्ठ ९०।

४. विस्तृत विवेचन के लिए देखिए प्रस्तुत प्रबन्ध के षष्ठ अध्याय का 'ख' प्रकरण।

५. देखिए प्रस्तुत प्रबंध के द्वितीय अध्याय का 'क' प्रकरण।

नये प्रश्न' शीर्षक कृतियों के कुछ निबन्धों में व्यक्त हुई हैं। काव्यास्वाद के स्वरूप का प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष निरूपण 'हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी' के 'श्री रामचन्द्र शुक्ल (२)' तथा 'नया साहित्य : नये प्रश्न' में संकलित 'साहित्य और सामाजिक जीवन' एवं 'समीक्षा सम्बन्धी मेरी मान्यता' में उपलब्ध है। काव्यास्वाद की प्रक्रिया का विश्लेषण उन्होंने 'आधुनिक साहित्य में संकलित 'ध्वनि और रस' नामक निबन्ध में किया था, बाद में इसी निबन्ध को नन्ददुलारे जी ने अपने परवर्ती निबन्ध-संग्रह 'नया साहित्य : नये प्रश्न' में 'रस-निष्पत्ति : एक नयी व्याख्या' के नए शीर्षक से संकलित कर दिया।

काव्यास्वाद का स्वरूप

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी अपने पूर्ववर्ती आधुनिक आचार्यों की भाँति रस के अन्तर्गत ही काव्यास्वाद का विवेचन किया है, किन्तु उनकी दृष्टि शास्त्र का अनुमोदन करती हुई भी नितान्त परम्परावद्ध नहीं है। सस्कृत-रसशास्त्र को व्यापक साहित्य-मूल्य के रूप में समादर प्रदान करते हुए भी उन्होंने उसके कुछ विशिष्ट पक्षों को अत्यन्त दृढ़ शब्दों में अस्वीकार कर दिया है। उदाहरण के रूप में रसानुभूति की अलौकिकता का व्याख्यान करते हुए उन्होंने उसे 'पाखण्ड' तक कह दिया है : 'रसवादी काव्य की आत्मा रस को अलौकिक मानते हैं। यह अलौकिकता का पाखण्ड केवल यहीं तक रहता तो एक वात थी। यह जिस असत्य आधार पर स्थित हुआ उसने साहित्य का बड़ा अनिष्ट किया।''[1] 'अलौकिकता' को पश्चिम के कलावादी सिद्धान्तों के समतुल्य बताते हुए उन्होंने कहा है कि 'हम 'कला के लिए कला' वालों को व्यर्थ ही दोष देते हैं। हमारा अलौकिकानन्द-विधायक रसवाद भी उससे कम नहीं रह गया था।'[2]

सौन्दर्यानुभूति और रसानुभूति को प्रायः अभिन्न मानते हुए नन्ददुलारेजी ने काव्यास्वाद के स्वरूप की नई व्याख्या की है। उनके अनुसार : 'काव्य तो प्रकृत मानव अनुभूतियों का नैसर्गिक कल्पना के सहारे, ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है जो मनुष्य मात्र में स्वभावतः अनुरूप भावोच्छ्वास और सौन्दर्य-संवेदन उत्पन्न करता है। इसी सौन्दर्य-संवेदन को भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में 'रस' कहते हैं, . . .'[3] नन्ददुलारेजी के शब्दों का आश्रय ग्रहण कर उनके मत की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि काव्यानुभावन से 'उत्पन्न' प्रमाता मात्र के हृदय का 'भावोच्छ्वास' एवं 'सौन्दर्य-संवेदन' ही काव्यास्वाद है। प्रमाता के चित में संवेदन-रूप काव्यास्वाद की तीव्र एवं उत्कट अनुभूति के मूल में वे काव्य-सौन्दर्य तथा काव्य-सौन्दर्य के मूल में वे कवि-कल्पना का योग मानते है : 'इन अनुभूतियों का चित्रण जिस नैसर्गिक-कल्पना के सहारे होता हैं, उसकी उद्भाविका कवि की प्रतिभा होती है। यह कल्पना जितनी ही नैसर्गिक और प्रशस्त होगी, उतने ही उन्नत काव्य का सृजन करेगी, उतनी ही चित्रण की सौन्दर्यमयता बढ़ जायेगी और उतना ही समुन्नत और प्रगाढ़ उसका संवेदन होगा।'[4] इस प्रकार नन्ददुलारेजी के मतानुसार

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, नवीन संस्करण (सन् १९६३), पृष्ठ ६६।
२. वही।
३. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : नया साहित्य : नये प्रश्न, पृष्ठ १८।
४. वही।

(क) 'सौन्दर्य की भावना के समय हम अपने सामान्य स्तर से कुछ ऊपर चले जाते हैं। हमारा मनोवेग शान्त हो जाता है।'[1]

(ख) 'रसानुभूति के लिए हृदय की संशय-पूर्ण स्थिति उपयुक्त नहीं होती। उसके लिए हृदय की विकाररहित स्थिति आवश्यक है।'[2]

(ग) 'काव्य-कला में हमारे हृदय की वृत्तियाँ इतनी निमग्न हो जाती हैं कि हम कला के स्वरूप को ही वस्तुस्थिति समझ लेते हैं। ऐसे वर्णनों से ही रस-दशा लायी जाती है। यही हृदय की मुक्त अवस्था है।'[3]

उपर्युक्त उद्धरणों के विश्लेषण से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—(१) काव्यास्वाद की स्थिति लोक-सामान्य भूमि से उच्चतर भूमि पर अवस्थित प्रमाता की चेतना की उद्वेगरहित शान्त स्थिति है। संस्कृत-काव्यशास्त्र में इसी को 'आत्मविश्रान्ति'-जन्य आनन्द कहा गया है (२) काव्यास्वाद सहृदय के चित्त की संशय एवं विकारों से मुक्त निर्द्वन्द्व स्थिति है। सुधांशुजी की यह निष्पत्ति भी भारतीय रस-प्रकल्पना से भिन्न नहीं है। (३) काव्यास्वाद अन्य सभी प्रकार के ज्ञान से विनिर्मुक्त आत्मविस्मृति एवं पूर्ण तल्लीनता की प्रगाढ़ अनुभूति है। इसी को सुधांशुजी ने शुक्लजी[4] की ही शब्दावली का प्रयोग करते हुए 'रस-दशा' और 'हृदय की मुक्त अवस्था' कहा है जिसे संस्कृत-काव्यशास्त्र में 'निजसंविद् विश्रान्ति'[5] तथा 'वेद्यान्तरस्पर्शशून्य'[6] कहा गया है।

डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' का काव्यास्वाद-विवेचन शुक्ल-परवर्ती हिन्दी-साहित्य-शास्त्र में अनेक दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने आधुनिक हिन्दी-साहित्यशास्त्र में काव्यास्वाद की विषयिगत आनन्द के रूप में कदाचित् पहली बार इतने स्पष्ट, प्रबल एव निर्भ्रान्त शब्दों में प्रतिष्ठा की। कालान्तर में सुधांशुजी का यह अभिमत आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी तथा डॉ० नगेन्द्र के काव्यास्वाद-विवेचन में और भी अधिक विकसित हुआ। सुधांशुजी यद्यपि काव्यास्वाद को कवि की संवेद्य अनुभूति का संप्रेषित रूप नहीं मानते हैं, तथापि उन्होंने कवि के 'पक्षपात' के भाजन काव्य-निबद्ध पात्रों को कवि की अनुभूति का वाहक मानकर हिन्दी-काव्यशास्त्र में काव्यास्वाद-विवेचन के उस महत्त्वपूर्ण पक्ष का शिलान्यास किया जिसका चरम विकास डॉ० नगेन्द्र के साधारणीकरण-विषयक-अभिमत में हुआ। काव्यास्वाद के विवेचन-क्रम में सुधांशुजी द्वारा की गई ओज-विषयक मौलिक उद्भावना भी अपने आप में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

प्रसिद्ध सौष्ठववादी आलोचक पं० नन्ददुलारे वाजपेयी की काव्यास्वाद-विषयक अवधारणाएँ उनकी 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी', 'आधुनिक साहित्य' तथा 'नया साहित्य:

---

१. काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृष्ठ ८१।
२. वही, पृष्ठ ८६।
३. वही, पृष्ठ ९०।
४. विस्तृत विवेचन के लिए देखिए प्रस्तुत प्रबन्ध के षष्ठ अध्याय का 'ख' प्रकरण।
५. देखिए प्रस्तुत प्रबंध के द्वितीय अध्याय का 'क' प्रकरण।
६. वही।

नये प्रश्न' शीर्षक कृतियों के कुछ निवन्धों में व्यक्त हुई हैं। काव्यास्वाद के स्वरूप का प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष निरूपण 'हिन्दी साहित्य : वीसवीं शताव्दी' के 'श्री रामचन्द्र शुक्ल (२)' तथा 'नया साहित्य : नये प्रश्न' में संकलित 'साहित्य और सामाजिक जीवन' एवं 'समीक्षा सम्बन्धी मेरी मान्यता' में उपलब्ध है। काव्यास्वाद की प्रक्रिया का विश्लेपण उन्होंने 'आधुनिक साहित्य में संकलित 'ध्वनि और रस' नामक निबन्ध में किया था, वाद में इसी निवन्ध को नन्ददुलारे जी ने अपने परवर्ती निवन्ध-संग्रह 'नया साहित्य : नये प्रश्न' में 'रस-निष्पत्ति : एक नयी व्याख्या' के नए शीर्षक से संकलित कर दिया।

काव्यास्वाद का स्वरूप

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी अपने पूर्ववर्ती आधुनिक आचार्यों की भाँति रस के अन्तर्गत ही काव्यास्वाद का विवेचन किया है, किन्तु उनकी दृष्टि शास्त्र का अनुमोदन करती हुई भी नितान्त परम्पराबद्ध नहीं है। संस्कृत-रसशास्त्र को व्यापक साहित्य-मूल्य के रूप में समादर प्रदान करते हुए भी उन्होंने उसके कुछ विशिष्ट पक्षों को अत्यन्त दृढ़ शब्दों में अस्वीकार कर दिया है। उदाहरण के रूप में रसानुभूति की अलौकिकता का व्याख्यान करते हुए उन्होंने उसे 'पाखण्ड' तक कह दिया है : 'रसवादी काव्य की आत्मा रस को अलौकिक मानते हैं। यह अलौकिकता का पाखण्ड केवल यहीं तक रहता तो एक वात थी। यह जिस असत्य आधार पर स्थित हुआ उसने साहित्य का वड़ा अनिष्ट किया।'[1] 'अलौकिकता' को पश्चिम के कलावादी सिद्धान्तों के समतुल्य वताते हुए उन्होंने कहा है कि 'हम 'कला के लिए कला' वालों को व्यर्थ ही दोप देते हैं। हमारा अलौकिकानन्द-विधायक रसवाद भी उससे कम नहीं रह गया था।'[2]

सौन्दर्यानुभूति और रसानुभूति को प्रायः अभिन्न मानते हुए नन्ददुलारेजी ने काव्यास्वाद के स्वरूप की नई व्याख्या की है। उनके अनुसार : 'काव्य तो प्रकृत मानव अनुभूतियों का नैसर्गिक कल्पना के सहारे, ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है जो मनुष्य मात्र में स्वभावतः अनुरूप भावोच्छ्वास और सौन्दर्य-संवेदन उत्पपन्न करता है। इसी सौन्दर्य-संवेदन को भारतीय पारिभापिक शव्दावली में 'रस' कहते हैं, . . .'[3] नन्ददुलारेजी के शब्दों का आश्रय ग्रहण कर उनके मत की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि काव्यानुभावन से'उत्पन्न' प्रमाता मात्र के हृदय का 'भावोच्छ्वास' एवं 'सौन्दर्य-संवेदन' ही काव्यास्वाद है। प्रमाता के चित में संवेदन-रूप काव्यास्वाद की तीव्र एवं उत्कट अनुभूति के मूल में वे काव्य-सौन्दर्य तथा काव्य-सौन्दर्य के मूल में वे कवि-कल्पना का योग मानते है : 'इन अनुभूतियों का चित्रण जिस नैसर्गिक-कल्पना के सहारे होता हैं, उसकी उद्भाविका कवि की प्रतिभा होती है। यह कल्पना जितनी ही नैसर्गिक और प्रशस्त होगी, उतने ही उन्नत काव्य का सृजन करेगी, उतनी ही चित्रण की सौन्दर्यमयता बढ़ जायेगी और उतना ही समुन्नत और प्रगाढ़ उसका संवेदन होगा।'[4] इस प्रकार नन्ददुलारेजी के मतानुसार

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, नवीन संस्करण (सन् १९६३), पृष्ठ ६६।
२. वही।
३. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : नया साहित्य : नये प्रश्न, पृष्ठ १८।
४. वही।

काव्यास्वाद मूलतः कवि-प्रतिभा द्वारा सर्जित सुन्दर काव्य का कलास्वाद है। कवि-संवेदन के प्रमाता तक संप्रेषण एवं उसके आस्वाद का माध्यम, उनके अनुसार, कल्पना है।

काव्यास्वाद की सिद्धि में कवि-कल्पना-जन्य काव्य-सौन्दर्य के योग को पाश्चात्य काव्यशास्त्र के स्वच्छंदतावादी कवि-आलोचक कॉलरिज भी स्वीकार करते हैं। उन्होंने किंचित् भिन्न शब्दावली में लगभग इसी तथ्य का निरूपण किया है। उन्होंने काव्य की दो शक्तियाँ मानी हैं—(१) 'प्रकृति-सत्य के चिरन्तन साहचर्य द्वारा प्रमाता की चेतना को उद्बुद्ध करना, तथा (२) कल्पना के नवरूपान्तरकारी रंगों द्वारा प्रमाता के मन में नूतनता का आकर्षण उत्पन्न करना।'[1] नन्ददुलारेजी की 'नैसर्गिक और प्रशस्त' कल्पना-विषयक मान्यता कॉलरिज द्वारा निरूपित काव्य की उक्त शक्तियों में से द्वितीय के अत्यधिक निकट है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी द्वारा प्रयुक्त 'भावोच्छ्वास' और 'सौन्दर्य-संवेदन' पर भी विचार करना समीचीन होगा। जैसा कि ऊपर कहा गया है, वे 'रस' को 'भावोच्छ्वास' और सौन्दर्य-संवेदन-रूप मानते हैं, यही उनकी दष्टि में काव्यास्वाद है। वस्तुतः नददुलारे जी ने 'सौन्दर्य-संवेदन' शब्द का प्रयोग 'सौन्दर्यानुभूति' के अर्थ में करते हुए भारतीय और पाश्चात्य काव्यास्वाद-विषयक अवधारणाओं में समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से सौन्दर्यानुभूति को 'रस' से अभिन्न मान लिया है। काव्यास्वाद के ही सन्दर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रासंगिक रूप से सौन्दर्यानुभूति की चर्चा की है[2] तथा गुलावरायजी ने तो प्रत्यक्ष रूप से सौन्दर्यानुभूति को काव्यास्वाद स्वीकार किया है।[3] अतएव नन्ददुलारेजी के उक्त अभिमत में किसी नवीन तथ्य का प्रतिपादन नहीं है और प्रतिपादन-शैली में नवीनता लाने के लिए उन्होंने 'सौन्दर्यानुभूति के स्थान पर 'सौन्दर्य-संवेदन' का जो प्रयोग किया है, वह भी अन्यन्त भ्रामक है। अनुभूति मूलतः संवेदन-रूप होती हुई भी अपने आप में संवेदन मात्र नहीं है; संवेदन तो वस्तु-जगत् के संसर्ग से मन में उत्पन्न अरूप प्रभाव-छवियाँ मात्र हैं : ये अरूप संवेदन परस्पर संश्लेपण से ही अनुभूति का रूप धारण करते हैं। इसके अतिरिक्त नन्ददुलारेजी का 'भावोच्छ्वास' को ही काव्यास्वाद मान लेना भी असंगत है। प्रमाता के चित्त की भावोच्छ्वसित स्थिति काव्यास्वाद नहीं है, वह काव्यास्वाद की प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग मात्र है। भावोच्छ्वास में चित्त का उद्वेग शान्त नहीं होता। अतएव काव्यास्वाद भावोच्छ्वास न होकर सर्वथा उद्वेगरहित मनःस्थिति की ही आस्वादमयी अनुभूति है।

---

१. '···the power of exciting the sympathy of the reader by a faithful adherence to the truth of nature and the power of giving the interest of novelty by the modifying colours of imagination'

— Coleridge : Biography Literaria 1956.

Chap. XIV p, I68

२. देखिए—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, रस-मीमांसा, द्वितीय सं०, पृष्ठ २९-३३।

३. देखिए—(क) गुलावराय : सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ १०४।

(ख) प्रस्तुत प्रवन्ध के इसी अध्याय में विवेचित गुलावराय जी का काव्यास्वाद-विषयक अभिमत।

काव्यास्वाद की प्रक्रिया

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने काव्यास्वाद की प्रक्रिया के विश्लेषण में भी किसी मत का प्रतिपादन न कर संस्कृत-काव्यशास्त्र में निरूपित साधारणीकरण-सिद्धान्त को ही स्वीकार कर लिया है। रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया के विश्लेषण में वे भी परम्परानुसार ही भट्ट लोल्लट एवं शंकुक के स्थान पर भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त के सिद्धान्तों के प्रति विशेष आस्था प्रकट करते हैं : '. . . .काव्य और सहृदय के सम्बन्ध को स्पष्ट करने की दिशा में भट्टनायक का भुक्ति-सिद्धान्त शंकुक के अनुमिति-सिद्धान्त की अपेक्षा एक कदम आगे है।'[1] अभिनवगुप्त की साधारणी-करण-विषयक मान्यता के सम्बन्ध में नन्ददुलारेजी का अभिमत इस प्रकार है : 'इस सिद्धान्त की विशेषता यह है कि यह काव्य-रचना और उसकी सहृदयगत प्रतीति के बीच किसी व्यवधान या अन्तवर्ती स्थिति को स्वीकार नहीं करता . . .दूसरी विशेषता यह है कि वह सहृदय द्वारा किये जाने वाले रसास्वाद के मनोवैज्ञानिक आधार की भी विवृति करता है।'[2] साधारणीकरण-सिद्धान्त के चिर-परिचित एवं विवादास्पद प्रश्न—साधारणीकरण किसका होता है?—के विषय में उनका मत डॉ० नगेन्द्र के मत से भिन्न नहीं है। वे भी अत्यंत स्पष्ट रूप में कवि की संवेद्य अनुभूति का ही साधारणीकरण मानते हैं : 'साधारणीकरण के साहित्यिक सिद्धान्त के साथ कुछ असाहित्यिक दलीलें भी लाकर जोड़ दी गई हैं। उदाहरण के लिए यह कहा जाता है कि देवताओं और पूज्य व्यक्तियों के रति-भाव का साधारणीकरण प्रेक्षक को नहीं हो सकता। पर प्रश्न यह है कि रचयिता या कवि के लिए तो ये देवता या पुण्य-चरित्र उतने ही पूज्य हैं जितने दर्शक या श्रोता के लिए। ऐसी अवस्था में कवि द्वारा वर्णित देवताओं का रति-भाव दर्शकों को उसी प्रकार प्रभावित करेगा—उसी भाव की सृष्टि करेगा जिस भाव की अनुभूति कवि या नाटककार ने स्वतः की है। . . .साधारणीकरण वास्तव में कवि-कल्पित समस्त व्यापार का होता है केवल किसी पात्रविशेष का नहीं।'[3] काव्यास्वाद की प्रक्रिया में कवि एवं प्रमाता के भाव-तादात्म्य के अर्थ में 'साधारणी करण' शब्द का प्रयोग करते हुए उन्होंने कहा है कि 'साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता (कवि और दर्शक) के बीच भावना की समरूपता ही है।'[4] नन्ददुलारेजी का यह मत एक ओर तो संस्कृत-काव्यशास्त्र में अभिनवगुप्त के प्रसिद्ध मत 'कविर्हि सामाजिकतुल्य एव'[5] से प्रत्यक्षतः तथा दूसरी ओर पाश्चात्य कला-चिन्तकों—क्रोचे और इलियट आदि—द्वारा निरूपित 'तादात्म्य की स्थिति' से अप्रत्यक्षतः प्रभावित है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का काव्यास्वाद-विवेचन आधुनिक हिन्दी-साहित्यशास्त्र के अधिकांश आचार्यों के काव्यास्वाद-विवेचन की भाँति ही परम्परानुमोदित है, फिर भी, काव्यास्वाद के मूल में कवि-कल्पनाजन्य काव्य-सौन्दर्य का योग

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : नया साहित्य : नये प्रश्न, 'रस-निष्पत्ति : एक नयी व्याख्या' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ १२२।

२. वही।

३. वही।

४. वही।

५. हिन्दी अभिनवभारती, व्या० आचार्य विश्वेश्वर, पृष्ठ ५१५।

स्वीकार कर नन्ददुलारे वाजपेयी ने आधुनिक हिन्दी-साहित्यशास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन में महत्त्वपूर्ण दिशा-निर्देश किया है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

प्रसिद्ध सौन्दर्यशास्त्री और महान मानवतावादी समालोचक आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने परम्परा-विच्छिन्न अभिनव दृष्टि से काव्यास्वाद के स्वरूप और उसकी प्रक्रिया का विशद विवेचन-विश्लेषण किया है। उनके काव्यास्वाद-विषयक विचार 'विचार और वितर्क', 'साहित्य का साथी', 'अशोक के फूल', 'साहित्य का मर्म', 'कालिदास की लालित्य-योजना', 'साहित्य-सहचर' तथा 'लालित्य तत्त्व' शीर्षक शोध-पत्र में प्रकीर्ण रूप से उपलब्ध हैं।

द्विवेदीजी ने सौन्दर्यशास्त्र एवं भारतीय रस-सिद्धान्त की सम्मिलित भूमि पर कायास्वाद का विवेचन किया है। उन्होंने अपने प्रखर चिन्तन द्वारा सौन्दर्यशास्त्र की अभिनव व्याख्या की है। छन्द को अत्यंत व्यापक अर्थ और सार्वभौमिक आयाम प्रदान करते हुए वे उसे सौन्दर्यतत्त्व का आधार मानते हैं: 'विश्वव्यापक छन्दोधारा' की अनुकूलता और प्रतिकूलता पर ही वस्तु का सौन्दर्य और असौन्दर्य आधारित है : जहाँ कहीं आकर्षण है, उल्लास है, वहीं सृष्टि की इस मूल छन्दोधारा के अनुकूल जाने की प्रवृत्ति है। जहाँ नहीं है वहाँ इस मूल छन्दोधारा का प्रातिकूल्य है। वही वस्तु असुन्दर और भद्दी है।'[2] इस मूल 'छन्दोधारा' अथवा 'विश्वव्यापक छन्द' को द्विवेदीजी ने अत्यत विराट एव विस्तीर्ण दार्शनिक एवं कलात्मक क्षितिज प्रदान किया है तथा उसकी अनेकविध सौन्दर्यशास्त्रीय मीमांसा की है। एक स्थल पर उन्होंने उसे समष्टिगत चित्-शक्ति की सृजनेच्छा तथा ब्रह्म की इच्छा-शक्ति माना है : '...विश्वव्यापक छन्द समष्टिगत चित्-शक्ति की सर्जनेच्छा या सृसिक्षा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है...ब्रह्म की इच्छा-शक्ति ही वह छन्द है जिसने सृष्टि को नाना वर्णों, गंधों और रूपों में रूपायित किया है। उसकी क्रिया-शक्ति से यह विश्व-ब्रह्माण्ड दृग्गोचर हो रहा है।...छंद इच्छा मात्र है, गति मात्र है, चेतनधर्म है। जहाँ कहीं यह चेतनधर्म है वहीं गति है, प्राण है, आनन्द है।'[3] एक अन्य स्थल पर द्विवेदीजी ने अपने इसी मन्तव्य को और भी अधिक व्यापक परिवेश प्रदान किया है : 'इच्छा अनन्त है, क्रिया सान्त है। इच्छा नाद है—कण्टिनुअम है, क्रिया विन्दु है—क्वैण्टम है। इच्छा गति है, क्रिया स्थिति है। गति और स्थिति का यह द्वन्द्व चलता रहता है। इसी से रूप बनता है, छन्द बनता है, संगीत बनता है, नृत्य बनता है।'[4] इस प्रकार द्विवेदीजी ने छन्द को विशिष्ट एवं व्यापक अर्थ प्रदान कर उसे सौन्दर्य-तत्त्व का आधार माना है तथा उसे रमणीयता और आनन्द का मूल स्रोत घोषित किया है।

'छन्द' को ही द्विवेदीजी ने कवि एवं सहृदय के मध्य अनुभूति का संचरण-सूत्र घोषित किया है : 'वस्तुतः मनुष्य के व्यक्ति-चित्त को आवेग-कम्पित करने वाला छन्द एक समूहगत

---

१. सन् १९६५ ई० में प्रकाशित इस पुस्तक में पूर्व प्रकाशित 'साहित्य का साथी' में संकलित काव्यशास्त्रीय निबन्धों के साथ ही कुछ अतिरिक्त सामग्री का योग कर दिया गया है।

२. डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, 'कालिदास की लालित्य-योजना', प्रथम संस्करण, पृष्ठ ५७।

३. वही, पृष्ठ ५६।

४. डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी : 'लालित्य तत्त्व' शीर्षक शोध-पत्र, पृष्ठ १४।

शक्ति है। एक चित्त के अनुभव को अनेक चित्तों में अनायास संचारित करने वाला महान् साधन है।'[1] एक अन्य स्थल पर द्विवेदीजी ने इसी तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है : 'वह (छंद) केवल छन्दोरचयिता के अन्तर के वेग को ही नही प्रकट करता, उस वेग को दूसरे के चित्त में संचरित भी करता है। ...उचित ढंग से छन्दों का पाठ श्रोता को उसी आवेग में ले जाता है जिसे मूल रचयिता ने स्वयं अनुभव किया था।'[2] छंद के आह्लादकारी प्रभाव की भी उन्होंने स्पष्ट चर्चा की है : '...छन्द शब्द मुग्धकारी और प्रसन्न करने वाले अर्थ में ही अधिक उपयुक्त जँचता है। छन्द के भीतर की गति ही उसे प्रसादक और मोहक बनाती है।'[3] प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट है कि द्विवेदीजी की दृष्टि में (१) छन्द अपने सार्वभौमिक अर्थ में सौन्दर्य-तत्त्व का मूल आधार है। (२) कवि के भावावेग का अभिव्यक्ति-रूप यह छन्द प्रमाता के चित्त में अनायास ही कवि के भावगत आवेग को पुनः सृष्ट कर देता है, तथा (३) प्रमाता के मन पर इसका प्रभाव आह्लाद-पूर्ण एवं सम्मोहनकारी होता है। इस प्रकार छन्द, द्विवेदीजी की दृष्टि में, काव्यास्वाद की प्रक्रिया का मूल है।

काव्यास्वाद के स्वरूप का विश्लेषण द्विवेदीजी ने रस के अन्तर्गत ही किया है। वे रस को 'भारतीय शिल्प और कला का प्राण'[4] मानते हैं। रसानुभूति को वे नितान्ततः हृदय-सापेक्ष विषयिगत अनुभूति मानते हैं। उनकी दृष्टि में प्रमाता से निरपेक्ष काव्य-सृजन अपने आप में अपूर्ण होता है, उसकी पूर्णता की सिद्धि प्रमाता के काव्यास्वादन में ही होती है : 'निश्चय ही कवि का रस-लोक अपने आप में परिपूर्ण नही होता। उसे मनुष्य का ग्राहक हृदय चाहिए सहृदय-चित्त ही उसका आनंद ले सकता है।'[5] रस उनके अनुसार आस्वाद का विषय न होकर सहृदय के निजी भावों का आस्वाद है : 'रस अनुभूति है, अनुभूति का विषय नहीं। भाव-तो विभाव के चित्त में ही उठते हैं। दर्शक के मन में उनका एक मानस-सूक्ष्म रूप उत्पन्न होता है जिससे वह अपनी ही अनुभूतियों का आनन्द लेने में समर्थ होता है।'[6] अन्यत्र द्विवेदीजी ने अपनी इसी मान्यता को इस रूप में प्रस्तुत किया है : '...सहृदय दर्शक अपनी ही मानस-भूमि के ताने-बाने से अपने ही चित्त की अनुभूतियों का आस्वादन करता है।'[7] द्विवेदीजी ने अपनी उक्त मान्यता को भरतसूत्र के अन्तिम एवं सर्वाधिक समर्थ व्याख्याता अभिनवगुप्त के अभिमत के आलोक में स्थिर किया है : 'अभिनवगुप्त के इस मत में जो सबसे बड़ी विशेषता है वह यह है कि वे स्थायी भाव को पहले से ही सहृदय के चित्त में स्थित मानते हैं, जबकि अन्यान्य व्याख्याकार उसे सहृदय से बाहर मानते हैं। निस्संदेह अभिनव का सिद्धान्त मनोविज्ञान-सम्मत है और रसा-नुभूति का सर्वोत्तम मार्ग बताता है।'[8]

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : साहित्य का मर्म, पृष्ठ ४६।
२. वही, पृष्ठ १७।
३. वही।
४. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : साहित्य-सहचर, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १५०।
५. साहित्य का मर्म, पृष्ठ ५७।
६. कालिदास की लालित्य-योजना, पृष्ठ १०३।
७. वही, पृष्ठ १०५।
८. साहित्य-सहचर, पृष्ठ १४९।

प्रमाता की विषयिगत अनुभति—रसानुभूति (काव्यास्वाद)—को, जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, द्विवेदी जी कवि की मूल अनुभूति की पुनःसृष्टि तथा प्रमाता द्वारा अनुभूत काव्यानन्द को कवि द्वारा सृजन की स्थिति में प्राप्त आनन्द का पुनरुद्रेक मानते हैं। उनके अनुसार 'जब तक रचयिता के चित्त में स्वयं रस की अनुभूति नहीं होती तब तक उसका चित्र दर्शक के हृदय में भी रस का उद्रेक नहीं कर सकता।'[1] अपनी इसी मान्यता को और अधिक स्पष्ट करते हुए द्विवेदीजी ने कहा है कि 'जिस प्रकार की व्याकुलता उसके (कवि के) चित्त में होगी उसी प्रकार की व्याकुलता उसकी कृति सहृदय के हृदय में उत्पन्न कर सकती है। . . . यदि कलाकार समाधि-निष्ठ हो सका है तो बदले में सहृदय को भी समाधिनिष्ठ कर सकता है।'[2] सृजन की स्थिति में कवि द्वारा अनुभूत आनन्द का स्वरूप-विश्लेषण द्विवेदीजी ने इस प्रकार किया है: 'साहित्य वस्तुतः मनुष्य का वह उच्छलित आनन्द है जो उसके अन्तर में अँटाए नहीं अँट सका था। . . . मनुष्य का अन्तर भी जब रस से परिपूर्ण हो उठता है तो वह गा उठता है, काव्य करने बैठता है और तथात्मक जगत् से सामग्री संग्रह करके छन्दों में, स्वरों में, अनुच्छेदों में, परिच्छेदों में, सर्गों में, अंकों में अपना उच्छलित आनन्द भर देता है।'[3] द्विवेदीजी के उक्त उद्धरणों का आशय वस्तुतः यही है कि कवि का सृजनानन्द ही उसकी कृति में संप्रेषित होकर प्रमाता के निजी मनोवेगों को उद्बुद्ध करता है; प्रमाता अपने मनोवेगों की इस उद्बुद्धि से आनन्दमय आस्वाद प्राप्त करता है। यह आनन्दमय आस्वाद ही द्विवेदीजी की दृष्टि में काव्यास्वाद है। काव्यास्वाद की नितान्त सहृदयगत आत्मनिष्ठता एवं उसके मूल में कवि के सृजनानन्द की स्थिति को डॉ० नगेन्द्र भी यथावत् स्वीकार करते हैं।[4]

काव्यास्वाद को द्विवेदीजी प्रमाता के चित्त का सामंजस्य मानते हैं: 'कवि के चित्त में ऐसे विरुद्ध भाव एकसाथ आ जाते हैं, कवि या कथाकार के चित्त में ये विरुद्ध-अविरुद्ध भाव अपने विरोधी स्वभाव को छोड़कर बने रहते हैं और . . . जब कला के माध्यम से प्रकट होते हैं तो श्रोता के चित्त में विचित्र सामंजस्य उत्पन्न करते हैं।'[5] द्विवेदीजी का उक्त अभिमत आई० ए० रिचर्ड्स के 'अन्तर्वृत्तियों के समीकरण' के सिद्धान्त[6] के निकट है। सामंजस्य को द्विवेदीजी सौंदर्य का प्रति-रूप मानते हैं: 'सुन्दरता सामंजस्य का नाम है।'[7] इस प्रकार उनकी छंदविषयक सौन्दर्य-

---

१. कालिदास की लालित्य-योजना, पृष्ठ १००।

२. वही, पृष्ठ १०१।

३. साहित्य का मर्म, पृष्ठ ७०-७१।

४. 'इसमें संदेह नहीं कि काव्य पढ़ कर या नाटक देख कर सहृदय को जो रसास्वादन होता है उसकी मूल स्थिति उसी के हृदय में है, अर्थात् मूलतः वह उसी को अपनी अस्मिता का आस्वादन है। परन्तु यह तभी संभव है जब कि कवि अपनी अनुभूति को उस तक पहुँचाने में स्वयं रस ले सका हो अथवा अपनी अस्मिता का रस ले सका हो . . .'।
—डॉ० नगेन्द्र, रीतिकाव्य की भूमिका, द्वितीय सं०, पृष्ठ ५४।

५. साहित्य का मर्म, पृष्ठ ३२।

६. देखिए प्रस्तुत प्रबंध के तृतीय अध्याय के 'ज' प्रकरण में आई० ए० रिचर्ड्स की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं का विवेचन।

७. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, अशोक के फूल, आठवां संस्करण, पृष्ठ १८६।

शास्त्रीय प्रकल्पना एवं रस-विषयक अवधारणा—दोनों के मूल में सामंजस्यपूर्ण सौंदर्य और आनन्द की सत्ता स्थायी और अपरिहार्य है।

सामंजस्यपूर्ण सौंदर्यानुभूति अथवा आनन्दमयी रसानुभूति की प्रमाता द्वारा प्रतीति की प्रक्रिया के संबंध में द्विवेदीजी ने कतिपय अत्यंत महत्त्वपूर्ण उद्भावनाएँ की हैं :

(१) 'कलाकार अन्तरतर की रसानुभूति को रूप देता है और सहृदय उस रूप का बाह्य प्रत्यक्ष करके अन्तर्मुखी होता है। सहृदय के रसबोध की प्रक्रिया कलाकार से ठीक उल्टी दिशा की ओर होती है।'[1]

(२) '...भाव कवि के चित्त में स्थित भावों को प्रतीति-योग्य बनाता है, विभाव द्वारा आहृत अर्थ को भावनीय बनाता है और सहृदय के हृदय में वासना रूप में स्थित भाव को भावित, वासित या रंजित करता है।'[2]

(३) '...कवि द्वारा विशेषीकृत पात्र सामान्य-मानव अनुभूतियों से पुनर्निर्मित होकर साधारण कर दिए जाते हैं। सहृदय अपनी ही मानस-भूमि के ईंट-चूने से इस प्रासाद का निर्माण करता है। इसलिए जब अर्थ अलौकिक स्तर पर आता है तो उसमें सामान्य मानव-अनुभूतियों से निर्मित होने के कारण लौकिक विशेषताओं का एक ऐसा रूप बनता है जिसे साधारणीकृत रूप कहते हैं।'[3]

(४) '...काव्य में एक बड़ा भारी गुण साधारणीकरण का होता है। ...लोक की स्थूल आवश्यकताएँ इसे (भाव को) न तो ऊपर उठने देती हैं, न सबके हृदय को समान भाव से आन्दोलित करने देती हैः काव्य में यदि कोई ऐसा ही प्रसंग आता तो वह पाठक को इससे भिन्न कोटि की अनुभूति देता। वह आनन्द सर्वजन भोग्य तो होता ही, उसमें से लौकिक स्थूल अंश भी छन गए होते। इसी अर्थ में वह अलौकिक आनन्द होता। काव्य के शब्दों में पाठक को रजोगुण और तमोगुण के पचड़े से हटाकर सत्त्वस्थ करने की शक्ति होती है। उसे आनन्द के साथ उसके सहवर्ती स्थूल उपादानों की लपेट में नहीं आना पड़ता। उसका आनन्द विशुद्ध मानसिक आनन्द होता है।'[4]

इन उद्धरणों में द्विवेदीजी द्वारा निरूपित काव्यास्वाद की प्रक्रिया में तीन बिन्दु हैं—कवि, काव्य और प्रमाता। कवि और प्रमाता की अनुभूतियों के मध्य काव्य योजक-तत्त्व है। प्रमाता कवि की अनुभूति के काव्यबद्ध मूर्त्त रूप के भावन द्वारा उद्बुद्ध अपनी ही अनुभूतियों का आस्वादन करता है। यह आस्वादन कवि की अनुभूति के साधारणीकरण द्वारा ही संभव है। इस प्रकार काव्यास्वादन की प्रक्रिया में कवि एवं काव्य दोनों निमित्त मात्र हैं, क्योंकि प्रमाता न तो कवि की अनुभूति की चर्वणा करता है और न काव्य-वस्तु का आस्वादन—काव्यास्वाद तो उसी की चेतना में स्थित अनुभूतियों के पुनरुद्बुद्ध अभिनव रूप का आस्वाद है। कवि, काव्य एवं प्रमाता के त्रिक् का निर्वचन भारतीय साहित्यशास्त्र में अनेकविध किया जाता रहा है।

---

१. कालिदास की लालित्य-योजना, पृष्ठ १०१।

२. वही, पृष्ठ १०४।

३. वही, पृष्ठ १०५।

४. काव्य का मर्म, पृष्ठ ५६।

भट्टतोत और अभिनवगुप्त द्वारा प्रस्थापित तथा हिन्दी के आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, पं० रामदहिन मिश्र, पं० वलदेव उपाध्याय, वावू गुलावराय और डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' आदि विभिन्न आचार्यों द्वारा विविध रूपों में समर्थित तथ्य को ही आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मनोविज्ञान-सम्मत सर्वथा अभिनव रूप में प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार प्रमाता की अपनी ही अनुभूतियों के चर्वणा-रूप काव्यास्वाद-विषयक उनका अभिमत भी भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त की 'आत्मभोग' 'एवं 'आत्मास्वाद'-विपयक अवधारणा का पुनराख्यान ही है। आधुनिक हिन्दी काव्यशास्त्र में डॉ० सुधांशु एवं डॉ० नगेन्द्र ने भी काव्यास्वाद को प्रमाता का नितान्त विपयिगत आत्मास्वाद माना है।

इसके अतिरिक्त द्विवेदीजी ने काव्यास्वाद की स्थिति में प्रमाता की राग-द्वेप मुक्त 'विश्वजनीन' अनुभूति'[1], तल्लीनता,[2] लोकोत्तरता[3] तथा अनिवार्य आनन्दात्मकता[4] आदि रसानुभूति-विपयक संस्कृत-काव्यशास्त्र की कतिपय शास्त्रीय स्थापनाओं के प्रति भी आस्था प्रकट की है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि द्विवेदीजी का काव्यास्वाद-विवेचन आधुनिक हिन्दी-साहित्यशास्त्र में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है। उन्होंने अपनी प्रखर मेधा एवं नवोन्मेपशालिनी प्रतिभा द्वारा न केवल परम्परागत स्थापनाओं का मौलिक पुनर्विश्लेपण एवं पुनः-प्रतिष्ठान ही किया है प्रत्युत अपनी सौंदर्यशास्त्रीय मौलिक उद्भावनाओं द्वारा काव्यास्वाद-विवेचन को हिन्दी-साहित्यशास्त्र में एक अभिनव भूमि प्रदान की। छन्द के अन्तःरस से सम्बद्ध उनकी अभिनव, विशद एवं अत्यंत व्यापक सार्वभौमिक सौंदर्यशास्त्रीय व्याख्या हिन्दी साहित्य-जगत् को एक अभूतपूर्व देन है।

डॉ० नगेन्द्र

प्रसिद्ध रसवादी आचार्य और सैद्धान्तिक समीक्षक डॉ० नगेन्द्र ने मौलिक चिन्तन, पुनराख्यान एवं पुनर्विश्लेपण द्वारा भारतीय काव्यशास्त्र के मूल कला-सिद्धान्त—रस-सिद्धान्त—

---

१. 'रस की अनुभति के समय ऐसा ही होता है। रस विश्वजनीन होता है। उसमें कोई वैयक्तिक राग-द्वेष नहीं होता।'

—साहित्य-सहचर, पृष्ठ ४२।

२. 'जिस चित्र, मूर्त्ति या सुन्दर पदार्थ में अन्तर्लीन करने की जितनी ही अधिक शक्ति होगी वह उतना ही अधिक उत्तम होगा।'

—कालिदास की लालित्य योजना, पृष्ठ १००।

३. 'जो कारक द्वारा कार्य नहीं, ज्ञापक द्वारा ज्ञाप्य नहीं, ऐसी कोई वस्तु दुनिया में नहीं होती, इसीलिए रस अलौकिक है।'

—साहित्य-सहचर, पृष्ठ १४८।

४. 'काव्य के पंख पर केवल मनोभाव ही ऊपर उठ सकते हैं, स्थूल भार नीचे ही पड़ा रह जाता है, फल यह होता है कि यहाँ के सभी मनोभाव वहाँ आनन्द ही उत्पन्न करते हैं, हास भी, रोदन भी, असूया भी, जुगुप्सा भी!'

—साहित्य का मर्म, पृष्ठ ५५।

को उसके साम्प्रदायिक परिवृत्त से मुक्त कर आधुनिक जीवन-दर्शन और मनोविज्ञान के संदर्भ में उसे वृहत्तम एवं शाश्वत काव्य-मूल के रूप में प्रतिष्ठित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया : 'शास्त्र-रूढ़ियों से मुक्त रस-सिद्धान्त अपने व्यापक एवं विकासशील रूप में काव्य का सार्वभौम सिद्धान्त है जिसके आधार पर प्रत्येक देश और काल के सर्जनात्मक साहित्य का, सर्जनात्मक साहित्य की प्रत्येक विधा का उचित मूल्यांकन किया जा सकता है।. . .साहित्य की भूमिका में जब तक मानव-संवेदना से अधिक रमणीय सत्य की उद्भावना नहीं होती तब तक रस-सिद्धान्त से अधिक प्रामाणिक सिद्धान्त की प्रकल्पना भी नहीं की जा सकती।'[1] डॉ० नगेन्द्र ने रसानुभूति के अन्तर्गत ही काव्यास्वाद का विवेचन किया है। यों, अपने एक अभिभाषण में सौन्दर्यानुभूति[2] के रूप में भी उन्होंने काव्यास्वाद के स्वरूप का विश्लेषण किया है, किन्तु वहाँ भी उनकी सभी निष्पत्तियाँ 'रस-सिद्धान्त' तथा 'रीति-काव्य की भूमिका' में व्यक्त रस-विषयक मान्यताओं से तत्त्वतः भिन्न नहीं हैं।[3] अतः रस के ही परिवेश में उनकी काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं का आकलन करना होगा।

काव्यास्वाद का स्वरूप

रसानुभूति के स्वरूप के संबंध में डॉ० नगेन्द्र ने तीन प्रश्न उठाते हुए उसी क्रम से उनके समाधान-रूप में काव्यास्वाद का स्वरूप-विश्लेषण किया है : 'रस के. . .स्वरूप के विषय में तीन मौलिक प्रश्न उठते है:—

(१) भावानुभूति और रसानुभूति का क्या संबंध है?

(२) क्या रसानुभूति अनिवार्यतः आनन्दमयी चेतना है?

(३) यदि है, तो इस आनन्द का क्या स्वरूप है?'[4]

प्रथम प्रश्न के उत्तर में डॉ० नगेन्द्र का स्पष्ट कथन है कि 'रस भाव पर आश्रित होते हुए भी भावानुभूति से भिन्न है—प्रत्यक्ष, परोक्ष, स्वगत, परगत, सुखद, दुःखद—किसी प्रकार की भावानुभूति रसानुभूति नहीं है।'[5] द्वितीय प्रश्न का उत्तर स्वीकारात्मक है। उन्होंने अत्यंत निर्भ्रान्ति एवं प्रबल शब्दों में काव्यास्वाद की अनिवार्य आनन्दरूपता की घोषणा की है : 'रस की आनन्दरूपता के विरोध में प्रस्तुत सभी विकल्प या तो असिद्ध हो जाते हैं या प्रकारान्तर से आनन्द का ही संकेत करते हैं।'[6] दुःखद अनुभवों को काव्यास्वादन की प्रक्रिया की मध्यवर्ती स्थिति और काव्यास्वाद को प्रमाता के चित्त की समंजित परिणति बताते हुए डॉ० नगेन्द्र ने उसे अनिवार्यतः

---

१. डॉ० नगेन्द्र : रस-सिद्धान्त, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३६२-६३।

२. देखिए—डॉ० नगेन्द्र का 'भारतीय काव्यशास्त्र में सौन्दर्यानुभति का स्वरूप' शीर्षक अभिभाषण, ७ अक्टूबर, १९६६।

३. '. . .कला के सन्दर्भ में सुन्दर और सरस में अभेद ही रहता है और सौन्दर्यानुभूति अथवा कलानुभूति रस से मूलतः भिन्न नहीं मानी जा सकती।'
—वही, पृष्ठ २।

४. रस-सिद्धान्त, पृष्ठ ९०-९१।

५. वही, पृष्ठ ९३।

६. वही, पृष्ठ १०९।

आनन्दमय सिद्ध किया है : '...रस-प्रक्रिया में सहृदय का मन अनेक अवस्थाओं में से होकर गुज़रता है : स्थायी भाव के स्वरूप के अनुसार वह सुख या दुःख का अनुभव करता है, कल्पना के जागृत होने से उसमें एक प्रकार की स्वच्छन्दता की भावना का उदय होता है, उधर कला-तत्त्वों की अनुभूति सामंजस्य (परितोष), आह्लाद, विस्मय आदि को जन्म देती है और अन्त में इन सबकी परिणति एक विशेष प्रकार की मनोदशा हें होती है जो निश्चय ही परितोषकारी होती है।...करुण प्रसंगों के आस्वादन में सहृदय की चित्तवृत्ति शोक-त्रास आदि के अनुभव से कुछ क्षणों के लिए विक्षुब्ध होकर भी अन्ततः समंजित हो जाती है और चित्तवृत्ति का समंजन निश्चय ही एक सुखद स्थिति है।'[1] इसी विचार को डॉ० नगेन्द्र ने अन्यत्र इस प्रकार व्यक्त किया है : '...वास्तव में अनुभूति अपने सभी रूपों में मूलतः संवेदन-रूप ही है...। अनुभूति में एक पृथक् संवेदन नहीं होता, संवेदनों का एक विधान होता है। जब संवेदनों में सामंजस्य और अन्विति स्थापित हो जाती है, तो हमारी अनुभूति मधुर होती है और जब ये विशृंखल और विकीर्ण होते हैं तो अनुभूति कटु होती है।... काव्य से प्राप्त संवेदन प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म बिम्ब-रूप होते हैं। एक तो इसी कारण उनकी कटुता अत्यंत क्षीण हो जाती है, दूसरे वे कवि द्वारा भावित होते हैं। इसलिए अनिवार्यतः उनमें सामंजस्य स्थापित हो जाता है; क्योंकि काव्य के भावन का अर्थ ही अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित करना है और अव्यवस्था में व्यवस्था ही आनन्द है। इस प्रकार जीवन के कटु अनुभव भी काव्य में, अपने तत्त्व-रूप संवेदना के समन्वित हो जाने से आनन्दप्रद बन जाते हैं।'[2]

उपर्युक्त उद्धरणों के विश्लेषण से दो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं :

(१) काव्यास्वाद अनिवार्यतः आनन्दमयी अनुभूति है। काव्यास्वादन की प्रक्रिया के प्रारंभिक चरण में तो काव्यनिबद्ध दुःखद प्रसंगों से प्रमाता को कटु अनुभव भले ही होता हो, किन्तु प्रक्रिया की अन्तिम परिणिति में प्रमाता की अनुभूति कटु अनुभवों से सर्वथा विनिर्मुक्त पूर्णतया आनन्दमयी होती है।

(२) विशृंखल एवं खण्ड संवेदनों की अन्विति और समंजिति से निर्मित प्रमाता की संश्लिष्ट अनुभूति ही काव्यास्वाद है।

उपर्युक्त निष्कर्षों में से प्रथम भारतीय काव्यशास्त्र के मूल आनन्दवादी सिद्धान्त का मौलिक पुनराख्यान है। काव्य से प्राप्त प्रमाता के कटु अनुभवों को काव्यास्वादन की प्रक्रिया से तथा काव्यानंद को प्रक्रिया की अन्तिम परिणित से सम्बद्ध कर डॉ० नगेन्द्र ने काव्यास्वाद के स्वरूप-विश्लेण में निश्चय ही मौलिक योगदान किया है। द्वितीय निष्कर्ष आई० ए० रिचर्ड्स से प्रभावित है। रिचर्ड्स ने प्रमाता के अन्तर्गत के संवेदन-रूप अरूप बिम्बों द्वारा निर्मित परस्पर विरोधी विशृंखल आवेगों की स्वीकृति से प्राप्त आत्म-परितोष को काव्यास्वाद माना है।[3] डॉ० नगेन्द्र ने आवेगों अथवा मनोवेगों के स्थान पर 'अनुभूति' शब्द का प्रयोग किया है। रिचर्ड्स

---

१. वही, पृष्ठ १११।

२. डॉ० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ६३-६४।

३. देखिए—प्रस्तुत शोध-प्रबंध के तृतीय अध्याय के 'आधुनिक आचार्यों की दृष्टि में काव्यास्वाद का स्वरूप' शीर्षक प्रकरण में आई० ए० रिचर्ड्स की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं का विवेचन।

ने जहाँ काव्यास्वाद को आत्मपरितोषकारी माना है वहाँ डॉ० नगेन्द्र उसे आनन्दमयी चेतना मानते हैं। यों एक स्थान पर उन्होंने रिचर्ड्स के 'आत्मपरितोष' को लगभग आनन्द के समतुल्य ही सिद्ध कर दिया है : 'प्लेजर या आह्लाद से आपको चिढ़ है तो छोड़िये, परन्तु यह गंभीर आत्म-परितोष भी निरानन्द नहीं है।'[1]

डॉ० नगेन्द्र द्वारा उपस्थित तृतीय प्रश्न काव्यानन्द के स्वरूप से संबंधित है। भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र की काव्यानन्द-विषयक विविध अवधारणाओं का गंभीर मन्थन कर उन्होंने उन्हें चार वर्गों में विभाजित किया है:[2] (१) प्रत्यक्षतः ऐन्द्रिय-मानसिक आनन्द, (२) आत्मिक आनन्द का ही एक रूप, (३) कल्पना का आनन्द, तथा (४) सभी प्रकार के लौकिक (और आध्यात्मिक) अनुभवों से भिन्न एक प्रकार का विलक्षण आनन्द।

उपर्युक्त चार मतों में से डॉ० नगेन्द्र किसी को भी यथावत् स्वीकार नहीं करते। विभिन्न मतों का सूक्ष्म परीक्षण करते हुए उन्होंने सर्वप्रथम अन्तिम मत का स्पष्ट खंडन किया है : '. . . यह सिद्ध नहीं होता कि वह (काव्यानन्द) सामान्य जीवनगत अनुभव नहीं है—इस लोक का अनुभव नहीं है। उसमें ऐन्द्रिय तत्त्व है, बौद्धिक तत्त्व का भी एकान्त अभाव नहीं है और आत्मा के विश्वासियों के अनुसार आत्मानुभव का भी अस्पर्श नहीं है। इस अनुभव के स्वरूप का संघटन अन्य अनुभूतियों से भिन्न अवश्य है परन्तु उसके आधार-तत्त्व सर्वथा विलक्षण नहीं हैं'[3], 'रूप का भेद होने पर भी प्रकृति का भेद इसमें (काव्यानन्द में) नहीं है; क्योंकि अनासक्त अनुभूति या निर्वैयक्तिक अथवा साधारणीकृत अनुभूति भी तो मानसिक-ऐन्द्रिय अनुभूति का ही परिष्कृत एवं विकसित रूप होती है।'[4]

काव्यानन्द के स्वरूप के विषय में तृतीय विकल्प—कल्पना के आनन्द—को डॉ० नगेन्द्र अंशतः ही स्वीकार करते हैं। राग-तत्त्व को काव्य का मूल आधार मानते हुए कल्पना को केवल माध्यम के रूप में ही स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त कल्पना के आनन्द को वे किसी स्वतंत्र कोटि का आनन्द न मानकर मानसिक-बौद्धिक आनन्द का ही एक भेद मानते हैं : 'काव्यानन्द कल्पना का आनन्द है—यह मत केवल अंशतः ठीक है। . . .काव्य का आधार मूलतः हमारा रागात्मक जीवन है—कल्पना उसका माध्यम है. . .केवल कल्पना के आधार पर काव्य के स्वरूप का निर्माण संभव नही है। अतः काव्य का आस्वाद भी केवल कल्पना का आस्वाद नहीं हो सकता। . . .इसके अतिरिक्त, कल्पना भी तो मन और बुद्धि की ही क्रिया है : अतः कल्पना का आनन्द भी मानसिक-बौद्धिक आनन्द की परिधि में ही आ जाता है : वह आनन्द का कोई नवीन भेद-प्रकार नहीं है।'[5]

आत्मानन्द अथवा आध्यात्मिक आनन्द संबंधी मत पर विचार करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने उसका भी स्पष्ट निराकरण किया है। काव्यानन्द के मूल में लौकिक जीवन के अनिवार्य परिवेश को स्वीकार करते हुए वे उसे अलौकिक आनन्द अथवा शुद्ध आत्मास्वाद नहीं मानते :

---

१. डॉ० नगेन्द्र : रस-सिद्धान्त, पृष्ठ ११०।
२. वही पृष्ठ ११६।
३. वही
४. 'भारतीय काव्यशास्त्र में सौन्दर्यानुभूति का स्वरूप' शीर्षक अभिभाषण, पृष्ठ १०।
५. रस-सिद्धान्त, पृष्ठ ११७।

'काव्यानन्द शुद्ध आत्मानन्द नहीं है. . .आत्मानन्द जहाँ शुद्ध आत्म-तत्त्व का भोग है, वहाँ काव्यानन्द में भौतिक जीवन की भूमिका अवश्य बनी रहती है। साधारणीकृत भाव-भूमिका भी अभौतिक नहीं है : उसमें व्यक्तिगत राग-द्वेष से मुक्ति के फलस्वरूप भाव का परिष्कार है, उन्नयन है–– परन्तु यह स्थिति भी अभौतिक या अतीन्द्रिय क्यों है ? . . .काव्य-निबद्ध या काव्यप्रेरित स्थायी भाव के आस्वाद को भी आध्यात्मिक आनन्द नहीं कहा जा सकता।'[1]

काव्यानन्द के स्वरूप के संबंध में देश-विदेश के कला-चिन्तकों द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त चार मतों में से अन्तिम तीन का सप्रमाण खण्डन करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने प्रथम विकल्प के अन्तर्गत ही काव्यानन्द-विषयक अपने विशिष्ट अभिमत का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार काव्यानन्द यद्यपि प्रत्यक्षतः ऐन्द्रिय एव लौकिक आनन्द नहीं है, तथापि उसे लौकिक जीवनानुभूति से भिन्न नहीं माना जा सकता। काव्य के आधार, माध्यम और उसके उपभोक्ता प्रमाता–सभी को अनिवार्यतः लौकिक जीवन से सम्बद्ध मानते हुए वे काव्यास्वाद को स्पष्टतः 'लौकिक––ऐन्द्रिय-मानसिक––अनुभूति' घोषित करते हैं : '. . .प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय या लौकिक अनुभव न होने पर भी, काव्य का आनन्द लौकिक जीवन की ही अनुभूति है. . .काव्य के समस्त विषय लौकिक ही होते हैं, उसके उपकरण––भाव, कल्पना, बुद्धि आदि तत्त्व भी लौकिक ही हैं; उधर उसके आस्वाद के माध्यम चक्षु-श्रोत्र तथा मन-बुद्धि भी लौकिक हैं और आस्वादयिता भी सवासन सामाजिक ही होता है, भक्त या योगी नहीं। ऐसी स्थिति में काव्यानन्द लोक-बाह्य एवं अतीन्द्रिय अनुभूति नहीं है. . .वह लौकिक––ऐन्द्रिय-मानसिक––अनुभूति ही है. . .।'[2] इस ऐन्द्रिय-मानसिक लौकिक अनुभूति का आधार डॉ० नगेन्द्र की दृष्टि में भाव है।[3] काव्यास्वाद को वे प्रमाता की भावित अनुभूति मानते हैं : '. . .काव्यानुभूति है तो ऐन्द्रिय अनुभूति ही, परन्तु साधारण नहीं है, भावित (contemplated) अनुभूति है।'[4] प्रमाता काव्य के माध्यम से अपने पूर्वानुभवों का पुनर्भावन अथवा कल्पनात्मक पुनःसृजन कर काव्यानन्द का अनुभव करता है : अतः काव्यास्वाद, उनकी दृष्टि में, भावना के कल्पनात्मक पुनःसृजन का आनंद है : '. . .कला की अनुभूति, . . .सक्रिय अथवा सर्जनात्मक कल्पना की क्रिया होने के कारण, पूर्वानुभव की पुनरुद्‌बुद्धि मात्र नहीं वरन् पुनःसृष्टि होती है। . . .इस प्रकार कलानुभूति भावना के कल्पनात्मक पुनःसृजन की आनन्दमयी अनुभूति है. . .'[5]

काव्यास्वाद को विलक्षण, आत्मिक-आध्यात्मिक अनुभूति एवं कल्पना के आनन्द के रूप में प्रतिपादित करने वाले विभिन्न मतों को असिद्ध कर तथा उसे प्रमाता की ऐन्द्रिय-मानसिक भावित अनुभूति सिद्ध कर डॉ० नगेन्द्र ने उसके स्वरूप का और अधिक विस्तृत विशद विवेचन किया है। काव्यास्वाद उनकी दृष्टि में ऐन्द्रिय-मानसिक आस्वाद होने पर भी प्रमाता के व्यक्तिगत भाव का आस्वाद न होकर निर्वैयक्तिक भाव का ही आस्वाद है : '. . .सौंदर्यानुभूति

---

१. वही, पृष्ठ ११८।
२. वही।
३. रस-सिद्धान्त, पृष्ठ ११८।
४. डॉ० नगेन्द्र : विचार और विवेचन, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २७।
५. 'भारतीय काव्यशास्त्र में सौन्दर्यानुभूति का स्वरूप' शीर्षक अभिभाषण, पृष्ठ १४

कलानुभूति राग-द्वेष से विनिर्मुक्त चित्त द्वारा निर्वैयक्तिक भाव का आस्वाद है।[1] काव्यास्वाद को वे ऐन्द्रिय, रागात्मक और बौद्धिक अनुभूति-तत्त्वों से विनिर्मित प्रमाता का 'समंजित आस्वाद' मानते हैं : 'यह वास्तव में एक प्रकार का समंजित आस्वाद है जिसमें ऐन्द्रिय, रागात्मक और बौद्धिक तत्त्वों का लवण-नीर संयोग रहता है।'[2] किन्तु फिर भी काव्यास्वाद, उनके मतानुसार, न प्रत्यक्ष मानसिक अथवा ऐन्द्रियानुभूति है और न बौद्धिक। इन अनुभूतियों से काव्यास्वाद का अन्तर स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि '...काव्य से प्राप्त संवेदनों की स्थिति प्रत्यक्ष मानसिक संवेदनों से सूक्ष्मतर और बौद्धिक संवेदनों से अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यक्ष एवं स्थूल ठहरती है। इसीलिए तो काव्यानुभूति में एक ओर ऐन्द्रिय अनुभूति की स्थूलता एवं तीव्रता (ऐन्द्रियता एवं कटुता) नहीं होती और दूसरी ओर बौद्धिक अनुभूति की अरूपता नहीं होती; और, इसी-लिए—वह पहले से अधिक शुद्ध-परिष्कृत तथा दूसरी से अधिक सरस होती है।'[3]

डॉ० नगेन्द्र की उपर्युक्त स्थापनाएँ अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में एडीसन और कॉलरिज[4] आदि महान समीक्षकों द्वारा प्रतिपादित कल्पना के आनंद संबंधी सिद्धान्त, भारतीय काव्यशास्त्र में निरूपित—विशेषतः अभिनवगुप्त[5] एवं पंडितराज जगन्नाथ[6] द्वारा प्रतिपादित—आत्मास्वाद अथवा आत्मचैतन्य के आस्वाद[7]-विषयक सिद्धान्त तथा सिडनी, बेन जोनसन, काण्ट एवं हीगेल आदि पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों एवं सौंदर्यशास्त्रियों[8] द्वारा निरूपित आध्यात्मिक आनन्द संबंधी मत का स्पष्ट खंडन कर उन्होंने अत्यत साहसपूर्वक आधुनिक मनोविज्ञान के प्रकाश में काव्यास्वाद को लौकिक परिवृत्त में ऐन्द्रिय, मानसिक एवं बौद्धिक तत्त्वों से विनिर्मित समंजित अनुभूति सिद्ध किया है। सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्यशास्त्र की परम्परा से विच्छिन्न डॉ० नगेन्द्र की काव्यास्वाद-विषयक यह स्थापना हिन्दी-साहित्य में काव्यास्वाद-विवेचन के क्षेत्र में एक नितान्त मौलिक एवं अभूतपूर्व देन है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर डॉ० नगेन्द्र के काव्यास्वाद-स्वरूप-विषयक मत का सारांश निम्न प्रकार है:

१. काव्यास्वाद प्रत्यक्ष भावानुभूति से भिन्न अनुभूति है। यह प्रमाता के निजी भाव का आस्वाद न होकर उसके निर्वैयक्तिक भाव का आस्वाद है।
२. काव्यास्वाद अनिवार्यतः (आनन्दमयी) अनुभूति है।

---

१. 'भारतीय काव्यशास्त्र में सौन्दर्यानुभूति का स्वरूप' शीर्षक अभिभाषण, पृष्ठ १४।
२. 'रस-सिद्धान्त, पृष्ठ ११९।
३. रीतिकाव्य की भूमिका, पृष्ठ ६३-६४।
४. देखिए—प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में एडीसन और कॉलरिज की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं का विवेचन।
५-६. देखिए—प्रस्तुत शोध-प्रबंध के द्वितीय अध्याय के 'क' प्रकरण में अभिनवगुप्त और पंडितराज जगन्नाथ के काव्यास्वाद-विषयक मतों का विवेचन।
७. देखिए—रस-सिद्धान्त (डॉ० नगेन्द्र), पृष्ठ ९०।
८. देखिए—प्रस्तुत शोध प्रबंध के तृतीय अध्याय में सिडनी, बेन जोनसन, काण्ट तथा हीगेल के काव्यास्वाद-विषयक अभिमतों का विवेचन।

३. यह आस्वाद विशृंखल एव खण्ड संवेदनों की अन्विति और समंजिति से निर्मित प्रमाता की संश्लिष्ट आनंदमयी अनुभूति है।
४. काव्यानुभूति प्रमाता की भावित अनुभूति है। यह प्रमाता द्वारा निजी अनुभूतियों के पुनर्भावन अथवा कल्पनात्मक पुनःसृजन से प्राप्त आनन्द है।
५. काव्यानन्द विशिष्ट-विलक्षण आनन्द, आत्मिक-आध्यात्मिक आनन्द तथा कल्पना के आनन्द से भिन्न ऐन्द्रिय-मानसिक अथवा मानसिक-बौद्धिक आनन्द है।
६. यह आनंद ऐन्द्रिय आनंद की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म एवं परिष्कृत तथा बौद्धिक आनन्द की अपेक्षा अधिक सरस होता है।

काव्यास्वाद की प्रक्रिया

डॉ० नगेन्द्र ने काव्यास्वाद की प्रक्रिया का अत्यन्त मार्मिक विवेचन किया है। रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत साधारणीकरण-सिद्धान्त एवं रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया के विश्लेषण के सन्दर्भ में उन्होंने मनोविज्ञान के आलोक में काव्यास्वादन की प्रक्रिया के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ की हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र के अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं विवादास्पद प्रश्न—साधारणीकरण किसका होता है?—से संबंधित संस्कृत और हिन्दी-साहित्यशास्त्र में उपलब्ध विभिन्न मतों की सम्यक् परीक्षा के उपरान्त डॉ० नगेन्द्र ने निजी मत का प्रतिपादन किया है। इस प्रश्न के समाधान में संस्कृत और हिन्दी-साहित्यशास्त्र में जो मत प्रतिपादित किये गए वे उनकी दृष्टि में इस प्रकार हैं:

१. 'रस के समस्त अवयवों—विभाव, अनुभाव, स्थायी और संचारी का साधारणीकरण होता है।
२. 'मूलतः रस के विभावादि समस्त अवयवों का ही साधारणीकरण होता है और विभावादि के साधारणीकरण के फलस्वरूप ही स्थायी का साधारणीकरण होता है. . .स्थायी का यह साधारणीकरण—अर्थात् सहृदय चेतना की निर्मुक्ति ही अन्ततः मुख्य हो जाती है और शेष ज्ञान (सामान्य तथा विशेष दोनों प्रकार का) उसमें लीन हो जाता है।
३. 'तीसरे मत के अनुसार भी साधारणीकरण तो सभी का माना गया है, किन्तु यहाँ साधारणीकरण की प्रक्रिया में आश्रय के साथ तादात्म्य को रेखांकित कर दिया गया है. . .।
४. '. . .साधारणीकरण मूलतः आलम्बन या आलम्बनत्व धर्म का होता है. . .।
५. 'साधारणीकरण की प्रक्रिया में तीन बिन्दु हैं : कवि, नायक (आश्रय) और श्रोता। इन तीनों के भाव-तादात्म्य से साधारणीकरण पूर्ण हो जाता है।"

उपर्युक्त अभिमतों के सत्यासत्य की परीक्षा करते समय डॉ० नगेन्द्र ने सर्वप्रथम आश्रय के साथ तादात्म्य से संबंधित मत का अत्यंत स्पष्ट रूप में खण्डन किया है : '. . .'आश्रय के साथ तादात्म्य' की स्वतंत्र या प्रमुख स्थिति अग्राह्य है; साधारणीकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया के

अंग-रूप में ही तादात्म्य मान्य हो सकता है।"[1] आश्रय के साथ तादात्म्य के संदर्भ में ही उन्होंने नायक के साथ तादात्म्य का भी निराकरण कर दिया है :, . . .'नायक के साथ तादात्म्य' भी सर्वथा सिद्ध नहीं होता और रस-परिपाक के लिए नायक का साधारणीकरण भी आश्रय के साधारणीकरण के समान ही (यद्यपि उतना नहीं) अपर्याप्त ही रहता है।"[2]

शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित 'आलम्बन या आलम्बनत्व धर्म' के साधारणीकरण का भी डॉ० नगेन्द्र ने युक्तियुक्त खंडन किया है : '. . .विशेष रूप को सुरक्षित रखते हुए आलम्बन के साधारणीकरण की सिद्धि वास्तव में नहीं हो सकती। स्वयं शुक्लजी को इसकी प्रतीति हुई है, इसीलिए वे आलम्बन से हटकर आलम्बनत्व या आलम्बन-धर्म तक पहुँच गए हैं—और फिर उन्हें उसको नैतिक आधार प्रदान करना पड़ा है। ऐसा आलम्बन शुक्लजी को ग्राह्य नहीं है जिसका आधार नैतिक न हो, क्योंकि उसका तो साधारणीकरण ही नहीं हो सकता।. . .प्रस्तुत सिद्धान्त को यथावत् स्वीकार कर लेने पर रस का क्षेत्र सीमित हो जाता है—मानवात्मा की वह दिव्य कांति, जो प्रथा और नीति के आवरण को चीर जीवन के असाधारण क्षणों में कौंध जाती है, इस रस-दृष्टि के घेरे में नहीं आती. . ."[3] इसके उपरान्त डॉ० नगेन्द्र ने सहृदय की चेतना के साधारणीकरण पर विचार किया है। आधुनिक हिन्दी-साहित्यशास्त्र में पं० केशवप्रसाद मिश्र ने इस मत का प्रबल समर्थन किया है। उन्होंने इस प्रसंग में चित्त की एकतान स्थिति को प्रमाता की साधारणीकृत स्थिति माना है। डॉ० नगेन्द्र चित्त की 'एकतान' स्थिति को साधारणीकरण का कारण न मानकर उसकी परिणति ही मानते हैं और इसी आधार पर वे इसका स्पष्ट खंडन करते हैं : '. . .चित्त की एकतानता ही तो संवित्‌विश्रान्ति है और वही रस है, अतः वह साधारणीकरण का कारण नहीं हो सकती, वह तो कार्य या परिणति है. . .यह स्थापना भी सर्वथा अमान्य नहीं है कि प्रमातृ चेतना की एकतानता ही वस्तुतः साधारणीकरण है।"[4] सहृदय के साधारणीकरण की चर्चा डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित ने भी की है तथा 'रीतिकाव्य की भूमिका' में डॉ० नगेन्द्र द्वारा उक्त मत के खण्डन का प्रत्याख्यान किया है।[5] डॉ० नगेन्द्र की परवर्ती रचना 'रस-सिद्धान्त' में प्रस्तुत उक्त तर्क के द्वारा डॉ० दीक्षित के आक्षेप का स्वतः ही निराकरण हो जाता है।

डॉ० नगेन्द्र भट्टनायक के सम्पूर्ण रसावयवों के साधारणीकरण के सिद्धान्त को भी यथावत् स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार विभावादि रसांगों से संघटित काव्य-प्रसंग अपने आप में संप्रेष्य वस्तु नहीं है, यह तो वस्तुतः कवि की संवेद्य अनुभूति का बाह्य बिम्ब मात्र है। अतः सम्पूर्ण रसावयवों का साधारणीकरण नहीं होता :' . . .यह काव्य-प्रसंग तो अपने आप में जड़ वस्तु है—इसका चैतन्य अंश तो इसका 'अर्थ' है. . .जो एक ओर कवि के अर्थ को व्यक्त करता है और दूसरी ओर प्रमाता के चित्त में समान अर्थ को उद्‌बुद्ध करता है। काव्य प्रसंग इसी का मूर्त्त-रूप या बिम्ब है।. . . काव्य-प्रसंग और कुछ नहीं कवि की 'भावना' का बिम्ब

---

१. वही, पृष्ठ २०७।
२. वही।
३. वही, पृष्ठ २०८।
४. वही, पृष्ठ २०९।
५. देखिए—डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित : रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १४०।

३. यह आस्वाद विशृंखल एव खण्ड संवेदनों की अन्विति और समंजिति से निर्मित प्रमाता की संश्लिष्ट आनंदमयी अनुभूति है।
४. काव्यानुभूति प्रमाता की भावित अनुभूति है। यह प्रमाता द्वारा निजी अनुभूतियों के पुनर्भावन अथवा कल्पनात्मक पुनःसृजन से प्राप्त आनन्द है।
५. काव्यानन्द विशिष्ट-विलक्षण आनन्द, आत्मिक-आध्यात्मिक आनन्द तथा कल्पना के आनन्द से भिन्न ऐन्द्रिय-मानसिक अथवा मानसिक-बौद्धिक आनन्द है।
६. यह आनंद ऐन्द्रिय आनंद की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म एवं परिष्कृत तथा बौद्धिक आनन्द की अपेक्षा अधिक सरस होता है।

काव्यास्वाद की प्रक्रिया

डॉ० नगेन्द्र ने काव्यास्वाद की प्रक्रिया का अत्यन्त मार्मिक विवेचन किया है। रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत साधारणीकरण-सिद्धान्त एवं रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया के विश्लेषण के सन्दर्भ में उन्होंने मनोविज्ञान के आलोक में काव्यास्वादन की प्रक्रिया के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ की हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र के अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं विवादास्पद प्रश्न—साधारणीकरण किसका होता है ?—से संबंधित संस्कृत और हिन्दी-साहित्यशास्त्र में उपलब्ध विभिन्न मतों की सम्यक् परीक्षा के उपरान्त डॉ० नगेन्द्र ने निजी मत का प्रतिपादन किया है। इस प्रश्न के समाधान में संस्कृत और हिन्दी-साहित्यशास्त्र में जो मत प्रतिपादित किये गए वे उनकी दृष्टि में इस प्रकार हैं:

१. 'रस के समस्त अवयवों—विभाव, अनुभाव, स्थायी और संचारी का साधारणीकरण होता है।
२. 'मूलतः रस के विभावादि समस्त अवयवों का ही साधारणीकरण होता है और विभावादि के साधारणीकरण के फलस्वरूप ही स्थायी का साधारणीकरण होता है. . .स्थायी का यह साधारणीकरण—अर्थात् सहृदय चेतना की निर्मुक्ति ही अन्ततः मुख्य हो जाती है और शेष ज्ञान (सामान्य तथा विशेष दोनों प्रकार का) उसमें लीन हो जाता है।
३. 'तीसरे मत के अनुसार भी साधारणीकरण तो सभी का माना गया है, किन्तु यहाँ साधारणीकरण की प्रक्रिया में आश्रय के साथ तादात्म्य को रेखांकित कर दिया गया है. . .।
४. '. . .साधारणीकरण मूलतः आलम्बन या आलम्बनत्व धर्म का होता है. . .।
५. 'साधारणीकरण की प्रक्रिया में तीन विन्दु हैं : कवि, नायक (आश्रय) और श्रोता। इन तीनों के भाव-तादात्म्य से साधारणीकरण पूर्ण हो जाता है।"

उपर्युक्त अभिमतों के सत्यासत्य की परीक्षा करते समय डॉ० नगेन्द्र ने सर्वप्रथम आश्रय के साथ तादात्म्य से संबंधित मत का अत्यंत स्पष्ट रूप में खण्डन किया है : '. . .'आश्रय के साथ तादात्म्य' की स्वतंत्र या प्रमुख स्थिति अग्राह्य है; साधारणीकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया के

अंग-रूप में ही तादात्म्य मान्य हो सकता है।"[1] आश्रय के साथ तादात्म्य के संदर्भ में ही उन्होंने नायक के साथ तादात्म्य का भी निराकरण कर दिया है :, . . .'नायक के साथ तादात्म्य' भी सर्वथा सिद्ध नहीं होता और रस-परिपाक के लिए नायक का साधारणीकरण भी आश्रय के साधारणीकरण के समान ही (यद्यपि उतना नहीं) अपर्याप्त ही रहता है।"[2]

शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित 'आलम्वन या आलम्वनत्व धर्म' के साधारणीकरण का भी डॉ० नगेन्द्र ने युक्तियुक्त खंडन किया है : '. . .विशेप रूप को सुरक्षित रखते हुए आलम्वन के साधारणीकरण की सिद्धि वास्तव में नहीं हो सकती। स्वयं शुक्लजी को इसकी प्रतीति हुई है, इसीलिए वे आलम्वन से हटकर आलम्वनत्व या आलम्वन-धर्म तक पहुँच गए हैं—और फिर उन्हें उसको नैतिक आधार प्रदान करना पड़ा है। ऐसा आलम्वन शुक्लजी को ग्राह्य नहीं है जिसका आधार नैतिक न हो, क्योंकि उसका तो साधारणीकरण ही नहीं हो सकता।. . .प्रस्तुत सिद्धान्त को यथावत् स्वीकार कर लेने पर रस का क्षेत्र सीमित हो जाता है—मानवात्मा की वह दिव्य कांति, जो प्रथा और नीति के आवरण को चीर जीवन के असाधारण क्षणों में कौंध जाती है, इस रस-दृष्टि के घेरे में नही आती. . ."[3] इसके उपरान्त डॉ० नगेन्द्र ने सहृदय की चेतना के साधारणीकरण पर विचार किया है। आधुनिक हिन्दी-साहित्यशास्त्र में पं० केशवप्रसाद मिश्र ने इस मत का प्रबल समर्थन किया है। उन्होंने इस प्रसंग में चित्त की एकतान स्थिति को प्रमाता की साधारणीकृत स्थिति माना है। डॉ० नगेन्द्र चित्त की 'एकतान' स्थिति को साधारणीकरण का कारण न मानकर उसकी परिणति ही मानते हैं और इसी आधार पर वे इसका स्पष्ट खंडन करते हैं : '. . .चित्त की एकतानता ही तो संवित्‌विश्रान्ति है और वही रस है, अतः वह साधारणीकरण का कारण नहीं हो सकती, वह तो कार्य या परिणति है. . .यह स्थापना भी सर्वथा अमान्य नहीं है कि प्रमातृ चेतना की एकतानता ही वस्तुतः साधारणीकरण है।'[4] सहृदय के साधारणीकरण की चर्चा डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित ने भी की है तथा 'रीतिकाव्य की भूमिका' में डॉ० नगेन्द्र द्वारा उक्त मत के खण्डन का प्रत्याख्यान किया है।[5] डॉ० नगेन्द्र की परवर्ती रचना 'रस-सिद्धान्त' में प्रस्तुत उक्त तर्क के द्वारा डॉ० दीक्षित के आक्षेप का स्वतः ही निराकरण हो जाता है।

डॉ० नगेन्द्र भट्टनायक के सम्पूर्ण रसावयवों के साधारणीकरण के सिद्धान्त को भी यथावत् स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार विभावादि रसांगों से संघटित काव्य-प्रसंग अपने आप में संप्रेष्य वस्तु नहीं है, यह तो वस्तुतः कवि की संवेद्य अनुभूति का वाह्य विम्ब मात्र है। अतः सम्पूर्ण रसावयवों का साधारणीकरण नहीं होता :' . . .यह काव्य-प्रसंग तो अपने आप में जड़ वस्तु है—इसका चैतन्य अंश तो इसका 'अर्थ' है. . .जो एक ओर कवि के अर्थ को व्यक्त करता है और दूसरी ओर प्रमाता के चित्त में समान अर्थ को उद्‌बुद्ध करता है। काव्य प्रसंग इसी का मूर्त-रूप या विम्ब है।. . . काव्य-प्रसंग और कुछ नहीं कवि की 'भावना' का विम्ब

---

१. वही, पृष्ठ २०७।
२. वही।
३. वही, पृष्ठ २०८।
४. वही, पृष्ठ २०९।
५. देखिए—डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित : रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १४०।

मात्र है—यह काव्य- प्रसंग या विम्व शरीर है और कवि-भावना उसको प्रकाशित करने वाली चैतन्य आत्मा है, और, चूंकि साधारणीकरण जड़-यांत्रिक क्रिया न होकर चैतन्य क्रिया है, अतः काव्य-प्रसंग या रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण मानने की अपेक्षा कवि-भावना का साधारणीकरण मानना मनोविज्ञान के अधिक अनुकूल है।"[1]

इस प्रकार डॉ० नगेन्द्र ने विभिन्न आचार्यों की साधारणीकरण-विषयक प्रायः सभी मान्यताओं का सतर्क खंडन कर कवि के संवेद्य अथवा उसकी सर्जनात्मक अनुभूति के साधारणीकरण–संबंधी अपने प्रसिद्ध मत का प्रतिपादन किया है : 'साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदयों में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कहते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्त्तमान है।'[2]

डॉ० नगेन्द्र की उपर्युक्त स्थापना सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्यशास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन में एक अभिनव दिशा का प्रवर्त्तन करती है। यों उनसे पूर्व डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' ने कवि के पक्षपात के भाजन पात्र के साथ प्रमाता के जिस भावगत तादात्म्य[3] की चर्चा की है उसमें डॉ० नगेन्द्र के प्रस्तुत सिद्धान्त का संकेत-सूत्र उपलब्ध है। यद्यपि 'सुधांशु' जी ने मूलतः काव्य-निबद्ध पात्र का ही साधारणीकरण माना है, तथापि कवि का विशेष पक्षपात अर्जित करने वाला पात्र, जैसा कि प्रस्तुत अध्याय में ही 'सुधांशु' जी के काव्यास्वाद-निरूपण के प्रसंग में स्पष्ट किया जा चुका है,[4] वस्तुतः कवि की अनुभूति का ही प्रतीक है।

डॉ० नगेन्द्र के साधारणीकरण-विषयक प्रस्तुत अभिमत की प्रत्यालोचना का प्रयत्न अनेक विद्वानों ने अपने-अपने दष्टिकोणों से किया है। डॉ० गुलाबराय ने उनके मत का प्रत्याख्यान इन शब्दों में किया है : 'डाक्टर नगेन्द्र की प्रतिभा विषयिगत है। वे कवि को महत्त्व देते हैं और विषय के अस्तित्व को मिटा-से देते हैं।...कवि की भावना जहाँ तक उस विषयगत सत्ता अथवा जनसाधारण के मन की भावना से साम्य रखती है वहाँ तक जनता के हृदय में साधारणीकरण सहज में हो जाता है और रसास्वाद में सुविधा होती है और जहाँ कवि की वैयक्तिक धारणा जनता की धारणा से मेल नहीं खाती है वहाँ रसास्वाद में बाधा पड़ती है।'[5] डॉ० नगेन्द्र ने अपनी परवर्ती रचना 'रस-सिद्धान्त' में गुलाबरायजी के इस आक्षेप का यथोचित उत्तर दिया है। वे उनकी और अपनी धारणा में कोई विशेष अन्तर नहीं मानते।[6] गुलाबरायजी को यह आपत्ति वस्तुतः

---

१. रस-सिद्धान्त, पृष्ठ २०९-१०।
२. रीतिकाव्य की भूमिका, पृष्ठ ४७।
३. 'काव्य में वर्णित चरित्र के सुख-दुःख के साथ हम अपने हृदय की वृत्तियों का सामंजस्य रखते हैं।...यह तादात्म्य विशेषतः उसी पात्र में होता है जिसके प्रति, काव्यकार भी अंशतः पक्षपात करता है।'
—काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृष्ठ ८९।
४. देखिए : प्रस्तुत अध्याय में सुधांशु जी का काव्यास्वाद-निरूपण।
५. बाबू गुलाबराय : सिद्धान्त और अध्ययन, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २१३।
६. 'वास्तव में बाबूजी के इस मन्तव्य का मेरी स्थापना से कोई विशेष विरोध नहीं रह जाता।
—रस-सिद्धान्त, पृष्ठ २१०।

कवि की अनुभूति को जनसाधारण (प्रेक्षक-समुदाय) की संस्कार-बद्ध अनुभूति से भिन्न विशिष्ट-वैयक्तिक अनुभूति मानने के कारण हुई है। डॉ० नगेन्द्र ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि 'मैंने तो कहीं भी कवि की अनुभूति को 'विशिष्ट' या 'वैयक्तिक' अनुभूति नहीं माना।'[१]

डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित ने भी डॉ० नगेन्द्र की उक्त स्थापना का विरोध किया है : 'डॉ० नगेन्द्र ने साधारणीकरण के प्रसंग में आश्रय, आलम्बन, नायक, कवि आदि का पृथक्-पृथक् रूप से विचार किया है। उनके विचारों पर ध्यान देने से प्रकट होगा कि इन सबके संबंध में उन्होंने साधारणीकरण को तादात्म्य मानकर ही अपने विचार व्यक्त किये हैं। आश्चर्य का विषय है कि डॉ० नगेन्द्र शुक्लजी के खण्डन में ये कहकर कि केवल विभाव का साधारणीकरण और आश्रय के साथ तादात्म्य भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त को मान्य नहीं है, स्वयं उसी तादात्म्य की सचेष्टता पूर्वक स्थापना कर चले हैं।'[२] दीक्षितजी के ये आक्षेप सर्वथा निराधार और भ्रान्त हैं। उनको सबसे बड़ी आपत्ति डॉ० नगेन्द्र द्वारा प्रयुक्त 'तादात्म्य' शब्द पर है, वे (दीक्षितजी) उसे 'साधारणीकरण' से नितान्त भिन्न वस्तु मानते हैं। शुक्लजी, पं० बलदेव उपाध्याय, बाबू गुलाबराय, 'सुधांशु' तथा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रभृति अनेक विद्वानों ने साधारणीकरण के प्रसंग में 'तादात्म्य' शब्द का प्रयोग किया है। 'तादात्म्य' के अभाव में प्रमाता की चेतना किसी भी विशिष्ट वस्तु अथवा भाव के साधारणीकृत भाव, प्रभाव अथवा बिम्ब का सम्यक् ग्रहण नहीं कर सकती। साधारणीकरण की प्रक्रिया का वृत्त तादात्म्य के अभाव में पूर्ण नहीं हो सकता; साधारणीकरण की प्रक्रिया की चरम परिणति प्रमाता द्वारा साधारणीकृत भाव के तादात्म्य में ही होती है। इसके अतिरिक्त डॉ० दीक्षित को डॉ० नगेन्द्र द्वारा शुक्लजी के मत के संदर्भ में विभाव और आश्रय के साधारणीकरण संबंधी मतों के खंडन में प्रस्तुत तर्कों को समझने में भी भ्रान्ति हुई है। डॉ० नगेन्द्र ने, जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, न तो विभाव अथवा आश्रय के साथ तादात्म्य को स्वीकार किया है और न ही उनका 'कवि की अनुभूति' के साधारणीकरण का सिद्धान्त उक्त सिद्धान्तों की भाँति एकांगी ही है। वस्तुतः, जैसा कि डॉ० नगेन्द्र ने सर्वथा निर्भ्रान्त रूप में स्पष्ट किया है, समस्त रसावयवों द्वारा निर्मित सम्पूर्ण काव्य-प्रसंग कवि की ही अनुभूति अथवा उसके संवेद्य का ही मूर्त्त बिम्ब है।

डॉ० नगेन्द्र ने साधारणीकरण का आधार 'भाषा का भावमय प्रयोग' तथा 'मानव-सुलभ सहानुभूति' को माना है : '. . .साधारणीकरण का आधार है भाषा का भावमय प्रयोग। भाषा का भावमय प्रयोग प्रयोक्ता की अपनी भाव-शक्ति पर निर्भर रहता है, और प्रयोक्ता के भावों की संवेदन-शक्ति का आधार है—मानव-सुलभ सहानुभूति।'[३]

काव्यास्वादन की प्रक्रिया के विश्लेषण-क्रम में डॉ० नगेन्द्र ने काव्यास्वाद को सहृदय-निष्ठ अनुभूति माना है। उनके अनुसार काव्य के माध्यम से प्रमाता अपनी ही 'अस्मिता का आस्वादन' करता है। डॉ० नगेन्द्र प्रमातागत आस्वाद का मूलाधार कवि द्वारा अनुभूत उसकी अपनी 'अस्मिता का आस्वाद' अथवा आनन्द मानते हैं : 'अपने हृदय-रस में डुबाकर' कवि जब अपनी अनुभूति को व्यक्त कर पाता है तो उसे भी आत्माभिव्यक्ति का, अस्मिता के

---

१. रस-सिद्धान्त, पृष्ठ २१०।
२. डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित : रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण, पृष्ठ १४०।
३. रीतिकाव्य की भूमिका, पृष्ठ ४९।

मात्र है—यह काव्य-प्रसंग या बिम्ब शरीर है और कवि-भावना उसको प्रकाशित करने वाली चैतन्य आत्मा है, और, चूँकि साधारणीकरण जड़-यांत्रिक क्रिया न होकर चैतन्य क्रिया है, अतः काव्य-प्रसंग या रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण मानने की अपेक्षा कवि-भावना का साधारणीकरण मानना मनोविज्ञान के अधिक अनुकूल है।'[१]

इस प्रकार डॉ० नगेन्द्र ने विभिन्न आचार्यों की साधारणीकरण-विषयक प्रायः सभी मान्यताओं का सतर्क खंडन कर कवि के संवेद्य अथवा उसकी सर्जनात्मक अनुभूति के साधारणीकरण-संबंधी अपने प्रसिद्ध मत का प्रतिपादन किया है : 'साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदयों में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कहते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्त्तमान है।'[२]

डॉ० नगेन्द्र की उपर्युक्त स्थापना सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्यशास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन में एक अभिनव दिशा का प्रवर्त्तन करती है। यों उनसे पूर्व डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' ने कवि के पक्षपात के भाजन पात्र के साथ प्रमाता के जिस भावगत तादात्म्य[३] की चर्चा की है उसमें डॉ० नगेन्द्र के प्रस्तुत सिद्धान्त का संकेत-सूत्र उपलब्ध है। यद्यपि 'सुधांशु' जी ने मूलतः काव्य-निबद्ध पात्र का ही साधारणीकरण माना है, तथापि कवि का विशेष पक्षपात अर्जित करने वाला पात्र, जैसा कि प्रस्तुत अध्याय में ही 'सुधांशु' जी के काव्यास्वाद-निरूपण के प्रसंग में स्पष्ट किया जा चुका है,[४] वस्तुतः कवि की अनुभूति का ही प्रतीक है।

डॉ० नगेन्द्र के साधारणीकरण-विषयक प्रस्तुत अभिमत की प्रत्यालोचना का प्रयत्न अनेक विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों से किया है। डॉ० गुलाबराय ने उनके मत का प्रत्याख्यान इन शब्दों में किया है : 'डाक्टर नगेन्द्र की प्रतिभा विषयिगत है। वे कवि को महत्त्व देते हैं और विषय के अस्तित्व को मिटा-से देते हैं।. . .कवि की भावना जहाँ तक उस विषयगत सत्ता अथवा जनसाधारण के मन की भावना से साम्य रखती है वहाँ तक जनता के हृदय में साधारणीकरण सहज में हो जाता है और रसास्वाद में सुविधा होती है और जहाँ कवि की वैयक्तिक धारणा जनता की धारणा से मेल नहीं खाती है वहाँ रसास्वाद में बाधा पड़ती है।'[५] डॉ० नगेन्द्र ने अपनी परवर्ती रचना 'रस-सिद्धान्त' में गुलाबरायजी के इस आक्षेप का यथोचित उत्तर दिया है। वे उनकी और अपनी धारणा में कोई विशेष अन्तर नहीं मानते।[६] गुलाबरायजी को यह आपत्ति वस्तुतः

---

१. रस-सिद्धान्त, पृष्ठ २०९-१०।
२. रीतिकाव्य की भूमिका, पृष्ठ ४७।
३. 'काव्य में वर्णित चरित्र के सुख-दुःख के साथ हम अपने हृदय की वृत्तियों का सामंजस्य रखते हैं।. . .यह तादात्म्य विशेषतः उसी पात्र में होता है जिसके प्रति, काव्यकार भी अंशतः पक्षपात करता है।'

—काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृष्ठ ८९।

४. देखिए : प्रस्तुत अध्याय में सुधांशु जी का काव्यास्वाद-निरूपण।
५. बाबू गुलाबराय : सिद्धान्त और अध्ययन, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २१३।
६. 'वास्तव में बाबूजी के इस मन्तव्य का मेरी स्थापना से कोई विशेष विरोध नहीं रह जाता।

—रस-सिद्धान्त, पृष्ठ २१०।

कवि की अनुभूति को जनसाधारण (प्रेक्षक-समुदाय) की संस्कार-बद्ध अनुभूति से भिन्न विशिष्ट-वैयक्तिक अनुभूति मानने के कारण हुई है। डॉ० नगेन्द्र ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि 'मैंने तो कहीं भी कवि की अनुभूति को 'विशिष्ट' या 'वैयक्तिक' अनुभूति नहीं माना।'[1]

डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित ने भी डॉ० नगेन्द्र की उक्त स्थापना का विरोध किया है : 'डॉ० नगेन्द्र ने साधारणीकरण के प्रसंग में आश्रय, आलम्बन, नायक, कवि आदि का पृथक्-पृथक् रूप से विचार किया है। उनके विचारों पर ध्यान देने से प्रकट होगा कि इन सबके संबंध में उन्होंने साधारणीकरण को तादात्म्य मानकर ही अपने विचार व्यक्त किये हैं। आश्चर्य का विषय है कि डॉ० नगेन्द्र शुक्लजी के खण्डन में ये कहकर कि केवल विभाव का साधारणीकरण और आश्रय के साथ तादात्म्य भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त को मान्य नहीं है, स्वयं उसी तादात्म्य की सचेष्टता पूर्वक स्थापना कर चले हैं।'[2] दीक्षितजी के ये आक्षेप सर्वथा निराधार और भ्रान्त हैं। उनको सबसे बड़ी आपत्ति डॉ० नगेन्द्र द्वारा प्रयुक्त 'तादात्म्य' शब्द पर है, वे (दीक्षितजी) उसे 'साधारणीकरण' से नितान्त भिन्न वस्तु मानते हैं। शुक्लजी, पं० बलदेव उपाध्याय, बाबू गुलाबराय, 'सुधांशु' तथा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रभृति अनेक विद्वानों ने साधारणीकरण के प्रसंग में 'तादात्म्य' शब्द का प्रयोग किया है। 'तादात्म्य' के अभाव में प्रमाता की चेतना किसी भी विशिष्ट वस्तु अथवा भाव के साधारणीकृत भाव, प्रभाव अथवा बिम्ब का सम्यक् ग्रहण नहीं कर सकती। साधारणीकरण की प्रक्रिया का वृत्त तादात्म्य के अभाव में पूर्ण नहीं हो सकता; साधारणीकरण की प्रक्रिया की चरम परिणति प्रमाता द्वारा साधारणीकृत भाव के तादात्म्य में ही होती है। इसके अतिरिक्त डॉ० दीक्षित को डॉ० नगेन्द्र द्वारा शुक्लजी के मत के संदर्भ में विभाव और आश्रय के साधारणीकरण संबंधी मतों के खंडन में प्रस्तुत तर्कों को समझने में भी भ्रान्ति हुई है। डॉ० नगेन्द्र ने, जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, न तो विभाव अथवा आश्रय के साथ तादात्म्य को स्वीकार किया है और न ही उनका 'कवि की अनुभूति' के साधारणीकरण का सिद्धान्त उक्त सिद्धान्तों की भाँति एकांगी ही है। वस्तुतः, जैसा कि डॉ० नगेन्द्र ने सर्वथा निर्भ्रान्त रूप में स्पष्ट किया है, समस्त रसावयवों द्वारा निर्मित सम्पूर्ण काव्य-प्रसंग कवि की ही अनुभूति अथवा उसके संवेद्य का ही मूर्त्त बिम्ब है।

डॉ० नगेन्द्र ने साधारणीकरण का आधार 'भाषा का भावमय प्रयोग' तथा 'मानव-सुलभ सहानुभूति' को माना है : '. . .साधारणीकरण का आधार है भाषा का भावमय प्रयोग। भाषा का भावमय प्रयोग प्रयोक्ता की अपनी भाव-शक्ति पर निर्भर रहता है, और प्रयोक्ता के भावों की संवेदन-शक्ति का आधार है—मानव-सुलभ सहानुभूति।'[3]

काव्यास्वादन की प्रक्रिया के विश्लेषण-क्रम में डॉ० नगेन्द्र ने काव्यास्वाद को सहृदय-निष्ठ अनुभूति माना है। उनके अनुसार काव्य के माध्यम से प्रमाता अपनी ही 'अस्मिता का आस्वादन' करता है। डॉ० नगेन्द्र प्रमातागत आस्वाद का मूलाधार कवि द्वारा अनुभूत उसकी अपनी 'अस्मिता का आस्वाद' अथवा आनन्द मानते हैं : 'अपने हृदय-रस में डुबाकर' कवि जब अपनी अनुभूति को व्यक्त कर पाता है तो उसे भी आत्माभिव्यक्ति का, अस्मिता के

---

१. रस-सिद्धान्त, पृष्ठ २१०।

२. डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित : रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण, पृष्ठ १४०।

३. रीतिकाव्य की भूमिका, पृष्ठ ४९।

आस्वादन का रस मिलता है और उस संवेदित अनुभूति को ग्रहण करने में सहृदय को अपनी अस्मिता का आस्वादन होता है।'[1]; '. . . .इसमें संदेह नहीं कि काव्य पढ़कर या नाटक देखकर सहृदय को जो रसास्वादन होता है उसकी मूल स्थिति उसी के हृदय में है, अर्थात् मूलतः वह उसी की अपनी अस्मिता का आस्वादन है। परन्तु यह तभी संभव है जबकि कवि अपनी अनुभूति को उस तक पहुँचाने में स्वयं अपनी अस्मिता का रस ले सका हो. . . .।'[2] अपनी इस प्रस्थापना द्वारा डॉ० नगेन्द्र ने वस्तुतः अभिनवगुप्त द्वारा प्रबल रूप से समर्थित भारतीय काव्यशास्त्र के मूल सिद्धान्त का युक्तियुक्त पुनराख्यान किया है। इसी भाव का स्पष्ट प्रतिपादन आधुनिक हिन्दी-साहित्य शास्त्र में जयशंकरप्रसाद, बाबू गुलाबराय, 'सुधांशु', आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी तथा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी अपने-अपने ढंग से किया है।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि डॉ० नगेन्द्र काव्यास्वादन की प्रक्रिया में कवि की संवेद्य अनुभूति को मूल उद्गम-विन्दु तथा प्रमाता द्वारा उसकी निजी अस्मिता के आस्वादन को आस्वादन-प्रक्रिया के वृत्त की अन्तिम परिणति मानते हैं। इस प्रकार उन्होंने अपनी प्रस्थापना में, जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है,[4] भट्टनायक के विषयगत रस-मत तथा अभिनवगुप्त के विषयिगत रसाभिमत के मध्य अत्यंत सफलतापूर्वक सामंजस्य स्थापित किया है। प्रमाता सृजन की स्थिति में कवि द्वारा अनुभूत निजी अस्मिता के आस्वाद अथवा आनन्द के मूर्त्त विम्व (काव्य-प्रसंग) के माध्यम से अपनी ही अस्मिता का आस्वाद अथवा आत्म-भोग करता है। प्रमाता के इस कार्य में कवि की ओर से 'भाषा का भावमय तथा कल्पनात्मक प्रयोग' और प्रमाता के पक्ष से 'मानव-सुलभ सहानुभूति' का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। इस प्रकार काव्यास्वाद कवि की अनुभूति का प्रमाता द्वारा कल्पनात्मक पुनःसृजन है। प्रमाता की यह अनुभूति मूलतः उसी के द्वारा उपसर्जित एक स्वतंत्र ऐन्द्रिय-मानसिक अनुभूति है जो प्रकृत्या अनिवार्य रूप से आनन्दमयी होती है। अन्त में काव्यास्वाद की प्रक्रिया के सम्बन्ध में अपनी मान्यताओं को डॉ० नगेन्द्र ने भवभूति के 'उत्तर-रामचरित' से उद्धृत एक श्लोक के भावन द्वारा प्राप्त अपने आनन्द की आस्वादन-प्रक्रिया के विश्लेपण-क्रम में जिस प्रकार समाकलित किया है, उसे अविकल रूप में यहाँ उद्धृत करना समीचीन होगा : 'कलानुभूति के स्वरूप का निर्णय करने के लिए कला के आस्वादन की सम्पूर्ण प्रक्रिया का विश्लेषण करना आवश्यक होगा।—जब मैं उपर्युक्त छन्द को पढ़ता हूँ तो इसकी शब्दावली और लय-योजना का संगीत मेरी श्रवणेन्द्रिय को चमत्कृत करता है; तभी प्रायः अलक्ष्यक्रम से इसका अर्थ मेरे मन में व्यक्त हो जाता है; इसके वाद काव्य-भाषा—अर्थात् भाषा के कल्पनात्मक प्रयोग के चमत्कार से मेरी कल्पना सक्रिय हो जाती है और मन की आँखों के सामने तरह-तरह के स्वच्छन्द विम्व या मानस-प्रतिमाएँ थिरक उठती हैं जिनके साथ अनेक प्रकार के मनोविकार अनायास ही लिपट जाते हैं। इसी क्रम में इन संचारी भावों के आघात से प्रेम की अन्तःवृत्ति मेरी चेतना में उद्बुद्ध हो जाती है—जो उस समय व्यक्तिगत राग-द्वेष से इसलिए निर्लिप्त

---

१. वही, पृष्ठ ५३।

२. वही, पृष्ठ ५४।

३. देखिए—प्रस्तुत प्रबंध के षष्ठ अध्याय में जयशंकरप्रसाद तथा इसी अध्याय में उक्त विद्वानों की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं का विवेचन।

४. रस-सिद्धान्त, पृष्ठ २१०।

रहती है क्योंकि उसमें व्याप्त प्रेम की यह वृत्ति किसी आलम्बन विशेष के प्रति उन्मुख न होने के कारण अव्यक्तिगत तथा निस्संग ही होती है; और अंत में, यह सम्पूर्ण ऐन्द्रिय-मानसिक प्रक्रिया एक सुखद अनुभूति में परिणत हो जाती है।"[1]

डॉ० नगेन्द्र ने भारतीय और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की प्रामाणिक भूमि और आधुनिक मनोविज्ञान के आलोक में काव्यास्वाद के स्वरूप और उसकी प्रक्रिया का अत्यंत सूक्ष्म एव तात्त्विक विवेचन और अन्तर्विश्लेषण किया है। काव्यास्वाद को अभिनवगुप्त एवं पंडितराज जगन्नाथ के आत्मास्वाद अथवा आत्म-चैतन्य के आस्वाद की अतीन्द्रियता से मुक्त करते हुए उन्होंने उसे सूक्ष्म ऐन्द्रिय, मानसिक और बौद्धिक तत्त्वों के संश्लेपण से विनिर्मित समंजित अनुभूति सिद्ध कर सहज एवं तथ्यात्मक मनोविज्ञान का आधार प्रदान किया। काव्यास्वाद की प्रक्रिया के विश्लेपण के अन्तर्गत कवि की अनुभूति के साधारणीकरण तथा प्रमाता द्वारा स्वयं उसी की अस्मिता के आस्वाद-विपयक उनकी निष्पत्तियाँ भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। काव्यास्वाद के संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा उठाए गए जिन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का समाधान उनके परवर्ती समीक्षकों बाबू गुलाबराय, 'सुधांशु', आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी तथा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने-अपने ढंग से किया, डॉ० नगेन्द्र के काव्यास्वाद-विवेचन में उन सभी का युक्तियुक्त समाहार उपलब्ध है। उनके काव्यास्वाद-निरूपण में संस्कृत एवं हिन्दी-साहित्यशास्त्र की मूल अवधारणाओं का आधुनिक मनोविज्ञान-सम्मत चरम विकास दृष्टिगत होता है।

---

१. 'भारतीय काव्यशास्त्र में सौन्दर्यभूति का स्वरूप' शीर्षक अभिभाषण, पृष्ठ १२–१३।

(ख) समसामयिक साहित्यशास्त्रीय धाराएँ

हिन्दी साहित्यशास्त्र के आरम्भकालीन—रीति-पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रियों से लेकर आधुनिक काल के शुक्लोत्तर युग तक के प्रायः सभी आलाचकों ने रस-सिद्धान्त के परिवृत्त में ही काव्यास्वाद का निरूपण किया है। उन्होंने या तो आधुनिक संदर्भ में रस-सिद्धान्त का पुनराख्यान कर उसके प्रति अखण्ड श्रद्धा व्यक्त की है अथवा फिर अपनी काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं को रस-सिद्धान्त से पुष्ट किया है। इस प्रकार हिन्दी-साहित्यशास्त्र की कृपाराम से लेकर डॉ० नगेन्द्र तक व्याप्त लगभग तीन सौ वर्ष से भी अधिक की सुदीर्घ परम्परा में रस-सिद्धान्त के साम्राज्य का नैरन्तर्य बना रहा। हिन्दी-साहित्यशास्त्र की समसामयिक धाराओं—प्रगतिवाद और नव समीक्षा के अनेक समालोचकों ने पहली बार रस-सिद्धान्त के प्रति शंका व्यक्त की। प्रगतिवादी आलोचना ने प्राचीन काव्यशास्त्र में प्रतिपादित रस की अलौकिकता, ब्रह्मानन्द सहोदरता और अखण्ड आनन्दात्मकता को सामन्तवादी, प्रतिक्रियावादी एवं नितान्त वैयक्तिक कला-दर्शन घोषित कर उसके विरुद्ध सामूहिक जनवाद एव सर्वहारा वर्ग के समाजवादी मूल्यों की प्रतिष्ठा की। नव समीक्षा ने साहित्य और समाज के प्रायः सभी पारस्परिक मूल्यों के साथ ही भारतवर्ष के मूल कला-सिद्धान्त 'रस' के प्रति गहरी अनास्था व्यक्त कर उसे नव युग-बोध एवं विघटन-शील सामाजिक स्थिति की संवेदना के लिए नितान्त अपर्याप्त अथवा अप्रासंगिक घोषित किया तथा काव्यास्वाद के आनन्द-पक्ष का अवमूल्यन कर काव्यास्वाद के विषय में नवीन प्रस्थापनाएँ कीं। इस प्रकार प्रगतिवादी आलोचना व्यापक सामाजिकता और नव समीक्षा घोर वैयक्तिकता के आत्यंतिक सीमान्तों में रस-सिद्धान्त को उस रूप में समादर नहीं दे सकी जिस रूप में इनसे पूर्ववर्ती लगभग सभी हिन्दी-समीक्षक देते आए हैं। प्रस्तुत प्रकरण में इन दोनों समीक्षा-धाराओं के अंतर्गत काव्यास्वाद के विवेचन का प्रयास किया जायगा।

(अ) प्रगतिवादी आलोचना

प्रगतिवाद अपने मूल में प्रतिक्रियावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया है। प्रगतिवादी आलोचना मार्क्स के 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' पर आधारित है, इसलिए वह स्वभावतः कला की निष्प्रयोजनता का समर्थन करने वाली प्रायः सभी आलोचना-पद्धतियों का सहज ही प्रत्याख्यान करती है। हिन्दी के प्रगतिवादी आलोचकों ने अपनी चिन्तन-सामग्री विदेशों के मार्क्सवादी अथवा साम्यवादी विचारकों और राजनीतिज्ञों से प्राप्त की है। प्रगतिवाद के प्रमुख आलोचक श्री शिवदानसिंह चौहान हिन्दी के प्रगतिवाद को 'साहित्य का मार्क्सवादी दृष्टिकोण' तथा 'सौन्दर्यशास्त्र (ईस्थेटिक्स)—सम्बन्धी मार्क्सीय दृष्टिकोण का हिन्दी नामकरण'[1] मानते हैं।

---

१. शिवदानसिंह चौहान : 'प्रगतिशील साहित्य : प्रगतिवाद' शीर्षक सम्पादकीय, आलोचना, अंक ४—जुलाई १९५२, पृष्ठ ४।

अतः प्रगतिवादी समीक्षा के अन्तर्गत काव्यास्वाद के स्वरूप का विश्लेपण करने से पूर्व विश्व के कुछ प्रमुख मार्क्सवादी विचारकों की साहित्य-सम्बन्धी मान्यताओं का अत्यन्त संक्षिप्त परिचय प्राप्त करना उपयोगी होगा।

मार्क्सवाद के प्रवर्तक मार्क्स और ऐन्जेल्स की कलादृष्टि समाज की पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत स्थापित व्यक्तिवादी मूल्यों के प्रति असहिष्णु होती हुई भी अनुदार नहीं थी। वे यद्यपि व्यक्ति के बौद्धिक जीवन तथा आर्थिक एवं भौतिक पक्ष के मध्य अनिवार्य सम्बन्ध मानते थे[१] किन्तु उनकी दृष्टि में यह सम्बन्ध, प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक रोल्फ़ फ़ॉक्स के अनुसार प्रत्यक्ष एवं यान्त्रिक नहीं था।[२] मार्क्स ने स्वयं एक स्थान पर कला के उच्चतम विकास को समाज की भौतिक उन्नति एवं उसके वाह्य ढाँचे से प्रत्यक्षतः असम्बद्ध माना है।[३] वे कला-सर्जना को सौन्दर्य के नियमों से शासित मानते हैं।[४]

साम्यवाद के घोर अतिवादी नेता और कुशल कवि माओ त्से-तुंग ने मार्क्सीय कला-दर्शन का मौलिक ढंग से पुनराख्यान किया है तथा वे साहित्य को सर्वहारा श्रमिकों का प्रमुख संरक्षक मानते हैं।[५] उनके अनुसार साहित्य का मूल सम्बन्ध जन-जीवन से है। साहित्यकार अपने चित्रण मे विविध प्रकार के चरित्रों के समावेश द्वारा जीवन का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करता है तथा पाठकों के भीतर प्रेरणा उत्पन्न कर उनके विचारों को उद्‌बुद्ध करता है।[६] माओ का दृष्टिकोण मार्क्सवाद की पूर्वग्रहपूर्ण निजी विशिष्ट व्याख्या से इतना अधिक आक्रान्त है कि वे मानवता के प्रति 'विशिष्ट प्रकार के प्रेम' का कला का आधार स्वीकार करते हुए भी मानवता को विभिन्न वर्गों में विभक्त मान किसी विश्व-व्यापी मानवता-प्रेम की चर्चा को अप्रासंगिक मानते हैं।[७] इतने

---

१. 'The mode of production in material life determines the social, political and intellectual life processes in general.'
—Karl Marx and Frederick Engel : *Literature and Art*, 1956, P. 1.

२. 'He never for a moment considered that the connection between the two was a direct one, easily observed and mechanically developed.'
—Rolph Fox : *The Novel and the People*, 1956, P. 1.

३. 'It is well known that certain periods of highest development of Arts stand in no direct connection with the general development of the society, nor with the material basis and the skeleton structure of its organisation.'
—Marx and Engels :*Literature and Art*, p. 16.

४. 'Hence man also creates according to the law of beauty''—Ibid, P. 13

५. Mao-Tse-Tung : '*Talk at the Yenan Forum on Art Literature*', 1942, p. 20-21.

६. वही पृष्ठ २४

७. वही पृष्ठ ४१

पर भी माओ मार्क्सीय दर्शन को रूढ़ि के रूप में यथावत् ग्रहण करना कला, साहित्य और समाज की दृष्टि से हानिकर मानते हैं।[१]

प्रसिद्ध मार्क्सवादी चिन्तक प्लेखनोव ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कला और सामाजिक जीवन'[२] में कला को सामाजिक चेतना से अनिवार्यतः सम्बद्ध घोषित किया। मनुष्य को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समष्टि-रूप में ही महत्त्वपूर्ण मानते हुए वे कला को मनुष्य के मानसिक धरातल की अद्वितीय सृष्टि मानते हैं।[३] उनके अनुसार जब मनुष्य जीवन के वास्तविक सन्दर्भ में अपनी पूर्वानुभूत भावनाओं और विचारों को उद्बुद्ध करता हुआ उन्हें बिम्ब के माध्यम से प्रकट करता है तो कला की सृष्टि होती है।[४] इस प्रकार कला, प्लेखनोव की दृष्टि में, एक सामाजिक प्रक्रिया है। क्रिस्टोफ़र कॉडवेल भी कला को सामाजिक चिन्तन की उद्भूति मानते हैं। उनके अनुसार कला समाज-रूपी सीपी से उत्पन्न मोती-सदृश है।[५] चर्निशेवस्की ने सौन्दर्यानुभूति और उसके यथार्थ जीवन से सम्बन्ध पर मार्क्सीय दृष्टिकोण से विचार किया है। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'यथार्थ और कला का सौन्दर्यात्मक सम्बन्ध'[६] में उन्होंने हीगेल के अतीन्द्रिय कला-सिद्धान्तों को सामन्तवादी घोषित करते हुए उनका खण्डन किया है। यथार्थ-निरपेक्ष सौन्दर्य को कला के लिए हानिकर[७] करार देते हुए वे कलात्मक सौन्दर्य को वास्तविक जीवन और जगत् से अनिवार्यतः उद्भूत और सम्बद्ध मानते हैं।[८]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी के डॉ० रामविलास शर्मा, श्री शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त तथा डॉ० रांगेय राघव आदि प्रमुख प्रगतिवादी आलोचकों ने कार्ल मार्क्स एवं उनके समवर्गी जिन मार्क्सवादी चिन्तकों से प्रभाव ग्रहण किया है वे काव्य एवं कला को समाज एवं सामाजिक यथार्थ की उद्भूति तथा कलास्वाद को सामाजिक चेतना का सामूहिक आस्वाद मानते हैं।

डॉ० रामविलास शर्मा

उपर्युक्त मार्क्सवादी मत से सर्वाधिक प्रभावित डॉ० रामविलास शर्मा भारत के प्राचीन साहित्य-मूल्यों के सर्वाधिक प्रबल विरोधी हैं। साहित्य और समाज के अविच्छिन्न सम्बन्ध, भौतिकवादी जीवन और साहित्य-मूल्यों की प्रस्थापना सम्बन्धी विदेश के मार्क्सवादियों की मान्यताओं का प्रभाव डॉ० शर्मा की निम्नांकित उक्तियों में देखा जा सकता है—

---

१. वही, पृष्ठ ४५
२. ग्रंथ का अंग्रेजी नाम: Art and Social Life
३. Plekhnov : *Art and Social Life* p. 8.
४. वही
५. Christopher Caudvell : *Illusion and Reality*, 1956.
६. ग्रंथ का अंग्रेजी नाम : *Aesthetic Relation of Art to Reality.*
७. N.G. Chernishvsky : *Selected Philosophical Essays*, p. 39.
८. चर्निशेवस्की तथा बेलेन्स्की आदि के निबन्धों का 'दर्शन, साहित्य और आलोचन' शीर्षक हिन्दी अनुवाद। अनुवादक: नरोत्तम नागर, पृ० १७१.

१. 'वैज्ञानिक भौतिकवाद के अनुसार मनुष्य प्रकृति की उपज है और विचार-चेतना मानव-मस्तिष्क की उपज ...'[1]
२. 'सौन्दर्य-बोध आर्थिक जीवन से प्रभावित होता है ...'[2]
३. 'भौतिक जीवन और कलात्मक स्तर के उत्कर्षापकर्ष में अनिवार्य अनुकूल सम्बन्ध न होने से कला की समाज-निरपेक्षता सिद्ध नहीं होती ...'[3]
४. 'क्या सामाजिक यथार्थ से आन्दोलित हुए बिना किसी भी कलाकार के लिए सम्भव है कि वह आर्थिक सौन्दर्य की सृष्टि कर सके।'[4]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि डॉ० रामविलास शर्मा ने विदेशी मार्क्सवादियों के चिन्तन के आधार पर ही अपनी विचार-धारा का निर्माण किया है। इन उद्धरणों में व्यक्त उनके मन्तव्य से कतिपय निष्कर्ष प्राप्त होते हैं : (१) कलाकार का सौन्दर्य-बोध समाज के भौतिक-आर्थिक जीवन से संप्रेरित होता है। (२) कला समाज-सापेक्ष है। (३) सामाजिक यथार्थ से भावोद्वेलित होकर कलाकार जिस सौन्दर्य की सृष्टि करता है, उसे डॉ० शर्मा 'आर्थिक-सौन्दर्य' की संज्ञा प्रदान करते हैं।

डॉ० रामविलास शर्मा ने भारतीय काव्यशास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन, विशेषतः रस-सिद्धान्त, पर बड़े निर्मम प्रहार किये हैं। जीवन और साहित्य की सम्पूर्ण पद्धति को जनवादी सर्वहारा वर्ग और सामन्तवादी बुर्जुआ वर्ग में विभक्त करने की मार्क्सवादी समीक्षा-प्रणाली से डॉ० शर्मा इतने अधिक आक्रान्त हैं कि उन्हें संस्कृत-काव्यशास्त्र की परम्परा के सभी आचार्य 'दरबारी कवि' जान पड़ते हैं : '... कवि से एक दरबारी कवि का ही बोध होता है। रस अलंकार आदि का विवेचन करते समय इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है। अधिकांश आचार्यों का सम्बन्ध राजाओं से था; इसीलिए उनके सिद्धान्तों पर दरबारी संस्कृति की छाप है।'[5]

रस-सिद्धान्त का उपहासपूर्ण प्रत्याख्यान करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा ने कहा है कि 'रसवाद के साथ विभावानुभाव आदि की एक सेना है जो रस-परिपाक में सहायक होती है।'[6] संस्कृत-रसशास्त्र में निरूपित काव्यानन्द की अलौकिकता के विषय में उनका मत है कि 'यह समग्र तर्क एक मिथ्या धारणा पर निर्भर है। किसी प्रकार के आनन्द को भी सत्त्वगुणी मान लिया गया है। इसलिए विषय-चिन्तन से भी जो आनन्द होगा वह सत्त्वगुणी और अलौकिक होगा। वास्तव में तमोगुण से उत्पन्न आनन्द मनुष्य को तमोगुण की ओर ही ले जायेगा न कि सत्त्वगुण की ओर।'[7] इस प्रकार डॉ० शर्मा ने भारतीय काव्यशास्त्र में निरूपित तथा बाबू गुलाबराय, सुधांशु, आचार्य वाजपेयी नन्ददुलारे तथा डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा आधुनिक मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेपण-सिद्धान्त के प्रकाश में युक्तिपूर्वक समर्थित एवं प्रमाणित उस अद्‌भुत रस-प्रकल्पना का स्पष्ट

---

१. डॉ० रामविलास शर्मा : आस्था और सौन्दर्य, पृष्ठ ४।
२. वही, पृष्ठ २९।
३. वही, पृष्ठ ३०-१।
४. डॉ० रामविलास शर्मा : प्रगति और परम्परा, पृष्ठ ५७।
५. डॉ० रामविलास शर्मा : संस्कृति और साहित्य, पृष्ठ १९४।
६. वही, पृष्ठ १९५।
७. वही, पृष्ठ १९६।

प्रत्याख्यान किया है जिसमें काव्य-निबद्ध लौकिक विषयों से उद्भूत काव्यास्वाद को अलौकिक माना गया है। डॉ० शर्मा इस तथ्य पर ध्यान नहीं दे पाए हैं कि साहित्य में प्रतिपादित **विचार** पाठक को सत्-असत् प्रेरणा देते हैं, उससे उद्भूत काव्यानन्द अपने आप में सत्-असत् नहीं होता। साधारणीकरण-सिद्धान्त पर भी डॉ० शर्मा ने व्यंग्यपूर्ण आक्षेप किया है : 'साधारणीकरण एक ऐसा मंत्र है जिसमें शोषक और शोषित किसी की भी पूजा करने से मनुष्य विश्व-प्रेम तक पहुँच जाता है।'[1] इस प्रकार डॉ० शर्मा ने मार्क्सवाद के बहु-प्रचलित सिद्धान्त-वाक्यों के आश्रय से पूर्व-स्थापित सिद्धान्तों एवं प्रतिमानों के खण्डन में अत्यधिक उत्साह दिखाया है।

डॉ० शर्मा रस-सिद्धान्त के नैतिक-आध्यात्मिक पक्ष के साथ ही उसके सौन्दर्यमूलक एवं आनन्दवादी पक्षों का खण्डन करते-करते काव्यास्वाद का विवेचन करते समय स्वयं रस और सौन्दर्यानुभूति के सम्मोहन से नहीं बच पाए हैं। कलास्वाद को स्पष्टतः आनन्ददायक घोषित करते हुए उन्होंने कहा है कि 'प्रकृति, मानव-जीवन तथा ललित कलाओं के आनन्ददायक गुण का नाम सौन्दर्य है।'[2] उनका सौन्दर्य-समन्वित कला-दर्शन रस-प्रकल्पना से असम्पृक्त नहीं है। रसानुभूति को 'कन्डीशन्ड रिफ्लैक्स' का अभिधान देते हुए उन्होंने रस और सौन्दर्यानुभूति के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष प्रतिपादन किया है : 'सौन्दर्य यानी सुन्दर वस्तु से हुई प्रेरणा (स्टिमुलस)। नारी नामक प्रेरणा-केन्द्र पुरुष को चिरकाल से बाधित करता रहा है। नारी हुई 'कन्डीशन्ड स्टिमुलस', पुरुष की रसानुभूति हुई 'कन्डीशन्ड रिफ्लैक्स'। रस और सौन्दर्य का यही मौलिक सम्बन्ध है।'[3] एक अन्य स्थान पर उन्होंने काव्यानन्द को सहज ही स्वीकार किया है : 'साहित्य से आनन्द मिलता है . . .'[4] इस प्रसंग में उन्होंने साहित्यशास्त्र के कटु-सुखद भावों के काव्यास्वाद-सम्बन्धी विवाद की अपने ढंग से चर्चा की है। प्रश्न का उपस्थापन उन्होंने इन शब्दों में किया है : 'कला में कुरूप और असुन्दर को भी स्थान मिलता है—साहित्य में वीभत्स का भी चित्रण होता है और उसे सुन्दर कैसे कहा जा सकता है।'[5] प्रश्न का समाधान करते हुए उन्होंने आनन्द के स्थान पर 'सौन्दर्य' शब्द का प्रयोग करते हुए कलास्वाद को एकान्ततः आनन्दात्मक सिद्ध किया है : 'कला में कुरूप और असुन्दर विवादी स्वरों के समान हैं जो राग के रूप को निखार देते हैं . . . जिसे हम कुरूप, असुन्दर और वीभत्स कहते हैं, कला में उसकी परिणति सौन्दर्य में होती है।'[6]

डॉ० रामविलास शर्मा काव्यास्वाद को विषयगत अथवा वस्तुगत एवं समाज-सापेक्ष अनुभूति मानते हैं : 'फूल के रूप-रंग के लिए जिस तरह धरती की आवश्यकता होती है, उसी तरह किसी भी कृति के कलात्मक सौन्दर्य का निखार उसकी विषयवस्तु की सामाजिकता से जुड़ा है।'[7] 'इन्द्रियों से जिस सौन्दर्य की अनुभूति होती है, बाह्य-जगत् में उसकी वस्तुगत सत्ता है।'[8]

---

१. प्रगति और परम्परा, पृष्ठ १५५।
२. आस्था और सौन्दर्य, पृष्ठ २०।
३. जनभारती पत्रिका का रस-विशेषांक।
४. डॉ० रामविलास शर्मा : लोक-जीवन और साहित्य, पृष्ठ ७।
५. आस्था और सौन्दर्य, पृष्ठ २०।
६. वही, पृष्ठ २०।
७. प्रगति और परम्परा, पृष्ठ ५६।
८. आस्था और सौन्दर्य, पृष्ठ २४।

काव्यास्वाद को वस्तुगत अनुभूति मानने के कारण ही वे विभिन्न प्रकार के साहित्य से उद्भूत आनन्द को विभिन्न प्रकार का मानते हैं : 'साहित्य और कला से हमें आनन्द प्राप्त होता है, परन्तु सभी प्रकार के साहित्य या कला से हमें एक ही प्रकार का आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। मदिरापान के वर्णन से जो आनन्द आता है, क्या वह उसी श्रेणी का है, जिस श्रेणी का भगवद्-भक्ति में गाए हुए एक गीत का आनन्द है ?'[1]

डॉ० रामविलास शर्मा ने समाजवादी सिद्धान्तों से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण काव्यास्वाद को समाज-सापेक्ष अनुभूति तथा इसलिए वस्तुगत आस्वाद मानकर ठीक वही भूल की है जो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्यास्वाद को विषयगत अनुभूति मानने तथा भावानुभूति और रसानुभूति के अन्तर को न समझ पाने में की थी। मदिरापान और भगवद्भक्ति लौकिक अर्थ में तो निश्चय ही क्रमशः दुष्कर्म और सुकर्म कहे जा सकते हैं, किन्तु इनके काव्य-निबद्ध रूप के अनुभावन से प्राप्त होने वाला आस्वाद मदिरापान अथवा भगवद्-भजन का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है; वह तो इन विषयों के देशकाल-निबद्ध रूप से विनिर्मुक्त एवं निर्मलीकृत सहृदय का विषयिगत आस्वाद है। वैसे भी यदि डॉ० शर्मा कला में वीभत्स और असुन्दर की परिणति 'सौन्दर्य' (आनन्द) में ही मानते हैं, तब मदिरा-पान जैसे विगर्हणीय विषय के कलात्मक वर्णन से प्राप्त आनन्द भी 'भगवद्भक्ति के गीत' से प्राप्त आनन्द के समतुल्य 'सुन्दर' ही होना चाहिए।

इस प्रकार विशिष्ट साहित्यिक एवं राजनैतिक मतवाद के पोषक एवं प्रवक्ता होने के नाते डॉ० रामविलास शर्मा ने सम्पूर्ण हिन्दी-काव्यशास्त्र में निरूपित काव्यास्वाद के स्वरूप-सम्बन्धी विवेचन के खण्डन का प्रयत्न तो किया है, किन्तु काव्यास्वाद के विषय में वे कोई सुस्पष्ट एवं निर्भ्रान्त मत स्थिर नहीं कर पाए हैं। जहाँ-कहीं काव्यानन्द अथवा सौन्दर्यानुभूति के स्वरूप-निरूपण का प्रयास उन्होंने किया भी है वह सहज ही रस-सिद्धान्त की मूल मान्यता के अन्तर्गत आ जाता है। उनकी कतिपय भ्रामक मान्यताएँ रस-सिद्धान्त के अधूरे अथवा पूर्वग्रहयुक्त ज्ञान के कारण ही निर्मित हुई हैं जो हिन्दी-साहित्यशास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन के क्षेत्र में निश्चय ही महत्त्वहीन हैं।

शिवदानसिंह चौहान

प्रमुख प्रगतिवादी आलोचक श्री शिवदानसिंह चौहान का काव्यास्वाद-विषयक अभिमत अत्यन्त उदार और व्यापक है। उनमें डॉ० रामविलास शर्मा की प्राचीन काव्य-मूल्यों तथा सौन्दर्य-शास्त्रीय आनन्दवाद के प्रति पूर्वग्रहयुक्त तीव्र विरोध की उग्र भावना, दृष्टि की एकांगिता और संकीर्णता नहीं मिलती। उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र—विशेषतः रस-सिद्धान्त-के प्रति समादर व्यक्त किया है। भारतीय काव्यशास्त्र के विषय में श्री चौहान का मत है कि 'भारतीय आलोचना की परम्परा अत्यन्त प्राचीन और विशाल ही नहीं है, बल्कि विश्व के साहित्यालोचन में उसकी महती देन भी है···इन सिद्धान्तों में अनेक सार्वजनीन और सार्वभौम सौन्दर्य-नियमों का निरूपण हमें मिलता है, जो मानव-मात्र की सामान्य, स्थायी और जीवित विरासत होने के साथ ही साहित्य-कला के निर्माण और उसके मूल्यांकन सम्बन्धी हमारी आधुनिक मान्यताओं का मूलाधार बन सकती हैं।···किसी भी व्यापक, वस्तुपरक सौंदर्य-

---

१. संस्कृति और साहित्य, पृष्ठ २००

शास्त्र या आलोचना-सिद्धान्त का निर्माण इस विशाल और समृद्ध परम्परा की उपेक्षा करके नहीं हो सकता।[1] प्रगतिवाद के प्रचारमूलक अतिवाद से मुक्त होकर उन्होंने काव्यास्वाद-विवेचन के आधार के रूप में सौन्दर्यशास्त्र की महत्ता की स्वीकृति इन शब्दों में की है: 'उसकी (रचना की) श्रेष्ठता का निरूपण करते समय उसकी सौन्दर्यानुभूति, उसकी रूप-योजना, शैली और प्रौढ़ता, वाक्य-रचना, शब्द-प्रयोग आदि अनेक दूसरी कसौटियों पर भी उसे कसना आवश्यक है।'[2] रस-सिद्धान्त को वे भारतवर्ष की महान देन मानते हैं: '··· 'रस' का विचार-सूत्र (Concept) विश्व के साहित्यशास्त्र को भारतीयों की एक महती देन है। साथ ही यह भी निश्चित है कि हमारे देश में साहित्य हो या कला, उसकी चर्चा में रस-सिद्धान्त विरोधी भी 'रस' की पूर्ण उपेक्षा कभी नहीं कर सके। आज भी जब साहित्य या कला की आलोचना में अधिकांशतः पाश्चात्य सिद्धान्तों और विचारधाराओं का प्रयोग होने लगा है, रस का विचार-सूत्र सर्वथा त्याज्य नहीं हो सका है।···'रस' का विचार-सूत्र हमारी एक सामान्य और जीवन्त विरासत है।'[3] एक अन्य स्थान पर उन्होंने रस-प्रकल्पना को कला की सृजन-प्रक्रिया और उसके आस्वाद की संश्लिष्ट अवधारणा बताया है: 'रस कला-निर्मिति (Creative process) और उसके आस्वादन (Aesthetic experience) का एक संश्लिष्ट कन्सेप्ट है।'[4]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शिवदानसिंह चौहान की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताएँ रस-सिद्धान्त एवं सौन्दर्यशास्त्र से मूलतः भिन्न नहीं हैं, यद्यपि उन्होंने प्रगतिवाद की समाज-सापेक्ष अवधारणाओं के अनुरूप उनमें किंचित् संशोधन करने का प्रयत्न किया है। वे डॉ० रामविलास शर्मा की भाँति काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद को आर्थिक एवं भौतिक परिस्थितियों से उद्भूत तथा नितान्त समाज एवं युग-सापेक्ष नहीं मानते। एक ओर केवल व्यक्ति-चेतना को ही प्रश्रय देने वाली अथवा आदर्शवादी कलादृष्टि तथा दूसरी ओर घोर भौतिकवादी दृष्टि दोनों ही अतिवादों से बचते हुए शिवदानसिंह चौहान ने समन्वयवादी मध्यम मार्ग अपनाया है: 'साहित्य या कला की कोई कृति अपने समय की वास्तविकता का निष्क्रिय प्रतिबिम्ब मात्र नहीं होती'··रचना का सौन्दर्य या मूल्य सामाजिक परिस्थितियों की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है। इस सिद्धान्त को हृदयंगम करना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा एकांगी दृष्टिकोण अन्त में आदर्शवाद का, जिसके अनुसार साहित्य का, कला का सौन्दर्य तत्त्व एक निरपेक्ष गुण बन जाता है, अथवा कुत्सित समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण (यान्त्रिक भौतिकवाद) का, जिसके अनुसार किसी रचना का सौन्दर्य या मूल्य सामाजिक वास्तविकता के सीधे स्पष्ट चित्रण पर ही निर्भर करता है, आखेट बन जाता है—और न ये प्रगतिवाद है, न वैज्ञानिक भौतिकवाद।'[5] काव्यास्वाद की स्थिति में प्रमाता के सौन्दर्य-बोध, रागोद्वेलन तथा संवेदनों की उद्बुद्धि का स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए उन्होंने इन्हें किसी भी प्रकार की सामाजिक स्थिति अथवा युगीन सीमाओं से मुक्त घोषित किया है: '··यह प्रश्न भी रहता है कि अमुक रचना की सौन्दर्य-शक्ति का क्या कारण है, अर्थात् वह रचना आज भी

---

१. शिवदानसिंह चौहान : आलोचना के सिद्धान्त, पृष्ठ ८२।
२. शिवदानसिंह चौहान : साहित्य की समस्याएँ, पृष्ठ ४९।
३. शिवदान सिंह चौहान : 'आलोचना के सिद्धान्त', पृष्ठ ४६।
४. वही, पृष्ठ ४८।
५. शिवदानसिंह चौहान : साहित्यानुशीलन, पृष्ठ १३-१४।

क्यों सौन्दर्य-बोध कराने में सफल है, आज भी वह हमारे रागों को जगाने में हमारे संवेदनों को झंकृत करने में क्यों उतनी ही सशक्त है जितनी शताब्दियों पूर्व थी ?"[१] शिवदानसिंह चौहान ने प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र एवं आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रीय काव्य-मूल्यों की संश्लिष्ट भूमि पर प्रगतिवादी साहित्य-सिद्धान्तों के समायोग द्वारा काव्यास्वाद-विवेचन के लिए एक समन्वयकारी 'सौन्दर्य-मूलक सामाजिक दृष्टिकोण' प्रस्तुत किया :'···प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य-सिद्धान्तों द्वारा निरूपित तथ्यों को कोई वैज्ञानिक जीवन-दर्शन की पद्धति एक सूत्र में बाँधे—अर्थात् द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी पद्धति से ऐसा किया जाय। तभी एक सौन्दर्यमूलक सामाजिक दृष्टिकोण (Social Aesthetic) का विकास किया जा सकेगा···।"[२]

शिवदानसिंह चौहान का प्रगतिवाद रस-सिद्धान्त में निरूपित मानवीय संवेदना, सौन्दर्य-बोध तथा वैयक्तिक सीमाओं से ऊपर उठने के भाव का तिरस्कार नहीं करता : '···हमें यह अभीष्ट था और आज भी है कि···शोषण का प्रचार करने वाले प्रतिक्रियावादी हीन साहित्य से उस श्रेष्ठ प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य का अलगाव जाहिर करें जो मनुष्य में मानवीय संवेदना, सौन्दर्य-बोध, कर्म-चेतना और तर्क-बुद्धि जगाता है, आशा का संचार करता है और अपने व्यक्तिगत जीवन की क्षुद्रताओं से ऊपर उठाकर हमें उन्नत और नैतिक मानव बनाता है।"[३] काव्यास्वाद की आनन्दात्मकता का स्पष्ट समर्थन शिवदानसिंह चौहान ने इन शब्दों में किया है : '···यह सर्वसम्मत है कि श्रेष्ठ साहित्य-निर्माण के लिए आनन्द आवश्यक तत्त्व है। साहित्य तभी श्रेष्ठ अथवा महत्त्वपूर्ण होगा जब उसके अध्ययनोपरान्त हमें आनन्द की प्राप्ति हो···जो भी वस्तु कलात्मक से परे होगी···हमें आनन्द न दे सकेगी।"[४] प्रस्तुत उद्धरण से यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि श्री चौहान के अनुसार काव्य के कलात्मक उत्कर्ष से उद्भूत प्रमाता के चित्त का आनन्द ही काव्यास्वाद है। उनकी यह मान्यता भी रस-सिद्धान्त की मूल मान्यता से भिन्न नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शिवदानसिंह चौहान की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं का निर्माण भारतीय काव्यशास्त्र में निरूपित रसानुभूति तथा सौन्दर्यशास्त्र में निरूपित प्रमाता के भावोद्वेलन और संवेगोद्बुद्धि के व्यापक परिवेश में ही हुआ है। इन मान्यताओं के समन्वय के साथ ही उन्होंने 'सौन्दर्यमूलक सामाजिक दृष्टिकोण' के समायोग द्वारा आधुनिक हिन्दी-साहित्य-शास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण—प्रगतिवादी आलोचकों में निश्चय ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण—योगदान किया है।

अन्य प्रगतिवादी आलोचक

डॉ० रामविलास शर्मा और श्री शिवदानसिंह चौहान के अतिरिक्त किसी अन्य प्रगतिवादी आलोचक ने काव्यास्वाद के विषय में कोई महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त नहीं किया है। **प्रकाशचन्द्र गुप्त** की सौन्दर्य-दृष्टि परम्परा का पर्याप्त समादर करती है : 'अजन्ता और ऐलौरा के गुहा-

---

१. वही, पृष्ठ १४।
२. वही, पृष्ठ २०।
३. आलोचना, सं० शिवदानसिंह चौहान, जुलाई, १९५२ का सम्पादकीय, पृष्ठ ३।
४. एस० पी० खत्री और शिवदानसिंह चौहान : आलोचना-इतिहास तथा सिद्धान्त, 'प्रगतिशील साहित्य में कला का स्थान', पृष्ठ ३९०-९१।

शास्त्र या आलोचना-सिद्धान्त का निर्माण इस विशाल और समृद्ध परम्परा की उपेक्षा करके नहीं हो सकता।[1] प्रगतिवाद के प्रचारमूलक अतिवाद से मुक्त होकर उन्होंने काव्यास्वाद-विवेचन के आधार के रूप में सौन्दर्यशास्त्र की महत्ता की स्वीकृति इन शब्दों में की है: 'उसकी (रचना की) श्रेष्ठता का निरूपण करते समय उसकी सौन्दर्यानुभूति, उसकी रूप-योजना, शैली और प्रौढ़ता, वाक्य-रचना, शब्द-प्रयोग आदि अनेक दूसरी कसौटियों पर भी उसे कसना आवश्यक है।[2] रस-सिद्धान्त को वे भारतवर्ष की महान देन मानते हैं: '··· 'रस' का विचार-सूत्र (Concept) विश्व के साहित्यशास्त्र को भारतीयों की एक महती देन है। साथ ही यह भी निश्चित है कि हमारे देश में साहित्य हो या कला, उसकी चर्चा में रस-सिद्धान्त विरोधी भी 'रस' की पूर्ण उपेक्षा कभी नहीं कर सके। आज भी जब साहित्य या कला की आलोचना में अधिकांशतः पाश्चात्य सिद्धान्तों और विचारधाराओं का प्रयोग होने लगा है, रस का विचार-सूत्र सर्वथा त्याज्य नहीं हो सका है।···'रस' का विचार-सूत्र हमारी एक सामान्य और जीवन्त विरासत है।'[3] एक अन्य स्थान पर उन्होंने रस-प्रकल्पना को कला की सृजन-प्रक्रिया और उसके आस्वाद की संश्लिष्ट अवधारणा बताया है: 'रस कला-निर्मिति (Creative process) और उसके आस्वादन (Aesthetic experience) का एक संश्लिष्ट कन्सेप्ट है।'[4]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शिवदानसिंह चौहान की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताएँ रस-सिद्धान्त एवं सौन्दर्यशास्त्र से मूलतः भिन्न नहीं हैं, यद्यपि उन्होंने प्रगतिवाद की समाज-सापेक्ष अवधारणाओं के अनुरूप उनमें किंचित् संशोधन करने का प्रयत्न किया है। वे डॉ० रामविलास शर्मा की भाँति काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद को आर्थिक एवं भौतिक परिस्थितियों से उद्भूत तथा नितान्त समाज एवं युग-सापेक्ष नहीं मानते। एक ओर केवल व्यक्ति-चेतना को ही प्रश्रय देने वाली अथवा आदर्शवादी कलादृष्टि तथा दूसरी ओर घोर भौतिकवादी दृष्टि दोनों ही अतिवादों से बचते हुए शिवदानसिंह चौहान ने समन्वयवादी मध्यम मार्ग अपनाया है: 'साहित्य या कला की कोई कृति अपने समय की वास्तविकता का निष्क्रिय प्रतिबिम्ब मात्र नहीं होती···रचना का सौन्दर्य या मूल्य सामाजिक परिस्थितियों की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है। इस सिद्धान्त को हृदयंगम करना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा एकांगी दृष्टिकोण अन्त में आदर्शवाद का, जिसके अनुसार साहित्य का, कला का सौन्दर्य तत्त्व एक निरपेक्ष गुण बन जाता है, अथवा कुत्सित समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण (यान्त्रिक भौतिकवाद) का, जिसके अनुसार किसी रचना का सौन्दर्य या मूल्य सामाजिक वास्तविकता के सीधे स्पष्ट चित्रण पर ही निर्भर करता है, आखेट बन जाता है—और न ये प्रगतिवाद है, न वैज्ञानिक भौतिकवाद।'[5] काव्यास्वाद की स्थिति में प्रमाता के सौन्दर्य-बोध, रागोद्वेलन तथा संवेदनों की उद्बुद्धि का स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए उन्होंने इन्हें किसी भी प्रकार की सामाजिक स्थिति अथवा युगीन सीमाओं से मुक्त घोषित किया है: '···यह प्रश्न भी रहता है कि अमुक रचना की सौन्दर्य-शक्ति का क्या कारण है, अर्थात् वह रचना आज भी

---

१. शिवदानसिंह चौहान : आलोचना के सिद्धान्त, पृष्ठ ८२।
२. शिवदानसिंह चौहान : साहित्य की समस्याएँ, पृष्ठ ४९।
३. शिवदान सिंह चौहान : 'आलोचना के सिद्धान्त', पृष्ठ ४६।
४. वही, पृष्ठ ४८।
५. शिवदानसिंह चौहान : साहित्यानुशीलन, पृष्ठ १३-१४।

क्यों सौन्दर्य-वोध कराने में सफल है, आज भी वह हमारे रागों को जगाने में हमारे संवेदनों को झंकृत करने में क्यों उतनी ही सशक्त है जितनी शताब्दियों पूर्व थी ?"[1] शिवदानसिंह चौहान ने प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र एवं आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रीय काव्य-मूल्यों की संश्लिष्ट भूमि पर प्रगतिवादी साहित्य-सिद्धान्तों के समायोग द्वारा काव्यास्वाद-विवेचन के लिए एक समन्वयकारी 'सौन्दर्य-मूलक सामाजिक दृष्टिकोण' प्रस्तुत किया :'· · ·प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य-सिद्धान्तों द्वारा निरूपित तथ्यों को कोई वैज्ञानिक जीवन-दर्शन की पद्धति एक सूत्र में बाँधे—अर्थात् द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी पद्धति से ऐसा किया जाय। तभी एक सौन्दर्यमूलक सामाजिक दृष्टिकोण (Social Aesthetic) का विकास किया जा सकेगा· · ·।"[2]

शिवदानसिंह चौहान का प्रगतिवाद रस-सिद्धान्त में निरूपित मानवीय संवेदना, सौन्दर्य-वोध तथा वैयक्तिक सीमाओं से ऊपर उठने के भाव का तिरस्कार नहीं करता : '· · ·हमें यह अभीष्ट था और आज भी है कि· · ·शोषण का प्रचार करने वाले प्रतिक्रियावादी हीन साहित्य से उस श्रेष्ठ प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य का अलगाव ज़ाहिर करें जो मनुष्य में मानवीय संवेदना, सौन्दर्य-वोध, कर्म-चेतना और तर्क-वुद्धि जगाता है, आशा का संचार करता है और अपने व्यक्तिगत जीवन की क्षुद्रताओं से ऊपर उठाकर हमें उन्नत और नैतिक मानव वनाता है।"[3] काव्यास्वाद की आनन्दात्मकता का स्पष्ट समर्थन शिवदानसिंह चौहान ने इन शब्दों में किया है : '· · ·यह सर्वसम्मत है कि श्रेष्ठ साहित्य-निर्माण के लिए आनन्द आवश्यक तत्त्व है। साहित्य तभी श्रेष्ठ अथवा महत्त्वपूर्ण होगा जव उसके अध्ययनोपरान्त हमें आनन्द की प्राप्ति हो· · ·जो भी वस्तु कलात्मक से परे होगी· · ·हमें आनन्द न दे सकेगी।"[4] प्रस्तुत उद्धरण से यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि श्री चौहान के अनुसार काव्य के कलात्मक उत्कर्ष से उद्भूत प्रमाता के चित्त का आनन्द ही काव्यास्वाद है। उनकी यह मान्यता भी रस-सिद्धान्त की मूल मान्यता से भिन्न नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शिवदानसिंह चौहान की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं का निर्माण भारतीय काव्यशास्त्र में निरूपित रसानुभूति तथा सौन्दर्यशास्त्र में निरूपित प्रमाता के भावोद्वेलन और संवेगोद्बुद्धि के व्यापक परिवेश में ही हुआ है। इन मान्यताओं के समन्वय के साथ ही उन्होंने 'सौन्दर्यमूलक सामाजिक दृष्टिकोण' के समायोग द्वारा आधुनिक हिन्दी-साहित्य-शास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण—प्रगतिवादी आलोचकों में निश्चय ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण—योगदान किया है।

अन्य प्रगतिवादी आलोचक

डॉ० रामविलास शर्मा और श्री शिवदानसिंह चौहान के अतिरिक्त किसी अन्य प्रगतिवादी आलोचक ने काव्यास्वाद के विषय में कोई महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त नहीं किया है। प्रकाशचन्द्र गुप्त की सौन्दर्य-दृष्टि परम्परा का पर्याप्त समादर करती है : 'अजन्ता और ऐलौरा के गुहा-

---

१. वही, पृष्ठ १४।
२. वही, पृष्ठ २०।
३. आलोचना, सं० शिवदानसिंह चौहान, जुलाई, १९५२ का सम्पादकीय, पृष्ठ ३।
४. एस० पी० खत्री और शिवदानसिंह चौहान : आलोचना-इतिहास तथा सिद्धान्त, 'प्रगतिशील साहित्य में कला का स्थान', पृष्ठ ३९०-९१।

शास्त्र या आलोचना-सिद्धान्त का निर्माण इस विशाल और समृद्ध परम्परा की उपेक्षा करके नहीं हो सकता।[1] प्रगतिवाद के प्रचारमूलक अतिवाद से मुक्त होकर उन्होंने काव्यास्वाद-विवेचन के आधार के रूप में सौन्दर्यशास्त्र की महत्ता की स्वीकृति इन शब्दों में की है : 'उसकी (रचना की) श्रेष्ठता का निरूपण करते समय उसकी सौन्दर्यानुभूति, उसकी रूप-योजना, शैली और प्रौढ़ता, वाक्य-रचना, शब्द-प्रयोग आदि अनेक दूसरी कसौटियों पर भी उसे कसना आवश्यक है।'[2] रस-सिद्धान्त को वे भारतवर्ष की महान देन मानते हैं : '· · 'रस' का विचार-सूत्र (Concept) विश्व के साहित्यशास्त्र को भारतीयों की एक महती देन है। साथ ही यह भी निश्चित है कि हमारे देश में साहित्य हो या कला, उसकी चर्चा में रस-सिद्धान्त विरोधी भी 'रस' की पूर्ण उपेक्षा कभी नहीं कर सके। आज भी जब साहित्य या कला की आलोचना में अधिकांशतः पाश्चात्य सिद्धान्तों और विचारधाराओं का प्रयोग होने लगा है, रस का विचार-सूत्र सर्वथा त्याज्य नहीं हो सका है।· · · 'रस' का विचार-सूत्र हमारी एक सामान्य और जीवन्त विरासत है।'[3] एक अन्य स्थान पर उन्होंने रस-प्रकल्पना को कला की सृजन-प्रक्रिया और उसके आस्वाद की संश्लिष्ट अवधारणा बताया है : 'रस कला-निर्मिति (Creative process) और उसके आस्वादन (Aesthetic experience) का एक संश्लिष्ट कन्सेप्ट है।'[4]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शिवदानसिंह चौहान की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताएँ रस-सिद्धान्त एवं सौन्दर्यशास्त्र से मूलतः भिन्न नहीं हैं, यद्यपि उन्होंने प्रगतिवाद की समाज-सापेक्ष अवधारणाओं के अनुरूप उनमें किंचित् संशोधन करने का प्रयत्न किया है। वे डॉ० रामविलास शर्मा की भाँति काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद को आर्थिक एवं भौतिक परिस्थितियों से उद्भूत तथा नितान्त समाज एवं युग-सापेक्ष नहीं मानते। एक ओर केवल व्यक्ति-चेतना को ही प्रश्रय देने वाली अथवा आदर्शवादी कलादृष्टि तथा दूसरी ओर घोर भौतिकवादी दृष्टि दोनों ही अतिवादों से बचते हुए शिवदानसिंह चौहान ने समन्वयवादी मध्यम मार्ग अपनाया है : 'साहित्य या कला की कोई कृति अपने समय की वास्तविकता का निष्क्रिय प्रतिबिम्ब मात्र नहीं होती· · · रचना का सौन्दर्य या मूल्य सामाजिक परिस्थितियों की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है। इस सिद्धान्त को हृदयंगम करना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा एकांगी दृष्टिकोण अन्त में आदर्शवाद का, जिसके अनुसार साहित्य का, कला का सौन्दर्य तत्त्व एक निरपेक्ष गुण बन जाता है, अथवा कुत्सित समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण (यान्त्रिक भौतिकवाद) का, जिसके अनुसार किसी रचना का सौन्दर्य या मूल्य सामाजिक वास्तविकता के सीधे स्पष्ट चित्रण पर ही निर्भर करता है, आखेट बन जाता है—और न ये प्रगतिवाद है, न वैज्ञानिक भौतिकवाद।'[5] काव्यास्वाद की स्थिति में प्रमाता के सौन्दर्य-बोध, रागोद्वेलन तथा संवेदनों की उद्बुद्धि का स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए उन्होंने इन्हें किसी भी प्रकार की सामाजिक स्थिति अथवा युगीन सीमाओं से मुक्त घोषित किया है : ' · · यह प्रश्न भी रहता है कि अमुक रचना की सौन्दर्य-शक्ति का क्या कारण है, अर्थात् वह रचना आज भी

---

१. शिवदानसिंह चौहान : आलोचना के सिद्धान्त, पृष्ठ ८२।
२. शिवदानसिंह चौहान : साहित्य की समस्याएँ, पृष्ठ ४९।
३. शिवदान सिंह चौहान : 'आलोचना के [illegible]
४. वही, पृष्ठ ४८।
५. शिवदानसिंह चौहान : [illegible]

क्यों सौन्दर्य-बोध कराने में सफल है, आज भी वह हमारे रागों को जगाने में हमारे संवेदनों को झंकृत करने में क्यों उतनी ही सशक्त है जितनी शताब्दियों पूर्व थी ?"[1] शिवदानसिंह चौहान ने प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र एवं आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रीय काव्य-मूल्यों की संश्लिष्ट भूमि पर प्रगतिवादी साहित्य-सिद्धान्तों के समायोग द्वारा काव्यास्वाद-विवेचन के लिए एक समन्वयकारी 'सौन्दर्य-मूलक सामाजिक दृष्टिकोण' प्रस्तुत किया :'···प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य-सिद्धान्तों द्वारा निरूपित तथ्यों को कोई वैज्ञानिक जीवन-दर्शन की पद्धति एक सूत्र में बाँधे— अर्थात् द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी पद्धति से ऐसा किया जाय। तभी एक सौन्दर्यमूलक सामाजिक दृष्टिकोण (Social Aesthetic) का विकास किया जा सकेगा···।'[2]

शिवदानसिंह चौहान का प्रगतिवाद रस-सिद्धान्त में निरूपित मानवीय संवेदना, सौन्दर्य-बोध तथा वैयक्तिक सीमाओं से ऊपर उठने के भाव का तिरस्कार नहीं करता : '···हमें यह अभीष्ट था और आज भी है कि···शोषण का प्रचार करने वाले प्रतिक्रियावादी हीन साहित्य से उस श्रेष्ठ प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य का अलगाव ज़ाहिर करें जो मनुष्य में मानवीय संवेदना, सौन्दर्य-बोध, कर्म-चेतना और तर्क-बुद्धि जगाता है, आशा का संचार करता है और अपने व्यक्तिगत जीवन की क्षुद्रताओं से ऊपर उठाकर हमें उन्नत और नैतिक मानव बनाता है।'[3] काव्यास्वाद की आनन्दात्मकता का स्पष्ट समर्थन शिवदानसिंह चौहान ने इन शब्दों में किया है : '···यह सर्वसम्मत है कि श्रेष्ठ साहित्य-निर्माण के लिए आनन्द आवश्यक तत्त्व है। साहित्य तभी श्रेष्ठ अथवा महत्त्वपूर्ण होगा जब उसके अध्ययनोपरान्त हमें आनन्द की प्राप्ति हो···जो भी वस्तु कलात्मक से परे होगी···हमें आनन्द न दे सकेगी।'[4] प्रस्तुत उद्धरण से यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि श्री चौहान के अनुसार काव्य के कलात्मक उत्कर्ष से उद्भूत प्रमाता के चित्त का आनन्द ही काव्यास्वाद है। उनकी यह मान्यता भी रस-सिद्धान्त की मूल मान्यता से भिन्न नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शिवदानसिंह चौहान की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं का निर्माण भारतीय काव्यशास्त्र में निरूपित रसानुभूति तथा सौन्दर्यशास्त्र में निरूपित प्रमाता के भावोद्वेलन और संवेगोद्वुद्धि के व्यापक परिवेश में ही हुआ है। इन मान्यताओं के समन्वय के साथ ही उन्होंने 'सौन्दर्यमूलक सामाजिक दृष्टिकोण' के समायोग द्वारा आधुनिक हिन्दी-साहित्य-शास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण—प्रगतिवादी आलोचकों में निश्चय ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण—योगदान किया है।

अन्य प्रगतिवादी आलोचक

डॉ० रामविलास शर्मा और श्री शिवदानसिंह चौहान के अतिरिक्त किसी अन्य प्रगतिवादी आलोचक ने काव्यास्वाद के विषय में कोई महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त नहीं किया है। प्रकाशचन्द्र गुप्त की सौन्दर्य-दृष्टि परम्परा का पर्याप्त समादर करती है : 'अजन्ता और ऐलौरा के गुहा-

---

१. वही, पृष्ठ १४।
२. वही, पृष्ठ २०।
३. आलोचना, सं० शिवदानसिंह चौहान, जुलाई, १९५२ का सम्पादकीय, पृष्ठ ३।
४. एस० पी० खत्री और शिवदानसिंह चौहान : आलोचना-इतिहास तथा सिद्धान्त, 'प्रगतिशील साहित्य में कला का स्थान', पृष्ठ ३९०-९१।

मन्दिर चिरकाल तक उनकी दिव्य-शक्ति और अनुपम सृजन-प्रेरणा के साक्षी रहेंगे।"[1] स्पष्ट है कि प्रकाशचन्द्र गुप्त सौन्दर्य और कला के प्राचीन निदर्शनों को सामन्तवादी अथवा शोषणकारी प्रवृत्तियों का प्रतीक मानकर तिरस्कृत नहीं करते। वे सौन्दर्य-वोध को समाज की सामूहिक-जनरुचि द्वारा संप्रेरित तथा डॉ० रामविलास शर्मा की भाँति ही देशकाल-सापेक्ष मानते हैं : 'साहित्य में सौन्दर्य-वोध के कोई शाश्वत नियम नहीं होते। यह सौन्दर्य-वोध काल और देश की गति और सीमाओं से प्रभावित होता है ··· जनरुचि और साहित्यिक रुचि, जो शिक्षा, वर्ग-भूमिका आदि से बनती और निश्चित होती है, इस सौन्दर्य-वोध को दिशा देती है।'[2] काव्यास्वाद की स्थिति में प्रमाता के चित्त की द्रवणशीलता का स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए वे उसके मूल में 'मानव-जीवन की गहरी अनुभूति' को मानते हैं।[3] वे काव्यास्वाद की उद्‌भूति भाव-सौन्दर्य एवं मानव-संवेदना से ही मानते हैं, वाह्य शिल्प-विधान से नहीं : 'भाषा-शिल्प, उपमाएँ, संगीत, उक्ति-चमत्कार काव्य के साधन मात्र हैं ··· उत्कृष्ट कला प्राण-रस मानवीय अनुभूति, गहरी संवेदना, मानव-जीवन का मर्मस्पर्शी निरूपण ही हो सकते हैं।"[4]

प्रगतिवाद के अन्य एक समीक्षक **डॉ० रांगेय राघव** ने रस-सिद्धान्त की मार्क्सवादी व्याख्या कर उसी के परिवेश में काव्यास्वाद का विवेचन किया है। प्रगतिवाद के संकीर्ण और दलीय प्रचारात्मक रूप से शिवदानसिंह चौहान की भाँति इन्हें भी विरक्ति है। रस-सिद्धान्त पर 'निष्प्रयोजनवादी' एवं 'जनविराधी' होने के संकीर्ण मार्क्सवादियों द्वारा लगाए गए आक्षेपों का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा है : 'रस-सिद्धान्ती कला कला के लिए पर तव वल देता है जब रूढ़िगत-मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के दस्तावेज़ लिखने को कला कहता है। रस-सिद्धान्ती निष्प्रयोजन-वाद का प्रचार तव करता है जब मार्क्सवादी प्राचीन और अर्वाचीन युगों की सामाजिक वास्तविकता को न समझ कर इसी परिस्थितियों को ही सामने रखता है।'[5] डॉ० रांघेव राघव ने भारतीय काव्यशास्त्र के 'साधारणीकरण सिद्धान्त' को 'काव्य साहित्य का मानवीय मूल्यांकन'[6] माना है तथा उसे 'मार्क्सवाद से भी पुराना और साहित्य-सिद्धान्त के क्षेत्र में एक वैज्ञानिक व्याख्या'[7] कहा है।

रस-सिद्धान्त की मार्क्सवादी व्याख्या करते हुए उन्होंने उसे जनसापेक्ष, पूर्णतया सामाजिक सिद्धान्त घोषित किया है : 'रस-सिद्धान्त का प्रतिपादन नाट्यशास्त्र के साथ अपना विकास कर

---

१. 'आलोचना' पत्रिका का २४वाँ अंक, अक्टूबर, १९५७ में प्रकाशित प्रकाशचन्द्र गुप्त का 'प्रगति और परम्परा' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ २४।
२. प्रकाशचन्द्र गुप्त : साहित्य-धारा, 'साहित्य में सौंदर्य-वोध', पृष्ठ ७।
३. मानव-जीवन की गहरी अनुभूति से ही साहित्य के पाठक का मन द्रवित, विचलित और व्यथित होता है।

—वही, पृष्ठ ८।
४. प्रकाशचन्द्र गुप्त : साहित्य-धारा, 'साहित्य में सौंदर्य वोध', पृष्ठ ९।
५. डॉ० रांगेय राघव : 'आलोचना' पत्रिका के नवें अंक (अक्टूबर १९५३), में प्रकाशित रस-तत्त्व और मार्क्सीय कसौटी, शीर्षक लेख, पृष्ठ ६३-६४।
६. वही, पृष्ठ ६४।
७. वही, पृष्ठ ६५।

सका था।'' 'काव्य से अधिक नाटक को सीधे जनसमाज से सम्बन्ध स्थापित करना पड़ा था।'' 'अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि रस-सिद्धान्त जनसमाज के लिए ही पैदा हुआ था।"[1] प्रगतिवाद को रस-सिद्धान्त के साथ संयुक्त करने के लिए उन्होंने प्रगतिवाद की व्यापक व्याख्या की है : 'मार्क्सवाद केवल वर्ग-संघर्ष की व्याख्या नहीं है, वह मानव-जीवन के समस्त अंगों का व्यापक अध्ययन है, जो सम्पूर्ण मनुष्य को छूने की सामर्थ्य रखता है।'[2] इस प्रकार रांगेय राघव के साहित्य-दर्शन का मूल आधार व्यापक मानववाद एवं मानव-संवेदना है। उन्होंने रस के मूल में मानव संवेदना का अस्तित्व मानते हुए उसे अपने कला-सिद्धान्त के रूप में अपनाया है। उ की दृष्टि में काव्यास्वाद के मूल में मानव-संवेदना का अनिवार्य योग रहता है और क्योंकि मानव-संवेदना अपनी सार्वभौमिकता में देशकाल-निरपेक्ष होती है, इसलिए उनके अनुसार काव्यास्वाद देशकालातीत सार्वभौमिक अनुभूति है : 'प्रत्येक देश के साहित्य में विभिन्न विशेषताएँ होती हैं। उन विशेषताओं के भेद के रहते हुए भी एक सार्वभौम मानवीयता उनके भीतर रहती है, जो शताब्दियों को भेद जाती है। तभी यूनान का होमर हजारों वर्ष के उपरान्त भी आज आनन्द देता है। उसमें जो 'वह' है, जो 'आनन्द' देती है वह उसकी 'मानवीयता' है, जो हमारे 'भावों' को रमाती है, जगाती है और वह भव्य आनन्द ही 'रस' है।'[3]

इस प्रकार रांगेय राघव के अनुसार काव्यास्वाद समाज के सामूहिक भावों के आस्वाद की मानवीय अनुभूति है। वह प्रमाता के चित्त की देशकालातीत अखण्ड अनुभूति है, जो उसके भावों को उद्वेलित करती हुई उसे एक भव्य आनन्दमय आस्वाद की स्थिति में अन्तर्लीन कर देती है। स्पष्ट है कि उनकी इस निष्पत्ति में मार्क्सवादी दर्शन के साथ ही साथ रस-सिद्धान्त के सौन्दर्यवादी और आनन्दवादी मूल्यों का अद्भुत समन्वय हुआ है। यह समन्वय कदाचित् इसी कारण सम्भव हो सका है कि मार्क्सवाद और रस-सिद्धान्त दोनों के मूल में मानव-संवेदना का अपरिहार्य अस्तित्व असंदिग्ध है।

प्रगतिवाद के प्रमुख साहित्य-समीक्षकों की काव्यास्वाद-विषयक उपर्युक्त मान्यताओं के विश्लेषण से ये निष्कर्ष प्राप्त होते हैं कि प्रगतिवादी समीक्षा-धारा की दृष्टि में काव्यास्वाद (१) एक समाज-सापेक्ष अनुभूति है। (२) यह व्यक्ति की अपेक्षा सामाजिक चेतना का सामूहिक आस्वाद है। (३) डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार काव्यास्वाद समाज-सापेक्ष विषयगत अनुभूति है जिसका सम्बन्ध मानवीय संवेदना तथा मानव के सौन्दर्य-बोध से है। (४इस प्रकार) संक्षेप में, प्रगतिवादी समीक्षा-पद्धति के अनुसार काव्यास्वाद 'मानव-संवेदना का सामूहिक आस्वाद' है।

हिन्दी-साहित्यशास्त्र में काव्यास्वाद-विवेचन के क्षेत्र में काव्यास्वाद को 'सामूहिक आस्वाद' मानना कोई नितान्त मौलिक एवं अभूतपूर्व घटना नहीं है—बाबू गुलाबराय ने भी रस

---

१. डॉ० रांगेय राघव : 'आलोचना' पत्रिका के नवें अंक (अक्तूबर १९५३), में प्रकाशित 'रस-तत्त्व और मार्क्सीय कसौटी' शीर्षक लेख, पृष्ठ ६८।
२. वही, पृष्ठ ६७।
३. वही, पृष्ठ ६८।

को 'सामूहिक आस्वाद'[1] की संज्ञा प्रदान की है। डॉ० नगेन्द्र ने प्रगतिवाद की काव्यास्वाद-विषयक उक्त मान्यता को रस-सिद्धान्त से असम्पृक्त न मानते हुए उसी में अन्तर्मुक्त कर लिया है। उनके अनुसार 'प्रगतिवाद की प्रमुख मान्यता—समष्टिगत काव्य-चेतना—का तो साधारणीकरण-सिद्धान्त के साथ प्रत्यक्ष समभाव है ही, अन्य धारणाओं के लिए भी रस की परिधि में पूरा अवकाश है। ...अतः व्यापक अर्थ में साहित्य की प्रगतिशील धारणाओं को रसवाद का पूर्ण समर्थन प्राप्त है।'[2] यद्यपि रामविलास शर्मा ने रस-सिद्धान्त के उग्र विरोध से समीक्षा के क्षेत्र में पदार्पण किया था, तथापि किसी अन्य सार्वभौम काव्य-मूल्य के अभाव में उन्हें भी अन्त में सकुचाते हुए रस-सिद्धान्त से मैत्री करनी पड़ी।

वस्तुस्थिति तो यह है कि प्रगतिवादी काव्यास्वाद-विवेचकों का लगभग सारा उत्साह और बल प्राचीन काव्य-मूल्यों के मूलोच्छेदन के प्रयास में ही व्यय हो गया। वे स्वयं काव्य के किसी नवीन सौन्दर्य-मूल्य की स्थापना नहीं कर पाए हैं। प्रमुख प्रगतिवादी समीक्षक श्री शिवदान-सिंह चौहान ने भी इस तथ्य को निस्संकोच स्वीकार किया है : (१)'...यह परिणाम निकालना भूल होगी कि मार्क्सीय दृष्टिकोण से हमारे साहित्य में किसी सर्वांगीण सौन्दर्य-सिद्धान्त का विकास हो गया है, या साहित्यालोचन के वैज्ञानिक मान-मूल्य निर्धारित किये जा चुके हैं।'[3] (२) 'काव्य-शास्त्र (या aesthetics) क्षेत्र के अरस्तू, भरतमुनि आदि जैसी किसी युग-प्रवर्त्तक प्रतिभा की अभी प्रतीक्षा है,, जो ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टि से अपने में सम्पूर्ण एक वैज्ञानिक सौन्दर्य-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा कर सके।'[4] जब तक ऐसी प्रतिभा का आविर्भाव प्रगतिवादी समीक्षा में नहीं होता, तब तक स्पष्ट ही है कि हिन्दी—साहित्यशास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन के क्षेत्र में प्रगतिवादी आलोचना-धारा को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

(आ) नव समीक्षा

'सामाजिक सत्य' का अन्वेषण करने वाली तथा काव्य-सृजन से लेकर उसके आस्वादन तक की सम्पूर्ण प्रक्रिया का जनवादी सामूहिकता के वृहत्तम आयामों में विवेचन-विश्लेषण करने की आकांक्षिणी प्रगतिवादी आलोचना के सर्वथा विपरीत नव समीक्षा का मुख्य स्वर नितान्त व्यक्तिवादी है, वह न केवल सृजन-प्रक्रिया को ही व्यक्ति-विशिष्ट मानती है बल्कि काव्यास्वादन के लिए भी प्रमाता के विशिष्ट साहित्यिक, सामाजिक और बौद्धिक संस्कारों से युक्त व्यक्तित्व की कल्पना करती है। इतना होने पर भी इन दोनों समीक्षा-पद्धतियों में यथार्थ और बौद्धिकता को प्रश्रय और प्राधान्य देने की प्रवृत्ति समान है।

---

१. '...रस मनोवेग नहीं है वरन् साधारणीकरण के भपके में खिंची हुई उनकी भावना का सामूहिक आस्वाद मात्र है...।'
—बाबू गुलाबराय : 'सिद्धान्त और अध्ययन', पृष्ठ १७८।

२. डॉ० नगेन्द्र, 'रस सिद्धान्त', पृष्ठ ३३८।

३. शिवदानसिंह चौहान : 'आलोचना' पत्रिका के चतुर्थ अंक (जुलाई, १९५२) का 'प्रगतिशील साहित्य : प्रगतिवाद' शीर्षक सम्पादकीय लेख, पृष्ठ ५।

४. वही, पृष्ठ ५।

नव समीक्षा ने भी प्राचीन सौन्दर्य-मूल्यों—विशेषतः भारतीय 'रस-सिद्धान्त'—का तीव्र विरोध किया। 'साधारणीकरण' सिद्धान्त को यथावत् मान्यता न देकर 'नए' भाव-बोध के सन्दर्भ में उसकी बौद्धिक व्याख्या कर उसके परिवेश में सम्प्रेषण के सिद्धान्त को अपने प्रमुख कला-सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित किया।

नव समीक्षा के अन्तर्गत काव्यास्वाद के स्वरूप और उसकी प्रक्रिया के समुचित अध्ययन और मूल्यांकन के लिए सर्वप्रथम उसके प्रमुख कवियों और समीक्षकों के एतद्विषयक मतों का आकलन और विवेचन आवश्यक है।

अज्ञेय

अज्ञेय हिन्दी-नवलेखन के प्रवर्त्तक माने जाते हैं, यद्यपि 'तार सप्तक' के एक प्रमुख सहयोगी कवि नेमिचन्द्र जैन ने इसका विरोध किया है।[1] तो भी हिन्दी के अधिकांश नव समीक्षकों तथा नव समीक्षा के प्रत्यालोचकों ने अपने सिद्धान्त-कथन के लिए या तो 'तारसप्तक', 'दूसरा सप्तक' एवं 'तीसरा सप्तक' आदि पुस्तकों में दिए गए अज्ञेय के वक्तव्यों को आधार-रूप में ग्रहण किया है या अपनी निष्पत्तियों को उन वक्तव्यों के परिपार्श्व अथवा विरोध में प्रस्तुत किया है। अतएव अज्ञेय को पारम्परिक अर्थ में यदि इस विशिष्ट साहित्य-धारा का प्रवर्त्तक न भी माना जाए तो भी उसका सर्वप्रमुख पक्षधर समीक्षक मानना असंगत न होगा।

अज्ञेय सौंदर्यानुभूति को मूलतः बुद्धि की क्रिया और काव्यास्वाद को बुद्धि का व्यापार मानते हैं: '· · मैं मानता हूँ कि सुन्दरता के तत्त्व बुद्धि पर आधारित हैं और सुन्दर का आस्वादन बुद्धि का व्यापार है।'[2] अज्ञेय का काव्यास्वाद-विषयक मूल अभिमत वस्तुतः यही है। अपने नवीनतम निबंध-संग्रह 'हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य' में भी उन्होंने 'साहित्य-बोध और शिवत्व बोध' शीर्षक निबंध में अपनी इसी मान्यता को लगभग इन्हीं शब्दों में व्यक्त किया है : 'सौन्दर्य-बोध मूलतः बुद्धि का व्यापार है।'[3] इसी पुस्तक की 'नयी कविता' शीर्षक एक काल्पनिक परिचर्चा में कदाचित् स्वयं लेखक का प्रवक्ता 'अध्येता' नामक पात्र भी कविता के

---

१. (क) 'दुर्भाग्यवश 'तारसप्तक' एक अन्य भ्रम का भी शिकार हुआ। साधारणतः यही माना और समझा जाता है कि 'तारसप्तक' किसी सुचिन्तित काव्य-आन्दोलन का अग्रदल था जिसके झण्डाबरदार और नेता उसके सम्पादक महोदय थे।'

—तारसप्तक : संपादक—अज्ञेय, द्वितीय संस्करण में संकलित नेमिचन्द का 'पुनश्च,' पृष्ठ ३१।

(ख) 'दूसरा सप्तक और तीसरा सप्तक के प्रकाशन से आलोचकों का यह भ्रम पूरी तरह बाक़ायदा प्रतिष्ठित हो गया कि संपादक महोदय सचमुच 'प्रयोगवाद' नामक किसी काव्य-आन्दोलन के प्रवर्त्तक हैं।'

—तार सप्तक : संपादक—अज्ञेय, द्वि० सं० में संकलित नेमिचन्द का 'पुनश्च', पृष्ठ ३२।

२. अज्ञेय: 'आलोचना' पत्रिका के नवें अंक (अक्तूबर, १९५३) में प्रकाशित 'समालोचना और नैतिक मान, शीर्षक लेख, पृष्ठ १३०।

३. अज्ञेय : हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, १९६७, पृष्ठ १०।

ग्रहण (काव्यास्वाद) को बौद्धिक व्यापार मानता है: '...आज भी बुद्धि से ही कविता ग्राह्य होती है...'[1] अज्ञेय के इस बौद्धिक आस्वाद को ही आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने व्यंग्यात्मक स्वर में 'बुद्धि-रस'[2] कहा है। अज्ञेय ने स्वयं उपर्युक्त परिचर्चा में 'अध्येता' के मुख से इसी को 'अनूठा रस' और 'मिश्र रस' कहकर व्याख्यायित किया है।[3] इस प्रकार अज्ञेय के अनुसार काव्यास्वाद बुद्धि द्वारा गृहीत एक 'मिश्र' आस्वाद है।

काव्यास्वाद की प्रक्रिया के अन्तर्गत अज्ञेयजी ने भारतीय काव्यशास्त्र के चिर परिचित सिद्धान्त 'साधारणीकरण' को, नव युग-बोध के संदर्भ में उसकी नवीन बौद्धिक व्याख्या करते हुए, अत्यन्त आग्रहपूर्वक ग्रहण किया है।[4] साधारणीकरण और संप्रेपण के सिद्धान्त की व्याख्या से संबंधित उनके निम्नलिखित उद्धरण विचारणीय हैं:

१. 'साधारण का साधारण वर्णन कविता नहीं है; कविता तभी होती है, जब साधारण पहले निजी होता है और फिर व्यक्ति में से छनकर, साधारण होता है। जो इसको भूलते हैं, उनके पद्य परम सदुद्देश्यपूर्ण होकर भी कविता नहीं बन सकते, और चाहे जो कुछ हो जावें।'[5]

२. '...जो कवि किसी एक क्षेत्र का सीमित सत्य (तथ्य नहीं, सत्य; अर्थात् उस सीमित क्षेत्र में जिस तथ्य से रागात्मक संबंध है वह) उसी क्षेत्र में नहीं, उससे बाहर अभिव्यक्त करना चाहता है, उसके सामने बड़ी समस्या है। या तो वह प्रयत्न ही छोड़ दे; सीमित सत्य को सीमित क्षेत्र में सीमित मुहावरे के माध्यम से अभिव्यक्त करे—यानी साधारणीकरण तो करे पर साधारण का क्षेत्र संकुचित कर दे—अर्थात् एक अन्तर्विरोध का आश्रय ले; या फिर वह वृहत्तर क्षेत्र तक पहुँचने का आग्रह न छोड़े और इसलिए एक क्षेत्र के मुहावरे से बँधा न रहकर उसके बाहर जाकर राह खोजने का जोखिम उठाये। इस प्रकार वह साधारणीकरण के लिए एक संकुचित क्षेत्र का साधारण मुहावरा छोड़ने को बाध्य होगा।'[6]

३. 'जब चमत्कारिक अर्थ मर जाता है, और अभिधेय बन जाता है, तब उस शब्द की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण हो जाती है, उस अर्थ से रागात्मक संबंध नहीं स्थापित

---

१. अज्ञेय : हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, १९६७, पृष्ठ १३८।
२. 'तथाकथित नई कविता में इसी बुद्धि-रस का बाहुल्य है...।'
—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : आलोचना पत्रिका के बीसवें अंक (अक्टूबर १९५६) का सम्पादकीय, पृष्ठ ३।
३. देखिए—हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, पृष्ठ १५१।
४. 'तारसप्तक के कवियों पर यह आक्षेप किया गया है कि वे साधारणीकरण का सिद्धान्त नहीं मानते। यह दोहरा अन्याय है। क्योंकि वे न केवल इस सिद्धान्त को मानते हैं बल्कि इसी से प्रयोगों की आवश्यकता भी सिद्ध करते हैं।'
—वही, 'प्रयोग : क्या और क्यों' पृष्ठ २००।
५. अज्ञेय : आत्मनेपद, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४२।
६. हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, पृष्ठ २०१।

होता। कवि तब उस अर्थ की प्रतिपत्ति करता है जिससे पुनः राग का संचार हो, पुनः रागात्मक संबंध स्थापित हो। साधारणीकरण का अर्थ यही है।"[1]

४. '...जहाँ कवि की संवेदनाएँ अधिक उलझी हुई हैं वहाँ ग्राहक या सहृदय में भी उन्हीं परिस्थितियों के कारण वैसा ही परिवर्तन हुआ है और इसलिए कवि को प्रेषण की कुछ सुविधा भी मिलती है...'[2]

५. 'आज काव्य के पाठकों की जीवन-परिपाटियों में घोर वैषम्य हो सकता है; एक ही सामाजिक स्तर के पाठकों की जीवन-परिपाटियाँ इतनी भिन्न हो सकती हैं कि कि उनकी विचार-संयोजनाओं में समानता हो ही नहीं, ऐसे शब्द बहुत कम हों जिनसे दोनों के मन में एक ही प्रकार के चित्र या भाव उदित हों। यह आज के कवि की सबसे बड़ी समस्या है।...साधारणीकरण और कम्यूनिकेशन (सम्प्रेषण) की समस्या है। ...सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके।... भाषा की क्रमशः संकुचित होती हुई सार्थकता की केंचुल फाड़कर उसमें नया, अधिक व्यापक, अधिक सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है...इसलिए कि वह 'व्यक्ति-सत्य' के 'व्यापक सत्य' बनाने का सनातन उत्तरदायित्व अब भी निवाहना चाहता है पर देखता है कि साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियाँ, जीवन के ज्वालामुखी से बहकर आते हुए लावा से ही भरकर और जमकर रुद्ध हो गयी हैं, प्राण-संचार का मार्ग उनमें नहीं है।'[3]

६. 'हमें किसी कल्पित अजरता का मोह नहीं।
आज के विविक्त अद्वितीय इस क्षण को
पूरा हम जी लें, पी लें आत्मसात् करलें—
उसकी विविक्त अद्वितीयता
आपको, कमपि को, क ख ग को
अपनी-सी पहचनवा सकें,
रसमय करके दिखा सकें—
शाश्वत हमारे लिए वही है।'[4]

उपर्युक्त उद्धरणों के विश्लेषण के उपरान्त निम्नांकित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं:

(१) साधारणीकरण से अज्ञेय का अभिप्राय वस्तुतः कवि की अनुभूति का प्रमाता तक संप्रेषण है: उनके अपने शब्दों में प्रमाता के मन में कवि के 'राग का पुनः संचार' अर्थात् कविगत अनुभूति का प्रमाता तक यथावत् संप्रेषण।

(२) कवि संप्रेषण द्वारा प्रमाता से 'रागात्मक संबंध' स्थापित करता है—परम्परागत

---

१. वही, पृष्ठ २०२।
२. वही, पृष्ठ २०३।
३. तार सप्तक : द्वितीय संस्करण, अज्ञेय का 'वक्तव्य', पृष्ठ २७५-२७७।
४. अज्ञेय : इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४४।

काव्यशास्त्र में इसी क्रिया को कवि और प्रमाता के मध्य 'भावात्मक तादात्म्य' का अभिधान दिया गया है।

(३) प्रमाता तक संप्रेपित होने वाली कवि की असाधारण एवं विशिष्ट अनुभूति—जिसे अज्ञेय ने 'उलझी हुई संवेदना', 'विविक्त अद्वितीय क्षण', 'विविक्त अद्वितीयता' आदि विशेषण दिए हैं—संप्रेपण-व्यापार द्वारा अपने विशिष्ट एवं असाधारण रूप में ही उस तक पहुँचती है। अज्ञेय ने इसी तथ्य को 'अक्षुण्ण पहुँचा सके' तथा 'अद्वितीयता को पहचनवा सके' आदि शब्दों द्वारा व्यक्त किया है।

(४) आधुनिक युग की समान परिस्थितियों के कारण कवि और प्रमाता दोनों की संवेदनाएँ समान धरातल पर उलझी हुई होती हैं, अतएव कवि की नितान्त असाधारण एवं विशिष्ट अनुभूति भी प्रमाता की निजी अनुभूति बन सकती है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कवि शब्दों में नवीन एवं विशिष्ट अर्थ भर अपनी विशिष्ट 'उलझी हुई संवेदना' को प्रमाता तक बृहत्तर क्षेत्र में संप्रेपित करने में समर्थ होता है।

डॉ० जगदीश गुप्त

डॉ० जगदीश गुप्त ने भारतीय रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत किए गए काव्यास्वाद-विवेचन को नये साहित्य की नयी भाव-भूमि के समग्र रूप में अवबोध के लिए अपर्याप्त और अपूर्ण मानते हुए प्रस्तुत संदर्भ में 'सह-अनुभूति' के नवीन सिद्धान्त की प्रस्थापना की है। रस-सिद्धान्त पर निम्नोक्त आपत्तियाँ करते हुए डॉ० जगदीश गुप्त ने उसके स्थान पर 'सह-अनुभूति' के सिद्धान्त को काव्यास्वाद-विषयक सिद्धान्त के रूप में प्रस्तावित किया है:

१. 'रस-सिद्धान्त अथवा अन्य किसी काव्य-सिद्धान्त को सार्वभौमिक शाश्वत और सर्वव्यापी मानने का मोह कभी-कभी नवीन साहित्य के मूल्यांकन में बाधक भी होता है।'[1]

२. 'रस एक विशेष मनःस्थिति में विशेष प्रक्रिया से निष्पन्न होता है। इस विपण्ण युग के कवि की दृष्टि रस-निष्पत्ति की ओर नहीं जाती और अधिकांश नई कविता का लक्ष्य रसानुभूति कराना नहीं है।...'[2]

३. 'हिन्दी की समस्त नई कविता को रस की कसौटी पर कसकर खरा खोटा बता देना उचित नहीं है।'[3]

४. 'रस-सिद्धान्त और नई कविता न केवल भिन्न आधारों पर आधारित हैं, वरन् उनमें कुछ दूर तक परस्पर वैपरीत्य अथवा विरोध भी है।... रसानुभति भावों के एक गहरे सामंजस्य को लेकर चलती है; नई कविता प्रायः पाठक को असमंजस में डाल देती है।'[4]

---

१. डॉ० जगदीश गुप्त : 'आलोचना' पत्रिका के सातवें अंक (अप्रैल, १९५३) में प्रकाशित 'नई कविता में रस और बौद्धिकता' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ ५६।

२. वही।

३. वही, पृष्ठ ५९।

४. वही, पृष्ठ ५७।

५. "रस-दृष्टि ही समग्र काव्य-दृष्टि नहीं है' डॉ० रामखेलावन पाण्डेय[1] का यह कथन यथार्थ ही है।"[2]

डॉ० जगदीश गुप्त के मत से 'रस' अनिवार्यतः सामंजस्यपूर्ण अनुभूति होने के कारण 'विषण्ण युग' के नए कवि की समस्त संवेदनाओं को अपने में अन्तर्भुक्त कर उनका समग्र रूप में आख्यान करने में असमर्थ है। युग-परिवर्तन के साथ काव्य-संवेदनाएँ भी सतत परिवर्तनशील होती हैं, अतएव रस-सिद्धान्त सार्वभौमिक और शाश्वत सिद्धान्त अथवा 'समग्र काव्य-दृष्टि' नहीं है।

कवि के नए भाव-बोध और उसकी नई संवेदना के प्रमाता द्वारा यथावत् आस्वादन की प्रक्रिया का व्याख्यान करने के लिए डॉ० जगदीश गुप्त ने जो महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ की हैं, उनसे संबद्ध उनके मूल उद्धरण इस प्रकार हैं:

१. 'नयी कविता भी ऐसी ही विधा में विश्वास रखती है जो प्रज्ञा को विचलित किये विना विवेक की जाग्रत अवस्था में भावक को यथार्थ अनुभूति के तल तक पहुँचाने की क्षमता रखती हो। यही विधा काव्य-शास्त्रोक्त 'रसानुभूति' से नयी कविता की भावानुभूति को मूलतः पृथक् कर देती है। रसानुभूति के समकक्ष इसे 'सह-अनुभूति' की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि इसमें रसानुभूति की तरह व्यक्तित्व और विवेक का परिहार होना आवश्यक नहीं है। कवि और भावक दोनों के व्यक्तित्वों के सह-अस्तित्व में अनुभूति की प्रेषणीयता संभव होने के कारण इसे सह-अनुभूति कहना न निराधार है, न अनुपयुक्त।'[3]

२. ' ' ' रसानुभूति को जहाँ केवल भाव-विस्तार ही अभीष्ट रहता है वहाँ सह-अनुभूति के लिए भाव और दृष्टिकोण दोनों का विस्तार अपेक्षित है।'[4]

३. '. . . रसानुभूति की अपेक्षा, सह-अनुभूति अधिक मानवीय स्तर पर प्रतिष्ठित दिखायी देती है। आत्म-विलयन, आनन्द और भावावेग के परिपाक की दृष्टि से रसानुभूति अवश्य ही उत्कृष्ट कोटि की कही जायेगी परन्तु मानवीयता के विचार से 'सह-अनुभूति' को उससे उत्कृष्टतर मानना ही विवेक संगत दिखायी देता है।'[5]

४. 'कविता सहज आन्तरिक अनुशासन से युक्त वह अनुभूतिजन्य सघन लयात्मक शब्दार्थ है, जिसमें सह-अनुभूति उत्पन्न करने की यथेष्ट क्षमता निहित रहती है।

---

१. डॉ० जगदीश गुप्त ने डॉ० रामखेलावन पाण्डेय के जिस कथन को उद्धृत किया है वह अपने मूल रूप में इस प्रकार है:
'इस समस्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि रस-दृष्टि ही समग्र काव्य-दृष्टि नहीं है। रस परिणति भी है और प्रक्रिया भी! समस्त काव्य-सम्पदा का मूलभूत आधार रसात्मक सन्निवेश नहीं है।' —विविधा (दो), 'साधारणीकरण और नई कविता', पृष्ठ ७४।

२. डॉ० जगदीश गुप्त : 'नयी कविता', अंक ४ (१९५९), 'रसानुभूति और सह-अनुभूति' शीर्षक निबंध, पृष्ठ २०-१।

३. डॉ० जगदीश गुप्त : 'नयी कविता', अंक ४ (१९६९), पृष्ठ १७।

४. वही, पृष्ठ २१।

५. वही, पृष्ठ २०।

यहाँ 'यथेष्ट' शब्द कवि और पाठक दोनों के 'इष्ट' को अपनी अर्थ-व्याप्ति में समाहित किये हुए है क्योंकि मैं कविता के विषय में कवि के निर्णय को ही अन्तिम निर्णय न मानकर श्रोता या पाठक द्वारा उसकी मान्यता को अनिवार्य समझता हूँ। किसी सफल कलाकृति के लिए 'विधायक कल्पना' (Creative imagination) को 'ग्राहक कल्पना' (Receptive imagination) के इतने निकट सम्पर्क में ला देना आवश्यक होता है कि बाहर से भीतर की ओर देखने वाला व्यक्ति भीतर से बाहर की ओर व्यक्त हुई भाव-वस्तु को उसके यथार्थ रूप में पूरी तरह प्रत्यक्ष कर सके।'[1]

उपर्युक्त उद्धरणों का निष्कर्ष वस्तुतः यही है कि डॉ० जगदीश गुप्त की दृष्टि में काव्यास्वाद कवि की अनुभूति का प्रमाता के चित्त में यथावत् पुनरुद्रेक है। प्रमाता अपने निजी विशिष्ट व्यक्तित्व एवं विवेक का विलय अथवा परिहार किये बिना—दूसरे शब्दों में अपने व्यक्तित्व की सम्पूर्ण विशिष्टता को कवि के प्रभुत्व के समक्ष अक्षुण्ण बनाए हुए—केवल भावना के धरातल पर ही नहीं, बल्कि वैचारिक-बौद्धिक स्तर पर भी कवि की संवेद्य अनुभूति को यथावत् ग्रहण करता है। इस विशिष्ट प्रक्रिया के अन्तर्गत प्रमाता द्वारा गृहीत कवि की अनुभूति को डॉ० जगदीश गुप्त 'सह-अनुभूति' की संज्ञा प्रदान करते हैं। कवि और प्रमाता के मध्य अनुभूति के संचरण-व्यापार के लिए वे जहाँ कवि में 'विधायक कल्पना' की स्थिति आवश्यक मानते हैं वहाँ उनके अनुसार प्रमाता में भी कवि की अनुभूति के, उसके मूल प्रकृत रूप में, ग्रहण के लिए 'ग्राहक-कल्पना' का होना अनिवार्य है। इस प्रकार वे काव्यास्वादन की प्रक्रिया में प्रमाता की ग्राहिका-शक्ति को भी कवि के सदृश ही सक्रिय मानते हैं। एक अन्य स्थल पर डॉ० जगदीश गुप्त ने काव्यास्वादन की पूर्ण क्षमता प्राप्त करने के लिए प्रमाता में विशेष मानसिक संस्कारों और बौद्धिकता की अवस्थिति पर बल दिया है।[2]

कवि की अनुभूति के प्रमाता द्वारा बौद्धिक धरातल पर यथार्थ ग्रहण की प्रक्रिया में, डॉ० जगदीशगुप्त के अनुसार, कोई ऐसी रहस्यमयी रमणीय घटना नहीं होती जिसके फलस्वरूप कवि की मूल अनुभूति की प्रत्येक दशा में आनन्दमयी परिणति हो जाए। उनके अनुसार कवि यदि क्षोभ, पीड़ा, दुःख, अवसाद आदि भावों की अनुभूति करता है (संस्कृत-काव्यशास्त्र में जिन्हें शोकादि भावों के अन्तर्गत निरूपित किया गया है) तो प्रमाता को भी काव्यास्वादन की स्थिति में उन्हीं भावों की यथावत् प्रतीति होगी : 'नई कविता आकर्षण को ही नहीं विकर्षण को भी टटोलती है। व्यंग्य करना, चोट करना, झकझोर देना, ध्यान में डूबे हुए को जैसे टोक देना और कुछ सोचने पर मजबूर कर देना उसका स्वभाव है। वह रिझाती कम है, सताती अधिक है... कभी-कभी वह जीवन के भयानक तथ्यों की ओर संकेत करके हमें सहमा देती है.....'[3]

---

१. डॉ० जगदीश गुप्त : 'नयी कविता', संयुक्तांक ५-६ (१९६०-६१), 'नयी कविता' : कवि और अकविता' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ २२।

२. '...नई कविता का आस्वाद ग्रहण करने के लिए विशेष मानसिक संस्कार और बौद्धिकता की अपेक्षा है।'
—आलोचना, सातवाँ अंक (अप्रैल, १९५३) : 'नयी कविता में रस और बौद्धिकता' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ ५७।

३. वही।

गिरिजाकुमार माथुर

गिरिजाकुमार माथुर अज्ञेय के बाद 'तारसप्तक' के दूसरे प्रबुद्धचेता महत्त्वपूर्ण कवि हैं जिन्होंने अपनी गहन विश्लेषणात्मक प्रतिमा और सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति द्वारा नव समीक्षा को हिन्दी-आलोचना के उचित संदर्भो में गंभीर आधार प्रदान किया। श्री गिरिजाकुमार माथुर की काव्यास्वाद-विषयक मूल मान्यताएँ अज्ञेय और डॉ० जगदीश गुप्त से तत्त्वतः भिन्न नहीं हैं। इन्होंने भी सौंदर्यानुभूति के अन्तर्गत ही काव्यास्वाद का विवेचन किया है। इनके अनुसार काव्यास्वाद 'नयी संवेदनशीलता' को लिए हुए एक 'वस्तुपरक, सूक्ष्म सौंदर्य-दृष्टि' है[1]। यहाँ 'वस्तुपरक' से उनका आशय वस्तुतः काव्यानुभावन से प्रेरित प्रमाता की यथार्थ अनुभूति है। अपनी इस मान्यता के अनुरूप ही वे सौंदर्य-तत्त्व को काव्य में ही निहित मानते हैं : 'इस प्रकार काव्यगत सौंदर्य-तत्त्व को भावस्तर पर ग्रहण किया गया. . .।'[2] इनकी दृष्टि में परम्परागत सुन्दरता ही काव्य-बोध नहीं है, उसके अन्तर्गत कवि की 'असुन्दर मर्मानुभूति' भी समाविष्ट है : '. . .उसे मात्र 'सुन्दरता' का पर्याय न समझकर असुन्दर की मर्मानुभूति को भी सौन्दर्यबोध के अन्तर्गत ही रखा गया है।'[3] गिरिजाकुमार की उक्त मान्यता डॉ० जगदीश गुप्त की उस मान्यता से भिन्न नहीं है जिसमें उन्होंने प्रमाता के काव्यास्वाद को कवि की 'विकर्षण' अथवा 'सहमा देने' वाली अनुभूति की यथावत् सह-अनुभूति कहा है।[4] इसी प्रकार गिरिजाकुमार अज्ञेय और जगदीश गुप्त की ही भाँति काव्यास्वादन की प्रक्रिया को बौद्धिक प्रक्रिया मानते हैं : '. . . भावावेशी 'उद्‌गारों' के स्थान पर सुदृढ़ अच्युत (प्रेसाइज़) और अधिमित्रित (हाइली डिफ़रेन्शियेटेड) साक्षात्कारों को बौद्धिक तन्मयता के प्रगाढ़ासन पर प्रतिष्ठित किया गया।'[5] इस प्रकार श्री गिरिजाकुमार माथुर के अनुसार काव्यास्वाद की स्थिति प्रमाता के चित्त की भावोच्छ्‌वासपूर्ण स्थिति न होकर 'बौद्धिक तन्मयता' की स्थिति है।

गजानन माधव 'मुक्तिबोध'

श्री गजानन माधव 'मुक्तिबोध' प्रमुख नव समीक्षकों में से कदाचित् एकमात्र ऐसे चिन्तक हैं जो काव्यास्वाद को मूलतः रसानुभूति से भिन्न नहीं मानते। वे नयी कविता को कवि की द्वन्द्वमयी मनःस्थिति से उद्‌भूत मानते हुए भी प्रमाता द्वारा उसके अनुभावन की अन्तिम परिणति में काव्यास्वाद को रसमयी रमणीय अनुभूति ही मानते हैं : 'किसी भी युग का काव्य अपने परिवेश में या तो द्वन्द्वरूप में स्थित होता है या सामंजस्य के रूप में। नयी कविता अधिकतर द्वन्द्वरूप में

---

१. 'पुरानी मध्ययुगीन मूल्य-दृष्टि, भावुकतापूर्ण रोमान, कल्पनाप्रधान सांस्कृतिक बोध तथा धरातलीय उदारवाद (जिसे हिन्दी में 'मानवतावाद' अथवा तथाकथित 'भारतीय परम्परा' की संज्ञा दी जाती है) के धुंध को इस नयी संवेदशीलता और वस्तु-परक, सूक्ष्म सौंदर्य-दृष्टि ने सदा के लिए मिटा दिया है।'
—तारसप्तक, द्वितीय संस्करण, गिरिजाकुमार माथुर का 'पुनश्च', पृष्ठ १४८।

२. वही, पृष्ठ १४९।

३. तार सप्तक, द्वितीय संस्करण, गिरिजाकुमार माथुर का 'पुनश्च', पृष्ठ १४९।

४. देखिए : प्रस्तुत अध्याय के इसी प्रकरण में विवेचित डॉ० जगदीश गुप्त का मत।

५. तार सप्तक, द्वितीय संस्करण, गिरिजाकुमार माथुर का 'पुनश्च', पृष्ठ १४९।

स्थित है। इसका अर्थ यह नहीं है कि नयी कविता में हृदय का सहज रस या रमणीयता नहीं है।'[1]

अधिकांश नव समीक्षकों के मत के विपरीत मुक्तिवोध काव्यास्वाद को प्रमाता के चित्त की आनन्दमयी स्थिति स्वीकार करते हुए काव्यास्वाद की प्रक्रिया को कवि की मूल संवेदना से संवद्ध मानते हैं : '. . .कवि-मन, संवेदनात्मक पुंज धारण करते हुए भी, जो पुंज उसकी आत्मलीन स्थिति में उद्वुद्ध हुए थे—सामान्य भूमि पर आकर जीवन मूल्यों और जीवन दृष्टियों से तथा पूर्वगत अनुभवों से मिलकर अपने को व्यापक महत्त्व और प्रकाश से युक्त कर लेते हैं। अतएव, उन संवेदनापुंजों में दर्शक मन को एक अद्वितीय आनन्द प्राप्त होता है।'[2] काव्यानन्दकी इस रसमयी स्थिति को मुक्तिवोध प्रमाता के चित्त की निर्वैयक्तिक ('तटस्थ')[3] स्थिति मानते हैं : '. . . दर्शक-मन अपने को एकदम तटस्थ तो दूसरी ओर एकदम रसमग्न अनुभव करता है।'[4] उनकी यह मान्यता भारतीय रस-सिद्धान्त के सर्वथा अनुरूप है जिसमें प्रमाता की रसानुभूति को व्यक्तिगत राग-द्वेषों से विनिर्मुक्त सर्वथा निर्वैयक्तिक आस्वाद माना गया है। इस प्रकार मुक्तिवोध की यह मान्यता अज्ञेय और डॉ० जगदीश गुप्त की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं के सर्वथा विपरीत है। इसी-लिए उन्होंने साधारणीकरण की नवीन व्याख्या करने के स्थान पर उसे परम्परागत रूप में ही ग्रहण किया है : 'विशिष्ट को सामान्य वनाने के हेतु, कविमन वेदनात्मक उद्देश्य से प्रेरित होकर निरन्तर भावसंशोधन और भावसंपादन करता जाता है. . .अभिव्यक्ति प्राप्त होने पर, भावपक्ष का सामाजीकरण हो जाता है।'[5]

लक्ष्मीकांत वर्मा

लक्ष्मीकांत वर्मा अन्य नए समीक्षकों की भाँति ही रस-सिद्धान्त में निरूपित काव्यास्वाद की अखण्डता, प्रमाता का अन्तश्चमत्कार, उसके चित्त की तल्लीनता एवं आत्मविमोरता को सर्वथा अस्वीकार करते हैं। 'नयी अभिरुचि मानव-यथार्थ को उतनी ही सवल मानती है जितना कि सौंदर्य को जीवन से संवद्ध समझकर उसको ग्रहण करती है।. . . चमत्कार उसका श्रेय नहीं है,. . .अखण्ड-अनन्त उसके लिए शव्दाडम्वर है।. . .श्रद्धा, विश्वास, आस्था, उसकी आत्मनिष्ठा के पूरक हैं और इसीलिए वे मात्र शव्द नहीं हैं जिनको सुनकर रोमांच हो जाये या जो आत्म-विमोर कर दें,. . .'[6] रस-सिद्धान्त को सार्वभौमिक एवं शाश्वत काव्य-सिद्धान्त स्वीकार करने वालों के

---

१. गजानन माधव 'मुक्तिवोध' : नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निवन्ध, (१९६४), पृष्ठ १२।
२. वही, पृष्ठ ५।
३. पं० वलदेव उपाध्याय ने भी प्रमाता की काव्यानुभूति को 'तटस्थ' अनुभूति माना है : 'रसा-नुभूति के निमित्त ताटस्थ्य , तटस्थता, अनासक्ति भाव की नितान्त आवश्यकता होती है।. . .सौंदर्य की अनुभूति सर्वत्र ताटस्थ्य पर आश्रित रहती है।' —भारतीय साहित्य शास्त्र, (प्रथम खण्ड), पृष्ठ ६२५।
४. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निवंध, पृष्ठ ५।
५. वही।
६. लक्ष्मीकांत वर्मा : नयी कविता के प्रतिमान, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ८३।

विपरीत वे सौन्दर्य-बोध को युग-सापेक्ष परिवर्तनशील अनुभूति मानते हैं : '...सौन्दर्य-बोध के प्रतिमान या उनके मानदण्ड भी निरपेक्ष और शाश्वत नहीं रह सकते।'[1]

अज्ञेय, डॉ० जगदीश गुप्त और गिरिजाकुमार माथुर आदि नवसमीक्षा के अधिकांश प्रमुख प्रवक्ताओं की भाँति श्री वर्मा भी काव्यास्वाद को बौद्धिक संवेदना तथा काव्यास्वादन की प्रक्रिया को एक बौद्धिक क्रिया मानते हैं : 'सम्वेदना सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप में भी बौद्धिकता से मुक्त नहीं हो पाती।...यह बोध एक बौद्धिक क्रिया है। . कोई भी अनुभूति बिना इस बौद्धिकता के पनप नहीं सकती।'[2]

लक्ष्मीकान्त वर्मा के अनुसार काव्यास्वाद एक ऐसा सौन्दर्य-बोध है जिसमें प्रमाता कवि की मूल अनुभूति को उसकी कुरूपता, दुरूहता एवं विशिष्टता में यथावत् ग्रहण करता है : 'नयी कविता का सौंदर्य-बोध 'शिशुवत् जिज्ञासा' नहीं है, वह वैज्ञानिक बोध है जिसमें सौंदर्य का शुभ पक्ष उसके अशुभ पक्ष से उतना ही संबंधित है जितना कि काव्य-बोध यथार्थ से सम्बन्धित है।...नयी कविता का भाव-बोध मानसिक स्तर पर यथार्थ की अनिवार्यता को जीवन का अविभाज्य अंश मानकर उसकी दुरूहता को वहन करने की चेष्टा करता है...'[3] नयी कविता के सौन्दर्यबोध को वृहत्तर परिवेश प्रदान कर उन्होंने उसमें सुन्दर और असुन्दर आदि परस्पर विरोधी तत्त्वों की मिश्र समंजिति की अनिवार्यता पर बल देते हुए कहा है कि '...वह सुन्दर को विरूप से पृथक् नहीं मानता, दोनों का संबंध अनिवार्य मानता है क्योंकि 'रूप' उतना ही बड़ा सत्य है जितना विरूप, सुन्दर उतना ही बड़ा सत्य है जितना असुन्दर ..विरूपता अश्लीलता नहीं है, असुन्दर भोंडापन (vulgarity) नहीं है...—इन सबका सौंदर्य के पक्ष में महत्त्व है...'[4] इसीलिए नयी कविता के इस विशिष्ट सौंदर्य-बोध (काव्यास्वाद) को वे 'एकांगी' नहीं मानते तथा मधुर अनुभूतियों के साथ कटु अनुभूतियों का समान महत्त्व स्वीकार करते हैं : '...यह सौन्दर्य-बोध, एकांगी अथवा पलायनवादी सौन्दर्य-बोध नहीं है वरन् इसमें कटुता के प्रति आस्था समान रूप से मौजूद है।'[5] उपर्युक्त वक्तव्यों में वे काव्यास्वाद की ऐकान्तिक आनन्दात्मकता-विषयक रस-सिद्धान्त की मूल मान्यता का स्पष्टतः खंडन करते हैं।

अन्य नव समीक्षक

उपर्युक्त समीक्षकों के अतिरिक्त नई समीक्षा के कतिपय अन्य प्रवक्ताओं ने भी काव्यास्वाद के विषय में प्रायः उक्त मान्यताओं के अनुरूप ही विचार व्यक्त किए हैं। **डॉ० धर्मवीर भारती** रसानुभूति के स्थान पर भावात्मक और बौद्धिक धरातल पर काव्यास्वाद की व्याख्या करते हैं: 'कविता का मुख्य कार्य आज के युग में रूढ़ अर्थों में रसोद्रेक मात्र न रहकर प्रभाव डालना हो गया है। बहुत सी कविताएँ भारती को बहुत अच्छी लगती हैं, जिनमें परम्परागत रस-तत्त्व कम

---

१. वही, पृष्ठ २०१।
२. वही, पृष्ठ ६९।
३. वही, पृष्ठ ७९।
४. वही, पृष्ठ ७९।
५. वही, पृष्ठ ३१।

रहता है पर वे प्रभावित बहुत करती हैं। उनका प्रभाव स्थायी रहता है। उनके प्रभाव की परिधि में भाव और ज्ञान दोनों ही आ जाते हैं।'[१]

डॉ० प्रभाकर माचवे ने कवि की अनुभूति के प्रमाता द्वारा ग्रहण के सिद्धान्त का समर्थन इन शब्दों में किया है : 'कविता और पाठक के बीच में सीधा भाव-विनिमय होने के पक्ष में हूँ...'[२] कवि की अनुभूति के प्रमाता के चित्त तक प्रसार पाने की प्रक्रिया को माचवेजी भी एक प्रकार से साधारणीकरण ही मानते हैं : ''विशेष' को 'साधारण' से अविच्छिन्न और अविभाज्य मानता हूँ...'[३]

डॉ० देवीशंकर अवस्थी भी काव्यास्वाद को एक प्रकार का 'जाग्रत बोध' मानते हैं : 'लेखक जिसको अभिव्यक्त करता है, उसके प्रति पाठक समूह को पूर्ण जाग्रत बोध देना एक प्रकार से लेखक के कार्य को पूर्णता प्रदान करता है।'[४] डॉ० अवस्थी द्वारा निरूपित यह 'जाग्रत बोध' वस्तुतः अन्य नव समीक्षकों द्वारा प्रतिपादित बौद्धिक आस्वाद ही है। इनका मत डॉ० जगदीश गुप्त के मत से इस अर्थ में भिन्न है कि ये काव्यास्वाद की स्थिति में प्रमाता के निजी व्यक्तित्व के विलयन और उसके चित्त की तल्लीनता का स्पष्ट आख्यान करते हैं : 'बहुधा किसी कथा-कविता को पढ़ते-सुनते अथवा नाटक-फ़िल्म देखते हुए व्यक्ति इतना अधिक बह जाता है कि कुछ समय के लिए उसी के मध्य जीने लगता है।'[५]

प्रयागनारायण त्रिपाठी पाठक के भावोद्वेलन को काव्यास्वाद मानते हैं : '(कविता) सर्वोपरि वह अभिव्यक्ति है जो पाठक को उद्वेलित करती है।'[६] त्रिपाठीजी प्रमाता के मनोद्वेलन की स्थिति को एकान्ततः आनन्दात्मक नहीं मानते : 'इस उद्वेलन के प्रभाव में आप आनंदित भी हो सकते हैं और क्षुब्ध भी। आप में प्रेम भी जाग सकता है और घृणा भी। आप क्रांति में भी प्रवृत्त हो सकते हैं और समाधि में भी।'[७] वे प्रेषणीयता के सिद्धान्त में भी विश्वास करते हैं : 'कविता का साध्य तो यथार्थ का तलस्पर्शी, सुन्दर और प्रेषणीय चित्रण है।'[८]

केदारनाथ सिंह काव्यास्वाद के किसी नवीन स्वरूप की प्रकल्पना करने के स्थान पर रस-प्रकल्पना में ही युगानुरूप परिवर्तन करने के समर्थक हैं : '...मैं यह मानता हूँ कि रस की सत्ता से इनकार करना काव्य की सत्ता से ही इनकार करने के समान है। पर आधुनिक कविता में रस की धारणा बदल गई है।'[९] वे भी कविता की सामाजिकता अथवा प्रेषणीयता में विश्वास

---

१. डॉ० धर्मवीर भारती : दूसरा सप्तक, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १७८।
२. डॉ० प्रभाकर माचवे : तार सप्तक, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १८३।
३. वही, पृष्ठ १८४।
४. डॉ० देवीशंकर अवस्थी : आलोचना और आलोचना, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३०।
५. वही,।
६. प्रयागनारायण त्रिपाठी : 'तीसरा सप्तक', द्वितीय संस्करण, 'आत्म निवेदन', पृष्ठ ३३।
७. वही।
८. वही।
९. केदारनाथ सिंह : 'तीसरा सप्तक', द्वितीय संस्करण, वक्तव्य, पृष्ठ १९६।

रहता है पर वे प्रभावित बहुत करती हैं। उनका प्रभाव स्थायी रहता है। उनके प्रभाव की परिधि में भाव और ज्ञान दोनों ही आ जाते हैं।'[1]

डॉ० प्रभाकर माचवे ने कवि की अनुभूति के प्रमाता द्वारा ग्रहण के सिद्धान्त का समर्थन इन शब्दों में किया है : 'कविता और पाठक के बीच में सीधा भाव-विनिमय होने के पक्ष में हूँ. . .'[2] कवि की अनुभूति के प्रमाता के चित्त तक प्रसार पाने की प्रक्रिया को माचवेजी भी एक प्रकार से साधारणीकरण ही मानते हैं : ''विशेष' को 'साधारण' से अविच्छिन्न और अविभाज्य मानता हूँ. . .'[3]

डॉ० देवीशंकर अवस्थी भी काव्यास्वाद को एक प्रकार का 'जाग्रत बोध' मानते हैं : 'लेखक जिसको अभिव्यक्त करता है, उसके प्रति पाठक समूह को पूर्ण जाग्रत बोध देना एक प्रकार से लेखक के कार्य को पूर्णता प्रदान करता है।'[4] डॉ० अवस्थी द्वारा निरूपित यह 'जाग्रत बोध' वस्तुतः अन्य नव समीक्षकों द्वारा प्रतिपादित बौद्धिक आस्वाद ही है। इनका मत डॉ० जगदीश गुप्त के मत से इस अर्थ में भिन्न है कि ये काव्यास्वाद की स्थिति में प्रमाता के निजी व्यक्तित्व के विलयन और उसके चित्त की तल्लीनता का स्पष्ट आख्यान करते हैं : 'बहुधा किसी कथा-कविता को पढ़ते-सुनते अथवा नाटक-फ़िल्म देखते हुए व्यक्ति इतना अधिक बह जाता है कि कुछ समय के लिए उसी के मध्य जीने लगता है।'[5]

प्रयागनारायण त्रिपाठी पाठक के भावोद्वेलन को काव्यास्वाद मानते हैं : '(कविता) सर्वोपरि वह अभिव्यक्ति है जो पाठक को उद्वेलित करती है।'[6] त्रिपाठीजी प्रमाता के मनोद्वेलन की स्थिति को एकान्ततः आनन्दात्मक नहीं मानते : 'इस उद्वेलन के प्रभाव में आप आनंदित भी हो सकते हैं और क्षुब्ध भी। आप में प्रेम भी जाग सकता है और घृणा भी। आप क्रांति में भी प्रवृत्त हो सकते हैं और समाधि में भी।'[7] वे प्रेषणीयता के सिद्धान्त में भी विश्वास करते हैं : 'कविता का साध्य तो यथार्थ का तलस्पर्शी, सुन्दर और प्रेषणीय चित्रण है।'[8]

केदारनाथ सिंह काव्यास्वाद के किसी नवीन स्वरूप की प्रकल्पना करने के स्थान पर रस-प्रकल्पना में ही युगानुरूप परिवर्तन करने के समर्थक हैं : '. . .मैं यह मानता हूँ कि रस की सत्ता से इनकार करना काव्य की सत्ता से ही इनकार करने के समान है। पर आधुनिक कविता में रस की धारणा बदल गई है।'[9] वे भी कविता की सामाजिकता अथवा प्रेषणीयता में विश्वास

---

१. डॉ० धर्मवीर भारती : दूसरा सप्तक, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १७८।
२. डॉ० प्रभाकर माचवे : तार सप्तक, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १८३।
३. वही, पृष्ठ १८४।
४. डॉ० देवीशंकर अवस्थी : आलोचना और आलोचना, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३०।
५. वही,।
६. प्रयागनारायण त्रिपाठी : 'तीसरा सप्तक', द्वितीय संस्करण, 'आत्म निवेदन', पृष्ठ ३३।
७. वही।
८. वही।
९. केदारनाथ सिंह : 'तीसरा सप्तक', द्वितीय संस्करण, वक्तव्य, पृष्ठ १९६।

करते हैं : '. . .कविता तो समाज के सबसे अधिक संवेदनशील व्यक्ति की चेतन क्रिया है। उसकी सामाजिकता असंदिग्ध है।'[1]

मुद्राराक्षस की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं में अन्तर्विरोध है। 'असंबोधित नवलेखन : कुंठा, पराजय, निरर्थकता, भ्रांति और आत्महत्या' शीर्षक लेख में वे नवलेखन का पाठक के प्रति 'संबोधित' अथवा उसके द्वारा 'प्रतिश्रुत' होना न आवश्यक मानते हैं और न संभव : 'नव लेखन . . .संबोधित नहीं होता। वह प्रतिश्रुत भी नहीं हो सकता।'[2] एक अन्य स्थान पर वे साहित्य की सार्थकता को सृजन में ही सीमित नहीं मानते, जब तक किसी कृति का प्रमाता द्वारा आस्वादन नहीं हो जाता तब तक, उनके अनुसार, साहित्यिक प्रक्रिया पूर्ण नहीं होती : 'साहित्य की सम्पूर्ण सार्थकता उसके सृजन में ही सीमित नहीं होती बल्कि उसके आस्वादन की प्रक्रिया उसका अपरिहार्य पक्ष है।'[3]

मूल्यांकन

नव समीक्षा के प्रमुख प्रवक्ताओं के काव्यास्वाद-विषयक अभिमतों के विवेचन के उपरान्त समाहार-रूप में कुछ समान तथ्य उभर कर आते हैं, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं :

१. दो-एक अपवाद छोड़कर प्रायः सभी नवसमीक्षकों ने एक स्वर से काव्यास्वाद के सर्वमान्य सिद्धान्त अथवा सौंदर्य-मूल्य के रूप में भारतीय रस-सिद्धान्त का तीव्र विरोध किया है। नये साहित्य की संवेदना तथा नए विशिष्ट सौंदर्य-बोध की व्याख्या के लिए अपर्याप्त और अप्रासंगिक मानकर इन्होंने रस-सिद्धान्त का विरोध प्रमुखतः दो स्तरों पर किया है—एक तो यह कि 'रस' एक अखण्ड, निर्द्वन्द्व, समंजित, अतः अनिवार्यतः आनन्दमयी चेतना है, जबकि नये साहित्य का पाठक काव्य से न तो आनन्द की सदा अपेक्षा ही करता है और न ही कवि की 'उलझी हुई संवेदना' प्रमाता को निर्द्वन्द्व-अखण्ड आनन्द का आस्वाद ही प्रदान कर सकती है, तथा दूसरे, रस-सिद्धान्त काव्यास्वाद की स्थिति में प्रमाता के व्यक्तित्व की व्यक्तिगत राग-द्वेषों से विनिर्मुक्ति तथा वैयक्तिक चेतना—डॉ० जगदीश गुप्त के शब्दों में 'विवेक'—के परिहार पर बल देता है, जबकि नई कविता के आस्वादयिता का व्यक्तित्व प्रत्येक स्थिति में यथावत् अक्षुण्ण रहता है, डॉ० देवीशंकर अवस्थी ने इसे प्रमाता का 'जाग्रत बोध' कहा है।

रसवादी डॉ० नगेन्द्र ने नव समीक्षकों द्वारा रस-सिद्धान्त पर की गई उक्त दोनों आपत्तियों का अपने ढंग से उत्तर दिया है—(१) '. . .प्रत्येक सच्ची अनुभूति की कलात्मक अभिव्यक्ति या प्रत्येक कलात्मक अनुभूति—तीव्र से तीव्र द्वन्द्व की कलात्मक अनुभूति भी—समंजित अर्थात् अद्वन्द्वमयी ही हो सकती है; द्वन्द्व प्रक्रिया में ही हो सकता है परिणति में नहीं।'[4] (२) 'यह ठीक है कि रसानुभूति की स्थिति में आत्म-विलयन आवश्यक माना गया है. . .आत्म-विलयन केवल रस-दशा का ही नहीं तादात्म्य एवं आनन्द की प्रत्येक दशा का लक्षण है; सह-अनुभूति में भी तीव्रता आते ही विवेक और व्यक्ति-चेतना का लोप हो जाता है. . .चूंकि कवि की अनुभूति

---

१. वही, पृष्ठ १९८।
२. मुद्राराक्षस : 'क ख ग' पत्रिका के छठे अंक (अक्टूबर, १९६४) में प्रकाशित लेख, पृष्ठ ८३।
३. मुद्राराक्षस : साहित्य-समीक्षा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३।
४. डॉ० नगेन्द्र : रस-सिद्धान्त, पृष्ठ ३४७।

प्रायः पाठक की अनुभूति से प्रबलतर होती है, अतः पाठक की अनुभूति का उसमें विलय हो जाता है।"[1]

२. नव समीक्षा काव्यास्वाद को बौद्धिक आस्वाद तथा काव्यास्वादन की प्रक्रिया को बौद्धिक क्रिया मानती है। किन्तु बौद्धिक व्यापार मानते हुए भी ये समीक्षक काव्यास्वाद की स्थिति में बुद्धि के साथ ही राग-तत्त्व का संस्पर्श भी किसी न किसी रूप में अवश्य ही स्वीकार करते हैं, जैसे कहीं तो ये साधारणीकरण का अर्थ 'रागात्मक संबंध स्थापित करना'[2] मानते हैं तथा कहीं प्रमाता के चित्त में 'राग का संचार'[3] करना इनके अनुसार प्रेषयणीयता का धर्म है। इनकी मान्यताओं में अनेक स्थानों पर इस प्रकार के अन्तर्विरोध स्पष्ट हैं। काव्यास्वाद एकान्त बौद्धिक अनुभूति नहीं हो सकती, काव्यास्वादन को नितान्त बौद्धिक प्रक्रिया मान लेने से कवि की संवेदना का भावात्मक और रागात्मक पक्ष असंप्रेषित ही रह जायेगा। यह मानना कि नई कविता में अनुभूति के स्तर पर रागतत्त्व है ही नहीं, मात्र मिथ्या तर्क होगा, क्योंकि स्वयं अज्ञेय और डॉ० जगदीश गुप्त की अधिकांश कविताओं का सौंदर्य रागात्मक अनुभूति में ही निहित है। काव्यास्वाद की बौद्धिकता का निषेध तो रसवादी भी नहीं करते।[4]

३. नयी समीक्षा 'साधारणीकरण' के सिद्धान्त को नए युग-बोध के संदर्भ में ही नए अर्थ में स्वीकार करती है। वस्तुतः इनकी दृष्टि में 'साधारणीकरण' का अर्थ न तो काव्य-निबद्ध विशिष्ट का सर्वसामान्य एवं साधारण रूप में उपस्थित होना है और न ही सहृदय की चेतना की व्यक्तिगत संबंधों से मुक्ति ही है, प्रत्युत कवि की विशिष्ट एवं असाधारण अनुभूति का प्रमाता तक यथावत् संप्रेषण ही इनके अनुसार साधारणीकरण है। इसका अर्थ यह हुआ कि काव्यास्वादन की प्रक्रिया में कवि और भावक दोनों की अनुभूति विशिष्ट ही रहेगी—ऐसी स्थिति में विशिष्ट से विशिष्ट तक की इस संप्रेषण-प्रक्रिया को 'साधारणीकरण' की संज्ञा प्रदान करना नितांत असंगत है।

४. नव समीक्षकसौन्दर्य-बोध अथवा काव्यास्वाद के किसी शाश्वत और सार्वभौम सिद्धान्त के निर्धारण के विरुद्ध हैं, क्योंकि सौंदर्य-बोध, इनके मतानुसार, सर्वथा युग-सापेक्ष परिवर्तनशील अनुभूति है। इनकी दृष्टि में जीवन, जगत् और समाज के संदर्भ में कवि की अनुभूति प्रत्येक युग में परिवर्तित होती रहती है और इसीलिए कवि की अनुभूति का संप्रेषित रूप होने के कारण प्रमाता के काव्यास्वाद का स्वरूप भी सतत परिवर्तनशील है। यह मत भी वस्तुतः भ्रान्त है। कवि की संवेदना और अनुभूति तो निश्चय ही परिवर्तनशील है, किन्तु उसके सान्निध्य में अथवा उसके माध्यम से उपपन्न प्रमाता की काव्यानुभूति (काव्यास्वाद) अपनी अन्तिम परिणति में काव्य विषय की प्रभाव-छवियों से सर्वथा असम्पृक्त उसकी निजी अनुभूति ही होती है। प्रमाता की अनुभूति को विशिष्ट मानने में यह बात स्वयं नव समीक्षकों को भी अस्वीकार्य नहीं है और वैसे भी यदि काव्यास्वाद को नितान्त युग-सापेक्ष अनुभूति ही मान लिया जाए, तब फिर प्राचीन साहित्

---

१. वही, पृष्ठ ३४८।

२-३. देखिए इसी प्रकरण के पूर्व-पृष्ठों में अज्ञेय के उद्धरण।

४. 'यह वास्तव में एक प्रकार का समंजित आस्वाद है जिसमें ऐन्द्रिय, रागात्मक, बौद्धिक तत्त्व का लवण-नीर संयोग रहता है।'

—डॉ० नगेन्द्र : रस-सिद्धान्त, पृष्ठ ११९।

की देशकालातीत स्वयंसिद्ध आस्वादनीयता का किस तर्क से प्रत्याख्यान किया जा सकता है। अतः युग-सापेक्ष काव्य-मूल्य की चर्चा भी असंगत और निरर्थक है।

इस प्रकार नव समीक्षक भी प्रगतिवादी आलोचना की भाँति ही काव्यास्वाद के विषय में कोई नवीन युक्ति-युक्त सिद्धान्त स्थिर नहीं कर पाए। डॉ० जगदीश गुप्त द्वारा प्रतिपादित 'सह-अनुभूति' का सिद्धान्त नयी कविता के आस्वादन के संदर्भ में तो किसी सीमा तक निश्चय ही उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है, किन्तु वह स्पष्टतः प्रत्येक प्रकार के काव्य अथवा काव्यमात्र के आस्वादन का सर्वांगपूर्ण और स्थायी सिद्धान्त नहीं हो सकता।

(ग) समाहार और निष्कर्ष

शुक्लोत्तर हिन्दी-साहित्यशास्त्र में काव्यास्वाद-विवेचकों के तीन वर्ग स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं: (१) रसवादी समीक्षक, जिन्होंने मुख्यतया रस-सिद्धान्त के परिवेश में काव्यास्वाद का विवेचन किया; (२) प्रगतिवादी समीक्षक, जिन्होंने मार्क्सवाद के भौतिक सिद्धान्तों की की प्रभाव-छाया में सामाजिक चेतना के सामूहिक आस्वाद की प्रकल्पना की तथा (३) नव समीक्षक, जिन्होंने पश्चिम के अनेक अधुनातन साहित्य-आन्दोलनों से प्रभावित होकर भारतीय रस-सिद्धान्त के प्रति पूर्ण असन्तोष व्यक्त करते हुए कवि की अनुभूति के यथावत् सम्प्रेपण तथा प्रमाता की सह-अनुभूति के यथार्थवादी, वस्तुमुखी एवं युग-सापेक्ष काव्यास्वाद-विषयक सिद्धान्तों का प्रवर्त्तन किया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के काव्यास्वाद-विवेचन ने इन तीनों वर्गों के समीक्षकों की निष्पत्तियों को प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः प्रेरित एवं प्रभावित किया है।

रसवादी समीक्षकों ने रस-सिद्धान्त के प्रति निर्द्वन्द्व आस्था व्यक्त करते हुए आधुनिक युग के अनुरूप उसकी पुनर्व्याख्या की तथा उसके आधार पर ही रसानुभूति को काव्यास्वाद के रूप में निरूपित किया। इनसे पूर्व आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने गंभीर रस-चिन्तन द्वारा हिन्दी-काव्यशास्त्र में काव्यास्वाद-विवेचन की जिस सुदृढ़ भूमि का निर्माण किया था, इन समालोचकों ने उस पर अधिष्ठित होकर शुक्लजी की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं के पुनरनुशीलन, पर्यालोचन, पुनःपरीक्षण एवं पुनर्मूल्यांकन द्वारा भारतीय काव्यशास्त्र की प्रामाणिक छाया तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र, मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषणशास्त्र के आलोक में काव्यास्वाद का व्यापक एवं गहन विवेचन कर उसे निश्चय ही एक व्यापक भूमि प्रदान की। इस वर्ग के प्रथम आचार्य बाबू गुलाबराय ने पाश्चात्य आलोचक आई० ए० रिचर्ड्स और अपने पूर्ववर्ती आचार्य राचचंद्र शुक्ल एवं पं० केशवप्रसाद मिश्र से प्रभाव ग्रहण करते हुए मूलतः रसशास्त्रीय दृष्टि से सुबोध एवं सारग्राही शैली में काव्यास्वाद का स्वच्छ विवेचन किया। डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' ने शुक्लजी की वस्तुगत मान्यताओं के विपरीत काव्यास्वाद को विषयिगत आनन्द मानकर तथा अपनी 'ओज'-विषयक मौलिक उद्भावना द्वारा हिन्दी-साहित्यशास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन में युगान्तर प्रस्तुत किया। 'सुधांशु' जी का विवेचन शुक्लजी के बाद आधुनिकता की दिशा में निश्चय ही एक दृढ़ चरणन्यास है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का काव्यास्वाद-विवेचन यद्यपि मूलतः परम्परा-नुमोदित ही है, तथापि काव्यास्वाद के मूल में कवि-कल्पनाजन्य काव्य-सौंदर्य का योग स्वीकार कर उन्होंने महत्त्वपूर्ण दिशा-निर्देश किया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की प्रस्थापना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने केवल परम्परागत काव्यास्वाद-विषयक स्थापनाओं का सूक्ष्म अन्तर्विश्लेषण ही नहीं किया, प्रत्युत अपनी मौलिक सौंदर्य-शास्त्रीय उद्भावनाओं—विशेषतः छन्द के अन्तःरस की अत्यंत व्यापक, विशद एवं सारमौमिक प्रकल्पना द्वारा हिन्दी-साहित्यशास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन के क्षेत्र में अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान किया। डॉ० नगेन्द्र के काव्यशास्त्रीय विवेचन में भारतीय रस-सिद्धान्त की सार्वभौमिक एवं व्यापक अधुनातन व्याख्या उपलब्ध होती है। उन्होंने भारतीय रस-परम्परा की मूल मान्यता से भिन्न काव्यास्वाद को ऐन्द्रिय, मानसिक और बौद्धिक

तत्त्वों के संश्लेषण से विनिर्मित समंजित लौकिक अनुभूति सिद्ध कर हिन्दी-साहित्यशास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन को तथ्यात्मक मनोविज्ञान का आधुनिक आधार प्रदान किया।

प्रगतिवादी विवेचकों ने मार्क्स, ऍन्जेलस, रोल्फ़ फ़ॉक्स, माओ-त्से-तुंग, प्लेखनोव और क्रिस्टोफ़र कॉडवेल आदि विदेशी भौतिकवादी विचारकों से प्रभावित होकर काव्यास्वाद-संबंधी व्यक्तिनिष्ठ मान्यताओं के स्थान पर काव्यास्वाद को सामाजिक चेतना के सामूहिक आस्वाद के रूप में व्याख्यायित किया। इस वर्ग के समीक्षकों में डॉ० रामविलास शर्मा और शिवदानसिंह चौहान का विवेचन महत्त्वपूर्ण है। डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार काव्यास्वाद एक समाज-सापेक्ष वस्तुगत अनुभूति है जिसका अनिवार्य संबंध मानवीय संवेदना और सामूहिक सौंदर्यबोध से है। शिवदानसिंह चौहान ने उदार दृष्टि से भारतीय काव्यशास्त्र में निरूपित रसानुभूति तथा पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र में निरूपित प्रमाता के भावोद्वेलन-विषयक सिद्धान्तों के व्यापक परिवेश में 'सौंदर्य-मूलक सामाजिक दृष्टिकोण' से काव्यास्वाद का विवेचन किया। उनकी मूल मान्यताएँ रस-सिद्धान्त से भिन्न नहीं हैं।

नव समीक्षा रस-सिद्धान्त जैसे सार्वभौमिक एवं शाश्वत काव्य-सिद्धान्त को आधुनिक युग-बोध, सौंदर्य-बोध तथा व्यक्ति की खण्डित एवं द्वन्द्वमयी संवेदना के मूल्यांकन के लिए पूर्णतया अपर्याप्त एवं अप्रासंगिक मानती है। इन समीक्षकों ने 'साधारणीकरण' की नयी बौद्धिक व्याख्या की तथा संप्रेषण द्वारा कवि की अनुभूति के प्रमाता के चित्त में अविकल यथावत् पुनरुद्रेक को काव्यास्वाद माना। इनके अनुसार काव्यास्वाद एक वस्तुगत, यथार्थ, युग-सापेक्ष एवं बौद्धिक अनुभूति है, जो प्रत्येक स्थिति में आनन्दमयी नहीं हो सकती। इस धारा के प्रमुख समीक्षक अज्ञेय की साधारणीकरण-सिद्धान्त की अभिनव व्याख्या तथा डॉ० जगदीश गुप्त की सह-अनुभूति-विषयक मौलिक उद्भावना महत्त्वपूर्ण हैं। काव्यास्वाद को सृजन की स्थिति में कवि की मधुर-तिक्त मूल अनुभूति के यथावत् समानुरूप मानने में इन समीक्षकों पर निश्चय ही आचार्य रामचंद्र शुक्ल की रसानुभूति को भावानुभूति से अभिन्न तथा सुख-दुःखात्मक घोषित करने से सम्बद्ध मान्यता का प्रभाव है। नव-समीक्षा ने हिन्दी-साहित्यशास्त्र में यद्यपि काव्यास्वाद-विषयक किसी शाश्वत एवं सार्वभौम सिद्धान्त की स्थापना नहीं की, तथापि इसकी काव्यास्वाद-(सौन्दर्यबोध) सम्बन्धी मूल अवधारणाएँ नितान्त उपेक्षणीय नहीं हैं।

अध्याय ८

उपसंहार

उपसंहार

(१)

हिन्दी के प्रथम रीति-विवेचक कृपाराम से लेकर नवसमीक्षा के अद्युनातन प्रवक्ताओं तक लगभग तीन सौ वर्ष की सुदीर्घ काव्यशास्त्रीय परम्परा में काव्यास्वाद के स्वरूप और उसकी प्रक्रिया की विस्तृत और गहन मीमांसा होती रही। आरंभकाल से रीति-पूर्ववर्ती कवियों एवं आचार्यों तथा रीतिकाल के काव्यशास्त्रियों के विवेचन का आधार पूर्णतया संस्कृत-काव्यशास्त्र ही रहा। रीति-पूर्व हिन्दी-साहित्यशास्त्र में काव्यास्वाद-विवेचकों के मुख्यतया दो वर्ग परिलक्षित होते हैं—एक तो कृपाराम, गोपा, रहीम और केशवदास आदि साहित्यशास्त्रियों का वर्ग, जिन्होंने स्पष्टतया शास्त्रीय विवेचन का उपक्रम किया; दूसरा वर्ग सूरदास और नंददास भक्त-कवियों का है जिनके कृतित्व में विशुद्ध रीति-विवेचन उपलब्ध न होते हुए भी रीति-संकेत अवश्य विद्यमान हैं। काव्यास्वाद के स्वरूप के विषय में इस काल के आचार्यों की अवधारणाओं में व्यापक अन्तर है। कृपाराम काव्यास्वाद को जहाँ ऐन्द्रिय विषयों और उनसे प्रेरित भावों की रमणीय अभिव्यक्ति के चमत्कार से निष्पन्न लौकिक आनन्द मानते हैं, वहाँ सूरदास और नन्ददास का मत उनसे सर्वथा विपरीत है; वे शृंगार रस के आनन्द को भी लोकोत्तर आध्यात्मिक आनन्द मानते हैं। गोपा और रहीम का दृष्टिकोण इनसे नितान्त भिन्न है। गोपा का दृष्टिकोण मूलतः कलात्मक है; उनके अनुसार भाव, गुण आदि के आन्तरिक सौंदर्य से प्रेरित शब्दार्थ के रमणीय संयोजन से उद्भूत प्रमाता का आनन्दपूर्ण अन्तश्चमत्कार काव्यास्वाद है। रहीम काव्यास्वाद को काव्य-सौंदर्य से चमत्कृत प्रमाता की आनन्दमयी अनुभूति मानते हैं। इस प्रकार इन दोनों आचार्यों में कलात्मक दृष्टि की समानता है। केशवदास का काव्यास्वाद-विवेचन इस युग में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने काव्य में रस और अलंकार दोनों की महत्त्व-प्रतिष्ठा करते हुए काव्यास्वाद को मूलतः सरस एवं रमणीय काव्य के भावन से प्राप्त आनन्द तथा गौणतः अलंकार एवं शब्दार्थगत सौंदर्य से प्रेरित प्रमाता का अन्तश्चमत्कार माना है। हिन्दी-साहित्यशास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन के क्षेत्र में रीति-पूर्व युग के कवियों एवं आचार्यों की स्थापनाओं का परवर्ती आचार्यों के दिशा-निर्देश के अतिरिक्त कोई विशेष महत्त्व नहीं है। संस्कृत के प्रमुख काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के प्रायः अपूर्ण एवं अप्रामाणिक परिचय के आधार पर ही उन्होंने काव्यास्वाद का निरूपण किया है, जो न केवल परम्परागत है, बल्कि अपूर्ण एवं अपर्याप्त भी है।

हिन्दी-साहित्यशास्त्र के 'विकासकाल'—रीतिकाल—के आचार्यों ने काव्यास्वाद का विवेचन रस, अलंकार और ध्वनि-निरूपण के अन्तर्गत किया है। इस युग के विविधांग तथा रस-निरूपक आचार्यों की काव्यास्वाद-विषयक दृष्टि संस्कृत-रसशास्त्र की मूल मान्यताओं तक ही सीमित है; उनके अनुसार काव्यास्वाद एक अखण्ड, वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्य, स्वप्रकाश, ब्रह्मानन्द-सहोदर तथा ऐकान्तिक रूप से आनन्दात्मक अनुभूति है, जिसकी सिद्धि विभावानुभाव और संचारी भावों के संयोग से प्रमाता के चित्त में संस्कार-रूप से स्थित स्थायी भाव की आनन्दपूर्ण निष्पत्ति

की प्रक्रिया द्वारा होती है। रीतिकाल के अलंकार-निरूपक आचार्य संस्कृत-आलंकारिकों की ही भाँति काव्यास्वाद को शब्दार्थगत रमणीयता अथवा उक्ति-सौंदर्य से उद्भूत मानते हैं। उनकी दृष्टि में काव्य के शब्दार्थगत अर्थात् अभिव्यंजनागत सौंदर्य के भावन से उपपन्न सहृदय का अन्तश्चमत्कार काव्यास्वाद है। इसी प्रकार संस्कृत के ध्वनिवादी आचार्यों के अनुरूप ही रीतिकाल के ध्वनि-निरूपक आचार्य काव्यास्वाद को शब्द के वाच्यार्थ की अपेक्षा चारुतर अर्थ—व्यंग्यार्थ (ध्वन्यर्थ)—से उत्पन्न आनन्द मानते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि रीतिकालीन आचार्यों द्वारा काव्यास्वाद के स्वरूप एवं उसकी प्रक्रिया का विवेचन पूर्णतः संस्कृत-काव्यशास्त्र में एतद्विषयक काव्य-सम्प्रदायों के अन्तर्गत किये गए काव्यास्वाद-विवेचन पर ही आधारित है। काव्यास्वाद-विषयक किसी मौलिक सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए तो अधिक अवकाश था ही नहीं, मूल सिद्धान्तों की पुनर्व्याख्या एवं पुनर्विश्लेषण का उपक्रम भी इस युग के साहित्यशास्त्र में प्रायः नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में इन आचार्यों को हिन्दी-साहित्य के काव्यास्वाद-विवेचन को कोई नई विकास-दिशा प्रदान करने अथवा उसके विकास एवं संवर्द्धन का श्रेय तो निश्चय ही नहीं दिया जा सकता, फिर भी रीतिकालीन काव्यास्वाद-विवेचन की कतिपय ऐसी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं जिस पर पर्याप्त प्रकाश न डाल कर उन्हें नितान्त उपेक्षित कर देना न्याय्य नहीं है—उदाहरणार्थ रसलीन की 'कवि के अनुभूति-बिम्ब के प्रमाता की चेतना में पुनरुद्रेक-विषयक उद्भावना' आधुनिक काव्य-शास्त्र के मनोविज्ञान पर आधारित 'संप्रेषणीयता-सिद्धान्त' के अत्यंत निकट पहुँच जाती है। इसी प्रकार चिंतामणि, कुलपति मिश्र, प्रतापसाहि, सोमनाथ, कुमारमणि भट्ट और बेनी प्रवीन का काव्यास्वाद-विवेचन अपनी विशदता, क्रमबद्धता एवं प्रतिपादन-शैली की स्वच्छ प्रांजलता तथा रसिक गोविन्द का विवेचन गद्य-टीका के आश्रय से अपनी निर्भ्रान्त स्पष्टता के कारण किसी भी प्रकार उपेक्षणीय नहीं है।

आधुनिक काल हिन्दी-साहित्यशास्त्र का उत्कर्ष-काल है। आधुनिक काल का शुक्ल-पूर्व युग वस्तुतः रीतिशास्त्रीय परम्परा एवं शुक्ल-युग के आधुनिक साहित्य-चिन्तन की मध्यवर्ती कड़ी थी। इस युग के काव्यास्वाद-विवेचकों के स्पष्टतः दो वर्ग हैं—एक उन समीक्षकों का वर्ग, जिन्होंने अपने विवेचन के लिए संस्कृत-काव्यशास्त्र एवं उसी की भूमिका पर अधिष्ठित हिन्दी-रीतिशास्त्र का अविकल आधार ग्रहण किया है, तथा दूसरा वर्ग उन विवेचकों का है, जिन्होंने संस्कृत-काव्यशास्त्र से प्रभाव ग्रहण करते हुए भी सुबोध एवं प्रायः अशास्त्रीय शैली में काव्यास्वाद का विवेचन किया है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत जगन्नाथप्रसाद 'भानुकवि', बिहारीलाल भट्ट एवं मिश्रबन्धुओं तथा द्वितीय वर्ग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, कन्हैयालाल पोद्दार, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' तथा आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के नाम उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दु एवं महावीर प्रसाद द्विवेदी को छोड़कर अन्य समालोचकों ने संस्कृत के मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों से स्पष्टतः प्रभाव ग्रहण करते हुए विभावादि के संयोग से स्थायी भाव की रस-रूप में 'परिणति', 'पुष्टि' और 'अभिव्यक्ति' आदि को काव्यास्वाद की प्रक्रिया तथा आनन्दमयी रसानुभूति को काव्यास्वाद माना है। भारतेन्दु एवं आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का अभिमत पूर्णतया परम्परानुगामी नहीं है। भारतेन्दु रसानुभूति के स्थान पर विषय-वस्तु की कुशल संयोजना तथा कवि की रमणीय शैली के प्रभाव से उत्पन्न सहृदय के अन्तश्चमत्कार को काव्यास्वाद मानते हैं। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी काव्य के भावन से भावक के चित्त में उत्पन्न मनोमुग्धकारी एवं अनिवार्यतः आनन्दमयी अनुभूति के साथ ही शब्दार्थगत चमत्कार एवं उक्ति-वैचित्र्य से निष्पन्न अन्तश्चमत्कार को भी काव्यास्वाद मानते

हैं। आधुनिक हिन्दी-साहित्यशास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन के क्षेत्र में शुक्ल-पूर्व युग के विवेचकों का महत्त्व केवल इसी दृष्टि से है कि उन्होंने परम्परानुमोदित सामग्री के क्रमबद्ध एवं प्रामाणिक उपस्थापन द्वारा परवर्ती साहित्यशास्त्रियों के नवदृष्टि-उन्मेष के लिए आवश्यक पृष्ठाधार प्रदान किया।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने गंभीर, सूक्ष्म, विशद एवं मनोविज्ञान-सम्मत काव्यास्वाद-विवेचन द्वारा हिन्दी-साहित्यशास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन के क्षेत्र में एक नई दिशा का प्रवर्तन किया। हिन्दी-साहित्यशास्त्र के अधिकांश विवेचकों की भाँति शुक्लजी ने भी यद्यपि रस-सिद्धांत के व्यापक परिवेश में ही काव्यास्वाद का स्वरूप-निर्धारण कर उसकी प्रक्रिया का विश्लेषण किया, तथापि मनोविज्ञान की सुदृढ़ भूमि पर आधारित उनका 'साधारणीकरण सिद्धान्त' का विशद पुनराख्यान तथा भावों का स्वरूप-विश्लेषण एवं वर्गीकरण सर्वथा मौलिक एवं परम्परा-विच्छिन्न है, जो कालान्तर में हिन्दी साहित्यशास्त्र की नवीनतम प्रवृत्ति——नवसमीक्षा——के अधिकांश काव्यास्वाद-निरूपकों की शास्त्र-विरोधी अभिनव दृष्टि का प्रेरणा-स्रोत बना। 'कवि, काव्य एवं प्रमाता के तादात्म्य' को छोड़कर 'आलम्बनत्व धर्म' के साधारणीकरण, काव्यास्वाद की सुख-दुःखात्मकता तथा रसानुभूति में कोटि-निर्धारण से संबंधित शुक्लजी की प्रायः सभी मौलिक निष्पत्तियाँ भ्रान्त होने पर भी परवर्ती काव्यास्वाद–विवेचकों को विचारोत्तेजना प्रदान कर सर्वथा नवीन दिशाओं के अन्वेषण की ओर अग्रसर करने के कारण अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

शुक्लजी के समसामयिक साहित्यालोचकों में पं० केशवप्रसाद मिश्र का काव्यास्वाद-विवेचन मौलिकता की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। 'मधुमती भूमिका' तथा काव्यास्वाद की स्थिति में प्रमाता की 'निर्वितर्क समापत्ति'——विषयक उनकी उद्भावनाओं ने उनके समसामयिक आचार्य श्यामसुन्दरदास, पं० रामदहिन मिश्र और पं० बलदेव उपाध्याय की काव्यास्वाद-संबंधी मान्यताओं को पर्याप्त सीमा तक प्रभावित किया है। उन्होंने काव्यास्वाद को कवि की सृजनकालीन आनन्दानुभूति का प्रतिफल घोषित किया है। उनकी इस प्रस्थापना ने परवर्ती काव्यास्वाद-विवेचन को, विशेषतः डॉ० नगेन्द्र की निष्पत्तियों को, अत्यधिक प्रभावित किया। आचार्य श्यामसुंदरदास और पं० रामदहिन मिश्र का आधुनिक हिन्दी-साहित्यशास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन में कोई विशेष महत्त्व नहीं है। इन दोनों आचार्यों ने एक ओर संस्कृत के भरतमुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक प्रायः सभी ध्वनि एवं रसवादी आचार्यों तथा दूसरी ओर अपने समकालीन हिन्दी-आचार्यों——पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा पं० केशवप्रसाद मिश्र——से सामग्री ग्रहण कर उसे व्यवस्थित रूप दिया। पं० बलदेव उपाध्याय का काव्यास्वाद-विवेचन इन दोनों आचार्यों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। काव्यवस्तु के तटस्थ एवं निस्संग ग्रहण से प्रमाता द्वारा काव्यास्वाद की प्रतीति तथा काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द एवं बौद्धिक आनन्द से उच्चतर-उत्कृष्टतर सिद्ध करने से सम्बद्ध उनकी मान्यताएँ शुक्लयुगीन हिन्दी-साहित्यशास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचनमें विशेष स्थान की अधिकारिणी हैं।

काव्यास्वाद-विवेचन के संदर्भ में छायावाद के कवि-चतुष्टय का नाम भी शुक्लजी के समसामयिक युग में अपना महत्त्व रखता है। इन कवियों में जयशंकरप्रसाद ने हिन्दी के काव्यास्वाद-विवेचन को उसकी आत्मवादी व्याख्या की दिशा में प्रवृत्त किया। प्रसाद काव्यास्वाद को अभेदमयी विश्रान्तिपूर्ण आत्मानुभूति मानते हुए उसे ब्रह्मानन्द की उच्चतम आध्यात्मिक भूमि

प्रदान करते हैं। महादेवी ने हिन्दी-साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में कदाचित् पहली बार काव्यास्वाद की सौंदर्यशास्त्रीय व्याख्या की। उनके अनुसार कवि की मूल अनुभूति के भावन से उदभूत प्रमाता की तीव्र आनन्दमयी सौंदर्यानुभूति काव्यास्वाद है। शुक्ल-युग के काव्यास्वाद-विवेचकों ने हिन्दी-साहित्यशास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन को निश्चय ही नवोत्कर्ष एवं विकास प्रदान किया। भारतीय-रसशास्त्र, दर्शन, पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र तथा मानववाद के प्रकाश में किया गया इनका काव्यास्वाद-निरूपण हिन्दी-साहित्यशास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन को एक अभूतपूर्व देन है।

हिन्दी-साहित्यशास्त्र का शुक्लोत्तर काव्यास्वाद-विवेचन विशदता, सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि एवं नव प्रबोध के कारण साहित्यशास्त्रीय चिन्तन की उच्चतम भूमि का स्पर्श करता है। इस युग की अधुनातन समीक्षा-धाराओं को छोड़कर बाबू गुलाबराय, डॉ० सुधांशु, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी तथा डॉ० नगेन्द्र–सभी शुक्ल-परवर्ती समीक्षकों ने रस-दृष्टि से ही काव्यास्वाद का विवेचन किया है। बाबू गुलाबराय की दृष्टि मूलतः भारतीय है, इसलिए उन्होंने संस्कृत-काव्यशास्त्र की काव्यास्वाद-विषयक मान्यताओं को आई०ए० रिचर्ड्स आदि पश्चिम के आधुनिक आलोचकों तथा आधुनिक मनोविज्ञान के पार्श्व में रखकर उनकी प्रामाणिकता सिद्ध की तथा अपने पूर्ववर्ती आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा केशवप्रसाद मिश्र से प्रभाव ग्रहण करते हुए समन्वयवादी दृष्टिकोण से काव्यास्वाद का निरूपण किया। डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' की विषयिगत दृष्टि आचार्य रामचंद्र शुक्ल की वस्तुमुखी दृष्टि से नितान्त भिन्न है। उन्होंने काव्यास्वाद को प्रमाता की आत्मपरक आनंदमयी अनुभूति माना तथा काव्यास्वाद के संदर्भ में 'ओज'-विषयक नूतन उद्भावना की। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का काव्यास्वाद-विषयक अभिमत पूर्णतः परम्परा-निष्ठ है। वे भी काव्यास्वाद को विषयिगत आस्वाद मानते हैं। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का इस क्षेत्र में विशेष योगदान है। अपनी मौलिक सौंदर्यशास्त्रीय उद्भावनाओं—विशेषतः छंद की अन्तरात्मा का उद्घाटन तथा व्यापक एवं सार्वभौमिक संदर्भ में उसकी नूतन व्याख्या—के कारण वे अपने पूर्ववर्ती समीक्षाशास्त्रियों से विशिष्ट हैं। डॉ० नगेन्द्र ने आधुनिक हिन्दी-साहित्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त के प्रति आचार्य शुक्ल के उपरान्त सर्वाधिक निष्ठा व्यक्त की तथा उसी की दृष्टि से काव्यास्वाद का विवेचन किया। उनकी मान्यता संस्कृत-काव्यशास्त्र की रस-विषयक मूल मान्यता से इस अर्थ में भिन्न है कि वे काव्यास्वाद को व्यक्ति-चेतना का पूर्ण विलय करने वाली एकान्ततः आनन्दमयी अनुभूति मानते हुए भी उसे अलौकिक अथवा आध्यात्मिक आत्मास्वाद मानने के पक्ष में नहीं हैं। लौकिक वृत्त में ही काव्यास्वाद के स्वरूप का व्याख्यान करते हुए उन्होंने उसे स्पष्टतः रागात्मक, बौद्धिक एवं ऐन्द्रिय तत्त्वों से निर्मित मिश्र अनुभूति घोषित किया है। इस प्रकार शुक्लोत्तर युग के रस के प्रति आस्था व्यक्त करने वाले आचार्यों ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा संस्थापित गंभीररस-चिन्तन की सुदृढ़ भूमि पर उनकी काव्यास्वाद-संबंधी निष्पत्तियों के सूक्ष्म परीक्षण एवं मूल्यांकन द्वारा भारतीय काव्यशास्त्र की प्रामाणिक भूमिका तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र, सौंदयशास्त्र एवं मनोविज्ञान के आधुनिक संदर्भ में काव्यास्वाद के सूक्ष्म विवेचन से हिन्दी-साहित्यशास्त्र को अपूर्व उत्कर्ष प्रदान किया।

हिन्दी-साहित्यशास्त्र की समसामयिक विवेचना-प्रणालियों में प्रगतिवादी आलोचना काव्यास्वाद के क्षेत्र में व्यक्ति-चेतना के स्थान पर सामूहिक चेतना की प्रतिष्ठा तथा नव समीक्षा भारतीय रस-सिद्धान्त के प्रति अपनी घोर अनास्था के कारण अपने पूर्ववर्ती समस्त साहित्य-चिन्तन से पृथक् दिखाई पड़ती है। प्रगतिवादी समीक्षा काव्यास्वाद को प्रमाता की वैयक्तिक

चेतना का आस्वाद न मानकर उसे सामाजिक चेतना का सामूहिक आस्वाद मानती है। नव समीक्षा के अन्तर्गत किया गया काव्यास्वाद का विवेचन प्रगतिवादी आलोचना की तुलना में अधिक सूक्ष्म एवं गहन है। नव समीक्षा के प्रमुख प्रवक्ता आधुनिक युग-बोध तथा व्यक्ति की खण्डित एवं द्वन्द्वमयी स्थिति-हीनता की विभक्त संवेदना तथा विघटनशील जीवन-मूल्यों के नए संदर्भों में रस-सिद्धान्त जैसे आनन्दवादी समीक्षा-मान को अपर्याप्त एवं अप्रासंगिक मानकर साधारणीकरण-सिद्धान्त की संप्रेषणमूलक नवीन व्याख्या करते हैं। उनके मतानुसार काव्यास्वाद वस्तुगत, यथार्थ एवं युगसापेक्ष बौद्धिक अनुभूति है। यह अनुभूति प्रमाता के चित्त में पुनरुद्रिक्त कवि की मूल अनुभूति का ही अविकल रूप होने के कारण प्रत्येक स्थिति में आनन्दमयी नहीं हो सकती। इस प्रकार हिन्दी-साहित्यशास्त्र की अद्यतन धारा नवसमीक्षा की काव्यास्वाद-विषयक मूल अवधारणाएँ आचार्य रामचंद्र शुक्ल की मूल स्थापनाओं के काफ़ी हद तक निकट पहुँच गई हैं। प्रगतिवादी आलोचकों तथा नव समीक्षकों की समस्त ऊर्जा प्राचीन काव्य-मूल्यों एवं सौंदर्यशास्त्रीय प्रतिमानों के प्रति विरोध-प्रदर्शन में ही व्यय हो गई है—ये समीक्षक स्वयं अभी तक किसी नवीन सर्वमान्य एवं सर्वांगपूर्ण काव्य-सिद्धान्त की प्रकल्पना नहीं कर सके हैं।

(२)

सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्यशास्त्र में काव्यास्वाद के स्वरूप एवं प्रक्रिया का विश्लेपण यद्यपि मुख्यतया रस-सिद्धान्त के ही व्यापक परिवेश में हुआ, किन्तु उसमें निरूपित तद्विपयक मूल अवधारणाएँ आधुनिक युग तक आते-आते बहुत अधिक सीमा तक बदल गई: वर्तमान युग में रस के स्वरूप से संबंधित संस्कृत-काव्यशास्त्र की अधिकांश मूल स्थापनाओं के प्रति शंका व्यक्त की गई।

हिन्दी-साहित्यशास्त्र के आरंभकाल (रीति-पूर्व), विकास काल (रीतिकाल) और आधुनिक युग के शुक्ल-पूर्व चरण तक रस-सिद्धान्त के प्रति हिन्दी के आचार्यों की अंधश्रद्धा बनी रही; उन्होंने उसकी समस्त मान्यताओं को यथावत् ग्रहण कर लिया। इस युग में उनके पुनः-परीक्षण एवं पुनर्व्याख्या की आवश्यकता तक नहीं समझी गई।

आधुनिक दृष्टि से रस के पुनःपरीक्षण, पुनराख्यान एवं पुनर्मूल्यांकन का साहस पहली बार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया। उन्होंने (१) अभिनवगुप्त, पंडितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों की आत्मवादी व्याख्या के विरोध में काव्यास्वाद की वस्तुनिष्ठ व्याख्या की, (२) रस की अतर्क्य अखण्डता एवं अनिवार्य आनन्दमयता को अत्यंत साहसपूर्वक अस्वीकार करते हुए रस में कोटि-क्रम निर्धारित किया तथा (३) उसे भावानुभूति से अभिन्न घोषित करते हुए सुख-दुःखात्मक मानकर संस्कृत के आचार्यों—रामचन्द्र एवं गुणचन्द्र की रस-संबंधी प्रस्थापना का ही एक प्रकार से पुनरावर्तन किया।

किन्तु शुक्लजी की काव्यास्वाद-विषयक इन सभी मान्यताओं का उनके जीवन-काल में ही खण्डन कर दिया गया। उनके समसामयिक आलोचकों—पं० केशवप्रसाद मिश्र, आचार्य श्यामसुन्दरदास, पं० रामदहिन मिश्र, पं० बलदेव उपाध्याय और बाबू गुलाबराय आदि—ने रस के वस्तुगत स्वरूप को अमान्य सिद्ध करते हुए उसे पुनः आत्मवादी धरातल पर प्रतिष्ठित किया। इस दिशा में 'सुधांशु' का विवेचन एक निश्चित मोड़ है; उन्होंने काव्य को मात्र माध्यम मानते हुए काव्यास्वाद को पूर्णतया प्रमाता की व्यक्तिगत अनुभूति सिद्ध किया। बाद

में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ० नगेन्द्र ने भी उन्हीं के अनुरूप काव्यास्वाद को विषयिगत आनन्द माना : डॉ० नगेन्द्र ने उसे स्पष्टतः प्रमाता की 'निजी अस्मिता का आस्वाद' घोषित किया है।

डॉ० नगेन्द्र के विवेचन से हिन्दी-साहित्यशास्त्र के काव्यास्वाद-विवेचन के क्षेत्र में पुनः दिशान्तर उपस्थित हुआ। उन्होंने (१) संस्कृत-काव्यशास्त्र के अनुसार रस की अखण्ड आनन्दमयता को स्वीकार करते हुए भी उसकी अलौकिक अनिर्वचनीयता का खण्डन किया और काव्यास्वाद को ब्रह्मास्वाद-सदृश आध्यात्मिक आनन्द की उच्च भूमि से उतारकर सहज मानव-मनोविज्ञान का आधार ग्रहण करते हुए लौकिक एवं यथार्थ भूमि पर अधिष्ठित किया तथा (२) उसे सभी प्रकार की लौकिक परिभाषाओं से अतीत अनिर्वचनीय आनन्द न मानकर स्पष्टतः ऐन्द्रिय, मानसिक एवं बौद्धिक तत्त्वों के संश्लेषण से निर्मित एक मिश्र लौकिक अनुभूति सिद्ध किया। इस प्रकार डॉ० नगेन्द्र ने काव्यास्वाद को लोकोत्तरता के रहस्यमय प्रतिबन्धों से मुक्त कर पहली बार सच्चे अर्थों में एक लौकिक मानवीय अनुभूति के रूप में प्रतिष्ठित किया।

प्रगतिवादी समीक्षा-धारा में काव्यास्वाद-संबंधी मूल मान्यताओं में कोई विशेष अंतर नहीं आया—इस धारा के समीक्षकों ने केवल उसे व्यक्ति-चेतना के स्थान पर सामाजिक चेतना का सामूहिक आस्वाद माना, किन्तु किसी भी वर्ग के आलोचक इनके इस अभिमत को कोई महत्त्व प्रदान नहीं करते।

नव समीक्षा के आविर्भाव के साथ काव्यास्वाद के स्वरूप से संबंधित रहे-सहे परम्परागत विशेषण भी अस्वीकृत हो गए। रस की आध्यात्मिकता-अलौकिकता और अनिर्वचनीयता का खंडन तो डॉ० नगेन्द्र ही कर चुके थे, नव समीक्षकों ने उसकी अखण्डता और ऐकान्तिक आनन्दात्मकता का भी निराकरण कर दिया। उन्होंने सर्वथा स्पष्ट एवं निर्भ्रान्त शब्दों में काव्यास्वाद को रागात्मक तत्त्वों से विच्छिन्न मात्र बौद्धिक आस्वाद मान लिया है, जो प्रत्येक दशा में अनिवार्य रूप से आनन्दात्मक नहीं होता।

काव्यास्वाद की प्रक्रिया के संबंध में भी नव समीक्षा तक आते-आते आधुनिक हिन्दी-साहित्यशास्त्र की मान्यताएँ संस्कृत-काव्यशास्त्र से बहुत कुछ भिन्न हो गईं। संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्यास्वाद की प्रक्रिया का विश्लेषण मुख्यतः 'साधारणीकरण-सिद्धान्त' के अन्तर्गत हुआ। चिंतामणि आदि एक-आध आचार्य को छोड़ कर रीतिकालीन आचार्यों तथा शुक्ल-पूर्व आधुनिक युग के प्रारंभिक आचार्यों में से किसी ने भी 'साधारणीकरण' जैसे गंभीर सिद्धान्त का स्पर्श तक नहीं किया। सभी आचार्यों ने केवल विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया की चर्चा अत्यंत स्थूल रूप में की है।

काव्यास्वाद की प्रक्रिया की गंभीर मीमांसा हिन्दी-साहित्यशास्त्र में सर्वप्रथम आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने की, यद्यपि उनकी 'आलम्बनत्व धर्म' के साधारणीकरण की मान्यता को बाद में व्यापक समर्थन प्राप्त नहीं हुआ। शुक्लजी ने प्रमाता और कवि के तादात्म्य की अपेक्षा प्रमाता और काव्य (काव्यनिबद्ध आलंबन) के पारस्परिक तादात्म्य पर अधिक बल दिया। बाद में उनकी इस मान्यता को भी प्रायः अमान्य सिद्ध कर दिया गया। डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' ने काव्यास्वादन-प्रक्रिया में प्रमाता की अनुभूति को सर्वाधिक महत्त्व देते हुए काव्य को केवल माध्यम मात्र माना। सुधांशुजी के इसी अभिमत का विस्तार डॉ० नगेन्द्र की साधारणीकरण-व्याख्या में हुआ। उन्होंने सर्वथा निर्भ्रान्त एवं प्रबल शब्दों में 'साधारणीकरण' प्रक्रिया को मूलतः

तादात्म्य-रूप मानते हुए कवि की अनुभूति के साधारणीकरण की निर्द्वन्द्व स्थापना की। उनके अनुसार प्रमाता कवि की अनुभूति से पूर्ण तादात्म्य स्थापित करता हुआ 'निजी अस्मिता' का ही भोग करता है।

संस्कृत-काव्यशास्त्र में साधारणीकरण की प्रक्रिया के दो अनिवार्य अनुबंध माने गये हैं—काव्य-निबद्ध विशिष्ट का सामान्य रूप में उपस्थापन और प्रमाता की चेतना की संबंध-विशेष से विनिर्मुक्ति अर्थात् प्रमाता के व्यक्तित्व का पूर्ण विलय। आधुनिक साहित्यशास्त्र में डॉ० नगेन्द्र तक ये दोनों अनुबंध स्वीकार किये जाते रहे। नव समीक्षा के अज्ञेय आदि प्रमुख विवेचकों की स्वीकारोक्तियों के अनुसार साधारणीकरण को हिन्दी-समीक्षा की इस अधुनातन प्रणाली में भी स्वीकार किया गया है, किन्तु 'साधारणीकरण' के उक्त दोनों अनुबंधों को उन्होंने साग्रह निराकृत कर दिया। वे न तो कवि की अनुभूति के सर्वसामान्य साधारणीकृत रूप में विश्वास करते हैं और न ही काव्यास्वाद की स्थिति में प्रमाता की वैयक्तिक रागबंधों से मुक्ति अथवा उसके व्यक्तित्व के पूर्ण परिहार को ही स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में 'साधारणीकरण' का अर्थ, वस्तुतः, कवि एवं प्रमाता दोनों के व्यक्तित्वों के अक्षुण्ण रहते कवि की विशिष्ट एवं असाधारण अनुभूति का प्रमाता तक उसकी सम्पूर्णता में यथावत्-अविकल संप्रेषण ही है। डॉ० जगदीश गुप्त ने 'सह-अनुभूति' के रूप में काव्यास्वाद की प्रक्रिया का जो विश्लेषण किया है, वह अज्ञेय के संप्रेषण-सिद्धान्त की अपेक्षा तादात्म्य के अधिक निकट है, यद्यपि प्रमाता की व्यक्ति चेतना के परिहार के बिना पूर्ण तादात्म्य संभव नहीं है। इस प्रकार नवसमीक्षा में संस्कृत-काव्यशास्त्र के साधारणीकरण-सिद्धान्त का रूप पूर्णतः विपर्यस्त हो गया है।

काव्यास्वाद के स्वरूप एवं प्रक्रिया से संबंधित संस्कृत-काव्यशास्त्र की मूल मान्यताओं का हिन्दी-साहित्यशास्त्र में या तो नवीन संदर्भों में व्याख्यायित होकर नव रूपान्तरण हो गया है या फिर, वे नवसमीक्षा आदि अधुनातन आलोचना-धाराओं द्वारा पूर्णतः अमान्य सिद्ध कर दी गई हैं।

ग्रंथ-सूची

(क) विवेच्य ग्रंथ :

(अ) रीति-पूर्व और रीतिकालीन विवेच्य ग्रंथ

(आ) आधुनिक काल के विवेच्य ग्रंथ

(इ) विवेच्य शोध-पत्र और विशेष अभि-भाषण आदि

(ई) विवेच्य पत्रिकाएँ।

(ख) सहायक एवं सन्दर्भ ग्रंथ:

(अ) हिन्दी

(आ) संस्कृत

(इ) अंग्रेज़ी

(ई) इतिहास-ग्रंथ और कोश

(क) विवेच्य-ग्रंथ

(अ) रीति-पूर्व और रीतिकालीन विवेच्य ग्रंथ

कृपाराम :	१. हिततरंगिणी
कुलपति मिश्र :	२. रस-रहस्य
कुमारमणि भट्ट :	३. रसिक-रसाल
केशवदास :	४. कवि-प्रिया
	५. रसिक-प्रिया
गोपा :	६. रामचंद्राभरण
	७. रामचंद्रभूषण
चिंतामणि :	८. कविकुल कल्प-तरु
	९. शृंगार-मंजरी
जसवन्तसिंह :	१०. भाषा-भूषण
दूलह कवि :	११. कवि-कुल-कंठाभरण
देव :	१२. भाव-विलास
	१३. भवानी-विलास
	१४. शब्द-रसायन
	१५. काव्य-रसायन
	१६. सुख-सागर-तरंग
नंददास :	१७. रस-मंजरी
	१८. रास-पंचाध्यायी
	१९. रूप-मंजरी
	२०. श्रीकृष्णसिद्धान्त पंचाध्यायी
	२१. अनेकार्थ-ध्वनि-मंजरी
	२२. विरह-मंजरी
	२३. भँवरगीत
नवीन :	२४. रंग-तरंग
पद्माकर :	२५. जगद्विनोद
	२६. पद्माभरण
प्रतापसाहि	२७. व्यंग्यार्थ-कौमुदी
	२८. काव्य-विलास
बेनी प्रवीन	२९. नवरस-तरंग
बैरीसाल :	३०. भाषा-भरण

भिखारीदास :	३१. काव्य-निर्णय
	३२. रस-सारांश
	३३. शृंगार-निर्णय
भूषण :	३४. शिवराज-भूषण
मतिराम :	३५. रसराज
	३६. ललित ललाम
	३७. अलंकारपंचाशिका
याक़ूब ख़ाँ :	३८. रस-भूषण
रहीम :	३९. बरवै नायिका-भेद
रसलीन :	४०. रस-प्रबोध
	४१. नायिका-भेद
	४२. अंग-दर्पण
रसिक गोविन्द :	४३. रसिकगोविन्दादिघन
रसिक सुमति :	४४. अलंकार-चन्द्रोदय
राय शिवप्रसाद :	४५. रस-भूषण
श्रीपति :	४६. काव्य-सरोज
	४७. कवि-कुल-कल्पद्रुम
सूरदास :	४८. सूर-सागर
	४९. साहित्य-लहरी
सोमनाथ :	५०. रसपीयूषनिधि
	५१. शृंगार-विलास

(आ) आधुनिक काल के विवेच्य ग्रंथ

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	१. रस कलस
कन्हैयालाल पोद्दार :	२. काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग) 'रस-मंजर
	३. काव्यकल्पद्रुम (द्वितीय भाग) 'अलंक मंजरी'
गजानन माधव 'मुक्तिबोध'	४. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य नि
गिरिजाकुमार माथुर :	५. नयी कविता : सीमाएँ और संभावनाएँ
गुलाबराय :	६. नवरस
	७. काव्य के रूप
	८. सिद्धान्त और अध्ययन
	९. अध्ययन और आस्वाद
जगन्नाथप्रसाद 'भानुकवि' :	१०. काव्य-प्रभाकर
	११. छन्द-प्रभाकर

जयशंकर प्रसाद : १२. काव्य और कला तथा अन्य निबंध
देवीशंकर अवस्थी : १३. आलोचना और आलोचना
नगेन्द्र : १४. विचार और अनुभूति
१५. विचार और विवेचन
१६. विचार और विश्लेषण
१७. रीतिकाव्य की भूमिका
१८. रस-सिद्धान्त
नन्ददुलारे वाजपेयी : १९. आधुनिक साहित्य
२०. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी
२१. नया साहित्य : नये प्रश्न
प्रभाकर माचवे : २२. सन्तुलन
प्रकाशचन्द्र गुप्त : २३. साहित्य-धारा
बलदेव उपाध्याय : २४. भारतीय साहित्यशास्त्र (दो भाग)
२५. संस्कृत-आलोचना
बिहारीलाल भट्ट : २६. साहित्य सागर
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : २७. भारतेन्दु नाटकावली
महादेवी वर्मा : २८. महादेवी का विवेचनात्मक-गद्य (संकलनकर्ता—गंगाप्रसाद पाण्डेय)
२९. दीपशिखा (भूमिका)
महावीर प्रसाद द्विवेदी : ३०. रसज्ञ-रंजन
३१. प्राचीन पण्डित और कवि
३२. संचयन
३३. साहित्य-संदर्भ
३४. समालोचना-समुच्चय
मिश्रबन्धु : (पं० शुकदेवविहारी मिश्र तथा पं० प्रतापनारायण मिश्र) ३५. साहित्य-पारिजात
मुद्राराक्षस : ३६. साहित्य-समीक्षा
रामचंद्र शुक्ल : ३७. चिंतामणि (दो भाग)
३८. रस-मीमांसा
रामदहिन मिश्र : ३९. काव्य-दर्पण
४०. काव्यालोक (दो भाग)
रामविलास शर्मा : ४१. प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ
४२. आस्था और सौन्दर्य
४३. प्रगति और परम्परा
४४. संस्कृति और साहित्य
४५. लोकजीवन और साहित्य

भिखारीदास :	३१. काव्य-निर्णय
	३२. रस-सारांश
	३३. श्रृंगार-निर्णय
भूषण :	३४. शिवराज-भूषण
मतिराम :	३५. रसराज
	३६. ललित ललाम
	३७. अलंकारपंचाशिका
याक़ूब ख़ाँ :	३८. रस-भूषण
रहीम :	३९. बरवै नायिका-भेद
रसलीन :	४०. रस-प्रबोध
	४१. नायिका-भेद
	४२. अंग-दर्पण
रसिक गोविन्द :	४३. रसिकगोविन्दादिघन
रसिक सुमति :	४४. अलंकार-चन्द्रोदय
राय शिवप्रसाद :	४५. रस-भूषण
श्रीपति :	४६. काव्य-सरोज
	४७. कवि-कुल-कल्पद्रुम
सूरदास :	४८. सूर-सागर
	४९. साहित्य-लहरी
सोमनाथ :	५०. रसपीयूषनिधि
	५१. श्रृंगार-विलास

(आ) आधुनिक काल के विवेच्य ग्रंथ

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	१. रस कलस
कन्हैयालाल पोद्दार :	२. काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग) 'रस-मंजरी
	३. काव्यकल्पद्रुम (द्वितीय भाग) 'अलंक मंजरी'
गजानन माधव 'मुक्तिबोध'	४. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य नि
गिरिजाकुमार माथुर :	५. नयी कविता : सीमाएँ और संभावनाएँ
गुलाबराय :	६. नवरस
	७. काव्य के रूप
	८. सिद्धान्त और अध्ययन
	९. अध्ययन और आस्वाद
जगन्नाथप्रसाद 'भानुकवि' :	१०. काव्य-प्रभाकर
	११. छन्द-प्रभाकर

जयशंकर प्रसाद :	१२. काव्य और कला तथा अन्य निबंध
देवीशंकर अवस्थी :	१३. आलोचना और आलोचना
नगेन्द्र :	१४. विचार और अनुभूति
	१५. विचार और विवेचन
	१६. विचार और विश्लेषण
	१७. रीतिकाव्य की भूमिका
	१८. रस-सिद्धान्त
नन्ददुलारे वाजपेयी :	१९. आधुनिक साहित्य
	२०. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी
	२१. नया साहित्य : नये प्रश्न
प्रभाकर माचवे :	२२. सन्तुलन
प्रकाशचन्द्र गुप्त :	२३. साहित्य-धारा
बलदेव उपाध्याय :	२४. भारतीय साहित्यशास्त्र (दो भाग)
	२५. संस्कृत-आलोचना
बिहारीलाल भट्ट :	२६. साहित्य सागर
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र :	२७. भारतेन्दु नाटकावली
महादेवी वर्मा :	२८. महादेवी का विवेचनात्मक-गद्य (संकलनकर्ता—गंगाप्रसाद पाण्डेय)
	२९. दीपशिखा (भूमिका)
महावीर प्रसाद द्विवेदी :	३०. रसज्ञ-रंजन
	३१. प्राचीन पण्डित और कवि
	३२. संचयन
	३३. साहित्य-संदर्भ
	३४. समालोचना-समुच्चय
मिश्रबन्धु : (पं० शुकदेवविहारी मिश्र तथ पं० प्रतापनारायण मिश्र)	३५. साहित्य-पारिजात
मुद्राराक्षस :	३६. साहित्य-समीक्षा
रामचंद्र शुक्ल :	३७. चिंतामणि (दो भाग)
	३८. रस-मीमांसा
रामदहिन मिश्र :	३९. काव्य-दर्पण
	४०. काव्यालोक (दो भाग)
रामविलास शर्मा :	४१. प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ
	४२. आस्था और सौन्दर्य
	४३. प्रगति और परम्परा
	४४. संस्कृति और साहित्य
	४५. लोकजीवन और साहित्य

लक्ष्मीकांत वर्मा : ४६. नयी कविता के प्रतिमान

लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' : ४७. काव्य में अभिव्यंजनावाद
४८. जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त

शिवदानसिंह चौहान : ४९. साहित्यानुशीलन
५०. आलोचना, इतिहास तथा सिद्धान्त
५१. आलोचना के सिद्धान्त
५२. साहित्य की परख
५३. साहित्य की समस्याएँ
५४. आलोचना के मान

श्यामसुन्दरदास : ५५. साहित्यालोचन

स० ह्री० वात्स्यायन 'अज्ञेय' : ५६. त्रिशंकु
५७. तारसप्तक
५८. दूसरा सप्तक
५९. तीसरा सप्तक
६०. आत्मनेपद
६१ हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य

सुमित्रानन्दन पंत : ६२. गद्य-पद्य
६३. पल्लव (भूमिका)
६४. रश्मि-बंध (भूमिका)
६५. छायावाद : पुनर्मूल्यांकन

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' : ६६. प्रबंध-पद्म
६७. प्रबन्ध-प्रतिभा
६८. चयन
६९. रवीन्द्र-कविता-कानन
७०. परिमल (भूमिका)
७१. गीतिका (भूमिका)
७२. अर्चना (भूमिका)

हज़ारीप्रसाद द्विवेदी : ७३. विचार और वितर्क
७४. साहित्य का साथी
७५. अशोक के फूल
७६. साहित्य का मर्म (साहित्य)
७७. कालिदास की लालित्य-योजना
७८. साहित्य-सहचर

(इ) विवेच्य शोध-पत्र और विशेष अभिभाषण आदि

हिन्दी

हजारीप्रसाद द्विवेदी : १. लालित्य तत्त्व

नगेन्द्र : २. भारतीय काव्यशास्त्र में सौंदर्यानुभूति का स्वरूप

अंग्रेजी

Mao-Tse Tung : Talk at the Yenan Forum on Art and Literature.

(ई) विवेच्य पत्रिकाएँ

१. आलोचना
२. क ख ग
३. कृति
४. दृष्टिकोण
५. नयी कविता
६. प्रतीक
७. माधुरी
८. माध्यम
९. विविधा
१०. सम्मेलन पत्रिका
११. सरस्वती
१२. साप्ताहिक वीर
१३. ज्ञानोदय

(उपर्युक्त पत्रिकाओं के कतिपय विशिष्ट अंक)

(ख) सहायक एवं संदर्भ ग्रंथ

(अ) हिन्दी

अर्जुनदास केडिया :	१. भारती-भूषण
आनन्दप्रकाश दीक्षित :	२. रससिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेपण
कुमार विमल :	३. सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व
गणपतिचन्द्र गुप्त (सं०) :	४. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व और साहित्य
गिरिजाकुमार माथुर :	५. धूप के धान
गुलावराय तथा विजयेन्द्र स्नातक	६. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल
चर्निशेव्स्की तथा वेलेन्स्की :	७. दर्शनशास्त्र और आलोचना (हिन्दी अनु०—नरोत्तमदास)
धर्मवीर भारती :	८. मानव मूल्य और साहित्य
	९. प्रगतिवाद : एक समीक्षा
नगेन्द्र :	१०. अरस्तू का काव्यशास्त्र
	११. देव और उनकी कविता
	१२. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ
	१३. काव्य में उदात्त तत्त्व
	१४. भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा (सं०)
	१५. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा (सं०)
	१६. होरेस की काव्यकला (सं०)
	१७. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका
नामवरसिंह :	१८. इतिहास और आलोचना
	१९. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ
नारायणदास खन्ना :	२०. आचार्य भिखारीदास
नारायणप्रसाद चौबे :	२१. डॉ० नगेन्द्र के आलोचना-सिद्धान्त
निर्मला जैन :	२२. रस सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र
प्रेमस्वरूप गुप्त	२३. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन
प्रेमनारायण टंडन :	२४. समीक्षा के मान और हिन्दी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ
भगवतस्वरूप मिश्र :	२५. हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास
भगवानदीन :	२६. अलंकारमंजूषा
भगीरथ मिश्र :	२७. हिन्दी रीति-साहित्य

मनोहर काले :	२८. आधुनिक हिन्दी-मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन
महावीरप्रसाद द्विवेदी :	२९. आलोचनांजलि
	३०. साहित्यालाप
महेन्द्रकुमार :	३१. मतिराम : कवि और आचार्य
रामदहिन मिश्र :	३२. काव्य में अप्रस्तुत-योजना
रामविलास शर्मा :	३३. निराला
रामशंकर शुक्ल रसाल :	३४. हिन्दी-काव्यशास्त्र का विकास
	३५. अलंकार-पीयूष
वेंकट शर्मा :	३६. आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास
शचीरानी गुर्टू :	३७. हिन्दी के आलोचक
शिवप्रसादसिंह (सं०) :	३८. शान्तिनिकेतन से शिवालिक
श्यामसुन्दरदास :	३९. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
	४०. रूपक-रहस्य
स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय' :	४१. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये
सच्चिदानन्द चौधरी :	४२. हिन्दी-काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त
सत्यदेव चौधरी :	४३. हिन्दी-रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य
सीताराम शास्त्री :	४४. साहित्य-सिद्धान्त
सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त :	४५. सौन्दर्य-तत्त्व (अनु०—डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित)
हजारीप्रसाद द्विवेदी :	४६. आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार
	४७. कुटज
हीरालाल दीक्षित :	४८. आचार्य केशवदास

(आ) संस्कृत

अभिनवगुप्त :	१. अभिनवभारती
	२. ध्वन्यालोक-लोचन
अप्पय दीक्षित :	३. कुवलयानन्द
आनन्दवर्द्धन :	४. ध्वन्यालोक
कुंतक :	५. वक्रोक्तिजीवित
जगन्नाथ :	६. रसगंगाधर
जयदेव :	७. चन्द्रालोक

(ख) सहायक एवं संदर्भ ग्रंथ

(अ) हिन्दी

अर्जुनदास केडिया : भारती-भूषण

आनन्दप्रकाश दीक्षित : रससिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण

कुमार विमल : सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व

गणपतिचन्द्र गुप्त (सं०) : ४. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व और साहित्य

गिरिजाकुमार माथुर : ५. धूप के धान

गुलाबराय तथा विजयेन्द्र स्नातक ६. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल

चर्निशेव्स्की तथा बेलेन्स्की : ७. दर्शनशास्त्र और आलोचना (हिन्दी अनु०—नरोत्तमदास)

धर्मवीर भारती : ८. मानव मूल्य और साहित्य

९. प्रगतिवाद : एक समीक्षा

नगेन्द्र : १०. अरस्तू का काव्यशास्त्र

११. देव और उनकी कविता

१२. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ

१३. काव्य में उदात्त तत्त्व

१४. भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा (सं०)

१५. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा (सं०)

१६. होरेस की काव्यकला (सं०)

१७. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका

नामवरसिंह : १८. इतिहास और आलोचना

१९. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ

नारायणदास खन्ना : २०. आचार्य भिखारीदास

नारायणप्रसाद चौबे : २१. डॉ० नगेन्द्र के आलोचना-सिद्धान्त

निर्मला जैन : २२. रस सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र

प्रेमस्वरूप गुप्त २३. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन

प्रेमनारायण टंडन : २४. समीक्षा के मान और हिन्दी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

भगवतस्वरूप मिश्र : २५. हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास

भगवानदीन : २६. अलंकारमंजूषा

भगीरथ मिश्र : २७. हिन्दी रीति-साहित्य

मनोहर काले : २८. आधुनिक हिन्दी-मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन

महावीरप्रसाद द्विवेदी : २९. आलोचनांजलि
३०. साहित्यालाप

महेन्द्रकुमार : ३१. मतिराम : कवि और आचार्य

रामदहिन मिश्र : ३२. काव्य में अप्रस्तुत-योजना

रामविलास शर्मा : ३३. निराला

रामशंकर शुक्ल रसाल : ३४. हिन्दी-काव्यशास्त्र का विकास
३५. अलंकार-पीयूष

वेंकट शर्मा : ३६. आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास

शचीरानी गुर्टू : ३७. हिन्दी के आलोचक

शिवप्रसादसिंह (सं०) : ३८. शान्तिनिकेतन से शिवालिक

श्यामसुन्दरदास : ३९. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
४०. रूपक-रहस्य

स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय' : ४१. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये

सच्चिदानन्द चौधरी : ४२. हिन्दी-काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त

सत्यदेव चौधरी : ४३. हिन्दी-रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य

सीताराम शास्त्री : ४४. साहित्य-सिद्धान्त

सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त : ४५. सौन्दर्य-तत्त्व (अनु०—डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित)

हजारीप्रसाद द्विवेदी : ४६. आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार
४७. कुटज

हीरालाल दीक्षित : ४८. आचार्य केशवदास

(आ) संस्कृत

अभिनवगुप्त : १. अभिनवभारती
२. ध्वन्यालोक-लोचन

अप्पय दीक्षित : ३. कुवलयानन्द

आनन्दवर्द्धन : ४. ध्वन्यालोक

कुंतक : ५. वक्रोक्तिजीवित

जगन्नाथ : ६. रसगंगाधर

जयदेव : ७. चन्द्रालोक

दण्डी : ८. काव्यादर्श

भरत : ९. नाट्यशास्त्र

भानुदत्त : १०. रसतरंगिणी
११. रस मंजरी

भामह : १२. काव्यालंकार

भोज : १३. सरस्वती कण्ठाभरण
१४. शृंगार-प्रकाश

मम्मट : १५. काव्यप्रकाश

महिमभट्ट : १६. व्यक्तिविवेक

राजशेखर : १७. काव्यमीमांसा

रामचन्द्र गुणचन्द्र : १८. नाट्य दर्पण

रुद्रट : १९. काव्यालंकार

रुय्यक : २०. अलंकार सर्वस्व

रूपगोस्वामी : २१. उज्ज्वल नीलमणि
२२. भक्तिरसामृतसिंधु

वाग्भट्ट (प्रथम) : २३. वाग्भट्टालंकार

वाग्भट्ट (द्वितीय) : २४. काव्यानुशासन

वामन : २५. काव्यालंकाररसूत्रवृत्ति

विश्वनाथ : २६. साहित्यदर्पण

विद्यानाथ : २८. प्रतापरुद्र-यशोभूषण

हेमचन्द्र : २९. काव्यानुशासन

क्षेमेन्द्र : ३०. औचित्य-विचार-चर्चा
३१. कविकंठाभरण

३२. अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग
(अनुवादक—रामलाल वर्मा)

३३. लघुसिद्धान्त-कौमुदी
(व्या० श्रीवरानन्द शास्त्री)

(इ) अंग्रेज़ी

Abercrombie. L. 1. Romanticism

Amar Nath jha 2. An Anthology of Critic[al]
Statements

Aristotle	3. Poetics
	4. Politics
	5. Metaphysics
Bosanquet, Bernard	6. A History of Aesthetic
Bohn, R G. (ed)	7. The Works of Joseph Addison
Butcher, S.H.	8. Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art
Cassirer. H.W.	9. A Commentary on Kant's Critique of Judgement
Caudwell, Christopher	10. Illusion and Reality
Chernishovsky, N.G.	11. Selected Philosophical Essays
Clive Bell	12. Art
Courthope	13. Life in Poetry
Cook, A.S. (ed.)	14. Defence of Poesie (Sidney)
Coleridge, S.T.	15. Biographia Literaria (ed. by Watson)
Croce, Benedetto	16. Aesthetic (Trans. by Douglas Ainslie)
Descartes	17. The Essence of Aesthetic
	18. The Phiolosophical Works of Descartes (Trans. by Elizabeths Haldane)
Eliot, T.S.	19. Selected Essays
Empson, W.	20. Seven Types of Ambiguity
Frank Thilly	21. A History of Philosophy
Freeman, Joseph	22. Proletariat Literature in the U.S.
Fuller	23. A History of Phiolosophy
George Saintsbury (ed.)	24. Loci Critici
Gilbert and Kuhn	25. A History of Aesthetics
Harry Levin	26. Perspectives of Criticism
Hegel	27. Philosophy of Fine Art
Herrick, Marvin T.	28. The Fusion of Horatian and Aristotelian Literary Criticism 1931-55
Herford, C.H.	29. The Age of Wordsworth

Homer — 30. Illiad (Trans. by Lang, and Moyers)

Hudson, W. H. — 31. An Introduction to Study of Literature

John Dewey — 32. Art as Experience

Johnson, S. — 33. Dictionary

Judge Willis (ed.) — 34. The Work of Edmund Bu

Kant — 35. Critique of Judgeme (Trans. by Bernard)

Karl Marx — 36. Capital

Karl Marx & Engels — 37. Literature and Art

38. Communist Menifesto

Keble — 39. Lectures on Poetry

Krishna Chaitanya — 40. Sanskrit Poetics

Leigh Hunt — 41. Imagination and Fancy

Lewes, G.H. — 42. Inner Life of Art

Lucus, F. L. — 43. The Decline and Fall of Id

Matthew Arnold — 44. Essays in Criticism (Seco series)

45. Mixed Essays

Milton, John — 46. Education

Moxon, T. A. — 47. Essays in Classical Criticis (Aristotle's Poetics & Rh toric, Demetrius On Styl Longinus on the Sublime.

Murray, Gilbert — 48. Aristotle on the Art of Poetr

Oscar Wilde — 49. Intentions

Plato — 50. The Dialogues (Trans. b B. Jowett)

Plekhnov — 51. Art and Social Life

Prichard, H.A. — 52. Kant's Theory of Knowledg

Rakesh Gupta — 53. Psychological Studies in Rasa

Ralph Fox — 54. The Novel and the People

Richards, I.A. — 55. The Principles of Literary Criticism

Scott James, R.A. — 56. Making of Literature

Shelley, P. B. — 57. A Defence of Poetry

Tolstoy — 58. What is Art ?
Walter Pater — 59. Lives of Poets
Whistler — 60. The Gentle Art of Making Enemies
Wimsatt, Jr. William K. & Kleanth Brooks — 61. Literary Criticism ; A Short History
Wordsworth — 62. Lyrical Ballads

(ई) इतिहास-ग्रंथ और कोश

इतिहास-ग्रंथ

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा (सं०) : १. हिन्दी साहित्य (दो भाग)
डॉ० नगेन्द्र (प्रधान सं०) : २. हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास (षष्ठ भाग)
डॉ० भगीरथ मिश्र : ३. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास
मिश्रबन्धु : ४. मिश्रबन्धु विनोद
आचार्य रामचंद्र शुक्ल : ५. हिन्दी साहित्य का इतिहास
राहुल सांकृत्यायन : ६. हिन्दी काव्यधारा
डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' (प्रधान सं०) : ७. हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास (त्रयोदश भाग)
शिवसिंह सेंगर : ८. शिवसिंह-सरोज
डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : ९. हिन्दी साहित्य

कोश

हिन्दी

१. पारिभाषिक मानविकी कोश (साहित्य-खण्ड) : प्रधान सं० डॉ० नगेन्द्र
२. हिन्दी साहित्य-कोश : प्रधान सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा
३. पारिभाषिक शब्द-संग्रह (केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय)

अंग्रेजी

1. A Sanskrit English Dictionary : Sir Monier Williams
2. A Sanskrit English Dictionary : Apte (English & Hindi Editions)
3. The Oxford Companion to English Literature : Sir Paul Harvey

नामानुक्रमणिका

ग

च

छ

ज

ग

च

छ

ज

श

स

श

स

ह

क्ष

त्र